

समयसार कलश प्रवचन तृतीय भाग

सहजानंद शास्त्रमाला

समयसार कलश प्रवचन

तृतीय भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'समयसार कलश प्रवचन' तृतीय भाग अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य अमृतचंद्र कृत समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति टीका के कलशों पर प्रवचन संकलित हैं। प्रस्तुत भाग में पुण्यपाप अधिकार के कलश 100 से निर्जरा अधिकार के कलश 162 तक के प्रवचन हैं। ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे | इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है। इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु महिला स्वाध्याय मंडल, उज्जैन के द्वारा रु. 4500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती अर्चनाजी जैन, साधना नगर इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं। सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी ज्ञान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	4
कलश 100	1
कलश 101	4
कलश 102	6
कलश 103	29
कलश 104	35
कलश 105	41
कलश 106	48
कलश 107	48
कलश 108	53
कलश 109	56
कलश 110	60
कलश 111	65
कलश 112	71
कलश 113	76
कलश 114	79
कलश 115	82
कलश 116	87
कलश 117	93
कलश 118	95

कलश 119	98
कलश 120	99
कलश 121	105
कलश 122	107
कलश 123	109
कलश 124	112
कलश 125	113
कलश 126	117
कलश 127	126
कलश 128	131
कलश 129	137
कलश 130	140
कलश 131	141
कलश 132	143
कलश 133	148
कलश 134	152
कलश 135	154
कलश 136	157
कलश 137	164
कलश 138	170
कलश 139	176
कलश 140	179
कलश 141	185
कलश 142	190
कलश 143	195
कलश 144	200
कलश 145	207

कलश 146	214
कलश 147	226
कलश 148	233
कलश 149	236
कलश 150	240
कलश 151	247
कलश 152	249
कलश 153	253
कलश 154	259
कलश 155	262
कलश 156	265
कलश 157	269
कलश 158	272
कलश 159	276
कलश 160	278
कलश 161	284
कलश 162	291

समयसार कलश प्रवचन

तृतीय भाग

प्रवक्ता अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री क्षु. मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

कलश 100

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।

ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥100॥

831- नकली असली व आन्तरिक नाटक-

अब जो कि कर्म शुभ और अशुभ के भेद से दोपने को प्राप्त हो गया था उसको एक ही रूप करता हुआ अर्थात् एक ही श्रेणी में करता हुआ अब ज्ञानामृत का प्रवाह प्रकट होता है, जो इस मोहभाव को दूर कर देता है। इस कलश में अथ शब्द कहने से कितनी ही स्फूर्तियाँ आती हैं। इससे पहले जो नाटक देख रहा था यह मानव चलने फिरने, लड़ने-झगड़ने, आदिक का, वह जानता था कि यह सब इसका असली नाटक चल रहा है और जो उसकी फिल्म उतार ली जाती है रील में तो वह उसका नकली नाटक हो गया, लेकिन लोगों की दृष्टि, लोगों की उमंग नकली नाटक पर विशेष रहती है, असली नाटक जो रात दिन के 24 घंटे में गुजर रहा उसको देखने की उमंग नहीं जगती है। तो जैसे ये दो प्रकार के नाटक हैं- असली नाटक और नकली नाटक, ऐसे ही इन दोनों प्रकार के नाटकों से परे एक तीसरा नाटक जो अपने ही आत्मप्रदेशों में चल रहा है, उसकी तो यह जीव कुछ खबर ही नहीं रखता।

832- जीव के नाटक की भूमिका-

पहिले तो जीव अजीव का परिचय किया था, फिर नाटक शुरू किया गया। तो कर्ता कर्म के भेष में नाटक चल रहा था। यह जीव कर्ता के भेष में आया और ये पौद्गलिक कर्मवर्गणायें कर्म के भेष में आयीं तो आवो, दो ने अपना भेष बनाया, मगर यह अज्ञानी कर्ता अपने को अलग नहीं समझता था। यह कर्म मेरा है ऐसा ही मानता रहा, तो उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध हो गया कर्ता और कर्म। कर्ता कौन बना था? कर्ता वह जीव था जिसने अपने उपयोग में छाये हुए, प्रतिबिम्बित हुए कर्मरस को जुदा नहीं जाना और उसे आत्मारूप से अनुभव किया और आत्मारूप से अनुभव करने के कारण उसके अनुकूल अपनी क्रिया बनी। कौन है कर्ता? जिसने अपने अन्दर में उन दो का भेद नहीं समझा- जीव और कर्म, जीव और पुद्गल और उस

कर्मपुद्गल का रस विपाक जो इसके उपयोग में प्रतिफलित हो गया उसी को अपनाकर रह गया, यह ही मैं बड़ा अच्छा, इसी में ही प्रीति जग गई, अपने स्वरूप में रुचि तो नहीं हुई, किन्तु अपने में जो कर्मरस झलका उसमें रुचि जगी। ऐसे जीव कितने हैं? अनन्तानन्त। उन्हें अपनी खबर ही नहीं कि मैं वास्तव में कुछ हूँ। जो निरन्तर बाहरी साधनों पर दृष्टि रहती है, यह मकान, वैभव, इज्जत, कुटुम्ब और बाहर ही बाहर उपयोग चलता है और वहाँ ही इष्ट अनिष्ट लगा करता है, यह सब भीतर के अपराध का फल है।

833- कर्मलीला के प्रसंग की रुचि छोड़कर भागवती स्वानुभूति की उपासना में भलाई-

मोही ने यहाँ भेद नहीं कर पाया कि मैं तो यह चैतन्यरस मात्र हूँ और यह सब जो झलक रहा है क्रोध, मान, माया, लोभ, इच्छा, यह सब कर्मरस की छाया है, कर्मलीला है, इसमें बढने से तो मैं बरबाद ही होता हूँ। जो इनमें नहीं पड़े वे बने भगवान। भगवान की भक्ति करें और उस समय में इतना ध्यान रखें कि प्रभु ने इस कर्मलीला से अपने को निराला समझ लिया था और उसकी बिल्कुल उपेक्षा कर दी थी तो यह भगवान बने। मैं ऐसा नहीं कर पा रहा था, संसार में चल रहा था, अब मैं करूँगा यह ही। दूसरा काम मेरे करने को इस जीवन में क्या है? इन सारे अनन्त कालों में भी कुछ नहीं है। इस आत्मोद्धार के काम के सिवाय बाकी सब काम जो जीवन में किए जाते हैं व्यर्थ हैं, इस जीवन में करने का एक यह ही काम है कि अपना असली स्वरूप जानकर वहाँ ही रुचि करूँ, मरकर किसी दूसरी जगह जन्म पाऊँगा तो वहाँ भी वास्तव में करने का यह ही काम है, दूसरा काम मेरे करने के लिए है ही नहीं। बड़ा संकट है इस जीव पर। जो एक व्यर्थ का अध्यवसान बन गया, लगाव बन बैठा। मकान, दूकान, धन वैभव परिवार गोष्ठी, ये मेरे हैं इस तरह का जो लगाव बना भीतर में, चित्त में यह तो एक विकट विपत्ति है। जो लोग इस दुर्गा की उपासना न करें वे बड़ी भारी विपत्ति में हैं। दुर्गा के मायने है स्वानुभूति। दुर्गा नाम की देवी कोई अलग नहीं। जो बड़ी कठिनाई से पाई जाय वह है दुर्गा। अपने आपमें वह शक्ति है जो स्वानुभव में जगने वाली शक्ति है। वह इन कर्म शत्रुओं का विध्वंस कर देती है। वह शक्ति है स्वानुभूति। ज्ञान की ओरसे देखो तो यह सरस्वती है, और इसका फल क्या हो रहा। कषायों का विध्वंस बन जाता। उसकी ओरसे देखो तो यह ही स्वानुभूति महाकाली है, लेकिन अनेक संन्यासी शक्ति के रूप में दुर्गा की उपासना करते हैं, अरे वह है कहाँ। क्या चीज है? अपने आत्मतत्त्व को पहिचानें तो इसमें ही वह शक्ति है, बस वही उपासना के योग्य है और उसकी उपासना में ज्ञानविकास होता है, कर्म का विध्वंस होता है। ज्ञानविकास की ओरसे देखें तो यह स्वानुभूति सरस्वती है और कर्मविध्वंस की ओरसे देखें तो यह स्वानुभूति काली है। तो यह स्वानुभूति कैसे प्राप्त हो, इसका उद्यम करें, बाकी तो जो कुछ मिला है, जो पुण्यबंध हुआ उसका फल है। कमाने से क्या मिलता? आपके विशुद्ध परिणामों का फल है कि ये सब चीजें प्राप्त हुई।

848- बहुरूपिया के मूलरूप की पहिचान में बहुरूपियापन का निःसरण-

हां जो नाटक चल रहा था, जिस नाटक में अटकने से स्वानुभूति नहीं हो पा रही थी उस नाटक का वर्णन इससे पहले कर्ता कर्म अधिकार में किया गया। इस जीव ने अभी तक यह प्रतीति नहीं रखी कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ मेरे में ज्ञान (ज्ञानन) परिणमन होता रहता है, बस मैं जानता हूँ, यह तो प्रतीति मैं नहीं लाया यह जीव और मैं करता हूँ, इस पर पदार्थ पर करता हूँ, अमुक को करता हूँ, ऐसा करने का विकल्प करता है। तो इस बहुरूपियों को पहचान लिया गया, जैसे कर्मवर्गणायें तो एक शुद्ध पुद्गल के रूप में है। जहाँ जीव के शुभ अशुभ भाव का निमित्त पाया वहाँ वे कर्म बन बैठे। कर्म बने, यह बहुरूपियापन हो गया। यह जीव तो विशुद्ध चित् प्रतिभास मात्र है स्वरूपतः, मगर कर्मरस से यह जीव आकर्षित हो गया तो यह नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इन सब रूपों को धारण कर रहा है, इस कारण यह मोही अज्ञानी जीव बहुरूपिया बन गया। जब इसने पहचान लिया कि यह तो असल में यह है तो जैसे जब कोई बहुरूपिया आपकी दूकान पर आफिसर या पोस्टमैन वगैरह कुछ बनकर आता है और आप उसे पहिचानकर कह देते कि आप तो अमुकलाल हैं तो झट वह वहाँ से आगे बढ़ जाता, वह जानता है कि यहाँ से मुझे कुछ मिलने का नहीं है, इसने मेरी पोल जान ली है, वह अब शिथिल हो गया क्योंकि उसके बहुरूपियापन का अहंकार रहा नहीं, तो जिसने रूप धारण किया वह उस रूप की ओरसे ही शान के साथ बात कर सकता। वह ताकत तो उसमें अब रही नहीं इससे वह भाग जाता है। बस यह ही बात तो इस कर्ता कर्म की हुई। जब ज्ञानी पुरुष ने जान लिया कि यह चित् तो चित् ही है, चित्प्रतिभासमात्र है और ये ये कर्म कार्माणवर्गणा जाति के पुद्गल स्कंध हैं, जब उन बहुरूपियों की असली मूल स्थिति जान ली तो ये कर्ता कर्म भेष छोड़कर इस रंगभूमि से निकल भागते हैं। अब उसके बाद क्या होगा? उसका जिक्र चल रहा है। वे दो आपस में पार्ट अदा कर रहे थे एक दूसरे के प्रति- अज्ञानी जीव और पौद्गलिक कर्म और परस्पर व्यवहार चल रहा था और एक दूसरे के निमित्त से अपनी अपनी लीला का बढ़ावा दे रहे थे, लेकिन यह पार्ट से निकल गया, खेल हो गया।

835- एक के दो भेषों में एकता के परिचय के प्रभाव की सूचना-

अब दो का तो परस्पर का नाटक उठ गया सो सिलसिला में वह एक पौद्गलिक कर्म अब वही शुभ और अशुभ के भेष में इस रंगभूमि में आता है अपना नाटक दिखाने के लिए, यह भी भेष है, इसे भी पहिचान लेगा ज्ञानी और अब जान लिया तो यह भी भेष न रहेगा, पर ये कर्म अब शुभकर्म, अशुभकर्म, पुण्यकर्म, पापकर्म ऐसे दो रूप रखकर आये। इसका वर्णन इस अधिकार में आयगा कि कैसे ये दो हैं और कैसे ये एक हैं? इस कलश में यह बतला रहे कि यों पुण्यकर्म, पापकर्म इन रूपों में आया यह दो बनकर, मगर जब एक ज्ञान का प्रवाह चला, भीतर से ज्ञान का एक प्रकाश फैला, प्रवाह चला तो उस प्रवाह में मोहरज दूर हो गई। तब यह सम्यक् ज्ञान प्रकट हो गया कि ये दोनों एक है- पुण्यकर्म और पापकर्म, ये दो मूल से कोई भिन्न-भिन्न दो व्यक्ति नहीं हैं, दो पदार्थ नहीं है किन्तु वे तब एक पौद्गलिक कर्म ही तो है। इस तरह पुण्यकर्म और पापकर्म में दोनों को एकता से देखते हुए अब ज्ञान प्रकट हुआ है। यह एक सूचना रूप कलश है।

कलश 101

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
 दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तथैव ।
 द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
 शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥101॥

836- भ्रमवश एक ही के दो रूपों की मान्यता-

ये पौद्गलिक कर्मवर्गणायें रूप, रस, गंध, स्पर्श वाली हैं, तो यह मूल में है एक ही कर्म, इसके जो दो रूप बन गए, पुण्यकर्म और पापकर्म उसका आधार भ्रम है। और बन कोई कैसे गए? जीव के विभाव का निमित्त पाकर बन गए तो इस दृष्टि से यों समझिये कि ये जीव के विभाव से उत्पन्न हुए हैं पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ विभाव। कुछ अच्छा राग जगे उपकार का, दया का, भक्ति का, त्याग का, दान का, तो उससे तो उपजा पुण्यकर्म, उपादान दृष्टि से तो पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें है, ये सब बातें पर के विसम्वाद में होती हैं, परसन्निधान बिना नहीं हुआ करती हैं। और, जो अशुभ राग हुआ, व्यसन, पापभाव, उसका सन्निधान पाकर पापकर्म उत्पन्न हुआ। तो पुण्यरूप और पापरूप दो प्रकार का यह भाव आया। तो पुण्यकर्म में पुण्य जैसी ही बात चल रही है, और पापकर्म में पाप जैसी बात चल रही है, मगर ये दोनों उपादानतया एक स्वरूप हैं और निमित्त दृष्टि से विभाव से उत्पन्न हुए हैं, ये दो है कहाँ? इसके लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है।

837- भ्रमवश एक ही जाति के विभिन्न आचरण का उदाहरणपूर्वक आख्यान-

एक उदाहरण देते हैं मानो कोई शूद्री चंडालिनी एक तुच्छ वंश वाली उसके एक साथ दो बच्चे उत्पन्न हुए। किसी गरीबी के कारण या कोई अन्याय के कारण। उसने दोनों बच्चों को उत्पन्न होते ही रात को जाकर एक वृक्ष के नीचे रख दिया और ढक दिया, अपने घर चली आई। सबेरा हुआ, लोगों का आवागमन शुरू हुआ तो सबसे पहले वहाँ से एक ब्राह्मण निकला। उसने उन दोनों बालकों को पेड़ के नीचे लेटा हुआ पाया, शरीर से वे दोनों बालक सुन्दर थे। उसके कोई पुत्र थानहीं सो वह एक बालक को अपने घर उठा ले गया, उसका पालन पोषण किया। दूसरा पुरुष कोई चाण्डाल (शूद्र) वहाँ से निकला, उसने बालक को वृक्ष के नीचे लेटा हुआ पाया, उसे अपने घर उठा ले गया। उसका पालन पोषण अपने घर किया। दोनों ही बालक बड़े हुए। ब्राह्मण के घर पला हुआ बालक ऐसे वातावरण में पला पुसा था कि वह बीड़ी सिगरेट तक नहीं

पीता था, मद्य मांस वगैरह को छूना भी बुरा समझता था, खाने पीने की बात तो दूर रही। आखिर उसका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। वह बालक अपने को ब्राह्मण समझता था। उसका आचरण पवित्र था। उधर चाण्डाल के घर पले हुए बालक की क्या स्थिति थी कि उसके घर जो आचरण पहिले से ही चला आ रहा था, बीड़ी सिगरेट पीना, मद्य मांस वगैरह खाना पीना, मद्य पीने की तो बात क्या, मद्य से प्रतिदिन स्नान करना....वह अपने को चाण्डाल समझता था। इस प्रकार से वे दोनों ही बालक भिन्न भिन्न जगहों में पलने पुसने के कारण भिन्न भिन्न प्रकार का अहंकार करते थे, उन दोनों का आचरण, उन दोनों की क्रियायें भिन्न-भिन्न हो गई। ठीक इसी प्रकार से ये पौद्गलिक कर्मवर्गणायें, मूर्तिक हैं। जैसा यह शरीर दिख रहा है, स्थूल है, मूर्तिक है, आँखों दिख रहा ऐसे ही कर्म भी हैं, जो कि सूक्ष्म हैं, मूर्तिक हैं, आत्मा के साथ रहते हैं वे कहलाती हैं कर्म वर्गणायें। सो आत्मा के विभाव का निमित्त पाकर कर्म वर्गणायें विभिन्न आचार प्रकृति वाली पुण्य पाप कर्मरूप बन गई।

838- पुण्य पाप विभावरूप एक होने पर भी अहंकारवश उनकी विधि चेष्टायें-

विभाव क्या चीज कहलाती? याने जीव के ऐसे भाव जो जीव के स्वरूप में नहीं, स्वभाव नहीं, निरपेक्ष नहीं, किन्तु पूर्वबद्ध कर्म का कर्मरस उपयोग में झलका, प्रतिफलित हुआ, उस ही में यह मुग्ध हो गया। कोई मुग्ध हो गया तो उस समय अच्छी भी बातें सूझी बुरी भी। व्यसन और पाप के परिणाम भी हुए, और जिसे लोग धर्म कहते हैं- दान, पूजा, प्रतिष्ठा, परोपकार ऐसे भी भाव हुए, ये सब भाव विभाव हैं, स्वभाव नहीं हैं। स्वभाव भाव तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहना है, चैतन्य स्वरूप मात्र रहना है। चेतना ही चेतना, उसके अतिरिक्त बाकी सब विभाव हैं। देखो इन विभावों से उत्पन्न हुए ये कर्म सब विकृत ही तो हैं और पौद्गलिक कर्म वर्गणाओं का ही तो पुञ्ज है। ये दोनों पुण्यकर्म, पापकर्म ये विभावों से उत्पन्न हुए सो परिणति से ये दोनों एक हैं मगर पुण्यरस में जैसा अहंकार है कि मैं यह हूँ या कुछ भी बात बनती है तो उसमें उस तरह की चेष्टा बनती है। पापरस में दूसरे प्रकार की चेष्टायें बनती हैं, तो ये पुण्य और पाप हैं तो दोनों एक ही रूप, मगर जुदे जुदे रस होने के कारण यह अज्ञानी जीव उनको जुदा जुदा दो रूपों में देख रहा और पुण्य की बड़ी महिमा गा रहा। कहते ना कि इसके बहुत बड़ा पुण्य है, यह बड़ा पुण्यवान जीव है, यों लोग उस पुण्यवान की प्रशंसा करते और जो पुण्य वाला जीव है वह विकल्पों में रह रहा। जो कम जानता है वह व्यक्त रूप में कम विकल्प कर पाता, जो अधिक समझदार बनता है वह बहुत-बहुत विकल्पों को व्यक्त कर रहा है, ये सब बातें देखते तो जाते ना? देखो छोटे लोगों के (किसानों के, मजदूरों के) हार्टफैल बहुत कम सुने जाते हैं और बड़ेबड़े अधिकारियों के, बड़ेबड़े धनिकों के हार्टफैल बहुत अधिक देखे जाते हैं। ये लोग विकल्प अधिक करते हैं इसलिए इनके हार्टफैल हो जाते हैं, और जो गरीब हैं, मजदूर है, खुश रहते, गाते हैं, कुछ चिन्ता नहीं, शल्य नहीं। हालांकि शल्य सब जगह है, अज्ञान सब जगह है, पर लौकिक हिसाब से जो कुछ बात देखी जा रही है उस रूप की बात कह रहे, उसके हार्टफैल होते, तो पुण्य से कौनसा बढ़ावा मिल गया और पाप

मेंपुण्य की अपेक्षा से बिगाड़ क्या बना? बिगाड़ है पाप में अधिक, पाप के फल में दुर्गति होती है मगर पुण्य भी तो दुर्गति दिलायेगा। पुण्य का उदय आया तो उससे किया अन्याय, आपे में न रहे, वैभव पाकर इतरा रहे तो परम्परया ये भी तो दुर्गति में जायगा।

839- पुण्यकर्म व पापकर्म दोनों की दुःखरूपता के परिचय में विभेष का निःसरण-

पुण्य तो भला तब माना गया जब कि पुण्य विपाक में अच्छे प्रसंग मिलें, और उनमें धर्म की ओर रुचि बने, धर्म का प्रभाव बने, इस कारण पुण्य को ठीक कहा जाता है, पर परमार्थ से पुण्य और पाप ये दोनों बेड़ियां ही तो हैं। अगर किसी को सज़ा दे दी जाय तो उसे चाहे सोने की बेड़ी पहना दी जाय, चाहे लोहे की पहना दी जाय, पर आखिर बेड़ी तो बेड़ी ही है। बताओ कैदी को सोने की बेड़ी से कुछ फायदा है। बन्धन परतंत्रता के लिये तो दोनों ही बेड़ी बराबर हैं। तो ऐसे ही यह पौद्गलिक कर्म जो दो भेष लेकर यहाँ उपस्थित हुआ है और इस दर्शनमोही जगत को अपनी लीलायें बताता है, जिससे दर्शक लोग पुण्य की ओर आकर्षित होते हैं और पाप को जान तो लेते हैं, छोड़ न सकें वह बात अलग है, मगर चित्त में एक बार तो आ ही जाता है कि यह पाप है, यह मेरे लिए भला नहीं है, ऐसे जो दो रूप आये कार्माणवर्गणाओं में, ज्ञानी उन दोनों को एक रूप समझ रहा। ये सब संसार के कारण हैं। ये सब जन्ममरण की बातें हैं। यहाँ ही सुख दुःख पाने की बातें हैं, ये सब बेकार हैं, विडम्बनायें हैं, मेरा आनन्द तो आत्मा के उत्थान में है, आत्मा का स्वभाव है आनन्द। इस सहज स्वभाव का आश्रय नहीं है इस कारण ये पाप अधिक रुला रहे हैं, मैं इस सहज स्वभाव का आश्रय करूँ तो जैसे सहज स्वभाव की पहिचान में कर्ताकर्म भेष छोड़कर वे दोनों निकल गए थे ऐसे ही मैं स्वभाव की रुचि करूँ तो पुण्य पाप के भेष में वे कर्म भी भेष छोड़कर निकल जायेंगे। कर्म नष्ट न होगा। वह तो भेष छोड़कर निकल जायगा। जीव और पुद्गल नष्ट न होंगे, वे तो भेष छोड़कर निकल जायेंगे। जैसे नाटक में पार्ट अदा करने वाला लड़का कहीं पार्ट अदा करने के बाद मर तो न जायगा, वह तो अपना पार्ट छोड़कर, भेष बदलकर चला जायगा ऐसे ही ये कर्म भी अपना भेष बदलकर, छोड़कर निकल जायेंगे।

कलश 102

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।

तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥102॥

840- जीव के विकार का हेतु परोपाधिसम्पर्क-

जीव में जितने भी बिगाड़ होते हैं वे सब अपने आप स्वभाव से तो हुए नहीं, स्वभाव तो अनादि अनन्त है। जैसा यहाँ हम आपमें है वैसा ही सिद्ध प्रभु में भी है। स्वभाव से बिगाड़ होता तो सिद्ध प्रभु में भी बिगाड़

रहता और वह बिगाड़ नित्य हो जाता, कभी मिटता नहीं। तो बिगाड़ बना कैसे? उसकी घटना हुई क्या? तो घटना यह ही तो है कि पूर्व का बँधा जितना कर्म का उदय आया, विपाककाल हुआ उस विपाक समय में, प्रतिफलन में यह जीव लगाव कर बैठा और अपने स्वरूप को तो भूल गया और उस ही प्रतिफलन रूप अपने को मानने लगा। जैसा उसकी प्रकृति का विपाक था, हास्य हँस रहा कर्म। सुनने में जरा गड़बड़ लगता होगा कि वह कर्म अचेतन क्या हँसेगा, मगर अचेतन कार्माणवर्गणा में हास्य प्रकृति और अनुभाग हे उस दृष्टि से विचारें, जो कुछ भी हो सकता हो वह हास्य कर्म का विपाक ही तो है और यहाँ प्रतिफलित हो गया उसे आपारूप मानकर यह सोचता है कि मैं हँसता हूँ, मैं रोता हूँ, मैं राग करता हूँ, मैं द्वेष करता हूँ। इस जीव को कर्मविपाक से भिन्न, इस मलीमसता से भिन्न विभावों से निराले अपने चैतन्य स्वभाव की सुध नहीं है। यह तो स्वयं चैतन्यस्वरूप है और अपने ही स्वरूप के कारण इसमें चैतन्य रस की उछाल निरन्तर चलती रहती है, मगर जब उस स्वच्छ उछाल में कर्मविपाक का कीचड़ लिपटा है, विभाव लिपटा है। तो वह एक बोझल हो गया और उसकी शोभा समाप्त हो गई। अब यह दूसरे ढंग से चलने लगा, तब यह जीव विभाव करता है, किंतु मैं इन विभावों रूप नहीं। मैं तो स्वच्छ चैतन्यस्वरूप हूँ। मेरे में मेरे ही स्वरसतः इस चेतना के कारण ज्ञानमयी स्वच्छ उछाल हुआ करती है। पदार्थ है, अपने स्वरूप से प्रकट हो रहा है, कोई विसम्वाद नहीं है। तो जहाँ बंध कथा हो याने पर भावों से सम्बन्ध बने वहाँ ही विवाद हो उठता है।

841- जिससे अपने को विविक्त समझना है उसके सुपरिचय में विविक्तता के परिचय की स्पष्टता-

वह पर उपाधि क्या है? जिसके संपर्क से विसंवाद बन बैठा उसके सम्बन्ध में यदि स्पष्ट जानकारी हो तो उससे भेद करना बड़ा स्पष्ट हो जायगा जिससे हमको अलग होना है, निराला समझना है, उसके बारे में यदि काफी परिचय हो तो निरालापन समझने में बड़ी स्पष्टता है, सुगमता है, दृढ़ता है, वह बात की बात नहीं रहती। वह अन्तर से उत्पन्न होती है और जिससे हमको निराला समझना है उसके बारे में कुछ जानकारी ही न करें- एक सामान्य शब्द ले लिया और बस कर्म से निराला, विभाव से निराला, इतना ही मात्र करने भार को शब्द ही रह गए, कर्म के बारे में, विभाव के बारे में स्पष्ट परिचय नहीं है तो उससे निरालापन भी दृढ़ता के साथ नहीं हो पाता, इस कारण थोड़ा कर्मसिद्धान्त को भी समझना चाहिए, जहाँ अनेक समझ बना रखे हैं, जो जिससे हमारा प्रयोजन विशेष नहीं, केवल एक गुजारा मात्र है वहाँ तो हम आप जानकारी बनाते, बड़ा दिमाग लगाते और जिनसे हम आपको निराला समझना चाहिए उनको केवल कर्मरस, धूल, बस इतनी ही बात कह कर छुट्टी पा ली तो उनके दृढ़ता आना मुश्किल है। तो कर्मसिद्धान्तों को जब कोई अच्छी प्रकार जानता है तो उससे भिन्नता भी बड़ी स्पष्ट समझ में आती है, अब उसी पर उपाधि का कुछ परिचय कराते हैं। वह पर उपाधि है कर्म।

842- जीवविकार के निमित्तभूत पर उपाधि का संक्षिप्त परिचय-

वे क्या हैं कर्म जो कर्म पुण्य और पाप इन दो रूपों में बँधे हुए हैं? क्या हैं वे कर्म? उन कर्मों के बारे में लौकिक जनों में दुविधा मच गई और उनको कुछ ऐसा मान लिया कि पुण्य तो हमारे श्रेय के लिए है और पाप मेरे बिगाड़ के लिए है, तथा इस बात पर उनकी कई दलीलें भी होती हैं, और कोई भी शंकाकार कुछ भी शंका रखता है या अपनी कोई जिज्ञासा रखता है तो उसके समझ तो कुछ होती है, पर समाधान ही उसका अन्तिम निर्णय होता है। कर्म क्या चीज? कार्माणवर्गणायें इस ही आत्मा के इसही क्षेत्र में रहने वाला कार्माणस्कंध है कोई, जैसे घट की उत्पत्ति में निमित्त कुम्हार है, तो कुम्हार कोई पर्दे के आकार मात्र का नहीं है वह तो दो हाथ पैर वाला हस्तादिक का व्यापार करने वाला, समझ बनाने वाला कोई पुरुष है, इसी तरह ये विभावों के निमित्तभूत जो कर्म हैं सो ये कोई हौवा ही नहीं हैं, केवल एक सिनेमा जैसी छाया मात्र हो ऐसा नहीं है, रूप, रस, गंध, स्पर्श के पिण्ड और अपने एक विशिष्ट जाति के, कार्मावर्गणायें हैं। पुद्गल की 23 जाति की वर्गणायें हैं, उनमें एक कार्माणवर्गणा भी है। सो जीव के जब रागभाव हुआ विकारभाव हुआ तो उसका निमित्त पाकर उदय में आये हुए कर्मों में ऐसा बल हुआ उसका अपने आपका कि वह नवीन कर्मों के आस्रव का कारण बन गया। आ गया कर्म, मायने कर्म में कर्मत्व रूप हो गया। जैसे मानो किसी के अपने पड़ोस के ही किसी लड़का लड़की की शादी हो, एक की कन्या, एक का लड़का, मान लो आज पति पत्नी हो गये। तो क्या वे लड़का लड़की आज उत्पन्न हुए? वह क्या कोई नई बात है? अरे वे ही तो हैं जो रोज-रोज एक दूसरे को देखते थे, मगर आज कुछ नातापन उत्पन्न हो गया। तो वे कार्माणवर्गणायें पहले से तो हैं, एक क्षेत्रावगाह में हैं और आज वे कार्माणवर्गणायें विकृत हो गई हैं, बँध गई।

843- हेतुभेद से पुण्य व पाप कर्म में भेद विदित होने की आशंका और उसका समाधान-

वे कार्माणवर्गणायें कोई भली हैं कोई बुरी हैं, ऐसा कोई मोही जीव निरखता है, पर जिसको अपने आत्महित की भावना है, आत्महित के मार्ग में जो लगता है उसके लिए सारे कर्म एक स्वरूप विदित हुआ करते हैं। कहाँ लगना है? अपने आनन्दधाम ज्ञानपुञ्ज में, अविकार निज स्वरूप में। जहाँ अपने ही स्वरूप के कारण ज्ञानानन्द स्वरूप शुद्ध उमंग उछला करती है, जिस स्वरूप में सहज चिद्विलास होता है उस स्वरूप का जो रुचिया है उसका एक ही निर्णय है कि सभी कर्म ये मेरे स्वरूप नहीं, मेरे हित के लिए नहीं। इसके सहारे, इसके आश्रय से मेरा श्रेय नहीं। तो कोई ऐसी चर्चा छेड़ सकता कि इनमें सबको एकसमान क्यों कहते? पुण्य भला है, पाप बुरा है, क्योंकि पुण्य तो बना है जीव के शुभ परिणाम के निमित्त से और पाप बना है जीव के अशुभ परिणाम के निमित्त से, इसलिए उनमें भेद तो होना ही चाहिए। हाँ भेद तो है, वहाँ भी शुभ अशुभ संज्ञा है, मगर हे आत्मन् ! तेरा लक्ष्य क्या है? मुझे क्या चाहिए? तू अनन्त काल तक किस पद में रहना चाहता है ! तूने अपना सदा के लिए कौनसा काम सोचा है। यही स्वरूप में रमूं स्वभाव में मग्न होऊँ, यह ही तो सोचा है ना। तो इसके अतिरिक्त जो कुछ भी भाव हो, जो कुछ भी विराधना हो उनमें से तू किसी को इष्ट मानकर रमना चाहता है और किसी को अनिष्ट मानकर उससे बचना चाहता है। खैर

बचने की बात तो ठीक है मगर किसी को इष्ट मानकर रमने की बात यदि तेरे चित्त में आती है तो तूने अभी मोक्षमार्ग नहीं देखा। किस रास्ते से जाना, किस मंजिल में पहुँचना यह तेरे सही निर्णय से अभी बाहर है। तू अपने स्वभाव की ओर ही तो चलना चाहता तो उसके अतिरिक्त जो भी भाव हैं, विभाव हैं। वे सब बिगाड़ हैं, और जो कर्मबन्ध हुआ, जो आगामी इस द्वैत के कारण बनेंगे वे भी सब एक रूप हैं।

844- आपतित कर्मभार के समय भी अन्तस्तत्त्व के रुचिया की दृष्टि का विषय सहज चैतन्यभाव-

देखो अन्तस्तत्त्व के रुचिया ज्ञानी पुरुष की कैसी अन्तःआराधना है। केवल एकस्वभाव ही, यह एक पारिणामिकभाव ही अनादि अनन्त अचल चैतन्य तत्त्व स्वरूप ही यह मैं हूँ, बस ऐसा ही तो रहना है, जैसा इसका सहज स्वरूप है उसी रूप ही तो सत्तासिद्ध अनुभाव है, इसकी ओर ही अन्तस्तत्त्व के रुचिया संत का दृढ़ परिणाम है। भाव यह है कि वह इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। मगर जब इस ही ज्ञानी को पूर्वबद्ध रागप्रकृतियाँ आक्रान्त करती है और यह जम नहीं पाता है अपने स्वरूप में तो बाह्य की ओर तो चलता ही है। बाह्य की ओर चले तो कैसे चले? जब कभी आपके सामने जो आप चाहते तो हों बहुत बढ़िया बात, कोई बढ़िया चीज वह तो सामने न दिखाये और अन्य दो चीजें आपके सामने दिखाये और कहें कि इनमें तुझे क्या ठीक लगता? तो ठीक तो दोनों ही नहीं, मगर जब परिस्थिति ऐसी है कि परम अभीष्ट तो मिला नहीं, कुछ अन्य ही दुर्निवार दो बातें आ पड़ी जो चाहे उनमें ले लो तो उनमें ही आप ऐसी छान्ट बनायेंगे कि चलो इनमें तो यह चीज अच्छी है, तो रागादिक की चेष्टा होती ही है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती ही है, तो पाप में प्रवृत्ति न हो, भक्ति, दया, दान, चिन्तन, मनन, चर्चा इनमें प्रवृत्ति हो तो यह तो परिस्थिति में एक छान्ट है, पर इस स्वभाव के रुचिया को उनमें रुचि नहीं है। वह तो जानता है कि मेरे मूल में क्या पड़ा है? केवल एक अन्तस्तत्त्वस्वरूप, बस इसका अनुभव ही एक परमोत्कृष्ट कार्य है।

845- पुण्य पाप कर्म के हेतुभूत शुभ अशुभ भावों में अज्ञानरूपत्व की समानता से हेतु की अभेदरूपता के कारण पुण्यकर्म व पापकर्म की अनादेयता की समानता-

हेतु की दृष्टि से भले ही शुभ अशुभ भावों से उत्पन्न हुए हैं ये कर्म, फिर भी शुभभाव और अशुभभाव ये अज्ञानरूपभाव ही तो है। यहाँ अज्ञान के मतलब क्या समझना? देखो जीव में ज्ञानभाव, केवल ज्ञान ही रहता और ज्ञान गुण का ऐसा परिणामन जिसमें सहजज्ञान ही विषयभूत हो, इस परिस्थिति को ज्ञानभाव कहते हैं। इसके अतिरिक्त चाहे कितना ही ज्ञानी पुरुष हो, सम्यग्दृष्टि हो, बड़ा संयमी हो, उसका भी जो राग है, विकार रूप है, तो स्वरूप दृष्टि से देखो वह चूँकि स्वयं चेतने वाला नहीं है इसलिए अज्ञान है। यहाँ अज्ञान की परिभाषा जरा भली प्रकार समझना और इस दृष्टि से कदाचित् कह सकते- अच्छा बतलावो- ज्ञान गुणचेतन है या अचेतन? ज्ञानगुण ज्ञानरूप है या अज्ञानरूप? ज्ञानरूप। और चरित्र आनन्द और और? ये अज्ञानरूप। जो जो गुण, जो जो पर्याय, जो जो परिणतियाँ स्वयं स्वयं को चेत न सकें, ज्ञान द्वारा ही जिनका ज्ञान बने, ऐसी जो अन्य अन्य स्थितियाँ हैं वे ज्ञानरूप नहीं कहलाती। केवल एक ज्ञान ही ज्ञानरूप है, क्योंकि

एक वह ही जानने वाला और वही जानने में आ गया। जिसको जानने वाला और बना, वह अज्ञान। जिसको जानने वाला स्वयं ही हो, वह ज्ञान। फिर तो रागादिक की बात तो और ही स्पष्ट है। वह तो अज्ञानरूप चरित्रगुण का विकार भाव है, विकृत कर्मविपाक के प्रतिफलन में हुआ है तो उसमें तो और स्पष्टता है कि अज्ञान भाव है। तो शुभ भाव हो, अशुभ भाव हो, वे सब स्वयं स्वयं को चेतने वाले नहीं हैं। उनको जानने वाला ज्ञान है, तो जहाँ ऐसी अटक पड़ जाती कि बेचारा खुद अपने को जान नहीं पा रहा, जानना बन रहा किसी दूसरे के द्वारा तो वह तो अज्ञानरूप है। फिर से ध्यानपूर्वक इस बात को समझिये- ज्ञान अपने आपके द्वारा जानने में आता, वह है ज्ञान भाव। जो अपने आपके द्वारा जानने में नहीं आता वह है अज्ञान भाव। तो शुभ भावों में भी वह अपने आपके द्वारा अपने को चेत नहीं सकता इसलिए भी अज्ञानरूप है, और फिर विकाररूप है इसलिए भी अज्ञान है। तब वह हेतु भी एक ही चीज है ज्ञानदृष्टि से। इस कारण उससे उत्पन्न पुण्य और पापकर्म हैं वे भी एक रूप कहलायेंगे।

846- अन्तस्तत्त्व की अन्तर्दृष्टि से अन्तरात्मा के अन्तः आनन्दलाभ का प्रसाद-

देखिये लक्ष्य की बात चैतन्यचमत्कारमात्र स्वभाव के रुचिया का लक्ष्य केवल निज सहज चैतन्यस्वरूप पर है। कोई भी पदार्थ है वह अपने आप ही तो है कि दूसरे की दया से है, क्या दूसरे के सम्बन्ध से है? अस्तित्व कभी भी किसी किसी दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध से नहीं हुआ करता। है तो, खुद है और जब इस आत्मा का अस्तित्व स्वयं है तो वह स्वयं का अस्तित्व जिसका है वह क्या है? यही ही तो एक दृष्टि में लेने की बात है, उसको मान लेवें कि यह मैं हूँ, बस संसार से पार होने का रास्ता मिल गया। यहाँ देखो कितनी विपत्तियाँ छापी हुई हैं कि इस जीव का उपयोग किन-किन बाहरी पदार्थों में अटक रहा है। नाम लेकर सुनायेंगे तो आप लोग और अधिक भटक जायेंगे, इसलिए इतना ही रहने दो। केवल इतना ही समझना है कि कहां कहां अटक रहा इसका उपयोग। यह स्थिति विपत्ति है या समृद्धि। और, विपत्ति पाकर भी जीव मानता है समृद्धि तो दोष पर दोष बढ़ते। एक तो भूल करना और फिर उस भूल को ही सही मानना यह महान भूल कहलाती है। कोई पुरुष कहीं मार्ग से जा रहा था, वह रास्ता भूल गया, एक मील आगे चला गया और बड़ी अकड़ के साथ तेजी से चलता जा रहा और उसे सही समझता जा रहा, बड़ी उमंग से आगे को पैर उठाता जा रहा है तो एक तो भूल गया और फिर उसी भूल को सही मान रहा सो यह तो महाभूल बन गई। ऐसे ही एक तो राग होना और उस राग की स्थिति को भला मानना, स्वरूप मानना बस इसी का नाम है मिथ्यात्व। राग में राग होने का नाम है मिथ्यात्व। विकार में राग होने का नाम हुआ मोह। ये विकार परभाव हैं इनसे विविक्त अन्तस्तत्त्व की प्रतीति से ज्ञानी अन्तः सदा प्रसन्न रहता है।

847- अन्तस्तत्त्वसंबंधित चर्या का आह्वान-

भैया अपनी चर्या पर थोड़ा दृष्टिपात तो करो और ऐसा कुछ ध्यान में लाओ कि आखिर मुझे अकेला ही तो रहना है सदा, अकेला ही तो जन्मा, अकेला ही तो मरना है, अकेला ही तो जो कुछ होवेगा वह अकेले ही

होवेगा, यहाँ कोई दूसरा मददगार है क्या? आज जो बड़े अच्छे प्यारे लगते हैं, बहुत भले लगते हैं और उनमें अनुराग बनाते हैं, क्या वे कुछ भी इस जीव के मददगार हो सकेंगे? नहीं हो सकते। इस भव में भी नहीं हो सकते। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि कोई किसी का शरण नहीं, कोई किसी की प्रवृत्ति नहीं कर सकता। तो फिर जब ऐसा है कि सर्वत्र प्रत्येक पदार्थ नंगे नंगे नच रहे हैं, अकेले-अकेले ही अपने में परिणम रहे हैं। तो ऐसे इस नंगे नाच वाले संसार में किसी पर से लगाव रखना, अन्दर से उसको अपना सर्वस्व मानना उससे अपना महत्त्व प्रभाव समझना, यह कितनी बड़ी भारी भूल है। और, इसका फल भोगने आयगा कौन? अपनी बात अपने को ही सम्हालनी होगी। इस कारण एक ही नाता रखें अपना कि मैं आत्मा हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ, जो मैं खुद हूँ, स्वयं हूँ, केवल हूँ, शुद्ध (Pure) हूँ, सबसे निराला, विविक्त अपने एकत्व में हूँ बस वही मात्र मैं रहूँ तो सारे झंझट खतमा।

848- सहजपरमात्मतत्त्व के रुचिया संत की बाह्य प्रवृत्ति-

जब मैं अपने इस सहज स्वरूप में नहीं रह पाता तो मेरी सारी दशायें होती हैं। वे दशायें क्या है? ये ही तो विभाव हैं और ये विभाव हैं पूर्वबद्ध कर्म के विपाक में, किन्तु ये मिट जायेंगी, नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, यह तो एक झलक मात्र है यहां, जितने भी विभाव बन रहे हैं, वे सबके सब एक कोटि में हैं, जब स्वभावदृष्टि कर रहे हैं, लक्ष्य में ले रहे तो उसका यह ही अपने स्वभावमात्रपने का निर्णय है, अब प्रवृत्ति बिना तो वह भी नहीं रह पा रहा, जो इतना समझ रहा तो बस प्रवृत्ति में उसकी क्या परिणति होती है, परखिये जहाँ यह स्वरूपविकास दिखा ऐसे प्रभु के प्रति उमंग के साथ प्रभु का स्मरण करता है। स्मरण क्या करता? अपने भावों को, अपने उपयोग को उस प्रभु के अविकार स्वरूप में बड़ी उमंग के साथ ले जाता है और उसे ऐसे स्वरूपविकास की साधना वाला कोई दिखे तो वहाँ बड़ी उमंग के साथ उनकी परिचर्या में, सेवा सत्संग में प्रवृत्त होता है। यह रुचि की ही तो बात है। जैसे किसी बालक को सिनेमा देखने की रुचि है और उसका कोई पड़ोसी समवयस्क बालक है, उसके भी भाव हुए कि मैं भी सिनेमा देखूंगा, तो जब एक ही लक्ष्य मिल गया दोनों का तो वे कैसा एक दूसरे के कंधे में हाथ डालकर बड़ी अच्छी गप्पें लगाते हुए, जब में अगर मूंगफली हो तो खाते खिलाते हुए कैसा बड़े वात्सल्य से चलते हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य एक है। तो ऐसे ही अन्तस्तत्त्व के रुचिया ज्ञानी का जो लक्ष्य है उसकी ही साधना करने वाला कोई व्यक्ति मिलता है तो उनको देखकर वह कितना वात्सल्य से रहेगा उसके लिए मानो सर्वस्व ही यह है, कल्पित घर के भी कुछ उसके नहीं रहे, यह है अन्तस्तत्त्व की रुचि के विकास का पर मनोज्ञ लक्षण।

849- ज्ञानी का आत्मसंतोष-

यह ज्ञानी पुरुष सदा एक अपने आपमें ही संतोष रखता, तृप्ति रखता, अपने प्रभु से ही आशीष चाहता, बाहर से कुछ नहीं, कोई वस्तु ही नहीं चाहता। परवाह क्या, जो परिस्थिति होगी उसी में निपट लिया जायगा। क्या चाहिए? बड़े-बड़े महापुरुष जिनके पुण्य का अतुल प्रताप बर्त रहा था, सारा लोक जिनका

सेवक था उनको भी कठिन अनिष्ट समागम प्राप्त हुए, उपसर्ग आये, उपद्रव आये। जैसे महावीर भगवान मुनि अवस्था में थे, रुद्र ने उपसर्ग किया, पार्श्वनाथ प्रभु पर मुनिपद में कमठ ने उपसम किया, सुकुमाल, सुकौशल, आदिक बड़े-बड़े पुण्यवान पुरुष ही तो थे, उन पर भी ऐसी स्थितियाँ आयीं। तो हम बाहर में किस-किस पदार्थ का विचार करें? उनके विचार करने से इस जीव को लाभ क्या? लोग तो सोचते हैं कि हमें ऐसा बनना है, ऐसा घर बनाना है, ऐसे ठाठ के साधन बनाना है; अरे ठीक है, घर में रह रहे हैं तो गुजारे के लिए सब कुछ कर्तव्य है, सो तो करना, मगर अपने अन्दर में ऐसा आकुलित न होना कि ऐसा ऐसा हुआ क्यों नहीं? अरे जिस घर के उपभोग में वे सब चीजें आनी हैं उनका ही भाग्य अगर साथ नहीं दे रहा तो आप उसमें क्या करेंगे?

850- अपने अन्तः एकत्वस्वरूप के आश्रय का संकल्प-

भैया बाहर में जो हो, सो हो, मगर अपने आत्मा की अन्तः साधना बना लें, क्योंकि खुद को ही अकेला रहना होगा। अब भी अकेले हैं और आगे भी अकेले रहेंगे, तो फिर उस अकेलेपन से क्यों घबड़ाते? जब हमने प्रोग्राम ही बनाया कि मुझे अनन्तकाल तक अकेला ही रहना है। सिद्ध होने का और अर्थ ही क्या है? अनन्तकाल तक पूर्ण रूप से सर्वथा अकेला ही रहना, न देह, न कर्म, न वैभव, न मित्र, न परिजन, केवल एक ज्ञानमूर्ति। जब हम इस स्थिति में रहना पसंद कर रहे हैं और अनन्तकाल तक कि लिए हम अपने को ऐसा ही चाह रहे हैं तो यहाँ अगर केवल दो मिनट अपने आपके अकेले इस सहज स्वरूप का चिन्तन करने बैठते हैं तो उसमें घबड़ाहट क्यों मचाते? चिच्चमत्कारमात्र परम पदार्थ में उपयोग के प्रतपन की एक गर्मी सी लग रही है मानो, कि वहाँ से भागकर अपने कल्पित शीतल पदार्थ में पहुंचते हैं। अनन्तकाल तो अकेला रहना है ना? तो दो एक क्षण कौनसी बड़ी बात है? किसी भी क्षण, सामायिक में किसी भी समय सर्व कुछ भार को त्यागकर अपने आपको केवल एक अकेला चैतन्यस्वरूपमात्र निरखें, थोड़ा विश्राम लें। इन विकल्पों में अनादिकाल से अब तक थकते ही तो चले आये, उन विकल्पों को त्याग कर सुनसान विश्राम से ऐसा बैठ जायें कि किसी भी पदार्थ का उपयोग न बनायें, ध्यान न बनायें, जरा ऐसा प्रयोग तो करें, यह ज्ञानस्वरूप अपने आप उमड़-उमड़ कर उसके ज्ञान में आयगा और यहाँ यह अनुभव अपना करेगा। जब अनुभव बन जाता है फिर उससे उसे कोई विचलित नहीं कर सकता। मैं यह ही हूँ, ऐसा ही चैतन्यस्वरूप हूँ इस भावना से फिर विचलित करने की किसी में भी बाह्यसाधन रूप से भी बात नहीं आती, ऐसे अंतस्तत्त्व की जिन्होंने भावना की, रुचि की, उसका अनुभव चखा, आनन्द लूटा ऐसे पुरुष के लिए यह संसार का सारा जाल और इसका हेतुभूत समस्त कर्मजाल ये सब एक हिसाब में आते हैं। सब पर हैं, सब मेरी आकुलता के हेतुभूत हैं। मेरा उसमें कुछ नहीं है। मुझे वहाँ कुछ न चाहिए, मेरी वहाँ कोई छांट नहीं। मैंने तो छांट लिया एक अपने इस अनादि अनन्त चैतन्य महाप्रभु को। इसके अतिरिक्त और कुछ भी मेरे उपास्य नहीं है। ऐसे रुचियों को सारे कर्म, सारे विभाव ये सब परभाव हैं।

851- स्वभाव विभाव का भेद ज्ञात कर स्वभाव के आश्रय के बल से कष्ट दूर करने की भावना-

जगत में जीवों का जो-जो कुछ भी नाना प्रकार का परिणमन चल रहा है- द्रव्य और परभावरूप जैसे नारकी बनना, तिर्यञ्च होना, मनुष्य बनना, देव बनना, कषायें जगना, विकल्प होना आदि जो कुछ भी ये परिणमन चल रहे हैं, यह निश्चय जानो कि ये मेरे स्वरूप की वस्तु नहीं, स्वभाव के तत्त्व नहीं। मैं तो अपने आप सहज चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ। और फिर जो कुछ भी विपदायें, गड़बड़िया विकार विकल्प जो कुछ जग रहे हैं वे उस प्रकार की प्रकृति का निमित्त पाकर यहाँ उठ रहे हैं। ये पौद्गलिक हैं, इनसे मैं निराला हूँ, ऐसा अपने आपके स्वरूप को कोई निरखे, माने तो उस ही पुरुष का, जीव का कल्याण है। मैं क्या हूँ एक इसके निर्णय पर ही अपना सारा भविष्य निर्भर है, तो इन विकारों को तो ले जावो निमित्त की ओर, वहीं जावे, मेरे में मत रहो और अपने स्वभाव को अपने में ले आवो, मैं चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ। जितना भी कष्ट है वह सब ज्ञानविकल्प का कष्ट है और यह विकल्प मेरे स्वरूप से उठता नहीं है, होते मेरे में ही परिणमन, पर ये अनैमित्तिक नहीं। ये पुद्गल कर्म का निमित्त पाकर हुए।

852- कर्मफलेच्छापरिहार के लिये कर्मपरिचय का सहायकत्व-

विभाव के निमित्तभूत कर्म क्या-क्या है? किस ढंग के हैं? उसके ही विवरण में यह प्रकरण चल रहा है कि कर्म को जानें, समझें तो सही, याने जिनके उदय में इतनी भारी विपत्ति चलती है उन्हें भी तो थोड़ा समझें कि वे हैं क्या? तो वे हैं पुद्गलकर्मवर्गणायें, सभी चाहे पुण्यकर्म हो चाहे पापकर्म हो, पुद्गलकर्मवर्गणायें हैं, उनका जो ढाँचा है, उपादान है, स्वरूप है वह सब जड़ स्वरूप है इसलिए अपने अन्तः स्वभाव के लिए उनका कोई प्रयोजन नहीं है। वे रहें अपने आपमें, मैं रहूँगा अपने स्वरूप में। जिसको ऐसे कर्म का, आत्मा का भेदज्ञान नहीं, विभाव का स्वभाव का भेदज्ञान नहीं, वह अपने स्वरूप की सुध से हटकर बाहरी बातों में लगकर व्यर्थ ही हैरान हुआ करता है। थोड़ा स्पर्श तो करें अपने स्वरूप का कितना भार हटता है, कितना विलक्षण आनन्द आता है। मेरा कुछ नहीं फिर से तो परखो यह बात। यह शरीर भी मेरा नहीं, प्रकट अचेतन है और देखते भी हैं कि भव छूटने के बाद याने मरण के बाद यह शरीर साथ नहीं जाता, जीव अकेला चला जाता। लोग इस शरीर को जला देते। इसे कोई मना तो नहीं करता कि मेरे मुन्ने को या मेरे बाबा को मत ले जावो जलाने, यहीं पड़ा रहने दो....। सब जानते हैं कि यह शरीर पार्थिव है, इस शरीर का क्या करना। सो भैया, वही तो शरीर है यह जो मरे के बाद निश्चेष्ट, रहेगा वही तो शरीर है जो साथ नहीं जाता, तो जब देह भी मेरे साथ नहीं जाता तो जगत के और पदार्थों में लालच का जो रंग बनाया है, मोह का जो रं बनाया है यह ही मेरा सब कुछ है, इस वैभव से ही तो मेरा पूरा पड़ेगा, ऐसा जो रंग बनाया है तो अपने आपके अन्दर यह बड़ा कलंक है और यह ही इस जीवन को बरबाद करने वाली बात है।

853- ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान के लिये ज्ञानमात्र बनाने के प्रयोग की आवश्यकता-

भैया अपनी करुणा कीजिये, कुछ क्षण निर्लेप तो रहें। हो रहा सबका खुद का खुद में परिणमन। कर्मोदय के अनुसार चलती हैं संसार की बात। और शान्ति की बात, मोक्ष की बात, आत्मकल्याण की बात, ये अपने स्वरूप के ज्ञान के अनुसार चलते हैं, तो पहिले अपनी परिस्थिति से तो निपट लें जो रोज रोज की परिस्थितियाँ घर में आती हैं उन पर प्रयोग नहीं करते, उनमें लाभालाभ का हिसाब घटित नहीं करते, धर्म की बातें तो बड़ी ऊँची ऊँची कर डालते, आत्मा की चर्चा भी करते और-और भी सूक्ष्म बातें करते, मगर अपना जीवन कैसा चल रहा है और उस जीवन में कितना कलुषता का रंग चढ़ा है, कितनी अधीरता है और घबड़ाहट भी किया करते हैं, कहाँ क्यास्थिति बन रही है उस पर थोड़ा ध्यान तो करना चाहिए। कहने से आनन्द न आयगा, अनुभव न बनेगा, उसके लिए तो भीतर में ज्ञान द्वारा ज्ञान में ज्ञान का ही प्रयोग करना है, स्वानुभव के लिए कोई अन्य साधना न चाहिए, उसे तो एक अकेलापन चाहिए। तो उसके लिए थोड़ा उस ज्ञान में रमना, ज्ञान से ज्ञान में ज्ञानस्वरूप को सम्बोधना, मैं क्या हूँ, किसी भी क्षण अगर चित्त में यह सारा संग का ख्याल, परिग्रह का ख्याल वासना से भी निकल जाय कुछ क्षण, और यह हो सकता है ज्ञान के उदय होने पर, तो सम्यग्ज्ञान पाना हमारे ही ज्ञान की तो बात है। कोई दूसरा हमारा ज्ञान परिणमन करने न आयगा। किसी क्षण यदि कोई विकल्प न रहे, तो निज ज्ञान समुद्र की सहज उछालों में सकल संकट संताप दूर हो जावेंगे। हम ऐसा जानें कि समग्र पदार्थ मेरे कुछ नहीं है, इन समग्र बाह्य पदार्थों से मेरे को कुछ सहारा नहीं। मैं तो ज्ञानरूप, ज्ञान के परिणमन के अनुसार फल भोगता रहता हूँ। मेरा किसी अन्य वस्तु से कुछ प्रयोजन नहीं। फिर किसी पर का ध्यान क्यों रखूँ? पर का ख्याल क्यों बनाऊँ? मैं तो शान्त बैठा हूँ, मुझे अब कुछ नहीं सोचना है, ऐसा एक क्षण भी अगर जीवन में आ सके तो यह आनन्दसागर, आनन्दनिधान, यह ज्ञान भगवान, यह अपने आप दर्शन देता है। यही तो जीवन में करने की आवश्यकता है।

854- प्रयोग बिना मात्र गप्प से लाभ की असंभवता-

जैसे सभाओं में ऐसा होता ना कि प्रस्ताव तो बहुत-बहुत कर लिया, मगर उनका अमल नहीं होता। तो कोई कहता कि भाई प्रस्ताव तो बहुत कर लिए, अब प्रस्ताव तो रहने दो, अब उस पर अमल करो। तो ऐसे ही जो हमने ज्ञानाभ्यास किया है, थोड़ी बहुत जानकारी की है उस पर थोड़ा बहुत अमल करना है। जैसी करनी वैसी भरनी, गप्प से कुछ काम न बनेगा। कुछ समय आत्म-चिन्तन प्रयोग से बाहरी विकल्प, लगाव रागद्वेष, विरोध इन सबका परिहार कर अपने में अपने ज्ञानमय भगवान को निरखने का सत्य आग्रह करना यह अगर सच्चे मन से हो सके तो वह कुछ इस जीवन में पा लेगा, और यह बात अगर न हो सकी तो कहते ना कि उससे क्या उठता? मानो कोई बाबूजी बम्बई जा रहे थे तो पास-पड़ोस की कई सेठानियाँ बाबूजी के पास आ गईं। कोई सेठानी बोली- बाबूजीमेरे मुन्ने को बम्बई से खेलने का हवाई जहाज ले आना, कोई बोली हमारे मुन्ने को खेलने का राकेट ले आना, कोई बोली हमारे मुन्ने को खेलने का रेल का इञ्जन ले आना। और एक गरीब बुढ़िया अपने हाथ में दो पैसा ले आई बोली- बाबूजी ये लो दो पैसे, हमारे

मुन्ने को खेलने के लिए मिट्टी का खिलौना ले आना, तो वहाँ बाबूजी बोले बुढ़िया माँ ! मुन्ना तो तेरा ही खिलौना खेलेगा, बाकी सेठानियाँ तो सब यों ही गप्प मारकर चली गई, उनका न खेल सकेगा। तो ऐसे ही समझो कि हम बोलते अधिक हैं, करते नहीं है, करने का तो ध्यान तक भी नहीं है, केवल बोलने बोलने की ही बात है और करने का, भीतर में सोचने का, एक अनुभव करने के लिए प्रयास करने का, पुरुषार्थ करने का इस ओरतो ख्याल भी नहीं किया कि यह भी कोई करने की चीज है, ऐसा अभ्यास, योगाभ्यास नहीं करते और केवल हम रुटीन से कुछ कुछ करते रहें, सो उससे भीतर में कुछ प्राप्ति नहीं हो पाती। तो कोई 24 घंटे में एक समय सामायिक का काम नियमित रूप से होना चाहिए और प्रभुस्मरण का काम, नाम जाप, कुछ भावना पाठ आदि ये सब हों, मगर कुछ क्षण योगाभ्यास में लगाना चाहिए। यह परवाह न करें कि हम गृहस्थ हैं, अरे! गृहस्थ हैं तो आत्मा नहीं है क्या? सम्यग्दर्शन तो जैसा मुनियों को हो सकता है वैसे ही गृहस्थों को भी हो सकता है, उसमें तो कुछ अन्तर नहीं। हाँ, बाह्य प्रसंग ऐसे हैं कि गृहस्थ को स्थिरता नहीं हो पाती और मुनि को ऐसे बाह्य प्रसंग हैं कि उनके लिए कुछ मोह का, विकल्प का साधन नहीं, वे स्थिरता पा सकते हैं, मगर जितनी अपनी सामर्थ्य है ज्ञानी गृहस्थों में, उसका उपयोग तो करें, आत्मचिन्तन करें। मैं क्या हूँ इसका चिन्तन तो करें। बहुत भीतर उतरकर निरखकर आयगी समझ में बात। जैसे किसी पदार्थ का स्वाद केवल बात करने मात्र से नहीं आता उसके खाने से आता उसी प्रकार आत्मतत्त्व की बात केवल बात बात से समझ में नहीं आती, उसके लिए समय लगाना होगा- प्रभुभक्ति में, सत्संग में, तत्त्व चर्चा में।

855- सर्वतोमुखी कुछ धार्मिक ज्ञान होने पर भेदविज्ञान व स्वरूपज्ञान में स्पष्टता की संभवता-

स्वाध्याय के लिए यह बात ध्यान में रखें कि केवल एक सीमित शब्दों वाला कोई एक ग्रन्थ का ही आग्रह करके रहे, सिर्फ वही-वही पढ़े तो कुछ इस जीव की प्रकृति है ऐसी कि उसका प्रभाव उस पर कम रहता है, फिर तो वह एक जैसे रिकार्ड है रोज बुलवा लो, रोज बोलते हैं, रोज वही-वही बात है तो इससे उसमें एक उमंग नहीं बढ़ पाती है। और, आवश्यक भी है ऐसा कि हम विविध विषयों का परिज्ञान करें ताकि भेदविज्ञान स्पष्ट हो और अनेक प्रसंगों से हममें उमंग जगे और सन्मार्ग की ओर चलने की प्रेरणा जगह, इसके लिए कभी पुराणों में चरित्र पढ़ना, चरणानुयोग के ग्रन्थ पढ़ना, करणानुयोग में भी प्रवेश करना, उसका भी अध्ययन करना, जैसे भक्तामर पाठ है- संस्कृत में हैं, हिन्दी में भी बना है, मगर आचार्यों की रचना जिन शब्दों में है उसका थोड़ा अर्थ समझकर हम आचार्यों के शब्दों में ही अपनी भक्ति बनायें, उस संस्कृत पाठ के द्वारा ही बनायें तो श्रद्धा में, उमंग में, बल में बड़ा उत्साह जगता है। आचार्य प्रणीत ग्रन्थ का जब अध्ययन करते हैं मानो कर्मसिद्धान्त, जिनसिद्धान्त का जब अध्ययन करते हैं, जीव के विषय में नाना प्रकार की स्थितियों का अध्ययन, कौन जीव, कहाँ कैसी रचना, कहाँ क्या बात? तो आचार्यों के उन शब्दों के सहारे जब हम अध्ययन करते जाते हैं तो देखो बाहरी विकल्प हटे, श्रद्धा बड़ी और होते होते यह ज्ञान तो ऐसा है कि न जाने किस क्षण कब किस जगह एक बिजली सी उत्पन्न कर दे, एक प्रकाश उत्पन्न कर दे, ज्ञानानुभव

की दशा बना दे। तो यह जब चार वेदोंरूप आगम है, तो उन चारों वेदों में से प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन सबमें हम अपना प्रयोग बनायें, हाँ अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास अधिक बनायें, तो उससे क्या होगा? एक तो होती है कृत्य की बात, उसमें तो रोज जैसे समय बिताते हैं वैसा व्यतीत हो, पर जरा सोचो तो सही कि उससे कुछ उपलब्धि हुई कि नहीं, कुछ आत्मविश्वास, आत्मरमण, आत्मस्पर्श बना कि नहीं, कुछ प्रयोग की हिदायत से बात कह रहे हैं कि अपने को चारों अनुयोगों में प्रवेश करना चाहिए।

856- अपने ज्ञानबल से ही दुःखों से छुटकारा-

अपने लिए केवल अपना ही सहारा है, इस जीव को दूसरा कुछ नहीं कर सकता। मान लो हम किसी कारण दुःखी हो रहे हैं तो हो रहे अपने विकल्प से और हमारे प्रेमी चार आदमी बहुत समझायें कि तुम दुःखी मत होवो, हमारे रहते हुए तुम फिर किस बात की करते हो...पर उनकी किसी भी चेष्टा से हमारा दुःख दूर नहीं होता। हमारा दुःख दूर होता है हमारे ही ज्ञानबल से। यह वस्तुरूप है, किसी का दुःख कोई दूर करने नहीं आयगा, किसी की विपत्ति को कोई दूसरा मेटने न आयगा। यहाँ जो कुछ मान बैठते हैं कि हमारी इस विपत्ति में फलाने ने मदद कर दी, तो वहाँ तथ्य तो यह है कि न वहाँ विपत्ति ही थी और न वह मदद ही थी। विपत्ति भी मायारूप, मदद भी मायारूप। वह एक कल्पना की बात, यह भी एक कल्पना की बात। इस जीव पर विपत्ति बाहरी पदार्थ से कभी नहीं आती। बाहर पदार्थ है, यों परिणमता, परिणमे और तरह परिणमता, परिणमे, उससे विपत्ति की क्या गुंजाइश, विपत्ति तो अपने आपके विभाव की है, दूसरी कोई विपत्ति नहीं। और विभाव का, विपत्ति का निमित्त यह जीव खुद नहीं है तब ही तो यह गुंजाइश है कि हम विकार को हटा सकते हैं, अगर विकार का, विपत्ति का मैं ही निमित्त बन गया, मैं ही अकेला, परसंग बिना स्वयं ही विकार को उड़ेलता रहता तो फिर ये विकार मिटने किसी भी तरह सम्भव न थे। ये नैमित्तिक हैं। वह कौनसा निमित्त है? ये कर्म। वे स्वयं क्या हैं? पुद्गलवर्गणायें। सब, चाहे पुण्य अनुभाग लिया हो किन्हीं ने, चाहे पाप अनुभाग लिया हो किन्हीं ने, पर वे सब वर्गणा जाति की अपेक्षा एक ही प्रकार के हैं। उन सबसे पूर्णरूप से हमको अलग होना है, पृथक होना है।

857- कर्म और कर्मफल की चेतना से विविक्त स्वसंचेतन में सर्वस्व हित मार्ग का लाभ-

देखिये, दृष्टि कर्मविविक्तता की ही हो, लक्ष्य ऐसा ही हो, फिर बनेगा क्या, होगा क्या? अरे पुण्य प्रकृतियाँ बँधेंगी, होगा यह। उनका अनुभाग आयगा, उनके फलको भोगना होगा, और चूँकि तत्त्व का ज्ञान पाया है तो भीतर में यह ज्ञानामृत की वर्षा भी चलती रहेगी। अंततोगत्वा यह समस्त पुण्य पाप कर्मों की निर्जरा और इनसे इसका छुटकारा होगा और यह केवल अपने में अपने चैतन्यस्वरूप मात्र रहेगा। अपनी दृष्टि केवल एक स्वभाव को ही अपनाने की होनी चाहिए। फिर होगा जो कुछ, ढंग से वह होता रहेगा, चलता रहेगा, पर अपने लक्ष्य कहाँ हो? जहाँ शंका रंचमात्र भी न हो। कर्म अपने स्वभाव से चलें, मैं अपने स्वभाव से चलूँगा। आखिर यह साझेदारी किकर्म का निमित्त पाकर जीव विकृत होता, जीव का निमित्त पाकर

कार्माणवर्गणायें विकृत होती, यह साझेदारी कभी तो मिटेगी, कभी तो इसमें बिगाड़ होगा? अहा, बिगाड़ होने दो देखो- बिगाड़ होने पर फिर ऐसा बिगाड़ बनता कि बस कुछ प्रयोजन ही नहीं, कर्म अपने स्वरूप में रहें, मैं अपने स्वरूप में रहता हूँ। यह भीतर का दृश्य, ज्ञानपरिणमन, कर्मपरिणमन और निमित्तनैमित्तिक योग, प्रतिफलन, ये सारी की सारी बातें इस ज्ञानी को स्पष्ट जंच रही हैं। जान रहा है ज्ञानी कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, यह मैं तत्त्व हूँ। आज ही इसी समय यदि मैं अपने इस सहज चैतन्यस्वरूप का आग्रह करके यही रम जाऊँ तो यही सारा झगड़ा खतम हो जाया। रम क्यों नहीं पाते? बस वही बात। कोई औदयिक नैमित्तिक भाव बाधक है, कमजोरी खुद की है और निमित्त में कर्म पर चल रही है यह सब बात, मगर अपने को भीतर ही भीतर अन्तः अभिसुख रहना चाहिए कि मैं केवल चैतन्य प्रकाशमात्र हूँ। कर्मसम्पदा पर आसक्त होंगे तो, जब यह परमेश्वर, यह भगवान आत्मा उस कर्म सम्पत्ति पर आसक्त हुआ, रीझ गया तब देखो कर्मपरम्परा और संसार जाल बढने में फिर कौनसी कसर रह जाती है। मोही जीव कर्मफल पर रीझता, बस यह ही इसका अपराध है, उसकी रीझ छोड़े।

858- अपनी अन्तः सूझ बूझ रीझ से स्वसिद्धि की सम्पन्नता-

सूझ बूझ और रीझ से तीन चीजें साथ-साथ चलती हैं हर एक काम में। आत्मा की सूझ, आत्मा की बूझ और आत्मा की रीझ याने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सूझ हो गई बस यही आत्मा के स्वरूप का स्पर्श हुआ, दृष्टि में आया, जान गए और फिर उसी को बूझ रहे, बराबर उसमें बुद्धि लग रही, मनन कर रहे और उसी पर रीझ गए। लौकिक बातें भी जब सूझ, बूझ, रीझ से बना करती हैं तो आत्मा का यह कामभी सूझ, बूझ, रीझ से ही बनेगा। अपने को अपने आप ही जिम्मेदार मानकर एक बार भी तो इस आनन्दविधान ज्ञानस्वरूप परमसमृद्ध भगवान अंतस्तत्त्व की ओर स्वरूपतः आ जाय तो इसको आत्मानुभव जग जायगा। इस आत्मानुभव के जगने पर सारा संसार उसे नीरस जचेगा और स्वयं का जो एक आनन्द है वह फिर कभी न भुलाया जा सकेगा। सदा वह अपने आपमें तृप्त रहेगा- “होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगत का करता क्या काम?” मैं अपना ही परिणमन कर पाता, सो मैं अपने आपकी ओरही रहूंगा।

859- सहज अन्तस्तत्त्व में अहंप्रत्यय की आस्था से परमसिद्धि का लाभ-

अपने कल्याण के लिए कर्तव्य बस एक ही है कि अपना जो सहज स्वभाव है अपने के सत्त्व के कारण जो चैतन्यस्वरूप है बस उसे ज्ञान में लें और उसमें यह मैं हूँ ऐसा अनुभव बनायें। अनुभवन की तो सबको प्रकृति पड़ी है, कोई नाम में यह मैं हूँ, शरीर में यह मैं हूँ, और बाहरी बातों में यह मैं हूँ, ये मेरे हैं, ऐसी इसकी बान तो पड़ी हुई है पर सहज वास्तविक जो अपना स्वरूप है उसमें अनुभव बने कि यह मैं हूँ तो उसका ऐसा अलौकिक प्रताप जगता है कि इस ज्ञानसमुद्र में ऐसी ज्ञान की उछालें उठती हैं कि उसमें सारे संताप, संकट सब शान्त हो जाते हैं। उस मैं का ज्ञान करने के लिए कठिनाई क्यों पड रही? यों कि स्वरूप की सुध

नहीं रख रहा और परभावों में, विभावों में यह अपने आपका अनुभव कर रहा कि यह मैं हूँ, यह इसकी बड़ी भारी कठिन समस्या है, विपत्ति है इससे अलग होना है, मुक्त होना है, तो इससे अलग हटने के लिए हमें इन विभावों का, विभावों की घटनाओं का, विभावों के हेतुओं का भली प्रकार परिचय करना चाहिए, इससे यह स्पष्टता जगेगी कि ये विभाव और विभावों के हेतुभूत, निमित्तभूत ये पौद्गलिक कर्म हैं। इन सबसे मैं निराला हूँ, मैं अपनी सत्ता से ही समृद्ध हूँ।

860- अन्तस्तत्त्व के रुचिया को अन्तस्तत्त्वातिरिक्त अन्य सब भावों में रुचि का अभाव-

देखो उस ही कर्म की बात चल रही है जिससे अपने को विविक्त रखना है। वे कर्म दो प्रकार के हैं- पुण्यकर्म और पापकर्म। तो इसके बारे में कुछ लोग द्वैतबद्धि करते हैं कि पुण्यकर्म तो शुभफल वाला है और पापकर्म अशुभफल वाला है। पुण्यकर्म में अनुभव शुभ है, पापकर्म में अनुभव अशुभ है। देखो किन्हीं की दृष्टि में ऐसी बात भी आती। यह अपनी अपनी पदवी की, योग्यता की बात है। पर जिस ज्ञानी संत को एक निज अन्तस्तत्त्व की रुचि जगी है, जो और कुछ चाहता ही नहीं है उसकी निगाह में उसके लिए तो बस एक अन्तःस्वभाव ही सर्वस्व है, उसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब एक नाम में है। हाँ प्रकृति तो जरूर पड़ी है, पुण्यकर्म में शुभअनुभाग है, जिसकी कक्षायें गुड़, खाँड़, मिश्री, और अमृत इनके गुण की तरह तारतम्य को लिए हुए हैं जैसे कि पापकर्म कटुकरस को लिए हुए है जैसे नीम की तरह, गुरबेल की तरह, विष की तरह, हालाहल की तरह। उनमें प्रकृतिभेद तो पड़ा है अनुभागभेद भी है, जुदा-जुदा रस है इन दोनों में, पर रहो जुदा रस, इस तत्त्वज्ञानी के लिए तो वे सबके सब एकरूप हैं, क्योंकि जो उन कर्मों में पुण्य हो अथवा पाप हो, जो अनुभागपड़ा है, शक्ति पड़ी है वह पुद्गलमय है या चैतन्यरूप? पुद्गल का जो कुछ है वह पुद्गल में है। तो पुद्गलरूप होने के कारण वह सब अनुभव एक ही प्रकार का है। यह ज्ञानी कर्मजाल के बीच पड़ा हुआ भी अपनी बहादुरी के साथ उन कर्मों की उछालों सहित उनसे विरक्ति रखता हुआ उससे विमुख हो रहा और स्वभाव के अभिमुख हो रहा। ज्ञान का ऐसा ही प्रसाद है। यह तत्त्वज्ञानी इन समस्त पुण्यविभावों को, उसके हेतुभूत पुण्यकर्म को, उसके हेतुभूत शुभभाव को इन सबको एक तिलाञ्जलि दे रहा। स्वभावदृष्टि के प्रसंग में उसके लिए स्वभाव के अतिरिक्त सारा विभाव, सारा लोक उसके लिए कुछ नहीं है।

861- प्राप्त संग प्रसंग की रुचि से आत्मीय अनन्त वैभव समृद्धि का तिरस्कार-

जैसे कोई सेठ था, वह अचानक ही अपनी 4-5 लाख की सम्पत्ति को छोड़कर गुजर गया। उसके था एक छोटा सा बालक। सरकार ने उस सेठ की सारी सम्पत्ति कोर्ट आफ बोर्ड कर ली और उसके बदले में उस बालक के गुजारे के लिए 500) मासिक बाँध दिया। खैर 500) मासिक पाकर वह बालक बड़ा खुश रहा करता था, वह सरकार के बड़े गुण गाता रहता था- अहा कितनी अच्छी सरकार है, देखो घर बैठे मुझे 500) मासिक भेजती रहती है। उसे अपनी सारी सम्पत्ति का क्या पता? धीरे-धीरे जब बालक 18-19 वर्ष का सयाना हुआ, समझ में आया के सरकार ने मेरी 4-5 लाख की सम्पत्ति कोर्ट आफ बोर्ड कर रखी है तो झट

उसका राग उन 500) से हट गया। सरकार ने 500) रु. भेजा तो झट वापिस कर दिया और अपनी अपील पेश कर दी सरकार के सामने कि मुझे अब नहीं चाहिए आपके 500) मासिक। मैं अब बालिग हो चुका हूँ, मुझे मेरी 4-5 लाख की सम्पत्ति वापिस की जाय। तो ऐसे ही यह लावारिस जीव, अनादिकाल से अज्ञान के कारण लावारिस बना फिर ही रहा है, दर्शनशास्त्र में कहते हैं कि यो यत्र वञ्चकः स तत्र वालः अर्थात् जो जिस बात में कुशल नहीं वंचक है, चतुराई नहीं है वह उस विषय में बालक है, लावारिस प्राणी है। इसकी जायदाद मायने अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति ये सब कोर्ट आफ बोर्ड हो चुके। इस प्रसंग को लो नाटक रूप से। तो सारा वर्णन समयसार में नाटक रूप में ही तो किया है। इस कर्म सरकार ने इसकी निधि को कोर्ट आफ बोर्ड कर लिया और किसी समय इसी को किसी भव में कुछ वैभव मिला, पुण्य के साधन मिले तो यह पुण्य सरकार के बड़े गुण गाता है अहा मेरे पास बड़ा ठाठ है, मेरा कितना पुण्य का उदय है, मुझे कुछ फिकर नहीं, सब कुछ अपने आप पुण्य दे रहा है, मेरा ऐसा मकान बन गया, ऐसी दूकान बन गई, ऐसाअमुक काम चल रहा- यों इस पुण्य सरकार के बड़े गुण गाए जा रहे हैं। अरे भैया, किसी समय समझ लो तो तथ्य शास्त्रों से, सत्संग से, ज्ञानियों से, अपने आपके खुद विचार से कि ओह मेरे में तो अनन्त आनन्द है, मेरा स्वरूप ही आनन्द है, मैं रचा ही गया हूँ, तान और आनन्द भाव से। किसी दिन रचा गया, यह बात नहीं कह रहे, जब से सत्त्व है तब से ही यह ज्ञानानन्दस्वभाव से रचा हुआ है। वह सब इस कर्मजाल के चक्र में लुट गया और अब उसके एवज में मानो थोड़ा कुछ वैभव मिल रहा है तो इससे अगर प्रीति रखेगा तो अपनी समृद्धि से हाथ धोवेगा। जैसे वह सेठ का लड़का यदि 500) मासिक में प्रीति रखता रहता तो वह अपनी उस बड़ी सम्पत्ति से हाथ धोये रहता। तो यह सब कुछ जो बाहरी सामग्री मिली हैं, इनमें यदि आसक्ति है, तृष्णा है, लोभ है, ममता है तो अपने आत्मा में एक अनन्त समृद्धि पड़ी है उससे हाथ धोये रहोगे।

862- आत्मवैभव के परिचय का एक उपाय-

अपने में क्या वैभव समृद्धि है इस तथ्य को अरहंत और सिद्ध भगवान के स्वरूप से पूछ लो, मेरे में क्या सामर्थ्य, क्या समृद्धि, क्या चमत्कार, क्या मेरी रचना है- पूछ लो प्रभु से याने प्रभु के स्वरूप से समझ लो, अपने आपकी समृद्धि का परिचय हो जायगा। देखो- अगर प्रभु का स्वरूप नहीं समझा और फिर रोज-रोज प्रभु के दर्शन करने आते तो फिर क्यों आते? किसलिए आते, क्या भव रहता, यह सब अपनी अपनी जान लो। मगर प्रभुदर्शन तो तब ही सम्भव है जब प्रभुस्वरूप का परिचय हो। प्रभुस्वरूप का परिचय तब ही सम्भव है जब आत्मस्वरूप का परिचय हो। थोड़ा परस्पर सहयोग है प्रभुस्वरूप व आत्मस्वरूप के परिचय में, प्रभु का स्वरूप जाने तो आत्मस्वरूप जानने में आयेगा, आत्मस्वरूप जाने तो प्रभु का स्वरूप जानने में आयगा। तो यहाँ यह दुविधा न समझना कि हम पहले क्या जानें। अरे जो बने सो जानो। जैसा जिसको जो भाव बैठ जाय सो करे, मगर ये दोनों परस्पर सहयोगी हैं। स्वरूप का निर्णय जिस ज्ञानी ने किया वह

इस पुण्य वैभव का निषेध करता, मुझे न चाहिए, और फिर इसके कारणभूत जो पुण्यकर्म हैं वह भी मुझे न चाहिए, फिर इसके कारणभूत जो शुभभाव हैं सो यह भी न चाहिए। किसकी बात कह रहे हैं। जो अशुभभाव तजकर शुभभाव में आया है उसके बात बनती है ऐसी।

863- शुभोपयोगी के लिये शुभोपयोग में शुभोपयोग का निषेध-

जैसे यह मुनिलिंग, यह द्रव्यलिंग, यह मोक्ष का हेतु नहीं, यह मोक्ष का कारण नहीं, इसे तज करके, इससे हट करके अपने स्वरूप में आवो यह उपदेश है। इसको मुख्यतया कौन सोचे? जो निर्ग्रन्थ है, मुनि है वह सोचे। यह निर्ग्रन्थपद, यह चीज, यह भेष मोक्ष का कारण नहीं, यह बाहरी लिंग है, शुभभाव से चलकर अपने अन्तः स्वरूप में आवो, मोक्षमार्ग मिल जायगा। कोई साधारण पुरुष जिसने पाप और व्यसनों का भी त्याग नहीं कर पाया, ऐसा पुरुष यदि इस बात को घटित करे कि यह निर्ग्रन्थभेष, यह साधुधर्म, ये व्रत त्याग ये सब बेकार हैं, हाँ ठीक है किन्तु व्यवहार का निषेध व्यवहार करने वाले किया करते हैं और इसमें फिर कहीं भी धोखा नहीं होता। पूजा करते-करते 10-12 वर्ष हो गए अथवा सारा जीवन भी बीत गया, तो वहाँ तो आत्मज्ञान जागृत होना चाहिए था, आत्मस्वरूप की ओर दृष्टि होनी चाहिए थी मगर नहीं हो पाती और यदि नहीं हो पाती आत्मस्वरूप की दृष्टि तो फिर उस पूजा करने से लाभ क्या पाया? वह तो बेकार रहा। अब यह ही बात कोई शुरू से बच्चों को समझाये कि पूजा करना बेकार...तो उसका असर क्या होगा? यद्यपि बात ठीक है, पर कौनसी बात किस पद में ठीक है, इसका भी तो ध्यान रखना चाहिए। कहाँ कौनसी बात ठीक है इस पात्र भेद से ही थोड़ा भेद बन जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं निर्ग्रन्थ थे और उन्होंने इस निर्ग्रन्थलिंग की बहुत-बहुत टीका की। उन्होंने कहा कि जो भी सिद्धि पा सके हैं वे द्रव्यलिंग का त्याग करके ही पा सके हैं। तो क्या इसका अर्थ यह था कि कपड़े पहिनकर सिद्धि पायी है? अरे वह उपदेश तो मुनियों के लिए था। जो द्रव्यलिंगी मुनि हैं वे इस द्रव्यलिंग का आश्रय त्याग दें तो उन्हें सिद्धि मिलेगी। याने मुनि होकर भी मैं मुनि हूँ ऐसा विकल्प भी न जगे। व्रत समिति गुप्ति आदि की सब क्रियायें करते हुए भी अपने सहज अन्तः स्वरूप पर दृष्टि रहे।

864- बाह्यवृत्तियों के निर्विघ्न गुजारे से बढ़कर लक्ष्य की साधना में ज्ञानी की प्रगति-

बाह्यवृत्तियाँ तो एक गुजारा है, याने मोक्षमार्ग में चलने वाले गृहस्थ भी हैं, मुनि भी हैं, गृहस्थ के लिए गुजारे का साधन परिजन, दूकान, व्यापार आदि और-और बातें हैं तो वहाँ ज्ञानी गृहस्थ यह समझता है कि यह तो एक गुजारे के लिए है, आश्रय तो स्वभाव का ही करना है, तो इसी तरह और आगे बढ़ो क्योंकि गृहस्थी की दशा में उस स्वभाव की उपासना अच्छे प्रकार नहीं बन पाती, क्योंकि कितना ही कोई सोचे, विकल्प कितने ही आते हैं रोज-रोज। जरा-जरासी बात में घमंड उखड़ ही आता है, क्योंकि संग प्रसंग परिग्रह व्यवहार नाता रिश्ता आदि ये सब बातें अगल-बगल के इतने कीचड़ भरे रहते हैं गृहस्थी में कि उसे अध्यात्मसाधना में विघ्न बहुत आते हैं, और जिस ज्ञानीगृहस्थ को अध्यात्म की तीव्र इच्छा है वह उन सब

आश्रयभूत साधनों को जोड़ देता जिनमें रहकर अध्यात्मसाधना में कठिनाई पड़ रही थी याने अब निर्ग्रन्थ अवस्था आयी तो वहाँ भी यह सोचना कि यह भी गुजारे के लिए है, क्योंकि शरीर है, रहना पड़ता है, मन वचन काय की चेष्टायें करनी होती हैं, वह सब हो रहा है, यह भी एक गुजारे की चीज है, वहाँ से ममकार त्याग देता है। तो शोभा, श्रृंगार और सच्चाई सब कुछ वहाँ मिलती है, उस शुभ व्यवहार में आकर उस व्यवहार का अत्यन्त निषेध कर अन्तःस्वरूप में प्रवेश करना है। वहाँ उसे निर्वाध आनन्द मिलता है, क्योंकि वह पदवी निर्वाध है, वहाँ स्वानुभव अधिक क्षण करते रहने का मौका भी मिलता है।

865- मार्गदर्शनपूर्वक मार्गगमन-

आचार्यजनों ने जो गृहस्थों को षट्कर्म का उपदेश किया- देवपूजा, गुरु पासना, स्वाध्याय, तप, दान और संयम या और भी जो जो कुछ बताया है यह कृपा करके ही तो जताया है। कृपा करके ही तो तत्त्वमनन श्रद्धान का उपदेश किया है। सो गृहस्थ ज्ञानी इन सब कर्तव्यों को करता तो है, किन्तु उसकी श्रद्धा में अविकार स्वभाव ही सारभूत परम पदार्थ है। अन्तस्तत्त्व के सिवाय अन्य सब भाव परिवर्तित भाव एक ही जाति के हैं एक ही प्रकार के हैं। मुनि के और गृहस्थ के श्रद्धान में अन्तर नहीं है। कर्मों से, विभावों से, सर्वविकल्पों से निराला जो एक अन्तस्तत्त्व है वही मैं हूँ, ऐसी श्रद्धा अटल ज्ञानी गृहस्थ की भी है, मुनि की भी है। श्रद्धा तो हो गई, जैसे मार्ग तो दिख गया, पर अब चलना चाहिए ना उस पर, सम्यग्दर्शन तो केवल मार्ग दिखाता है, चलाया नहीं उसने, चलाने वाला है चरण चारित्र। मार्ग दिख गया, इसका तो आनन्द आयगा, पर अब चलना रह गया। तो जिसको मार्ग दिख गया वह चलना तो चाहता है ना। यह गृहस्थ जितना चल पाता है उतने में इसे सन्तोष नहीं होता, बेकार है सब झंझट, सारे समागम। मैं अपने इस मार्ग में चल नहीं पा रहा हूँ, इस मार्ग में उतर ही नहीं पाता हूँ तो चरणानुयोग के अनुसार बतायी हुई प्रक्रिया से वह परिग्रह से विरक्त होता जाता, उस भार से अलग होता जाता और इस अध्यात्म की साधना में वह एक अवसर पाता जाता।

866- सम्यक्त्व और मिथ्यात्व में आन्तरिक अन्तर-

एक पुरुष किसी दूसरे गाँव से अपने गाँव को जा रहा था, रास्ते में शाम हो गई, अंधेरी रात थी। गाँव से कोई तीन चार मील जगह ही पार कर चुका था कि वह जंगल में रास्ता भूल गया। पगडंडियाँ उसमें अनेक थीं। वह भूल से काफी दूर गलत रास्ते में चला गया, ज्यों-ज्यों चलता जाय त्यों-त्यों फंसता जाय। थोड़ी ही देर में घना अंधकार छा गया। बादल कड़कने लगे वह घबरा गया उसने कुछ विवेक से काम लिया कि अब मुझे चलना बंद कर देना चाहिए क्योंकि अंधेरी रात है, जंगल ही जंगल मिल रहा है, ज्यों-ज्यों चलते जा रहे हैं त्यों-त्यों फंसते जा रहे हैं, अब आगे चलना उचित नहीं है, उसने चलना बंद कर दिया और एक पहाड़ी पर एक टीले पर बैठ गया। अब आकुलता, चिन्ता, शल्य उसको क्या होगी सो तो विचारो- अरे अब मैं इस भयानक जंगल में अकेला फंस गया, ये देखो भयंकर जंगली जानवरों की आवाजें भी सुनाई पड़ रही हैं,

पता नहीं मैं इस जंगल में अपने प्राण बचाकर निकल पाऊँगा भी या नहीं इस प्रकार की चिन्ता में पड़ा हुआ वह मुसाफिर जंगल में बैठा हुआ था। इसी बीच थोड़े ही समय बाद क्षणिक बिजली चमकी, उस बिजली की चमक में ही उसे कुछ ही दूरी पर सड़क दिख गई जिससे उसे जाना था। बिजली की चमक तो तत्क्षण खतम हो गई, फिर वही भयानक अंधकार छा गया। वह मुसाफिर पड़ा था वही का वही, मगर उसने बड़ा संतोष मार्ग पा लिया, सोचने लगा अरे काफी रात बीत चुकी, कुछ ही घंटे बाद प्रातःकाल होगा बस उस सड़क से निकल जायेंगे अब भला बतलावो कि उस बिजली की चमक में जो मार्गदर्शन हुआ उसमें कैसा भाव है? निराकुलता, संतोष कष्टमुक्ति की प्रतीक्षा, और उससे पहिले का क्या भाव था? घबड़ाहट, शल्य, चिन्ता। देखिये वहाँ अन्तर पड गया ना। बस यही तो मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का अन्तर है। मिथ्या गहन क्लेश विकल्पजाल में फंसा हुआ यह प्राणी परभावों की ओर, परपदार्थों की ओर नाना प्रकार के विकल्प बना-बनाकर घबड़ा रहा, परेशान हो रहा, हाय अब क्या करें, क्या होगा कदाचित् इसको यह ज्ञान बिजली चमक जाय भीतर और भीतर ही भीतर उस सहज आत्मस्वरूप का दर्शन हो जाय, हो गया क्षणभर के लिए स्वानुभव, आत्मदर्शन हो गया, अब उसके बाद इसको बड़ा संतोष हुआ। यह है आनन्दधाम। यहाँ है मेरी समृद्धि, बाहर में मेरा कहीं कुछ नहीं। संतोष हो गया, सम्यक्त्व जगने के बाद अपने ज्ञान में, स्वरूप में रति, संतोष हो जाता है।

867- सन्मार्गगमन में आन्तरिक प्रभाव-

हो तो गया संतोष स्वरूपदर्शन कर लेने पर, मगर उस स्वरूप में समाये, लीन हो, यह काम तो पड़ा है अभी करने को। जैसे उस क्षणिक बिजली की चमक में मार्ग तो दिख गया उस मार्ग से जाना है निर्णय होने से संतोष हुआ, मगर मार्ग पर चलना अभी नहीं बना। ऐसे ही सम्यग्दर्शन के होने पर मार्ग का दर्शन तो हुआ, पर अभी चलना नहीं बना, तो चलेगा, थोड़ा चलेगा। जैसे बड़े गहने वन से सबेरे चलेगा तो पहले पगडंडियों से चलेगा, सकरी गलियों से चलेगा, जिसमें कभी काँटों से धोती भी छिदेगी, कहीं थोड़ा काँटा भी निकालना पड़ेगा, थोड़ा मुड़ कर भी जाना पड़ेगा सब तरह की बातें आयेंगी, याने निःशंक एक खूब हाथ पसार कर, शान के साथ उसका चलना नहीं बन रहा, वह अभी जंगल में से ही तो निकल रहा है, होते होते जब वह जंगल पार करके सड़क पर आयगा तो यहाँ से खूब हाथ फैलाते हुए बेधड़क बड़ी शान के साथ प्रसन्न मुद्रा में चलता है अपने घर को। सम्यक्त्व में मार्ग का दर्शन तो हो गया, अब उस पर चलने की बात है, सो जैसे-जैसे कषाय मंद होती जाती, जैसे जैसे विरक्ति बढ़ती जाती और बाह्य संग परिग्रह का परिहार होता जा रहा है वैसे ही वैसे यह ज्ञानी गृहस्थ श्रावक उस स्वभाव के अनुभव में चल रहा है। थोड़ा ही चल पाता, बस कि झंझट बहुत हैं। वैसे ही बैठे कभी कुछ ख्याल आया, कभी कहीं चित्त गया क्योंकि यह श्रावक छोटी छोटी पगडंडियों से चल पा रहा है। उसे वह बेधड़क की सड़क नहीं मिली, क्योंकि उसके सामने परिस्थिति ऐसी है, वह गृहस्थी के बोझ से दबा हुआ है, परिजन है ही। तो खैर धीरे-धीरे चलते जब कभी

वह एक निर्ग्रन्थ का मार्ग पा ले, फिर यह तत्त्वज्ञान का रुचिया संत बड़ी प्रसन्नता से क्षण क्षण में वह अपनी दृष्टि करता, आत्मा की ओरदृष्टि करता, उसका एक शान से चलना हो रहा है।

868- अध्यात्म शान-

यहाँ अध्यात्म शान की बात कर रहे, शरीर के शान की बात नहीं कह रहे, शरीर का लगाव तो छूट गया। कैसी उसकी भीतरी शान है, क्षण-क्षण में आत्मदृष्टि स्वभावदृष्टि चल रही है। देखिये परिस्थिति के अनुसार उस पर भार कितना है फिर भी उसके स्वभावदृष्टि में, समिति में अन्तर नहीं आ रहा। स्वभावदृष्टि अनेक बार हो रही, उसकी एक भीतरी शान को निरखियेगा। आहार करते हुए में लग गए कोई 20-मिनट, इतने समय तक वह स्वभावदृष्टि से स्वभावसाधना से वंचित नहीं रहता। बीच-बीच क्षण-क्षण में झट स्वभावदृष्टि बन रही। यद्यपि क्रिया चल रही, फिर भी अन्तर नहीं आ रहा, लोग नहीं समझ पा रहे और चल रही है अप्रमत्तदशा। सो जैसे-जैसे यह एक ऐसी स्थिति आती है कि कोई चिन्ता का स्थान नहीं, शल्य का स्थान नहीं, वैसे ही वैसे इसको अध्यात्म की उपासना का अवसर मिलता जाता है। हो रहा यह सब काम, मगर आस्था अविकार स्वभाव की रही। ये बाह्य क्रियायें चल तो रही हैं, गुप्ति, समिति, सामायिक आदिक ये सब चल तो रहे हैं, मगर परिस्थिति यह कह रही है कि जो जो ये चेष्टायें हो रही हैं ये सब अज्ञानचेष्टायें हैं; क्योंकि उनका मूल है राग जो कि स्वयं अज्ञानस्वरूप है। ज्ञान जगने के बाद भी, सम्यक्त्व होने के बाद भी उन सारी चेष्टाओं को अज्ञानचेष्टा में डालते हुए यह ज्ञानी संत कैसा अध्यात्म में बढ़ता चला जा रहा है। ऐसा इस पुरुष के लिए पुण्यकर्म हो तो पापकर्म हो तो शुभ अनुभाग ये सब उसकी कुशील जंच रहे। इस तरह ये भेदविज्ञानी पुरुष इन कर्मों से विराम पाता है और अपने आपके स्वभाव में प्रवेश करता हुआ विश्राम करता है।

869- बन्धनविमुक्ति और स्वाधीनता का आदर-

सभी जीवों को छुटकारा प्यारा लगता है। बच्चे स्कूल में रहते हैं, पढ़ते हैं। पर उनके भीतर यह ही इच्छा रहती है कि कब घंटी बजे और छुट्टी हो। अक्सर करके ऐसा देखा जाता है इसलिए ऐसी बात कही जा रही है। एक केवल दृष्टान्त भर के लिए ही तो बात लेना है। छुट्टी की घंटी बजते ही स्कूल के बच्चे कैसा अपना अपना पाटी बस्ता लेकर उछलते कूदते हुए, अपने हाथ पैर आगे पीछे फेंकते हुए हँसते खेलते प्रसन्न मुद्रा में भागते है। बताओ- उनको खुशी किस बात की हुई? उनको खुशी हुई एक बंधन से छुटकारा पाने की। उन्होंने वह ही बन्धन समझा, दृष्टान्त की बात कह रहे कि जो जिस बन्धन में है वह उस बन्धन से छुटकारा पाने को अधिक इच्छा रखता है। जो कारागार के बन्धन है वह उससे छुटकारा पाने की अभिलाषा रखता। ज्ञानी पुरुष जिसने स्वाधीन आनन्द का अनुभव किया, आत्मा का जो सहज स्वरूप आनन्दमय चित्प्रतिभास मात्र जहाँ झंझट नहीं, जहाँ दूसरे का दखल नहीं, जहाँ आनन्द ही आनन्द बरसता रहता है, ऐसे स्वभाव का परिचय पाया, आनन्द का अनुभव किया उसे ये बाह्य सामग्री ये सब बन्धन मालूम होते हैं। यह घर बन्धन है, यह परिवार समूह बन्धन है। जैसे कहते हैं ना- तनकारागृहमाँहि, याने यह शरीर जेलखाना है ना? तो जब

आत्मीय आनन्द का अनुभव हो जाता है तो उसे ये सब बाहरी संग प्रसंग बन्धन मालूम होते हैं। उनसे छुटकारा चाहिए। हैं तो ये बाहरी बातें, किन्तु इससे जीव बुरा प्रभावित हो रहा है।

870- ज्ञानी की परमार्थ स्वाधीनता की आकांक्षा-

इस ज्ञानी को अपने आपके अन्तः बन्धन यह मालूम पड़ा कि कर्म साथ है, उनका उदय है, उनका प्रतिफलन होता है, उसमें हम धंधक जाते हैं, बहक जाते हैं। वहाँ स्वरूप की सुध छोड़ देते हैं। यह हमारे लिए बड़ा विकट बंधन है। इस बंधन से छुटकारा चाहता है ज्ञानी और चाहता है कि मैं पूर्ण स्वाधीन रहूँ, आजाद, स्वतंत्र, स्वाधीन, स्वावलम्बी रहूँ। लोग तो स्वावलम्बी इसे कहते हैं कि घर में अच्छीकमाई है, घर है, खुश हैं अपने घर में रहते हैं, खाते हैं, कहते हैं कि बस हम स्वतंत्र हैं, स्वाधीन हैं, पर यह स्वाधीनता नहीं, आखिर द्रव्य की अपेक्षा तो की, घर के अन्य साधनों की अपेक्षा तो की। और उस सुख भोगने के समय इस इन्द्रिय की अपेक्षा तो रही, यह स्वावलम्बी जीवन तो नहीं है, स्वावलम्बी जीवन है- ज्ञान में मात्र ज्ञानस्वरूप दृष्टि में हो, उसका ही ज्ञान हो, उसही ज्ञान में निरन्तर रहे और वहाँ जो एक सहज आनन्द झरता है उस आनन्द से तृप्त रहे, यह है स्वाधीन जीवन ! क्योंकि इस उपाय में सर्वप्रकार के बंधनों से छुटकारा मिलता है।

871- मोक्षेपाय की गवेषणा में लोगों की अन्तः व बाह्य निरख-

विभाव, विकार, बंधन से छुटकारा चाहने वाले ज्ञानी संत मार्ग जान गए कि इस निरावलम्बन के मार्ग से चलें, स्वाभावाश्रय के मार्ग से चलें तो हमको वह स्वावलम्बी जीवन प्राप्त होगा अर्थात् वह परिणामन प्राप्त होगा। तो यह मुक्ति के लिए उद्यम करता है। इसने तो मुक्ति के लिए उद्यम किया और देखने वाले लोग समझते नहीं क्या, कि ये ज्ञानी है यह मोक्ष का उद्यम कर रहा है। ओह ! जब तीर्थंकर , जब इतने बड़े पुरुष इन सब विभावों को त्याग कर एक इस निर्ग्रन्थता में रह रहे थे और मोक्ष की साधना कर रहे थे। मोक्ष प्राप्त किया, तो कोई अद्भुत सुख है, ऐसा लोगों को विदित हुआ था? हुआ विदित, अब उसे भिन्न-भिन्न तरह के लोगों ने अपनी-अपनी बुद्धि से वहाँ अंदाज लगाया कि यह मोक्ष कैसे मिलता? किसी ने यह ठीक समझा कि आत्मा का जो सहजस्वरूप है उसमेंमग्न होना, उसके ही ज्ञान की धारा में निरन्तर रहना, यह अन्तः पौरुष चलता, उसका फल है मुक्ति। किसी ने अंदाज लगाया कि घर के सारे बाह्य परिग्रहों को त्यागकर ऐसे निर्ग्रन्थ वेष में रहे कि किसी से कुछ मतलब नहीं, चिन्ता नहीं, परिग्रह नहीं, ऐसा एक निर्ग्रन्थ पद में आये इससे मुक्ति होती है। किसी ने यह अंदाज लगाया कि इस तरह भिक्षाचर्या से भोजन करे, इस इस तरह से जमीन को देखकर निरखकर चले, ऐसा तपश्चरण करे, ऐसा अनशन हो, ये सब क्रियायें हैं, इनसे मुक्ति मिलती है...। सबने अपनी-अपनी योग्यता से अंदाज लगाया, अब उन सब अंदाजों में सम्पर्क तो सब बात का है, मगर लक्ष्य में मूल और प्रवृत्ति में विचार दोनों ही चल रहे। जो मुक्ति की साधना में लगा है उसके लक्ष्य और प्रवृत्ति दोनों ही चल रहे और उसे देखकर लौकिक लोगों ने जो अंदाज बनाया सो यह नहीं कि उसका जरा भी संबंध नहीं, मगर लक्ष्य को छोड़कर केवल बाहरी प्रवृत्ति में जिन्होंने मोक्षमार्ग समझा,

उन्होंने तो तथ्य नहीं पाया और जिन्होंने ऐसे बाह्य प्रवर्तन में रहने वाले निर्ग्रन्थ साधु के उस भीतरी प्रक्रिया को देखा, समझा, उनका एक लक्ष्य देखा, समझा, उन्होंने मोक्षमार्ग का तत्त्व पाया। अब ऐसा होने में हम अगर प्रवृत्ति का निषेध करें तो तीर्थ प्रवृत्ति समाप्त होती है और लक्ष्य का निषेध करें तो तत्त्व नष्ट हो जाता है। मार्ग चल रहा है, महावीर भगवान का एक तीर्थ है, इस तीर्थ में अपनी-अपनी योग्यता से सब लोग चेष्टायें कर रहे हैं, कोई सफल होता कोई नहीं सफल होता। जिन्होंने अन्तः लक्ष्य पाया उनको सफलता मिली। उनके ज्ञान में स्पष्ट है कि यह सदामुक्त परमेश्वर अन्तः प्रकाशमान है।

872- अन्तः प्रकाशमान अन्तस्तत्त्व की सदामुक्तता व परमेश्वरता-

देखिये सहज परमात्मतत्त्व की भक्ति की कोशिश सब दार्शनिकों ने की। एक दार्शनिक मानता है कि सदामुक्त सदाशिव एक ईश्वर है। बाकी तो जितने मुक्त होते हैं, जितने मोक्ष में जाते हैं वे सब उसके नीचे है। उन मुक्त जीवों की अवधि है कि इतने दिन तक मोक्ष में रहना, अवधि समाप्त होने पर उनको पुनः वहाँ से गिरना होता है, फिर संसार में अवतार लेना होता है, फिर उनकी वही गति होती है। फिर जब कभी अच्छी क्रिया करेंगे तो फिर मोक्ष होगा, फिर वह संसार में गिरेगा, इस प्रकार की प्रक्रिया चलती रहेगी, मगर जो सदामुक्त परमेश्वर है, वह जगत का कर्ता है, वह एक अद्वैत परमेश्वर है, ऐसा एक दार्शनिक का कथन है। अब देखिये बात कुछ होती है तो बात उड़ती है, कुछ भी न हो तो बात कहां से चले? जितने भी जगत में दार्शनिक हैं उन सबके मतों का जितना बढ़िया वर्णन जैन सिद्धान्त के दृष्टिवाद नाम के 12 वें अंग में है कि उतना वर्णन और विवेचन तो वे लोग भी न कर सके। अब सबका एक समन्वय देखिये एक तत्त्व मिलेगा और श्रद्धा बनेगी मूल बात में कि बात वास्तव में तथ्य वह ही है। सदाशिव के मायने क्या? जो सदा कल्याणमय है सदामुक्त के मायने क्या? जो सदा छूटा हुआ है मुक्त है, ऐसा कौन है? यह अपना अन्तः स्वरूप हैं, अपना सहज चैतन्य स्वरूप है उसमें किसी पर का प्रवेश नहीं। एक के स्वरूप में किसी दूसरे का प्रवेश नहीं होता। अन्य पदार्थ का मेरे प्रदेशों में प्रवेश हो जाय यह तो बात बन सकती है व्यवहार से, मगर किसी के स्वरूप में किसी दूसरे का प्रवेश हो यह बात नहीं बनती। स्वरूप और प्रदेश ये कोई न्यारे-न्यारे तो नहीं हैं, जो आत्मा के प्रदेश हैं, जो आत्मा के प्रदेश हैं वही आत्मा का स्वरूप है। प्रदेश न्यारे हों, स्वरूप अलग बसता हो ऐसा तो नहीं हैं, मगर समझने की बात है। स्वरूप कहकर जो ज्ञान में आता उस तत्त्व में पर का प्रवेश नहीं है। प्रदेश समझकर जो एक ज्ञान में आता, स्पेश, जगह, चीज वहाँ पर का प्रवेश है व्यवहार से। जैसे कि आत्मा में कर्म का प्रवेश है प्रदेश में, स्वरूप में नहीं। अनुभव की इच्छा करने वाले आत्मा के प्रदेशरूप में निरखने की मुख्यता नहीं रहती, अथवा गुण है पर्याय है ऐसे विस्तार से निरखने की मुख्यता नहीं रहती। वह तो केवल एक अखण्ड स्वरूप को ही निरखने का अभिलाषी होता है।

873- सदामुक्तता व पारमैश्वर्य की पर्याय में व्यक्ति होने पर ही आनन्दानुभवन एवं उसकी प्राप्ति का उद्यम-

सहज स्वरूप की बात कह रहे हैं कि उस स्वरूप में पर का प्रवेश नहीं है, वह सदा मुक्त है, मगर भोग तो स्वरूप का नहीं हो रहा, भोग तो परिणमन का हो रहा, आफत तो यह लद रही है, तो आवश्यक हो गया कि जैसा स्वरूप मुक्त है, सदा मुक्त है, ऐसा स्वभावमात्र निरखने में ही इसी तरह की मुक्ति पर्याय में मिले, व्यक्त मिले तो इस जीव को आनन्द का अनुभव हो, घर में निधि गढ़ी है, घर में माया गढ़ी है, उस घर में रहने वाले को पता ही नहीं है, कुछ जानकारी ही नहीं है, कुछ सुन भी नहीं रखा, तो वह गरीबी का अनुभव करेगा या अमरीकी ठसक लायगा? बात तो बताओ। वह तो अपनी गरीबी का अनुभव करेगा, अमरीकी ठसक नहीं ला सकता। ऐसे ही अनन्त आनन्द की निधि सब मेरे में है, पर रागद्वेष विभाव पटल के नीचे ऐसी दबी है पड़ी है कि उसका पता ही नहीं, सुध नहीं तो ऐसी अनन्त समृद्धि निधि का जिसे पता नहीं, वह क्लेश का अनुभव करेगा या आत्मोत्थ निधि का अनुभव करेगा? तो आवश्यकता है इस बात की कि जैसा यह मेरा स्वरूप स्वभावतः सर्वसे विविक्त न्यारा सदा मुक्त है, ऐसी स्थिति मेरे व्यक्त रूप में हो, बस इसका इच्छुक ज्ञानी पुरुष लक्ष्य सहित प्रयोग में लगता है। देखिये व्रत, क्रिया, इनका पालन करते हुए साधु के प्रति जो ज्ञानी का आदर होता है सो क्रिया को देखकर भीतर का जो एक उसके लक्ष्य का अनुमान हुआ और उसकी उस भीतरी साधना का ज्ञान हुआ उस साधना पर मुग्ध होकर यह ज्ञानी उसका आदर करता है, जिसके ऐसा अखण्ड अन्तः स्वभाव का लक्ष्य बना, उसकी साधना में बढ़ रहा और जब तक उसके राग है, मन, वचन, काय की चेष्टा है तो उसकी चेष्टा नियम से व्रत, तप आदिकी साधनारूप मिलेगी। इसी कारण से तो हम उसके द्वारा उस भीतरी साधना का अनुमान करके उसके प्रति हम भक्ति किया करते हैं। मोक्ष के उपाय की बात जानकर ही तो ज्ञानी का निर्णय है कि शुभ अशुभ भाव सब स्वभाव से विपरीत भाव है।

874- आश्रयभेद से पुण्य पाप में भेद डालने की एक आशंका-

मोक्ष की बात सुनकर बाह्य दृष्टि वाले यह कह बैठे कि कर्म जो दो प्रकार के हैं पुण्य और पाप, सो पुण्य तो मोक्ष का आश्रयभूत है और पाप बंध का आश्रयभूत है, याने पुण्य और पाप में अन्तर है, पुण्य से होता मोक्ष और पाप से होता दुःख, कष्ट। अब क्यों कहा ऐसा किसी ने? कुछ तो निरखा होगा। बिल्कुल मूर्ख जगत में कोई नहीं है त्रुटि तो होती है, मगर मूलतः एकदम विपरीत बात समझने के लिए किसी की बुद्धि नहीं चलती, उसने क्या देखा? उन ज्ञानी साधु संतों की क्रिया, जिससे वहाँ सातिशय पुण्यबंध हुआ करता है। तो देख करके बात कहीं थोड़ा सा ऐसा भी सोचा कि धन्य है ये साधु संत और यह पुण्य का ही उदय है जो ऐसा वातावरण मिला, स्थिति मिली और देखोयह राजा थे या बड़े सेठ थे इतना बड़ा पुण्य था, उसको भी लात मारकर इस अवस्था में आये, मोक्ष की साधना में आये, तो ऐसे पुण्य वाले ही मोक्ष की साधना में लग पाते हैं, ऐसी अनेक बातें चित्त में रहीं जिससे उन्होंने यह सोचा कि पुण्य से तो मोक्ष और पाप से बंध होता। और भी क्या बात उनके चित्त में आयी होगी कि देखो पुण्य हो गया, इन्द्र हो गए तो ये इन्द्र एक भवावतारी होते हैं। इन्द्र एक भव पाकर मोक्ष जायगा तो देखो यह पुण्य ही तो सिलसिला रहा जिससे मोक्ष पहुंचने

आदिक की बातें उनके चित्त में आर्यो।उनकी कुछ बात उनके दिमाग से ठीक भी है कि भाई पुण्य की परम्परा में उन्हें मुक्ति मिली याने किसी को भी मुक्ति मिली है तो शुद्धोपयोग से मिली और जिसे भी शुद्धोपयोग मिला है तो वह शुभोपयोग के बाद मिला।अशुभोपयोग के बाद किसी को भी शुद्धोपयोग नहीं मिला।एक भी दृष्टान्त न मिलेगा कि किसी को अशुभोपयोग के बाद शुद्धोपयोग मिला हो। हो ही नहीं सकता, वस्तुस्वरूप ही नहीं कि अशुभोपयोग के बाद तुरन्त किसी को शुद्धोपयोग हो सके। जिसको भी शुद्धोपयोग होता है उसको शुभोपयोग के बाद ही होता है और शुभोपयोग, पुण्य ऐसी सब बात सोचकर एक चित्त में आया कि पुण्य और पाप में यह फर्क है कि पुण्य तो है मोक्ष का आश्रय और पाप है बंध का आश्रय। अब इसका समाधान सुनिये।

875- आश्रयभेद से पुण्य पाप में भेद डालने की उक्त आशंका का समाधान-

सहज अंतः स्वभाव का रुचिया ज्ञानी पुरुष समझ रहा है कि मुझे चाहिए क्या? बस जान गए और टन्ना कर रह गए। टन्ना कर रह जाना यह एक बुन्देलखण्डी शब्द है। टन्ना कर रह जाने का अर्थ है कि न अब भला कहना न बुरा कहना, न प्रवृत्ति करना न कुछ करना। है तो वह एक रूसने जैसी दशा, पर यह रूसने की ऐसी विचित्र दशा है कि वह किसी को बुरा भी नहीं कह रहा, किसी की प्रवृत्ति को देखकर कुछ भी नहीं कह रहा, न चाहने की बात कहता, गुम्म सुम्म ऐसा टन्ना कर रह गया। यह ज्ञानी क्या करता है कि जब इसने अपने अन्तः अविनाशी, अविकार चित्स्वभाव का अनुभव किया, जाना, बस जानकर रह गया। मुझे यह चाहिए इतनी भी बात नहीं। कुछ तरंग उठी, मुझे यह स्वरूप चाहिए, यह मेरा स्वरूप है, इसी में मुझे लगना है, ऐसा जो कभी विकल्प हुआ है तो शुभ विकल्प करेगा। जो इस केवल स्वरूप को देखकर जान गया, बस जानता है, जानता ही चला जाता है, न मोक्ष की इच्छा, न स्वरूप में रम जाऊँ ऐसा विकल्प, यह तो एक ज्ञाता हो गया, जान गया। करना क्या है अब, समझ गया बात यों है। एक ऐसी अद्भुत कोई क्षण स्थिति होती है। ऐसे इस निर्विकल्प अखण्ड विविक्त इस एकत्वस्वरूप की उपलब्धि किसी भी बाहरी विकल्प से, क्रिया से, प्रवृत्ति से, किसी से प्राप्त नहीं होती है। तो मोक्ष तो है स्वभाव के आश्रय और बंध है पुद्गल के आश्रय। वहाँ पुण्य और पाप में यह भेद नहीं पड़ा। भेद यह है कि जीव के स्वभाव के आश्रय है मुक्ति और पुद्गल, प्रवृत्ति करना आदिक के आश्रय है बंध।

876- व्यवहार चारित्र्य निरखकर अतिथियों की सेवा करने वाले श्रावक की परमार्थतः अन्तस्तत्त्व व परमार्थसंयम से भक्ति-

स्वभाव का आश्रय करके मोक्षमार्ग में चलने वाला पुरुष कैसी कैसी गैल से चल रहा है, किस किस प्रवृत्ति में चल रहा है, उसके कैसे हाथ चलते, कैसे पैर चलते, कैसे मुख चलता, कैसे उठते कैसे बैठते, कैसा उनका प्रवर्तन होता, उसको देखकर उमंग उठती, उसके प्रति प्रमोद होता है, यह एक उनके स्वभाव की ही उपासना है, कहीं उस क्रिया की उपासना नहीं। यह ज्ञानी पुरुष सर्वत्र स्वभाव की आराधना में रहता है, वहाँ

भी स्वभाव का ही आश्रय किया। पिता की फोटो आपके घर में टंगी है और कोई पुरुष अविनय से फोटो उठाये और फेंक दे तो आप उससे कुछ झगड़ भी जाते और फिर उस फोटो को उठाकर उसे कपड़े से पोंछकर उसे जहाँ की तहाँ टाँग देते हैं। तो बताओ आपने वहाँ प्यार किससे किया? क्या उस फोटो में लगी स्याही से, क्या उस कागज से? अरे इनसे प्यार नहीं किया, किन्तु प्यार किया अपने पिता से तभी तो आप उसे आदरपूर्वक उठाकर कपड़े से पोंछकर उसे आप अपने हृदय से लगाते हैं, कभी उसे अपने सिर पर भी रखते हैं, तो यह सब आदर किसका है? उस कागज, स्याही, रंग, तख्ती आदि का नहीं। वह आदर है, वह प्यार है आपका अपने पिता का। इसी तरह साधु सन्त जन जिनकी क्रियायें, चेष्टायें चरणानुयोग के अनुसार चल रही हैं, वहाँ आप उनकी सेवा करें, उनकी सुविधा में मदद दें तो यह सब जो कर रहा है ज्ञानी पुरुष वह किसके प्यार से कर रहा है। ये ज्ञानी श्रावक रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले इस देह के प्यार से सेवा नहीं कर रहे। फिर कैसी कर रहे हैं प्रवृत्ति? उनसे मिल भी रहे हैं, मालिश भी कर रहे है, कुछ भी कर रहे हैं, कर रहे हैं वैयावृत्ति, मगर यह वैयावृत्ति किसके प्यार से होती है? बस उनका जो एक लक्ष्य है, वही है यह अन्तस्तत्त्व, स्वभाव तो मोक्ष हुआ तो इस स्वभाव के आश्रय से हुआ, वे प्रवृत्ति कार्य कर रहे हैं इसलिए उनके बाह्य प्रवर्तन को देख रहे और चूँकि उनका जीवन है, सो उनकी साधना में सहयोग दे रहे हैं।

877- तीर्थप्रवृत्ति का विलोप करने में प्राणियों का अहित-

मानो किसी नगर में आज कल के जैसे आधुनिक सम्यग्दृष्टि याने शुष्क गप्प वाली चर्चा वाले बन जाय, मायने मतलब तो स्वरूप का समझें नहीं और अनुकूल प्रवृत्ति व्यवहारिक तीर्थ में होती है उसका भी कुछ ध्यान नहीं, मगर एक धर्म का नाम लेकर इतनी अपनी महत्ता बढायें कि बस मैंने ही सब जाना, मैं ही सब कुछ हूँ, बाकी सब मूर्ख हैं, कोई कुछ नहीं समझता, ऐसा मान लो जहाँ किसी नगर में सभी हो जायें ऐसी एक ढंग से तो फिर इस तीर्थप्रवृत्ति का क्या होगा? कोई त्यागी व्रती साधु भी वहाँ से निकले तो उसको तो यों ही भूखा जाना होगा। कोई प्रवृत्ति ही नहीं रह सकती। इसलिए श्रावकों को बताया है कि “गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानां। अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि” गृह कार्यों से जो पाप संचित होते हैं वे पाप धोये जाते हैं अतिथियों की पूजा से। जैसे जल खून को साफ कर देता है ऐसे ही अतिथियों की पूजा यह गृहकार्यों में होने वाले पापों को साफ कर देती है। जिनका स्वावलम्बी जीवन है उनके लिए ही है कि स्वभावाश्रय का एक सत्य ही आग्रह बनाकर तुरन्त ही निर्विकल्प समाधि में आवो। यह बात गृहस्थजनों से नहीं बन सकती, उनको गृहस्थोचित प्रवृत्ति करनी होगी। देखो शुभ व्यवहार का श्रद्धा में निषेध है, प्रवृत्ति तो पदवी अनुसार रहती है। इस ज्ञानी गृहस्थ के जो कि सम्यग्दृष्टि है उसकी श्रद्धा में समस्त कर्मों का निषेध है, समस्त चेष्टाओं का निषेध है, मगर ऐसा जानकर मुनि तो निभा लेंगे कि समस्त चेष्टाओं का हमारा निषेध है, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति, इनको गृहस्थ निभा नहीं सकता, उसे प्रवृत्ति में आना होता है। तो प्रवृत्ति में व्यावहारिक कार्यों का निषेध नहीं बन पाता मगर ज्ञानी की श्रद्धा में व्यावहारिक

कार्यों का निषेध है, क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है कि वह जान रहा है कि समस्त कर्मों से विविक्त यह केवल रहे इसी का नाम है सिद्ध होना।

878- अनेक प्रोग्रामों में भी ज्ञानी का मूल लक्ष्य एक परमार्थ अन्तस्तत्त्व का आश्रय-

अपने आप जो स्वरूप है बस यह मैं हूँ और ऐसे ही मुझे व्यक्तरूप में होना है, इसके अतिरिक्त हमारा कोई भीतर दूसरा प्रोग्राम नहीं। एक महल बनवाने वाले पुरुष को रोज-रोज दसों प्रोग्राम उसके सामने आते हैं। कभी ईंटें मंगाने का काम, कभी सीमेंट मंगाने का काम, कभी लोहा मंगाने का काम, कभी बदरपुर रेत मंगाने का काम, कभी कारीगरों के पास आने जाने का काम, यों अनेक काम उसके सामने रोज रोज रहते हैं, पर लक्ष्य उसका एक रहता- महल बनाने का। इसी तरह ज्ञानी गृहस्थ का मूल लक्ष्य तो एक है, जो सदा मुक्त नित्य अन्तः प्रकाशमान सहज स्वरूप है वही मेरे ज्ञान में रहे। गृहस्थ की परिस्थिति ऐसी है कि उसके सामने तो प्रतिदिन दसों लक्ष्य आते हैं, पूजा को जाता है, जाप करता है, स्वाध्याय करता है, गुरुसेवा करता है, सब काम करता है, पर क्या उसकी भावना होना चाहिए कि इन सब लक्ष्यों में हमारा जीवन गुजरे? नहीं। करने होते हैं ये सब काम, मगर लक्ष्य यह रहता है कि मेरे तो क्षण उस स्वरूपदृष्टि में ही गुजरें। जैसे एक भजन में कहा आत्मस्वभाव के प्रति कि “तेरी भक्ति में क्षण जायें सारे।” याने मेरा सारा समय तेरी भक्ति में जाय। तो स्वभाव की परख, स्वभाव की आराधना, स्वभाव की धुन और व्यवहार में तीर्थप्रवृत्ति तो चली आयी, जो परम्परा, जो संस्कृति चली उसके विरुद्ध प्रवृत्ति न करना वह एक सुरक्षा के लिए है। बस सुरक्षित रह गए यथार्थ प्रवृत्ति करके और भीतर में फिर इस सहज चैतन्य प्रभु की उपासना करें, जितना भी बन सके, यह है गृहस्थ का एक निर्विघ्न मार्ग, जिसमें स्वभाव के अनुभव के अनेक प्रसंग भी प्राप्त होते हैं।

कलश 103

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।

तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥103॥

879- शान्ति के अभिलाषी को स्वयं के यथार्थ निर्णय की आवश्यकता-

इस जीव का मुख्य भाव है, ध्येय है कि सही सत्य आनन्द मिले। कुछ भी उपाय करे, कुछ भी पौरुष करे, किसी भी परिस्थिति में हो अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सबकी यह भावना बनती है कि मुझको सही आनन्द मिले। इसके लिए यह जानना जरूरी है कि वह मैं क्या हूँ जो यह चाह रहा है कि मुझको सत्य आनन्द मिले और वह आनन्द क्या है जो कि वास्तविक हो? तो जब मनन करते-करते ध्यान में जम जाते हैं कि मैं तो वह हूँ जो सहज हूँ, क्योंकि कोई भी सत् किसी दूसरे की कृपा से नहीं बनता। जो है वह स्वयं

सत् है, तो मैं भी सत् हूँ। कितने ही लोग तो इसी बात की शंका रखते रहते कि मैं हूँ या नहीं हूँ, या एकदम विपरीत धारणा रखते कि मैं नहीं हूँ, जीव नहीं है, पर यह बात निभेगी नहीं। जिसमें तर्कणा हो रही, जिसमें मैं मैं का भाव बन रहा अहंप्रत्ययवेद्य, उसको मना कैसे किया जा सकता? मैं हूँ, जब मैं हूँ तो अपने आप हूँ, जो अपने आप हूँ सो मैं ही एक अकेला हूँ। प्रत्येक पदार्थ अपने एकत्व में ही रहता है, दूसरे का कुछ लेकर नहीं रहा करता। तो मैं हूँ, अपने आप हूँ, हूँ, अपने एकत्वस्वरूप में हूँ। वह क्या स्वरूप है? तो इस दृष्टि से जब अपने आपमें निरखेंगे कि मुझे तो अपने को यों देखना है कि जो स्वयं हो, परसम्पर्क से नहीं, इस निगाह से चलेंगे तो मिल जायगा अपने को अपने आप। प्रयोगसाध्य बात है। ज्ञान द्वारा ज्ञान में ज्ञान का ही प्रयोग करना है। किसको निरखना? अपने को। तो फिर बाहरी निरखना सब छोड़ दीजिए। इस गंदी हालत में इस संसारी हालत में दो बातें एक साथ न बनेंगी, क्योंकि रागवृत्ति है ना साथ कि हम बाहरी पदार्थों को भी जानते रहें, उनमें उमंग बनाये रहें और हम अपने आपकी समझ भी बनायें।

यों तो बात से समझ नहीं बनती। असली समझ बनती है अनुभव से और यह अनुभव, ज्ञानानुभव तब बनेगा जब ज्ञान में सहज ज्ञानस्वरूप ही बसता हो। तो जब किसी प्रकार इस सहज ज्ञानस्वरूप तक पहुँचे तो वह खुद यह समझ जाता है कि बस सारभूत बात इतनी ही है। यह मैं हूँ, इसमें कोई कष्ट नहीं, इसमें आपत्ति नहीं। स्वरूप से पर का प्रवेश नहीं। भले ही आत्मप्रदेश में, आत्मक्षेत्र में पर का निवास है, कर्म का निवास है, सभी द्रव्य हैं, पर निमित्तनैमित्तिकबंधन रूप से कर्म का योग है, तो रहो प्रदेश में जैसे चाहे, पर मेरे स्वरूप में पर का कुछ नहीं। स्वरूप प्रदेश से न्यारा तो नहीं, मगर स्वरूप में स्वरूप ही है, वह प्रदेश की दृष्टि नहीं कराता, वह तो एक सहज ज्ञान प्रतिभास की दृष्टि कराता है, इस सहज ज्ञानस्वरूप में इस मुझ का यह मैं हूँ, इस मेरे स्वरूप में दूसरा कुछ नहीं है, यह निर्णय किया अपने आपके घर का।

880- घटना के निरख में भी स्वभावदृष्टि का मार्गदर्शन-

अब थोड़ी जब घटना देखने चलते हैं तो घटना क्या घट रही? जब थोड़े समय को चित्त लगा स्वरूप में, वहाँ विलास जगा, मगर घटना घट रही, प्रवृत्ति बन रही, घर जायेंगे, चर्चा में निरन्तर न रहेंगे, और भी बातें होंगी, चल रही हैं, कल भी चलेगी, यह घटना क्या घट रही है? यह घटना है अपने ही पूर्व विभावों से बाँधे हुए जो कर्म हैं, जिनमें चार बंध पड़े थे- प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग वे सब अच्छी तरह उसी दिन बँध गए थे। पड़े हैं, उदय में आये हैं। कर्मों में कर्मों का विपाक फूटा है, उसका प्रतिफलन हुआ है और वहाँ यह जीव स्वरूप की सुध छोड़कर बाह्य में लग गया। तो ये जो बाह्य घटनायें बन रहीं विचित्र, ये सब नैमित्तिक घटनायें हैं। देखिये- एक बात बहुत सुन्दर उपदेश में यह निर्णय करके रखें कि जो सुनना है, जो कुछ बाँचना है, जो कुछ आगम में उपदेश है उस सबका प्रयोजन है स्वभावदृष्टि कराना, दूसरा कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि इस जीव का शरण मात्र स्वभावाश्रय है। अब तक इस जीव ने बहुत-बहुत पदार्थों का आश्रय किया, शुभविकल्प वाले, अशुभविकल्प वाले अनेक आश्रय बनाये और ऐसा करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हो

गया, और आज बड़े सुयोग से यह दुर्लभ श्रेष्ठ मानवजन्म पाया, श्रेष्ठ मन पाया, आगम में कुछ प्रवेश भी है, बुद्धि विशुद्ध है, अंतस्तत्त्व का, कल्याण का सब भाव भी बना है, ऐसा सुन्दर अवसर इन विषयकषायों में खो देना क्या बुद्धिमानी है? मनुष्य के इस भव का कितना समय तो गुजर गया, जो रहा सहा थोड़ासा समय किसी का 10 वर्ष किसी का 5 वर्ष का है इसका क्या सदुपयोग करना है। वह है यही कि जिस प्रकार बने स्वभावाश्रय बनाइये। बाहर में सब धोखा है। किसका?...विषय साधनों का, यहाँ ये सब विषयसाधन ही तो हैं। कोई मन का विषयसाधन है, कोई इन्द्रिय का विषयसाधन है, इन साधनों का आश्रय करके कोई लाभ नहीं मिलने का। सब माया है। यहाँ कोई भगवान नहीं बैठे, सब मायारूप हैं, और भगवान भी हों तो भी वह अपने ही तो पौरुष से ज्ञानद्वारा ज्ञान में ज्ञान का प्रकाश पाकर उस ही में रमकर तो काम बना पायेंगे। यह उपदेश प्रभु ने दिया और यही काम प्रभु ने किया, इसलिए वे हमारे लिए भक्ति किए जाने योग्य हैं। हम सेवा, भजन, भक्ति में, उनके गुणगान में उमंग रखते हैं, वह सब भी किसलिए? एक ही बात रखें। सब बात स्वभाव का आश्रय बनाने के लिए है।

881- पुराणचरित्र व चारित्रग्रन्थों के उपदेश में स्वभावदृष्टि की प्रेरणा-

आगम में जितना भी उपदेश है उस सबका प्रयोजन है स्वभावाश्रय करना। प्रथमानुयोग के कथन में जहाँ गड़बड़ चर्चा दिखे वहाँ ध्यान आये कि स्वभावाश्रय के बिना इस जीव की दुर्गतियाँ होती हैं। जहाँ साधुचरित्र सुना तो वहाँ यह दृष्टि बनती है- ओह देखो इस स्वभावाश्रय के काम में सर्व कुछ न्यौछावर करके, सब त्याग करके, केवल एक स्वभावाश्रय के लिए ही इसने अपनी धुन बनाया, जीवन बनाया। चरणानुयोग के ग्रन्थ पढ़े तो वहाँ भी यह दृष्टि मिलेगी कि देखो स्वभावाश्रय से विपरीत अवस्था क्या है? विभाव-विभाव का आश्रय, और विभाव होते हैं दो प्रकार के। (1) अबुद्धिपूर्वक और (2) बुद्धिपूर्वक। अबुद्धिपूर्वक विभाव तो वे कहलाते हैं कि जब इस उपयोग को आश्रयभूत कारण न मिले, याने कर्मविपाक को छोड़कर जितने भी जगत में पदार्थ हैं वे सब आश्रयभूत कारण कहलाते हैं और उस समय चूँकि कर्मविपाक तो निरन्तर है, प्रतिफलन चलता है, अबुद्धिपूर्वक विभाव बन रहा, जैसे कि कोई चौथे, पाँचवें, छठवें गुणस्थान वाला सम्यग्दृष्टि स्वानुभव में भी लग रहा हो, केवल एक ज्ञानस्वभाव, वही उपयोग में है उस समय भी उसके अबुद्धिपूर्वक विभाव चल ही रहे हैं, बुद्धिपूर्वक नहीं हैं, क्योंकि उपयोग लगा है सहज ज्ञानस्वरूप में। एक होता है बुद्धिपूर्वक। इन बाहरी पदार्थों में उपयोग देकर, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन वैभव, इज्जत आदिक में उपयोग देकर जो रागद्वेष बनते हैं वे बुद्धिपूर्वक विभाव कहलाते हैं। तो बुद्धिपूर्वक विभाव बनते ही हैं किसी बाह्य वस्तु का आश्रय करके। जैसे कि समयसार में बताया “नहि वाह्यवस्त्वनाश्रित्याध्यवसानमात्मानं लभते” बाह्यवस्तु के आश्रय बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नहीं बना पाते। यहाँ अध्यवसान का मतलब बुद्धिपूर्वक विभाव से है। तो फिर बंध का कारण क्या है? क्या यह बाह्य वस्तु है? कहते कि नहीं, बाह्य वस्तु बंध का कारण नहीं है। अध्यवसान ही बंध का कारण है। तो फिर बाह्य वस्तु का त्याग क्यों करवाते, यह प्रश्न भी किया उसी गाथा में। तो कहते हैं कि

बाह्यवस्तुप्रतिषेधः अध्यवसानप्रतिषेधार्थः अध्यवसान के प्रतिषेध के प्रयोजन से बाह्यवस्तु का प्रतिषेध कराया जाता है बस यह ही आधार चरणानुयोग का है। तो वहाँ यह बात मिलेगी कि हमारे यहाँ मंदकषाय और स्वभावाश्रय के लिए एक पात्रता समर्थता जगी है, उन बाह्य त्यागों को निरखकर तो वहाँ भी प्रयोजन लेना स्वभावाश्रय की उपासना का। करणानुयो के जो जो भी वर्णन हैं मोटे वर्णन, सूक्ष्म वर्णन, कर्मसिद्धान्त के वर्णन, उनसे भी स्वभावदृष्टि का ही प्रयोजन निकालना, जैसे जब जीव का पर्याय का वर्णन होता है कैसे-कैसे देह, कैसी-कैसी अवगाहना वाले जीव, ऐसे-ऐसे कीट, ऐसे-ऐसे निगोद वहाँ यह ख्याल आयगा कि इन जीवों को स्वभावाश्रय नहीं मिला, बाहरी-बाहरी बातों में भटके उसका फल यह है कि इस-इस प्रकार से उनको पर्यायें ग्रहण करनी पड़ रही है।

882- द्रव्यानुयोग में निश्चय नयों के वर्णन में स्वभावदृष्टि की शिक्षा-

द्रव्यानुयोग में जो नयों द्वारा वर्णन होता है उन सब नयों के वर्णन में स्वभावाश्रय का ही प्रयोजन लेना। जैसे शुद्धनय स्वानुभव का, स्वभावाश्रय का बहुत निकट वाला नय है, उससे अधिक निकट का और कोई नय नहीं। शुद्धनय का विषय क्या है? सब तरह से समझ चुकने के बाद वे सारे विकल्प जब छूट चुकते हैं और जब अखण्ड, वचन का अगोचर, सहज स्वभावमय वह पूर्ण वस्तु दृष्टि में होता है, वह है शुद्धनय, तो यही क्यों नहीं स्वानुभव कहलाया? इस शुद्धनय में भी विकल्प है उस नेतिसूचक ढंग का। तो शुद्धनय का प्रयोजन क्या है? स्वभावाश्रय, स्वानुभव यह ही उसका प्रयोजन है। परमशुद्ध निश्चयरूप से देखते हैं कि जीव चैतन्यस्वरूप है, ऐसा निरखने का प्रयोजन क्या है कि उस सहज चैतन्यस्वरूप में हमारा उपयोग जमें, उसका मुझे आश्रय बने। जब शुद्ध निश्चयनय से निरखते हैं तो जान जाते हैं- प्रभु केवल ज्ञानी, अनन्त आनन्दमय हैं। शुद्धनिश्चय नय से शुद्ध पर्याय को देखते हैं और निश्चयनय होने के कारण अभेद विधि से देखते हैं। ये सिद्धप्रभु केवली है, अनन्त ज्ञानी हैं, अपनी शुद्ध अभिन्न षटकारकता से यह ही तो निरखा जा रहा है, उसका प्रयोजन क्या? चूँकि वह प्रयोजन स्वभाव के अनुरूप है तो वहाँ कुछ अधिक सुगमता मिली कि उस अनुरूपता की वजह से उस पर्याय से हटकर स्वभाव में पहुंचें, वहाँ दृष्टि जमे, क्योंकि वहाँ भी निरखा तो यों ही जा रहा कि इस द्रव्य का यह परिणमन, इस स्वभाव की यह परिणति। जैसे किसी भी बच्चे से पूछो कि तू किसका बालक है। तो उत्तर में जो मिलता है उस चर्चा में वह प्रधान बन गया। यह अमुक का बालक है। पूछने वाले को आवश्यकता इसके बाप के परिचय की पड़ी, कुछ काम उससे ज्यादा इसके चित्त में आया होगा। तो यहाँ इस निगाह से ही निरखा जा रहा है कि यह स्वभाव के आश्रय पर्याय बनी, स्वभाव की परिणति है तो वहाँ पर्याय गौण होकर स्वभाव मुख बनता, वहाँ भी प्रयोजन स्वभाव का आश्रय करना है। अशुद्ध निश्चयनय से भी देखा गया कि यह जीव रागी है, यह परिणमन रागी है, इसका ही इस तरह का ज्ञानविकल्प चल रहा है, वह ज्ञानविकल्प इसी द्रव्य की ही तो परिणति है। यहाँ साथ-साथ लगी हुई है स्रोत की सुधा। तो यह एक विधि है कि पर्याय गौण होकर स्वभाव के लिए दृष्टि पहुँचती है। दूसरी बात यह है कि

अशुद्ध निश्चयनय से देखा तो अशुद्ध पर्यायमय, लेकिन केवल एक ही को निरखा, आश्रयभूत पदार्थपर दृष्टि नहीं है, निमित्तभूत पदार्थपर दृष्टि नहीं है। तो जहाँ यह परसम्बन्ध की दृष्टि नहीं रही तो यह विभावों का ताँता कैसे उनका लम्बा हो सकेगा? उसको मौका मिलता है फिर अपने स्वभाव के प्रकाश का।

883- व्यवहारनय व उपचार का विश्लेषण-

व्यवहारनय से देखो, व्यवहारनय घटना दिखाता है। एक बात यहाँ यह जानना कि निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों ही प्रमाण के अंश हैं और प्रमाण के अंश होने से जिस तरह निश्चयनय का विषय सत्य है, व्यवहारनय की बात भी सत्य है, पर बात क्या बन गई। जो कहीं-कहीं व्यवहार को असत्य कहा है? तो उत्तर यही है- एक होता है उपचार। वह उपचार नयों में नहीं है, किन्तु कुछ प्रयोजन के लिए है। उपचार कहते हैं व्यवहारनय की बात को इस भाषा में पेश करना जो उपादान उपादेय की भाषा बने, इसको कहते हैं उपचार। तो उपचार में जो कथन होता है उसे भी व्यवहार शब्द से कहा गया है। जब यह व्यवहार शब्द आये तब तब वहाँ यह दृष्टि लाना चाहिए कि यह उपचार वाला व्यवहार है या व्यवहारनय वाला व्यवहार है? प्रमाण के अंशरूप वाला व्यवहार है या उपचार वाला? उपचार वाला व्यवहार है तो जिस भाषा में बोल रहे हैं उपचार, उसमें उस भाषा में उपादान उपादेय का अर्थ लगायें तो मिथ्या है। उसमें तो केवल प्रयोजन की दृष्टि रखें और अपने काम में लगे। जैसे कोई कहता है कि घी का घड़ा, वही एक प्रसिद्ध दृष्टान्त है, अब इस बात को सुनकर कोई ऐसी मूर्खता तो नहीं करता कि जैसे ताँबा, पीतल, लोहा आदि धातुओं का घड़ा होता वैसा ही घी से निर्मित घड़ा होता। सभी को मालूम है कि प्रयोजन से कही गई यह बात है, जिसमें घी रखा वह। यदि ऐसा उपादान उपादेय से कोई कहे, यह ताँबे का, यह मिट्टी का और यह घी का घड़ा है, तो वह भाषा मिथ्या है, उसका ज्ञान मिथ्या है। प्रयोजन देखना है और काम करना है, घी को खाया पिया और जहाँ का तहाँ रख दिया, तो उपचार भाषा कहलाती है एक संक्षिप्त (Short) भाषा और संक्षेप में बनेगी वह उपादान उपादेय वाली भाषा, सो अगर इसी तरह अर्थ समझें तो मिथ्या है और केवल प्रयोजन निकालें तो ऐसा चलता ही रहता है।

884- द्रव्यानुयोग में व्यवहारनय के वर्णन में स्वभावदृष्टि की शिक्षा-

व्यवहारनय जो प्रमाण का अंशभूत है वह एक घटना बतायगा याने जैसे यह राग हुआ तो राग प्रकृति का उदय, आत्मा में नहीं बना लेकिन जैसे अन्यत्र निमित्तनैमित्तिक भाव परखा गया यहाँ भी निरखें कि उस उदयकाल में उसका प्रतिफलन होना, ज्ञेय होना, यह एक तो अनिवारित बात है। अब उस प्रतिफलन में चूँकि ऐसा ही अशुद्ध उपादान है तो उसमें यह अपना ज्ञानविकल्प बनायगा। तो वहाँ निमित्तनैमित्तिक भाव जानकर और उस निमित्तनैमित्तिक भाव के ज्ञान से स्वभाव दृष्टि से ज्ञान की शिक्षायें लें जैसे कि समयसार में भी अनेकों जगह बताया है कि “ये कर्मोदयविपाकप्रभवा भावा न ते मम स्वभावाः” ये रागादिकभावकर्मोदय के विपाक से उत्पन्न हुए हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। नैमित्तिक भाव जानकर स्वभावदृष्टि के लिए उमंग यों लगती

है कि मेरे स्वरूप के भाव नहीं हैं, सहज भाव नहीं हैं, आगंतुक हैं, औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, परभाव हैं ये। नैमित्तिक हैं, इसका अर्थ यह नहीं कि निमित्त ने अपनी परिणति से किया हो। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ की परिणति को नहीं करता और साथ ही यह बात है कि कोई भी विकार निमित्त के सन्निधान बिना होता नहीं। जब ये दोनों बातें एक साथ हैं कि निमित्तसन्निधान बिना विकार होता नहीं, निमित्त उपादान की परिणति को करता नहीं, तो वहाँ ऐसे ही तो स्वभावदृष्टि का अवसर मिला कि भाई ये नैमित्तिक हैं। निमित्त के सन्निधान बिना होते नहीं, इसलिए ये तो निमित्त की ओर जावो, उस खाते में ही पटको इन रागादिकभावों को और अपने को शुद्धस्वभाव में अनुभव करो, स्वभावाश्रय करो। जितना भी उपदेश है वह स्वभावाश्रय करने के लिए है, परन्तु विषयों का आश्रय करने के लिए नहीं है।

885- साधु संतों की भक्ति सेवा में भी स्वभावदृष्टि की शिक्षा-

अब एक बात और परखिये कि ज्ञानियों को स्वभावाश्रय का मार्ग तो मिला, किन्तु कुछ पदों में वे स्वभावाश्रय में, या इसके अनुभव में, या इसकी चर्चा में, या इसकी दृष्टि में कितने क्षण रहेंगे? तो प्रतीति तो रहती है सदा, मगर उपयोग कितने क्षण रहेगा? तो फिर यह ज्ञानी पुरुष करता क्या है? उसकी चर्चा तो देखो- स्वाध्याय किया, सत्संग किया, पूजन किया, ध्यान किया और चूँकि विभावों से उसकी उपेक्षा है ही, जहाँ देखा कि इसको गरीबी का कष्ट मिला, इसकी यह तकलीफ मिटाता है, दान किया, धर्म से दान किया, ये सब कार्य ज्ञानी कर रहा है। तो कर रहा है ज्ञानी क्या करे? जब स्वभाव का उपयोग नहीं है तो दो बातें सामने आयीं। या तो अशुभ भाव करे या शुभ करे। उनमें से छॉट की अपेक्षा उसने यह ठीक समझा कि अशुभभाव से शुभभाव अच्छे हैं। और देखो अशुभोपयोग को प्रवचनसार में अत्यन्त हेय बताया और शुभोपयोग को हेय कहा व शुद्धोपयोग को अत्यन्त उपादेय बताया। ये शब्द वाले प्रवचनसार में, चाहे इस शब्दों से कहे और चाहे शुभोपयोग को कथिश्चत् हेय या कथंचित् उपादेय कहें क्योंकि अत्यन्त हेय अशुभोपयोग को कहा उससे यही धुन निकलती है। परिस्थिति में ज्ञानी को ऐसा करना ही होता है। तो ज्ञानी ने शुभोपयोग यों किया। अब धर्मबुद्धि वाले बहुत से लोग हैं। जिन्होंने ज्ञानी को देखा कि यह क्या करता है- “महाजनो येन गतःस पन्थाः।” अज्ञानी की बात देखो- जो बड़े ध्यान में रहता, पूजा भी करता, व्रत भी करता, उपवास भी करता ये सब ज्ञानी की क्रियायें देखी, दूसरों ने भी देखी, उनको भी धर्म की चाह थी, पर लक्ष्य उनका नहीं बन पाया सहज स्वभाव के आश्रय का।

886- ज्ञान व सम्यग्ज्ञान का प्रकृत विश्लेषण-

भैया, एक तोहोता है ज्ञान, एक होता है सम्यग्ज्ञान। देखिये- ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इस ज्ञान और सम्यग्ज्ञान का अन्तर क्या? जैसे बहोरीबंद...में भगवान शांतिनाथ की बहुत बड़ी प्रतिमा है उसे तो मैंने भी आँखों नहीं देखा, पर सुना है, पुस्तकों में पढ़ा है, उसकी नाप तौल भी पढ़ने को मिल गई, तो वह भी ज्ञान हमें सही हो गया, जैसी प्रतिमा है वैसा ही हम जान रहे

हैं, मगर जब वहाँ जाकर साक्षात् रूप में उस प्रतिमा के दर्शन करें तो बताओ इन दोनों प्रकार के ज्ञानों में अन्तर है कि नहीं? एक तो कहलाता अनुभवसहित ज्ञान और एक कहलाता अनुभवरहित ज्ञान, मगर यह उल्टे मार्ग का ज्ञान तो नहीं था। तो ऐसेही जो और धर्मात्मा पुरुष हैं, जिन्हें स्वभाव का अनुभव नहीं हुआ न वे लक्ष्य प्रतीति में एकदम जमे, फिर भी वे ज्ञान तोकरते हैं। सुनी है आत्मा की बात और ज्ञानियों की बात देखी, उस क्रिया में भी लगता है तो, उससे भला एक तीर्थ प्रवृत्ति तो बनी। तो प्रवृत्ति में क्रिया का निषेध नहीं बना, किन्तु श्रद्धा में क्रिया का निषेध है। तो जिसने अपने स्वभाव का परिचय पाया, उस पुरुष का यह निर्णय है कि कर्म जितने हैं पुण्य, पाप, शुभ, अशुभ याने स्वभाव से हटकर जो कुछ भी परिणतियाँ हैं वे बन्धन के साधन हैं, और यह ही कारण है कि इस ज्ञानी की दृष्टि में यह निर्णय बना है कि मोक्ष का हेतु तो ज्ञान ही है। इस सहज स्वभाव का आश्रय ही मोक्ष का मार्ग है। और जो उस सहज स्वभाव का रुचिया है, इस स्वभाव का जहाँ विकास मिला है, प्रभु अरहंत, इसके प्रति उमंग जगती है, इस सहजस्वभाव की जिसे दृष्टि मिली है ऐसे यहाँ के साधुसंत त्यागीजन, ज्ञानीजन उनके संग के लिए उमंग मिलती है और अपनी शक्ति माफिक हर प्रकार की सेवा के लिए उमंग रहती है, वह सब भी किसलिए? स्वभावाश्रय के लिए। कहाँ-कहाँ क्या होता, यह अपने-अपने उपादान की बात है, और जिस जिसने विकास कर पाया, उन सबका उद्देश्य स्वभाव का आश्रय करना है। तीर्थप्रवृत्ति रहे और भीतर में स्वभाव के आश्रय की बात रहे।

कलश 104

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
 प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
 तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
 स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥104॥

887- समस्त कर्म से रहित अन्तस्तत्त्व की साधना के प्रयोग की शिक्षा-

समयप्राभृत ग्रन्थ श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित है, एक मुनि द्वारा रचित है और मुख्यतया मुनियों के सम्बोधन और साधना के लिए रचित है फिर भी जैसे जो बड़े लोगों के लिए काम होता है उसमें छोटे लोगों का भी प्रयोजन बनता है। तो सर्वसाधारण को भी इससे लाभ मिलता है। जब इस दृष्टि से देखेंगे तो ऐसा समझ में आयगा कि जैसे इसे केवल प्रयोगात्मक विधि से चलने के लिए कहा गया हो। जैसे समयसार की अन्तिम गाथाओं में एक मुनिलिंग के लिए लतार सी दी है, अनेक प्रकार से समझाया है कि यह मुनिलिंग त्याग दो।...तो यह किसके लिए कहा? गृहस्थों को नहीं कहा, जो मुनिजन हैं उनकी बात चल रही है, उनको सम्बोधित किया है, इस तरह से काम न चलेगा। तुम वहाँ से उपेक्षा करो और अपने स्वरूप में आवो,

आत्मसंयम प्राप्त करो। यह तो उनका साधन है, निःशल्य निश्चिन्त विधि से परमार्थसंयम में लग सकें एतदर्थ गुजारा करने का बाह्य साधन है निर्ग्रन्थ भेष। जीवन का गुजारा चलाना है ना, इसी से तो सम्बन्ध है कि किस तरह से गुजारे की विधि रखें कि चिन्ता न हो, शल्य न हो। अधिकाधिक अध्यात्मभावना बने, यह ही तो है मुनिलिंग का प्रयोजन और ऐसा होता ही नहीं कि जो द्रव्यसंयम में न गुजरकर मात्र भावसंयम में बढ़कर मुक्त हो सके, जो भी मुक्त हुए वे निर्ग्रन्थ लिंग से मुक्त हुये। पर कोई ऐसी दृष्टि रखे कि मैं मुनि हूँ, मुझे ऐसे चलना चाहिए...और की तो बात क्या, अगर कोई शत्रु कोल्हू में पेले तो भी उस पर रंच विरोध न रखना, मैं साधु हूँ, मुझे विरोध न रखना चाहिए, ऐसी समता भी बनी है तो भी वहाँ मिथ्यात्व का अंश सम्भव है। मैं मुनि हूँ। अरे मैं तो दर्शनज्ञान स्वरूप एक चिदानन्द पदार्थ हूँ, यह प्रतीति में न रहे जिस भाव में और प्रतीति में बसा यह है कि मैं मुनि हूँ, मुझे ये सब काम इस-इस तरह से करने चाहिए तो दृष्टि की परीक्षा करो, कहाँ दृष्टि लगी है? पर्याय में दृष्टि है सो अनर्थ बनेगा इस तरह मुनिजनों को समझाया तो उसी प्रसंग की बात यहाँ इस गाथा में भी है। सबने सुना, हाँ सभी प्रकार के पुण्यकर्म और पापकर्म ये निषेध्य है। सामने आत्मा का स्वरूप जो सहज आनन्दमय है अनादिसिद्ध है, अन्तः प्रकाशमान है उस स्वरूप में कष्ट का विकार का नाम नहीं, जो है सो जानना। ऐसी तो एक इच्छा भी होती है सबकी कि जो सही है उसको समझना। तो यहाँ सही के मायने है जो अपने आप है, स्वयं है, स्वतः सिद्ध है, बस वह वही है और उसकी ही प्रतीति बने कि मैं यह हूँ।

888- आत्मसाधना के प्रयोग में समस्त कर्मों का निषेध-

देखिये बात में तो बात चलती है और प्रयोग में उस ही प्रकार की बात बनती है। गप्प से काम नहीं चलता, किन्तु भीतर से एक ऐसी लगन हो और ऐसी एक करुणा हो कि मुझे अन्य बात से कुछ प्रयोजन नहीं, मुझे तो संसारचक्र से निवृत्त होना है, अथवा यह बात क्या? जो स्वरूप है जान गए बस उस ही रूप रहना, ऐसी जिसके मन में एक भावना बनी ऐसा पुरुष जानता है कि अपने स्वरूप की ओर रहना यह तो है सारभूत बात और इससे अतिरिक्त क्या है ! विकार, कोई प्रकार के रागद्वेष के सम्बंध रखने वाले परिणाम। वे सबके सब मेरे नहीं, मेरे हित के नहीं। मेरे को उनसे प्रयोजन नहीं, मैंने तो एक सहज आनन्दधाम निरखा अपने आपके अन्दर, बस जान गए, हो गया, वहाँ ही हमारा निवास हो, अन्य से प्रयोजन नहीं। ऐसा जिसने निर्णय किया, मायने पुण्य पाप, शुभ अशुभ सभी प्रकार के ये तो सभी भाव स्वरूपरमण से भिन्न हैं उन सबका इसने प्रतिषेध तो किया अपने भीतर की तैयारी में, पौरुष में। भले ही ऐसे पौरुष से पुण्यरस बढ़ता है, हां यह तो एक प्रसंग की बात है, मगर लक्ष्य जिसका एक स्वरूपरमण की ओरही है, उसने तो समस्त सुकृत और दुरित सबका निषेध कर दिया। निषिद्ध हो गया। वे मोक्ष के हेतु नहीं मोक्ष का हेतु तो ज्ञानाश्रय है, ज्ञान है।

889- समस्त चेष्टाओं का निषेध कर नैष्कर्म्य अवस्था में आने वाले मुनिजनों के प्रति अशरणता की एक आशंका-

पुण्यपाप कर्म का जहाँ निषेध हो चुका अब कोई चेष्टा जहाँ नहीं है ऐसी स्थिति जब समझ में आयी तो एक आशंका हुई तो फिर ये मुनिजन करें क्या? इनको कोई सहारा नहीं रहा, आलम्बन नहीं रहा, दिन काहे में कटे? क्योंकि अब तो नैष्कर्म्य की वृत्ति हो गई। कुछ नहीं करना, बस स्वरूप को देखना, स्वरूप को देखते रहना, बस जानना देखना, ज्ञाता द्रष्टा रहना, बस यह जानना देखना, ज्ञाता द्रष्टा रहना, बस यह एक स्थिति बताई जा रही है। अभी जंगल में बैठे हैं तो वहाँ कोई उनका साथी है क्या? उनका कोई वहाँ आश्रय नहीं आलम्बन नहीं। अच्छा मुनि के बारे में अनेक लोग शंका करें तो ठीक है, वे तो पुरुष हैं, पर यहाँ तो बहुत से लोग सिद्ध भगवान के बारे में भी ऐसी बात छेड़ देते कि सिद्ध हो गए, अब उनका सारा दिन रात कैसे कटता होगा? उनके साथ परिवार नहीं,, दूकान नहीं, वहाँ उनको दूध, चाय वगैरह कुछ धरा नहीं, न बच्चे है, न परिवार है, न लोग हैं, कैसे उनका जी (मन) लगता होगा? अपने जी (मन) से तुलना करने की प्रकृति होती है प्रायः सभी की। तो जिस जिसने अपने स्वभाव का दर्शन किया उसकी प्रकृति होती है किसी भी जीव को देखकर पहले उनके ही स्वरूप की दृष्टि बनती। यहाँ यह स्वरूप है। तथा घटना में दृश्य ये बातें जब एकदम ही दिख रहीं तो उन्हें कहाँ फेंका जायगा? उनका भी निर्णय करना, अमुक जीव, अमुक जीव, ऐसा भोग, ऐसी स्थिति, यह भी निर्णय रखना, मगर जिसको जो लगन है, आँखेंखोलकर देखने पर बहुत जल्दी वह नजर आयगा। जिसको स्वभावदर्शन हुआ, स्वरूपदर्शन हुआ, अपना अनुभव हुआ और जानन बना स्पष्ट ज्ञानमात्र स्वरूप, तो अन्य जीवों को निरखकर याने जिस तरह संगप्रसंग है, पहले दृष्टि यह ही बनेगी कि यह भी ऐसा ही है। जैसा मेरा स्वरूप है वैसे ही यहाँ ये सब हैं। अच्छा, और जिसको स्वभावदृष्टि नहीं हुई, स्वभावदर्शन नहीं हुआ, भले ही कहने के लिए तो ऐसा है कि खूब उछलकर, नाचकर बड़े हावभाव से उस आत्मतत्त्व की बात की जा सकती, क्योंकि वह तो एक पार्ट है, वह किया जा सकता, ऐसा भी कर रहे दुनिया को भी बता रहे, खुद भी एक मुद्रा बना रहे, पर स्वरूपदर्शन अगर खुद को नहीं हुआ तो चूँकि वह पगा तो मिथ्यात्व में हैं ना, उसको तो अपनी करतूत पर, क्रिया पर अहंभाव है ना, तो ठीक किया, मैं ठीक कर रहा हूँ, बहुत अच्छा हो गया, इस प्रकार का जब भीतर में मिथ्यारूप पड़ा होता तो जगत के जीवों को देखकर पहली दृष्टि तो यह हो जायगी कि ये मोही, अज्ञानी, मूढ़ हैं। हालांकि मिथ्यादृष्टियों का समूह है संसार में, मगर पहले का क्या नजर आये ! केवल दो बातों पर बात कह रहे। जो स्वरूपरमणकरता है उसके जीवों के प्रति सबसे पहले यह प्रकाश आयगा कि बस यही स्वरूप है जो मैं हूँ, पीछे उनके बहुत विरुद्ध घटनायें घटती है उनको निरखकर फिर टिकेगा कैसे उनका भी निर्णय रखना है।

890- सहजपरमात्मतत्त्व के मिलने के अपूर्व आनन्द के अनुभव में साधुओं को परमशरण का लाभ-

यहाँ बात कही जा रही है कि निष्कर्म साधु का शरण क्या है ऐसी आशंका होगी किसको? जिसको स्वरूपदर्शन और रमण का आनंद नहीं मिला। सिद्ध में जैसे शंका कर ली, उन मोहियों को क्या पता कि आत्मा एक अकेला अपने स्वरूपमात्र है और उसकी तो यह ही स्वच्छ तरंग उछलती हुई निरन्तर रहा करती

है ज्ञाता मात्र, जो आनन्द से परिपूर्ण है बस वही निरन्तर चलता रहे, उनको फिर किसी प्रकार से कुछ बदल की आवश्यकता भी नहीं होती। निरन्तर ज्ञानानन्द अमृत यही झरता रहता है उनमें, तो ऐसे ही जिन्हें पता नहीं है उन मुनिराज का कि वे क्या आखिर जंगल में करते रहते? दिख रहा ऐसा कि जब ऐसी तत्त्व की बात कही गई तो बस नैष्कर्म्य। कुछ नहीं करना। कर नहीं सकते बाहर। बाह्य पदार्थ का कुछ कर नहीं सकते। करने का विचार करें तो वह अध्यवसान है और वह मिथ्या है, कर्मबन्ध का हेतुभूत है। सारी बातें एक ढंग से चलें तो क्या रहा नैष्कर्म्य? कुछ काम नहीं रहा। तो अशरण हो गए वे, उनको कोई सहारा न रहा ऐसी आशंका विषय साधन में मौज मानने वाले लौकिक जनों को होती है।

891- नैष्कर्म्यप्रवृत्त होने पर ज्ञानीजनों को ज्ञान में ज्ञान की प्रतिचरितता का शरण बताते हुए उक्त आशंका का समाधान-

अब उक्त आशंका का निराकरण करते हैं। जिन्होंने सुकृत दुरित समस्त कर्म तज दिये ऐसे मुनिजन अशरण नहीं हैं। देखिये बात बहुत की जा रही है, उसे अपने पर भी घटित करना चाहिए, क्योंकि जो एक कोई लक्ष्य होता है तत्त्व प्रतिपादन का, वर्णन का तो एक ऊँची विधि से चलता है, यहाँ पर भी साथ-साथ चलना है। इस शिक्षण से शिक्षा लेते रहें कि हमको भी तो ऐसी ही दृष्टि चाहिए ना और इस स्वरूपदर्शन से हमारा भी तो यह ही भाव चाहिये। तो स्थिरता नहीं है मगर हम भी अशरण नहीं। हमारे प्रतीति तो है, उस ओर अभिमुखता तो है। कोई व्यग्रता नहीं हो सकती ज्ञानी को, कि अरे आज कल दिन बहुत बड़े होते, कैसे कांटे दिन? बहुत समय है, चौबीस घंटे कैसे व्यतीत हों? अरे जब उसका यह निर्णय है कि बाहर में करने को कुछ है ही नहीं, भीतर में जो होना सोचल ही रहा है। वहाँ ज्ञान ज्ञानस्वरूप में रम रहा, यह तो सर्वोत्तम शरण है। अब और बात क्या रही? कौनसी आपत्ति है? कौनसी वेदना है, कौनसी बात है जिसमें मैं अशरणता का अनुभव करूँ? कैसी भी आपत्ति आये गृहस्थ को- इष्ट से भी इष्ट गुजर गया, अब्बल तो न गुजरे तो भी आफत और गुजर जाय तो भी आफत, जब तक इष्ट का प्रसंग है तब तक चित्त में वेदना नहीं रहती क्या? जिसे इष्ट माना उसका विकल्प करके वह कष्ट मानता, और वह गुजर जाय तो उसमें भी कष्ट मानता। कभी देखा होगा कि घर में कोई पुरुष बीमार है और जिसके प्रति यह सन्देह हो रहा कि पता नहीं यह बचेगा या नहीं। कोई बड़ा कठिन रोग है, जब-जब डाक्टर आता तो अकेले में धीरे से पूछता- बताओ यह सचमुच बचेगा भी कि नहीं? यों वह बड़ी शल्य रखता। मरे के बाद उतनी शल्यनहींरहती जितनी कि जिन्दा में। जिन्दा में तो बहुत ही व्यग्रता रहती है। मरे के बाद दुःख तो है मगर जिन्दा रहते हुए भी उसके प्रति नाना प्रकार की कल्पनायें चलती थीं- पता नहीं यह जिन्दा रहेगा भी या नहीं, पता नहीं इसका क्या होगा...अनेक बातों का शल्य बना रहा करता था। यह तो सब एक कल्पनाओं का जाल है। कल्पनाओं से दुःख हो रहा। कल्पनायें तज दें, ज्ञानस्वरूप में रमें यही सच्चा शरण है।

892- सहजानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व की भक्ति के प्रयोग में कुछ स्थितियों का दिग्दर्शन-

वस्तुतः दुःखी यहाँ एक भी नहीं। अपने को देखें, अपने स्वरूप में आवें, अपने स्वरूप को सम्हालें, अकेलापन दिखे- मोह विष का परिहार कर दें कि मेरा वह घर, मेरी वह फैक्टरी, मेरा वह परिवार, मेरा वह बड़प्पन...अरे भीतर में तो एक ऐसी वासना लिए बैठे हैं और थोड़ा बहुत धर्म भी करते हैं, सुन रखा, कर रहे हैं, पर यह धर्माभूत कहाँ आये, वहाँ तो जगह नहीं है। हृदय तो एक ठोस बर्तन बन गया, हृदय को उन वासनाओं से ऐसा ठसाठस भर लिया है कि उसमें अमृत की बूँद भरने की गुंजाइश नहीं रही। अरे उस बर्तन को रीता कर दो, उस हृदय को उस वासनाओं से रीता कर दो तो वहाँ यह ज्ञानामृत उपयोग, स्वभावदृष्टि, ये सब बातें आयेंगी। जितने भी सिद्ध हुए, जिन्होंने भी निर्वाण पाया है, उनका भी कल्याण हुआ है, एक अपने इस सहज स्वरूप के आश्रय से हुआ है, दूसरी दृष्टि नहीं उनकी हुई जिससे कि वे निर्वाण प्राप्त करें। परिस्थितियों की बात और होती है तथा एक उत्सर्ग की बात और होती। अपवाद की परिस्थिति में जो होता सो अपवाद के मायने बुरी बात नहीं, भली बात का भी नाम अपवाद है, जैसे व्रत, तप, संयम, समिति ये सब अपवाद कहलाते हैं, यह भला है, अपवाद का अर्थ यहाँ पाप, व्यसन, खोटी बात, मिथ्या बात यह नहीं, स्वभावदृष्टि के मुकाबले में बाह्य चेष्टाओं को देखें तो अपवाद का अर्थ समझ में आयगा। जो चरणानुयोग की विधि बताई गई- ऐसे उठो, ऐसे बैठो, ऐसे निर्दोष समितियों का पालन करो...यह तो स्वभाव दृष्टि के सामने अपवाद है। कौन सी दृष्टि में? जहाँ एक यह भावना बनी है कि स्वरूपरमण ही एकमात्र कर्तव्य है, अन्य कुछ नहीं, तो इस दृष्टि के मुकाबले शुद्ध क्रियायें भी अपवाद हैं जब चरणानुयोग की विधि से देखते तो ये व्रत, तप सम्यक् हैं, फिर चरणानुयोग के सामने अपवाद क्या है? किसी समय मन डिग गया, वचन हिल गया, कोई दोष हो गया, वह अपवाद है। अब यहाँ चरणानुयोग की विधि से जो एक कर्तव्य करना हो रहा है तप आदिक का वह तो बन गई सही बात, और कोई दोष बन गया तो वह हो गया उसका अपवाद।

893- शुभोपयोग की हेयता व उपादेयता की स्थिति-

मतलब यह है कि परमोत्सर्ग तो यही है कि अपने इस सहज स्वरूप की दृष्टि हो, वहाँ ही रमण हो किंतु परिस्थितिवश सब करना होता है, जैसे अभी आत्मस्वरूप में रमण हुआ नहीं और बाहर में राग परिणतियाँ उठ रहीं तो वहाँ छॉट करनी पड़ेगी कि इस पापभाव से भला पुण्यभाव है। तब वे दो चीजें आ पायीं सामने, हम नहीं रम सके अपने स्वरूप में तो वहाँ बात कही जाती है। इसी कारण शुभोपयोग को दर्शाया है उपादेय, या हेय और शुद्धोपयोग को कहा है अत्यन्त उपादेय और अशुभोपयोग को कहा है अत्यन्त हेय। ये तीन शब्द जो प्रवचनसार में अमृतचन्द्रसूरि ने दिये, सो आप देखिये- श्रद्धा, आदर, दृष्टि, प्रयोग, आचार, दशा, इन सबका कैसा अनुमान हो रहा है। बताया है कि अशुभोपयोग तो अत्यन्त हेय है और शुभोपयोग जिसके फल में देव, मनुष्य राज्य वैभव आदिक प्राप्त होते हैं इसको उत्थानिका में बताया हेय और अत्यन्त उपादेय शुद्धोपयोग, इन शब्दों में कहो, अथवा इन शब्दों में कहो कि अशुभोपयोग अत्यन्त हेय, शुभोपयोग कथञ्चित् उपादेय और शुद्धोपयोग अत्यन्त उपादेय, इन शब्दों में कहो, शब्दों पर लड़ाई नहीं होती, होना ही न चाहिए,

भाव उसका समझना उस परिस्थिति में उपादेय का इस तरह निर्णय है और उत्सर्ग विधि में बस एक स्वरूपदृष्टि ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त समस्त विभाव उसके हेय है, तो ऐसा जिसके निर्णय बना और इस तरह की दशा में जो चलने लगे तो वे मुनिजन अशरण नहीं हैं।

894- पुण्यपापनिषेधक मुनिराजों के वास्तविक शरण का दिग्दर्शन-

अच्छा तो परखो, सर्वचेष्टाविमुक्त मुनिराजों को किसका सहारा है? वहाँ न तो कोई मालिक बैठा, न नौकर है, न कोई साधन है, जंगल में जंगली जानवर बसे हुए हैं, कहते हैं कि वे मुनिजन अशरण नहीं हैं। अरे उस समय, उस स्वरूप उमंग के समय ज्ञान में प्रतिचरित हो गया ना। देखिये भेददृष्टि से बात कही गई। चीज तो है वहाँ अद्वैत एक, जो है सो, बस देखो। पर प्रतिषेध भेद बिना नहीं होता। प्रतिचरित होता है याने वह ज्ञानस्वरूप जो अनादि अनन्त स्वरूप है, निरपेक्ष सहज स्वभाव है, शक्ति है उसके प्रति यह ज्ञानोपयोग जो जान रहा, समझ रहा, यही उसका प्रतिचरित होना कहलाता है, यही एक उनको बड़ा शरण मिला है, देखो ऐसी बात होती ना कि जहाँ कोई दूसरा तीसरा प्रेमी नहीं रहा बात करने को तो अकेला रहे तो घबड़ाहट हो जाती। तभी तो लोग कहते हैं कि देखो यह महाराज बेचारे अकेले ही बैठे रहते, इनके पास कोई आता जाता नहीं, इन बेचारे को कहाँ से अच्छा लगे।...वहाँ लोगों को इस तरह का विकल्प होता है, तो ऐसी एक आदत होगी लोगों की कि न मिले कोई दूसरा बात करने को तो उनका समय काटा नहीं कटता। तो यही बात उन मुनियों की भी है। उन्हें कोई दूसरा न मिले बोलने को तो उनका दिन नहीं कटता। अच्छा, मगर थोड़ा यही अन्तर देखना, यहाँ तो बोलने को मिलेगा कोई, मगर स्थिर न मिलेगा। आये 10-5 मिनट बोल दिया, चल दिया, फिर कोई दूसरा आया 2-4 मिनट को बोल दिया, चल दिया, वहाँ कोई स्थायी बोलने वाला नहीं मिल पाता। मगर उन मुनिमहाराज को तो स्थायी सहज परमात्मतत्त्व मिल गया निरन्तर बोलने को जो कि उनसे एक सेकण्ड को भी चलित नहीं होता, भागता ही नहीं, खूब बात करें, खूब एकरस होकर मिल जुलकर करें, क्योंकि यह करने वाले में भी उमंग है कि मैं खूब बात करूँ अपने सहज भगवान से और यह भगवान भी यहाँ से हटकर जाता नहीं, तब फिर कौनसी बात में व्यग्रता रह गई? यहाँ तो ज्ञानीजन अपने आपके स्वरूप में प्रतिचरित होते हुए स्वयं अनुभव करते हैं किसका? परमामृत का। इस ज्ञानस्वरूप में निरत होते हुए मुनिजन अमृत का अनुभव करते हैं।

895- परमार्थ अमृतपान-

अमृत का अर्थ क्या है? अमृत लावो, जहाँ से मिले वहाँ से लावो, सदा को अमर हो जायें। और अधिक मिल जाये तो थोड़ा सा स्टेनो भाई को भी दे देना, ताकि ये भी उसे पीकर अमर हो जावें (हँसी) तो भाई यहाँ बाहर में खूब खोज कर लो, कहीं न मिलेगा वह अमृत । तो क्या कहीं न मिलेगा? हाँ मिलेगा, कहाँ मिलेगा, कौन है? अरे अमृत शब्द का ही अर्थ जान लो तो मिल जायगा। पहले शब्द का ही अर्थ ले लो, फिर मिलने में देर न लगेगी। अच्छा तो क्या है अमृत का अर्थ? दृष्टि नहीं गई लोगों की कि अमृत अर्थ

क्या है। लौकिक जन खोजते हैं बढ़िया द्रव्यमयी कोई चीज, यहाँ अमृत का अर्थ है न मृतं इति अमृतम् जो मरे नहीं उनका नाम है अमृत। अब इस मरे में सब आ गया। जो हटे नहीं, जिसका वियोग न हो, जो अपरिपूर्ण नहीं, अधूरा न रहे उसी को ही तो सत् कहते हैं। घर में कोई बच्चा बात नहीं मानता तो झट कह बैठते- मर जा तो क्या मरे का इतना ही अर्थ है? तो ऐसा कौनसा ऐसा तत्त्व है जो मरता नहीं, जिसका कभी वियोग नहीं होता, तथा जो कभी अधूरा न रहे और कहीं गुमता नहीं, वह कौनसा तत्त्व है? वह है मेरा सहज ज्ञानस्वरूप, सहजसिद्ध परमात्मतत्त्व। अब ज्ञानपात्र द्वारा उस अमृत का पान तो कर लीजिए, अमृत का अनुभव होगा, कैसा आनन्द आयगा। अनुभव वाला तो बता पायगा नहीं। आया तो किसी में। कैसे आया वह आनन्द? तो वह बताया नहीं जा सकता। ऐसा कार्यरहित अविकार स्वरूप देखिये- केवल स्वरूपदृष्टि से सामर्थ्य, शक्ति स्वभाव अविकारी है। अविकार स्वभाव याने केवल प्रतिभास, केवल प्रकाश, केवल जानन, वहाँ कुछ तरंग भी नहीं, इसे जाना, उसे जाना, इसमें कुछ तरंग भी नहीं और मात्र जानन होता ना कुछ? अभी यह बल्ब है सफेद या मानो बल्ब में ही रंग लगा हो या उस बल्ब के आगे हरा, लाल कागज लगा दिया तो रोशनी हरी, लाल दिख रही, पर उस रोशनी में, रोशनी स्वरूप अलग और हरा पीला रंग अलग। यह ध्यान में नहीं आता क्या? और जानते नहीं क्या? अरे जानते नहीं हो तो फिर उसे झट हटाकर क्यों सफेद प्रकाश कर देते? तो है उसमें प्रकाश स्वरूप, वह अवक्तव्य ज्योतिमात्र, उसे सफेद भी नहीं कह सकते। बहुत सूक्ष्मता से पता चलेगा, ज्योति है, पर सफेद से समानता होती है सो कह देते हैं सफेद, किन्तु ज्योति तो प्रकाशमात्र है तो ऐसे ही जो हमारा यह ज्ञान चल रहा तरंग वाला, इसमें नहीं समझ सकते कि ज्ञान इसका नाम और यह कीचड़ है राग का नाम। और सोचना होगा, भीतर में निरखो ज्ञानमात्र। जो उस अमृत तत्त्व में निरत हो गए, अनुभव कर रहे वे अशरण नहीं हैं। अशरण तो ये सब हैं जिनका कुटुम्ब, वैभव, बड़ा आरम्भ, यह क्रिया, वह क्रिया यह उपयोग जुट रहा है, यों ममता मिथ्याभाव में जो फंस रहे हैं, ये हैं अशरण, परन्तु ये अपने आत्मस्वरूप की ही धुन रखने वाले ज्ञानी जीव ये अशरण नहीं हैं।

कलश 105

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इतितत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥105॥

896- ज्ञानात्मा का ज्ञानस्वरूप से होने से मोक्षहेतुता-

मोक्ष का कारण क्या है यह बात कही जा रही है, अच्छा मोक्ष दिलाना किसको है? आत्मा को। तो

आत्मा का मोक्ष हो इसका अर्थ क्या है कि आत्मा के सिवाय बाकी जो कुछ भी इसके सम्पर्क में रह आया था वह सब हट जाय और खालिस आत्मा ही आत्मा रह जाय यह है आत्मा का मोक्ष। यह उसका अर्थ है, मायने आत्मा का छुटकारा, समस्त अनात्म तत्त्वों से अलग हो जाय यह आत्मा और केवल अपने सही स्वरूप में ही रहे, उसको कहते हैं मोक्ष। तो ऐसी मोक्ष दशा कैसे प्राप्त होती है? उसका सीधा तो उत्तर है कि जब स्वभाव ही मात्र रह जाय इसका नाम मोक्ष है तो स्वभाव ही ज्ञान में रहे तो इस ज्ञान के अभ्यास की रगड़ से ही तो इसकी प्रगति बनेगी। देखिये बाहरी चीजों में जो कोई दृष्टान्त है, यहाँ तो सफाई के भिन्न साधन हैं, चौकी है, इसे साफ करना है। किसी को हुकुम दिया कि इस चौकी को साफ कर दो, तो जो साफ करने वाला है उसे यह पता है कि चौकी अपने आपमें निर्मल है तब ही तो साफ करने का उद्यम करता है। अगर उसे यह विभ्रम हो कि ऐसी गंदगी तो इस चौकी का स्वरूप ही है, तो वह साफ नहीं कर सकता। उस साफ करने वाले को यह विदित है कि चौकी का असली स्वरूप इन सब गंदगियों से विविक्त अपने आपमें अपने सही रंग को लिए हुए है जैसा कि उसने चौकी बनते समय देख लिया होगा। हाँ अब यह उसको साफ करने के लिए क्या करता है, पानी डालता है, अलग करता है, साफ करता है। तो इस आत्मा को शुद्ध स्वच्छ करने के लिए क्या करना होगा? बस ज्ञान में उस स्वभाव को लो जो स्वभावमात्र रहे, उसका नाम मोक्षमार्ग कहलाता है। तो ऐसे इस सहज ज्ञानस्वरूप को अपनी दृष्टि में लेना है। तो देखिये- यह ध्रुव है, अचल है और उसके अनुरूप जो कुछ भीतर में ज्ञानतरंग में अनिवारित है, सो भी अचल। जब वस्तु हैं तो निरन्तर उत्पाद व्यय तो होगा सो उस ज्ञान का जो एक अनवरत उसकी शुद्ध तरंग है वह भी क्या होना कहलाता? वह भी ध्रुव अचल जंचता है। जो ज्ञानात्मा ध्रुव अचल रूप से होना प्रतिभात होवे मायने यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप को निहारे, ऐसी स्थिति में ज्ञान का परिणामन चल रहा होवे तो यह परिणाम है शिव का हेतु।

897- ज्ञानात्मक ध्रुव अचल भवन की वचनागोचरता व श्रेयोरूपता-

बताया क्या जाता है? अटपट विषय विकार। जिसकी प्रकटता एकदम जाहिर हो उसे तो बताया जायगा, उसके बारे में तो कुछ बात कर सकना होगा, मगर जो स्वभावानुरूप उत्तम है, हो रहा है और खास करके तो आत्मा के सम्बंध में जो स्वभावानुरूप दृष्टि रखकर जो बात बन रही उसको कहने के शब्द नहीं कोई, जान लिया। कई बातें होती हैं जान लिया, पर बता नहीं सकते, गिना नहीं सकते। तो यह जो ज्ञानात्मा, ज्ञानस्वरूप आत्मा, इसका जो यह ध्रुव अचल भवन होना परिणाम बन रहा, वह है मोक्ष का हेतुभूत। देखो सहज बात की, सहज क्रिया की कोई दृष्टि नहीं की जा रही है।

898- शिवहेतु की आराधना के अभिप्राय से शिवहेतुसाधकों की सेवा-

अब चरणानुयोग की बात लीजिये- स्वभावदृष्टि रखने के लिए अभ्यास करने वाले जो पुरुष हैं वे कहाँ तक सफल हो रहे या चलित हो रहे। राग आये, प्रवृत्ति आये, तेज भूख लग गई, साधारण भूख की चर्चा नहीं करते, अनेक प्रतिक्रमण दीक्षा, शिक्षादि करते। तो अब जब प्रवृत्ति करने को होता है ज्ञानी तो कैसी प्रवृत्ति

करना चाहिए, यह विवेक न रखे तो वह ज्ञानी कैसे? जो यथा तथा प्रवृत्ति करे तो वह अविवेकी हैं। करना ही पड रहा है परिस्थिति में रागप्रवृत्ति तो एक छॉट होती है कि इस रूप परिणमना, इस तरह से चलना, इस तरह से खाना पीना, उठना बैठना समितिपूर्वक, उसकी ये बाह्य क्रियायें होती हैं। तो अब देखो- चरणानुयोग में जो वर्णन है वह क्या है कि विशुद्ध भावसंयम का अभ्यास करने वाले साधु की जो बाह्य क्रियायें हैं वे कहलाती हैं चरणानुयोग के विधान। अब जहाँ तीर्थप्रवृत्ति याने सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र स्खलित न हो, चलता रहे तो उस मार्ग प्रवृत्ति के लिए बाहरी आधार को देखकर ही सम्यक् प्रवृत्ति का व्यवहार बन गया, मगर सम्बर निर्जरा वहाँ भी चलती रहती है। अब ज्ञानात्मा उस ज्ञानानुरूप भवन में चल रहा है, कहीं मन, वचन, काय इनकी क्रिया साधन नहीं है मोक्ष का। साधन तो वह ज्ञानात्मक भवन है, मगर इस साधन की यह दशा है कि इस इस रूप रहता है। उसकी बाहरी क्रियायें देखकर ज्ञानी को भक्ति सेवा के लिए क्यों उमंग लगती कि उसकी झट वहाँ दृष्टि गर्द- ओह यह बाह्यभेष, ये सब क्रियायें, ये व्रतरूप क्रियायें, ये स्वभावदृष्टि और साधना करने वाले के ऐसे आया करती हैं, उसको देखकर जो स्वभावदृष्टि का बना ज्ञान उसके कारण ज्ञानी गृहस्थ, साधुसन्तों की भक्ति व सेवा करता है। उस व्रत का भेष, उस व्रत में रहने वाले का भेष, उसे देखकर श्रावक बिनयादि सब कुछ करता है। मार्ग का यहाँ से मूल उठा, तो मोक्ष का हेतु क्या है? इस ज्ञानात्मा का ध्रुव अचल रूप से जो यह परिणाम है, उसका जो एक आश्रय है वह मोक्ष का हेतु है। और इतना ही क्यों? वह तो स्वयंशिव है, शिव का हेतु है। जैसे कहते हैं ना कि आस्रव दुःख का हेतु है, तो वहाँ कहते हैं कि इतना ही क्यों। आश्रय स्वयं दुःख रूप है इसी तरह इस ज्ञानात्मक अंतस्तत्त्व का यह अनुरूप परिणाम, यह शिव का हेतु है, और इतना ही क्यों कहते। यह स्वयं शिवस्वरूप है।

899- अज्ञानपरिणमनों में बन्धहेतुता-

इस ज्ञानात्मा का जो अन्य-अन्य रूप से परिणमन है, अध्रुव चलित जो परिणमन है, कर्मस्वभाव से ज्ञान का भवन है, वह बंध का हेतु है। अध्रुव और चलित परिणमन इनका बनाना होता क्यों? ये बने तो अपनी परिणति से, मगर जहाँ उपाधि कर्म का विपाक होता है उसका प्रतिफलन होता, वहाँ ज्ञानविकल्प ऐसे ही बनते। यदि इसके लिए यह ही सब कुछ जिम्मेदार हो कि यह ही आत्मा निमित्त हो, यह ही आत्मा उपादान हो, उपादान तो यह है ही, निमित्त भी यही आत्मा हो, विकार सब कुछ आत्मा की परिणति से ही बन गया हो, निमित्त न हो तो यह विकार सुगमतया स्वभाव हो जाते हैं, तो फिर उसके मिटने का कोई तरीका नहीं बन सकता। इस तरह औदयिक भाव का परिचय कराकर यह उमंग कराई जाती है, यह सत्यता उपस्थित की जाती है कि ये रागादिक विकार, ये विभाव, ये कर्मोदय का निमित्त पाकर हुए हैं। बिना निमित्त के हों सो नहीं। जैसे सिद्ध प्रभु का परिणमन उसमें कर्मादिक कोई बाहरी निमित्त नहीं, काल तो एक सामान्य बात है। तो जहाँ व्यतिरेक नहीं होता उसकी चर्चा नहीं की जाती है। कर्म में व्यतिरेक संबंध संभव है सो कर्म जीवविकार में निमित्त हुआ करता है। तो बात बन क्या गई। है अपनी ही कमायी की बात। अपने विभावों से

अर्जित प्रकृति प्रदेश स्थिति अनुभाग बन्ध वाला कर्म था, उसका जब विपाककाल आया तो यह जीव रागरूप परिणम गया।

900- शब्दप्रयोगविधि से निमित्त नैमित्तिक भाव के परिचय की सुगमता का दिग्दर्शन-

भैया निमित्त और नैमित्तिक इन दो की बात झट समझना हो तो देखो एक समय में दोनों बातें होकर भी जिसमें जब लगाया गया हो वह निमित्त, जिसमें तब जगाया गया हो वह नैमित्तिक, बहुत सीधी कुञ्जी आपके लिए कह रहे हैं। जैसे आग पर पानी डाला तो वहाँ यह ही तो आप कहेंगे किपानी कानिमित्त पाकर आग बुझ गई। अच्छा दोनों बातें एक समय में हुई, उसी समय में पानी का सम्पर्क हुआ और उसी समय में आग बुझी, और इसको अगर यों बोले कि जब आग बुझी तब पानी आ गया, इसे कोई मान नहीं सकता। अब देखना- बात एक ही समय में है और एक द्रव्य दूसरे पदार्थ का त्रिकाल कर्ता नहीं होता, मगर निमित्त नैमित्तिकपन वास्तविक क्या है? कौन निमित्त है, कौन नैमित्तिक है, इस बात के समझने के लिए इन दोनों का सही प्रयोग बहुत मदद देता है। जब पानी गिरा तब आग बुझी, ऐसा प्रयोग तो सयुक्तिक बन गया और आगम में भी यह ही प्रयोग है कि कर्मोदय होने पर राग हुआ, कर्मविपाक हुआ उस समय राग हुआ। दोनों जगह भिन्न-भिन्न बातें हैं जीव का परिणाम कर्म को नहीं करता, कर्म का परिणाम जीव को नहीं करता, पर निमित्त क्या है, नैमित्तिक क्या है, इसको समझने की कुञ्जी यह ही है, इस प्रकार समस्त आगम में बताया गया है। हाँ अगर यों कह दिया जाय कि जब आग बुझी तो पानी आ गया, तो इसमें आग का बुझना तो कहलायेगा निमित्त पानी का आना कहलायेगा नैमित्तिक, ऐसा तो नहीं है। निमित्त नैमित्तिक को सब लोग व्यवहार में समझते हैं? निमित्त शब्द ही यह जाहिर करता है कि त्रिकाल कर्तृत्व नहीं है एक में दूसरे का। जब शब्द ही जाहिर करता, तब कभी यह शंका न होनी चाहिए कि इसने दूसरे का कुछ कर दिया। फिर भी देखो- निमित्त की अनुपस्थिति में विकार नहीं होता तो वह निमित्त और विकार क्या? निमित्त वह जिसकी अनुपस्थिति में विकार न हो। विकार कार्य है, निमित्त कारण है, ऐसा होने पर भी किसी द्रव्य की परिणति को दूसरे द्रव्य ने नहीं की, बल्कि उसमें हमको यह उमंग मिली कि ये रागादिक भाव यह तो कर्म की छाया, माया, प्रतिफलन है, यह मेरी चीज नहीं हैं, मैं तो स्वभावतः चैतन्यस्वरूप हूँ। निमित्तनैमित्तिक भाव के परिचय से स्वभावदृष्टि में और अधिक प्रेरणा मिलती हैं।

901- अज्ञानमय भाव की बन्धरूपता व ज्ञानमय भाव की शिवरूपता-

ज्ञान का जो स्वभावानुरूप परिणमन है उस परिणमन में जो भवन है, होना है वह तो है शिव का हेतु और इसके अतिरिक्त अध्रुव और विचलित जो विकार परिणमन है वह है बंध का हेतु। अरे-अरे इतना भी न कहो, वह स्वयं बंध है याने अन्तः स्वभाव से विचलित हों, ऐसा जो हमारा परिणाम है वही स्वयं एक बन्धनरूप है, बंधन का हेतु है, वही बन्धन है। तो बात क्या आयी, बस एक निगाह, एक ही दृष्टि। अपनी भलाई करना है तो एक ही दृष्टि करो कि मैं स्वयं सहज किस स्वरूप में हूँ, उसकी पहिचान करके, उसमें निर्णय बने कि मैं

तो यह हूँ। यद्यपि जीवविकार में भी मैं का संबंध तो है, पर जीवविकार विकृत है, दशा आगन्तुक हैं और और बातें हैं, तो वास्तव में मैं क्या हूँ, परमार्थ से मैं क्या हूँ? मैं यह सहज चित्स्वभावरूप हूँ। बस यह स्वप्रतीति हो जाना चाहिए और बात कुछ मत सोचें, याने विवाद की बात अधिक न आये और यह ही अनुभव बन जाय जैसा कि किसी नारकी को भी बन जाता है, किसी बैल को भी बन जाता, किसी घोड़ेको भी बन जाता, वे तो बात करना भी नहीं जानते। वे तो आस्रव बंध की पढ़ाई भी नहीं पढ़ते, किन्तु उनको यह ज्योति जगी है और अपने आपके सहजस्वरूप अंतस्तत्त्व में प्रीति हुई है, सम्यग्दर्शन हो गया उन्हें, तो मुख्य बात यह है, यही अपनी कमाई है। अपने आपके सहज अंतस्तत्त्व में, परमार्थ निरपेक्ष रूप में जो कुछ स्वरूप है उसमें अपना दृढ़ निर्णय बने कि मैं यह हूँ, अगर कोई धर्मचर्चा करते हुए मैं गुस्सा आ गया तो धर्मचर्चा तो कर रहे थे अंतस्तत्त्व की, और और बात की, और किसी बात में मैल न बैठा, ताव आ गया और ताव भी ऐसा आ गया कि दूसरों के देखने में भी बुरा लग रहा, यह तो लड़ाई सी हो रही। तो बात क्या है? वहाँ उसने अपनी विकल्प पर्याय में आत्मत्वबुद्धि की। उस विकल्परूप से कोई मान न रहा था तो उसने समझा अपना विनाश कि हाय मैं ही मर गया। अपने उस विकल्प के प्रति ऐसी आत्मत्वबुद्धि रही कि ताव आ जाता है, झगड़ा हो जाता है, तो जरूरत है निज सहज स्वभाव को जानने की। इसके प्रताप से कषायक्लेश मिटेंगे, जन्ममरण के संकटों से छूट मिलेगी। हमें इस दुर्लभ मानव को सफल करना है, एतदर्थ जरूरत है कि हम इस तरह के अध्ययन करें, मनन करें, चिन्तन करें, सोचें, अनुभव करें, जिसमें कि हमें अपने सहज स्वभाव में यह मैं हूँ, ऐसी दृढ़ प्रतीति हो। आवश्यकता यह है आज इन दुर्लभ क्षणों को सफल करने के लिए।

902-निरास्रवता का निर्धारण-

हाँ तो इस तरह का स्वभावाश्रय में जो ज्ञान परिणाम हो रहा, वह क्या? केवल ज्ञानमात्र, ज्ञान परिणाम, प्रतिभासा। रागद्वेष नहीं, परोपयोग नहीं, देखो ऐसा जो सोच रहा है ज्ञानी चौथे पांचवें छठे गुणस्थान में तथा 8 वें, 9 वें, 10 वें गुणस्थान में भी जो उपयोग चल रहा है, ऐसे ज्ञानस्वभाव के आश्रय में लग रहा है, उपयोग वही चल रहा है वहाँ बुद्धिपूर्वक विकार तो नहीं, किन्तु राग तो उसके भी चल रहा, ये रागद्वेष विकार एक क्षण को भी अलग न कर सके। अब देखे चल रहा है निरन्तर, मगर वह अबुद्धिपूर्वक राग है। उस अबुद्धिपूर्वक राग को भी मेंटने का उपाय क्या है। इसी स्वभाव में उपयोग लगाना। बुद्धिपूर्वक राग तो तत्काल मिट गया। अबुद्धिपूर्वक राग भी मूल से नष्ट हो, उसका उपाय भी इस ही स्वभाव का आश्रय है। तब ही तो करणानुयोग कह रहा है कि आश्रय बंध चल रहा है 9 वें, 10 वें गुणस्थान तक। और वह हमारा बुद्धिपूर्वक अनुराग नहीं, इसी आधार पर द्रव्यानुयोग कह रहा है कि सम्यग्दृष्टि निराश्रवः तो बात क्या हुई? क्या दोनों का विरोध है परस्पर में? विरोध नहीं। यह बुद्धिपूर्वक प्रक्रिया का अनुयोग है, और करणानुयोग समय-समय का, ढंग का, एक एक क्षण के सही निर्णय का अनुयोग है।

903- पृथक्करणीय पदार्थ के विशेष परिचय से उसके पार्थक्य की स्पष्टता-

देखिये-जिसचीजसेहमकोस्वयं को निराला समझना हे उस चीज को बहुत अधिक परिचय बन जाय तो उससे निरालेपन की बुद्धि में कितनी स्पष्टता आती है और जिससे निराला समझने की चाह है यदि उसके सम्बंध में खास परिचय नहीं है, केवल एक शब्द का ही परिचय है, कर्मधूल रजकण इतना ही कहने मात्र की बात है और उसकी बंधदशा, उदयदशा सत्त्व की स्थिति, अनुभाग, स्थितिखंड, अनुभागखंड, प्रमाण कितना होता, क्या होता जब तक यह सब परिचय में नहीं आया तब तक भेदविज्ञान स्पष्ट ज्ञान में आना कठिन है। जब समझा कि कर्म भी एक पदार्थ है, राक्षसों आदि की तरह यह भी कोई एक चीज है और इस-इस ढंग से है, जब परतत्त्व का जरा अधिक परिचय बनता है तो उससे निरालेपन की बुद्धि भी बड़ी स्पष्ट बनती है। इससे अध्ययन में सब लाइये- कर्मसिद्धान्त, जीव सिद्धान्त, सब चीजें ज्ञान में लावो, उससे स्पष्टता भी बनती है और एक उमंग भी आती है, हम एक ही निबंध का रोज-रोज अध्ययन करें तो वह हमारी एक तरह की दिनचर्या जैसी चीज बन जाती है कि हम उसका अधिक असर नहीं पा सकते, अतः ऋषियों की जितनी कृतियाँ हैं चारों वेद (अनुयोग) सम्बन्धी जितनी भी कृतियाँ हैं उनका हम अध्ययन करें। कभी करणानुयोग, कभी चरणानुयोग किस-किस ढंग से कैसी उमंग बनती है, किसको पढ़कर कैसा कहाँ-कहाँ एक साहस, उमंग, मार्गदर्शन मिलता है इसके लिए हमको सब तरह का अध्ययन लाभदायक होता है। और उसमें फिर हमारी यह कथनी भी विशिष्ट बन जाती है, देखो फिर कैसे स्पष्ट समझ में आयगा, मोक्ष का हेतु क्या, शिव का हेतु क्या।

904- ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से भवन की शिवहेतुता का दृढ़ निर्णय-

इस ज्ञान के इस विशुद्ध परिणमन के न होने पर चाहे कितना ही शरीर, मन, वचन की क्रियायें हो जायें और हृदय से हो जायें फिर भी दृष्टि मिथ्या है। अज्ञानी जीव भी हृदय से व्रत तप ग्रहण करता है। भीतर में उसको अन्तस्तत्त्व का पता नहीं और धर्म की बात कुछ सुन रखी सो भीतर से हृदय से करता याने दुनिया को दिखाने के लिए नहीं, किन्तु अपने मन से करता है फिर भी सहज ज्ञानस्वभाव की, ज्ञान के सहज परिणमन की प्राप्ति न होने से उसका इस मन, वचन, काय की क्रिया के होने पर भी मोक्ष नहीं होता, और जिसको इस ज्ञानस्वभाव का परिचय है, इस ज्ञानपरिणमन की बात चित्त में आयी है, समझता है उसका अनुभव बना, ऐसा जो जीव है, वह बाहर में लोगों को जो बहुत अच्छा दिखे ऐसा व्रत, तप आदिक न भी कर सके, बिल्कुल न करे यह तो नहीं सम्भव, कर रहा सहज, अन्दर से कर रहा, लोगों को जाहिर हो ऐसा कोई व्रत नियम बढ़िया न बने तो भी इस ज्ञानस्वभाव की उपलब्धि के प्रताप से मोक्षमार्ग बन जाता है। तो ज्ञान का ज्ञानरूप में होना, ज्ञान में इस ज्ञानस्वभाव को ज्ञेय करना और यहाँ ही ज्ञान को बसाकर प्रसन्नता पाना, निर्मलता पाना, बस यह ही एक खास परमार्थ अमीर का व्यापार है जो हम आप सब आत्मार्थियों को मददगार है। इसके अतिरिक्त बाहरी ये समागम संग ये मददगार नहीं हैं।

905- परिजन में मोह न करके धार्मिक वातावरण में रहकर जीवन सफल करने का संदेश-

परिवार मिला है तो परस्पर एक दूसरे को वैराग्य और ज्ञान की दिशाएँ बताकर धर्मपालन को प्रयोगात्मक करें जिससे कि औरों का भी भला हो। मगर उनमें यह मेरा है, बड़ा अच्छा है, लड़का है, इष्ट है,...अरे उसका स्वाद ले तो लिया अब तक पाया क्या? स्वाद भी क्या? रोना ही रोना। यह ही मिला। चाहे इष्ट मिला हो चाहे अनिष्ट मिला हो, उसके फल में रोना ही रोना मिला है। आनन्द नहीं मिला। किसी ने अभी समझ लिया, कोई दो चार वर्ष बाद समझ लेगा, मगर उसका फल वह ही है। किसका फल? राग करने का। चीज के मिलने जुलने की बात का असर नहीं, किन्तु उसमें जो राग है, इष्ट बुद्धि है, उसकी बात कह रहे। किसको आप कहेंगे कि यह हमारी सुख की स्थिति है? किसी के पुत्र नहीं होता वह दुःख मानता कि मेरे कुछ नहीं है, आगे संतान न चलेगी, वह यों सोचकर दुःखी हो रहा। उसने यह ही जाना कि मेरी संतान ये पुत्र आदि कहलाती और अपने आत्मद्रव्य की जो त्रिकाल सत्ता है, जो परमार्थ संतान है उसकी तो दृष्टि ही नहीं है। मेरे लौकिक संतान नहीं, यह बात उसके लिए दुःख का कारण है। ये लड़के बच्चे होते रहें, हमारी संतान होती रहे, इसमें वह सुख समझता, पर विचारो तो सही कि अगर कोई पुत्र कुपूत निकल आया तो उसका भी कष्ट आप मानते कि नहीं? ...मानते...और सुपूत निकल आया तो? अरे उससे तो उससे तो और भी अधिक कष्ट मानते। कोई पुत्र बड़ा आज्ञाकारी है, विनयशील है, सेवा करने वाला है, तो उसको देखकर आपके इतना तृष्णा का रंग चढ़ता है कि आप सोचते कि मैं इसके लिए सब कुछ कर जाऊँ इतना धन कमाकर धर जाऊँ कि यह जिन्दगी भर सुख पूर्वक रहे...। यों सारे जीवन भर आपको उसके पीछे बुरी तरह से लदे फिरना पड़ेगा। और कपूत के लिए तो बस अखबारों में निकलवा दिया कि अब इससे मेरा कुछ वास्ता नहीं...लो सारा झगड़ा खतम। तो फिर लोक में कौनसा संग समागम है जो इस जीव को आनन्द का कारण बने? कुछ नहीं।

906- अन्तः सहजपरमात्मतत्त्व का प्रसाद पाने का संदेश-

भीतर का यह आत्मा भगवान, सहज परमात्मतत्त्व, परमब्रह्म, यह मेरे लिए परम शरण है। एक भजन में बोलते हैं ना- “तेरी भक्ति में क्षण जायें सारे। मेरे शाश्वत शरण, सत्य, तारण, तरण ब्रह्म प्यारे। तेरी भक्ति में क्षण जायें सारे। ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, कल्पनाओं का एकदम विलय हो, भ्रान्ति का नाश हो, शान्ति का वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी भक्ति में क्षण जायें सारे।।” अपना भगवान अपने को मिला है, इससे अपनी सारी बातें करके अपने आत्मप्रभु को प्रसन्न कीजिए। बस यह प्रभु का प्रसाद यह आत्मप्रभु की प्रसन्नता है, यह हम आपके संकटों को नष्ट कर देगा। तो यह ही ज्ञान, ऐसा अपने स्वरूप में मनन यह ही शिव का हेतु है और इतना ही नहीं, शिवस्वरूप है। इतनी ही दृष्टि इस जीवन में रहे, यह ही सबसे बड़ा भारी पौरुष है।

कलश 106

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।

एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥106॥

907- एकद्रव्यस्वभावपना होने से ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होने की ही मोक्षहेतुता-

अधिकार तो यह पुण्य पाप का है और चूँकि ध्येय सभी उपदेश का मोक्ष पाना है, तो उस ही बात पर सभी बातें घटित होंगी। मोक्ष का हेतु क्या है? पुण्य और पाप शिव के हेतु नहीं, वे तो पुद्गल कर्म हैं और उनके निमित्तभूत शुभ और अशुभभाव मोक्ष के हेतु नहीं, क्यों नहीं हैं कि वे ज्ञान के ध्रुव अचल भवन से बाह्य किन्हीं भावोंरूप है, तब क्या है मोक्ष का हेतु? मोक्ष का हेतु ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना बस यह ही मोक्ष का हेतु है। अपन सबका ज्ञान जान तो रहा है। अब किस स्वभाव से जान रहा है बस इसमें ही मोक्ष और संसार के हेतुपने की बात आती है। ज्ञान का स्थिर होना यह ही कहलाता है चारित्र। और, यह है मोक्ष का हेतु, क्यों ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होना यह एक द्रव्य का स्वभाव है। और, जो अपने में अपने ही स्वभाव से होता है बस वही मोक्ष का हेतु है, परद्रव्य के स्वभाव से मोक्ष न बनेगा। अपने ही द्रव्य के स्वभाव से मोक्ष की सिद्धि है। देखिये- परमार्थदृष्टि से विचार करें, एक ही अंतस्तत्त्व पर दृष्टि देकर निहारें, आखिर में मोक्ष नाम है किसका?—मोक्ष कहलाता है आत्मा का जो स्वतंत्र स्वरूप है वह उसमें ही एकत्व को लिए हुए रह जाय। सभी पदार्थ अपने आपमें अपना ही एकत्व स्वरूप लिए हुए हुआ करते हैं। तो यह आत्मा जो है सहज बस वही प्रकट हो, यह है मोक्ष, और इसका हेतु है ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होना। चूँकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है ज्ञानमात्र है, तो ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व का जो आश्रय है, उस आश्रय में होने वाला जो परिणमन है उसे कहते हैं ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होना। ज्ञान का ज्ञान स्वभाव से होना यही शिव का हेतु है और उसके अतिरिक्त जो अन्य भाव है उसकी बात अब कलश में कहते हैं।

कलश 107

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।

द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥107॥

908- कर्मस्वभाव से ज्ञान के भवन में मोक्षहेतुता का अभाव-

ज्ञान का कर्मप्रभाव से होने को चारित्र नहीं कहते। कर्मस्वभाव से होने का अर्थ क्या है? जैसे उदाहरण में दर्पण के समक्ष लाल पीला कपड़ा आया और दर्पण में लाल पीला फोटो रूप परिणमा तो लाल पीले रंग रूप जो परिणमा उसे हम यों कह सकते हैं कि यह दर्पण उस कपड़े के स्वभावरूप से परिणमा। यद्यपि उपादान उपादेय भाषा में यह बात नहीं है, कपड़ा अपने स्वभाव से परिणम रहा, दर्पण अपनी परिणति से परिणम रहा, लेकिन जो यह औपाधिक भाव है उस रूप से जो भी चल रहा तो वह दर्पण के निज निरपेक्ष स्वभाव से होना नहीं कहलाता। उसे यों ही कहा जायगा कि यह उस उपाधि के स्वभाव से परिणम रहा। जरा अन्तः देखिये पूर्वबद्ध कर्म जब कर्मविपाक काल में आया, उनका उदय हुआ तो विपाक फूटा। सो अनुभाग उदित हुआ तो कर्म का कर्म में, मगर जैसा समयसार में परिशिष्ट अधिकार में बताया कि अनादि से पर के ज्ञेय के काल में, उस कर्मविपाक के ज्ञेय के काल में चूँकि अन्तर नहीं समझा अतएव ज्ञान का उस तरह से परिणमने से संसार बना तो जो विपाक हुआ, प्रतिफलन हुआ, जो झलक हुई, उस रूप से यह उपयोग अपने को मानने लगा, यह कहलाया कर्मस्वभाव से कर्म का परिणमना। इसका नाम चारित्र नहीं। ज्ञानस्वभाव से परिणमते रहने का नाम निश्चय चारित्र है। होता क्या है, कि जीव के जो रागादिक विकार हुए उनमें निमित्त स्वयं आत्मा नहीं, किन्तु इसका निमित्त स्वयं रागादि भावापन्न परद्रव्यसंग ही है और इस प्रक्रिया को वस्तु का स्वभाव बतलाया कि जो रागादिकरूप परिणमन है उसमें निमित्त केवल परसंग ही है और ऐसी स्थिति में आत्मा विकाररूप परिणमता है। न जातु रागादिनिमित्त भावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः। तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्। जरा फिर ध्यान दीजिए। यह वस्तु का स्वरूप है कि एक द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यरूप नहीं परिणमता इसमें किसी को रंच भी विवाद नहीं। तब यहाँ दो वस्तु हैं- जीव और कर्म। कर्म का उदय हुआ यह है निमित्त और जीव में जो विकार हुए वे नैमित्तिक हैं।

909- निमित्त का सन्निधान होने पर अशुद्ध उपादान में स्वयं विभाव परिणमन की कला-

अब यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति नहीं करता यह कुञ्जी यहाँ लगाओ। याने एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति नहीं करता याने निमित्तभूत कर्म जीव की रागादिक परिणति को नहीं करता और इसी का नाम अकिञ्चित्कर है और इस दृष्टि से एक दूसरे द्रव्य में अकिञ्चित्कर होता है, इस न्याय को तो छिन्न-भिन्न किया ही नहीं जा सकता। तो यह बात आयी कि निमित्तभूत पुद्गलकर्म का उदय इस जीव के रागविकाररूप कार्य में अकिञ्चित्कर है, अर्थ यह हुआ कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति नहीं करता। तो यहाँ एक शंका का होना स्वाभाविक है कि फिर निमित्त शब्द ही क्यों कोर्स में रखा, और अनेक लोग फिर नियतनियत ही निमित्त क्यों कहे जाते? रोटी के सिकने में आग निमित्त। ऐसा क्यों नहीं हो जाता कि किसी दिन आग निमित्त हो तो किसी दिन पानी निमित्त बन जाय। क्योंकि अब उसमें व्यवस्था हीनहीं कुछ तो अटपट क्यों नहीं हो जाता ऐसी एक आशंका हो सकती है तो निमित्त ही क्या कहलाया? समाधान यह है कि बात यों होती है कि कर्मविपाक में उदयकाल में उस वातावरण में याने कर्म का उदय तो

कर्म में ही है, उस उदय में एक वातावरण कहो जिसे कहा है सम्पर्कजभाव, वह ऐसा सम्पर्कजभाव है कि उस वातावरण में यह उपादान स्वयं अपनी कला से, अपनी परिणति से विकाररूप परिणम जाता है। तो चूँकि निमित्त की अनुपस्थिति में यह जीव रागादिक विकाररूप नहीं परिणमा, और नहीं परिणम पाता, इस कारण से यह वहाँ निमित्त हुआ। अर्थ ठीक सीधा यह है कि निमित्त को पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला बनता है। विकार आया यह जीव का ही प्रभाव है उस समय के उपादान के अनुकूल है, पर यह उस समय कर्मोदय निमित्त के अभाव में न बन सका, ऐसा हर जगह घटित करो। प्रत्येक निमित्त में आप यह बात पायेंगे कि निमित्तभूत पर द्रव्य ने उपादान की परिणति नहीं की, मगर इस इस प्रकार की स्थिति में निमित्त के सद्भाव में उपादान ने अपनी ही कला से अपनी ही परिणति से उस प्रकार का विकार पैदा किया, तब फिर उस विकार को हटाने का उपाय क्या है। जान लिया ना कि यह विकार आत्मा के स्वभाव से नहीं चला, किन्तु उस निमित्त सन्निधान में यह कला बनी अतएव यह नैमित्तिक है। तो विकार नैमित्तिक है औदयिक है, पौद्गलिक है किसी भी शब्द में कहो। जो उसमें लगे वह अज्ञानी है। ज्ञानी विभाव में आकर्षित नहीं होता। ज्ञानी की धुन तो अपने स्वभाव की ओर है।

910- उत्पत्तिक्रिया व ज्ञित्तिक्रिया में निमित्त नैमित्तिकभाव अथवा साध्यसाधनभाव का दिग्दर्शन-

एक बात और इस प्रसंग में जानियेगा कि क्रिया दो प्रकार की दर्शनशास्त्र में कही गयी और युक्ति से भी जान लें, एक उत्पत्तिरूप कार्य और एक ज्ञित्तिरूप कार्य याने जानकारी बनना एक यह काम, और एक उद्भव होना, प्रकट होना, व्यक्त होना, उत्पन्न होना, एक यह कार्य। तो उत्पन्न होने के प्रसंग में तो यह ही कहा जायगा, जैसी कि स्थिति है कि कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव रागरूप परिणमा, और ज्ञित्तिरूप क्रिया की दृष्टि से यों वार्ता हैं कि जीव का रागविकार यह तो समझ में आता है, कर्मोदय हमारी समझ में नहीं आता। यद्यपि कर्म से सूक्ष्म रागविकार है, क्योंकि कर्म पौद्गलिक है पर द्रव्य है रूपरसगंधस्पर्श सहित है उससे सूक्ष्म है जीवरागविकार, वह तो आत्मपरिणति है अमूर्त है, किन्तु वह अपने परिणमन में है, अतएव वह तो झट समझ में आयगा, मगर कर्मदशा, कर्मोदय कर्म की बात, यह समझ में न आयगी। परमावधि, सर्वावधि ज्ञानी, ये ही इसको जान पाते हैं, और केवलज्ञान के तो सभी प्रत्यक्ष हैं। तो जैसे धुवाँ देखकर अग्नि का ज्ञान बना तो धूम का दर्शन निमित्त है और अग्नि की ज्ञित्ति कार्य है, यह तो कहा ही जायगा। वहाँ वह एक ज्ञित्तिरूप कार्य बना। क्यों? धूम का दर्शन करके अग्नि का ज्ञान बना। जब उत्पत्ति की हैसियत से बोलेंगे तो कारण अग्नि है, कार्य धूम है। सो ज्ञित्तिकी दृष्टि से देखेंगे तो अनुमान प्रमाण में यह ही बात आयगी कि धूम साधन है, अग्नि साध्य है, मायने धूम देखकर अग्नि का ज्ञान हुआ। इस तरह रागविकार देखकर कर्मोदय का ज्ञान हुआ। रागविकार हुआ, उस काल में कर्मोदय है, कर्मोदय था, इस कारण का जो ज्ञान हुआ तो इस ज्ञानरूप कार्य के लिए रागादिक का ज्ञान निमित्त है, मगर कर्मोदय की उत्पत्ति रूप कार्य के लिए रागविकार निमित्त नहीं है। वहाँ रागविकार का निमित्त कर्मोदय है और ज्ञित्ति में यह बात आती है कि रागविकार जब जाना,

समझा तो कर्मोदय का ज्ञान हुआ? उस काल में कर्मोदय है। तो ये दो बातें भी एक खास समझने की है- कार्य दो प्रकार के हैं- उत्पत्तिरूप कार्य और ज्ञप्तिरूप कार्य। जब रागविकार हुआ तब कर्मोदय है ऐसा ज्ञान हुआ, यह बात तो ज्ञप्ति के मामले में चलेगी, मगर निमित्तनैमित्तिकविधि में जिस ढंग से जो है सो ही होता है। बस उसमें भी पर का, निमित्त का कोई भी द्रव्य, गुण, पर्याय, परिस्थिति, परिणति, प्रभाव कुछ भी चीज निमित्तभूत कर्म के प्रदेश से बाहर नहीं होती, किसी पदार्थ का कुछ भी हो वह उसके प्रदेश में ही है, प्रदेश से बाहर नहीं है मगर सम्पर्कजभाव की स्थिति में, उपादान निमित्त के सद्भाव में अपनी परिणति से विकाररूप परिणम गया।

911- निमित्तनैमित्तिकभाव के परिचय में स्वातन्त्र्य, सान्निध्य और हितशिक्षण का दिग्दर्शन-

निमित्तनैमित्तिकभाव में स्वातंत्र्य और सान्निध्य जानने को एक मोटासा उदाहरण ले लो। जैसे इस तखत पर आप बैठे हैं तो आपके बैठने में तखत निमित्त है, कारण कह दो, निमित्त कह दो, मगर तखत का गुणप्रभाव आदि आपमें कुछ नहीं आया। तखत ने आपकी कुछ परिणति नहीं की। तो वहाँ हुआ क्या, कि तखत का आश्रय करके आप अपनी परिणति से, अपनी सामर्थ्य से इस प्रकार बैठ गए। तखत निमित्त हुआ बैठने में। यह एक मोटा दृष्टान्त है। वहाँ निमित्त नैमित्तिक भाव को बताने के प्रसंग में यह ही बात दिखी कि तखत का आश्रय पाकर यह बैठ गया। और किसी को तखत न दिख रहा हो और आपका इस समय उस प्रकार का उठना बैठना दिख रहा है तो ऐसा उठना बैठना देखकर यह जानकारी होना कि यह तखत पर बैठा है, यह ज्ञप्तिरूप बात है। निमित्तनैमित्तिक का परिचय हमको स्वभावदृष्टि के लिए यह उमंग दिलाता है कि यह विकार तेरा स्वरूप नहीं, तेरा निरपेक्ष भाव नहीं, तेरे ही स्वरूप से उठा हो सो नहीं, स्वभावभाव नहीं, किन्तु यह तो कर्मस्वभाव से ज्ञान का होना बन रहा है। ज्ञान का कर्मस्वभाव से होने का नाम व्रत नहीं, मोक्ष का हेतु नहीं, क्यों नहीं कि वह द्रव्यान्तरस्वभावरूप से हो रहा है। ये जो विभाव जग रहे हैं उनको बता रहे हैं कि ये द्रव्यान्तरस्वभाव से हो रहे हैं, अपने आपके स्वभावरूप से नहीं हो रहे हैं। और यही कारण है कि वे सब बंध के हेतु है, मोक्ष के हेतु नहीं।

912- जीव का कर्म-

जीव का वास्तविक कर्म क्या? तो देखो साधारण शैली में तो यह उत्तर आयगा कि जीव का जो परिणमन है वह जीव का कर्म है लेकिन एक विशेष शैली में यह बतायेंगे कि जीव का जो भी परिणमन है, जो विषम है, जिसकी जानकारी में जचा कि हुआ काम। काम तो वह कहलाता कि जिसमें जचे यह न था- यह हुआ। इस दृष्टि से शुभ अशुभभाव ये हैं जीव के कर्म और जीव के शुभ अशुभ भाव का निमित्त पाकर जो कर्मबन्धन हुआ वह कर्म, वह पौद्गलिक कर्म पुद्गलकार्य है। ये जो दो बातें कही गई है कि मिथ्यात्व दो प्रकार का- अजीव मिथ्यात्व जीव मिथ्यात्व। अविरति, कषाय आदिक सब दो दो प्रकार के हैं, पुद्गल कषाय याने कर्म प्रकृति और जीवकषाय मायने ज्ञानविकल्प, यह दो पना यह जाहिर करता है कि यहाँ मात्र निमित्तनैमित्तिक

संबंध है और जहाँ निमित्त की बात कही वहाँ स्वयं ही यह अर्थ आ जाता है कि यह पर का कर्ता नहीं। जैसे यहाँ भी लोग जब किसी की प्रशंसा करते हैं कि देखो इन्होंने इतना ठाठ बना लिया, मढ़िया बना लिया, यह गुल्जार कर दिया तो वह चाहे मन में कुछ हो पर कहता तो इसी तरह है कि भाई साहब हमने कुछ नहीं किया, यह तो हो गया, आप लोगों की कृपा थी। मैं तो निमित्त मात्र था।...तो उसके कहने में बात क्या जाहिर हो रही है कि मैंने नहीं किया, मैं निमित्तमात्र हूँ। तो निमित्तमात्र का अर्थ यह है कि जो उपादान में कुछ करता नहीं, किन्तु जिसके असद्भाव में कुछ होता नहीं उसे कहते हैं निमित्त। तो यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञान का परिणमन तो चलता ही है, चलता ही रहेगा। परिणमन बंद न होगा, हाँ अशुद्ध उपादान में विकार जो होगा वह निमित्तसान्निध्य में है।

913- द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का प्रमाण से पूर्ण ज्ञान-

वस्तु में तो द्रव्यत्व और पर्याय ये दो ऐसी खास बात हैं कि एक का निषेध करें तो दूसरे का लोप हो जाता है। पर्यायनहीं है, ऐसा कोई कहे तो द्रव्य का अभाव हो गया। द्रव्य नहीं है ऐसा कोई कहे तो पर्याय की सिद्धि नहीं। वस्तु तो द्रव्यपर्यायात्मक है। और द्रव्यपर्यायात्मक है तो वस्तु की पूरी जानकारी द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनों से होती है, फिर यह एक अपनी बात है कि किसी एक दृष्टि को हम प्रयोजन से मुख्य कर लें जिसमें कि स्वभावाश्रय का काम बनता हो ऐसा किया जाता है, किया जा सकता है। मगर प्रतिपक्षनय की बात स्वीकार करके फिर प्रयोजनवश विवक्षितनय को प्रधान बनाना यह है मार्ग और प्रतिपक्षनय की बात का विनाश करके बोला तो फिर विवक्षित रहा ही क्या? जो नय सोचा उसको एकान्ततः मान लेते कि इससे सिद्धि है, पर मार्ग नहीं मिलता, क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है उसके विरुद्ध सोचा गया।

914- एकद्रव्यस्वभाव व द्रव्यान्तरस्वभाव से परिणमन की प्रक्रिया होने से ज्ञानपरिणमनपद्धति में बंधमोक्षहेतुत्व की व्यवस्था-

यह ज्ञानस्वरूप आत्मा, यह परिणमता ही तो रहेगा। अब ज्ञान का किस तरह से परिणमना बने कि संसारपरिपाटी का कारण हो जाय और ज्ञान का किस तरह से परिणमना बने कि संसार संकटों से छुटकारा का कारण हो जाय। इन दो बातों को यहाँ इन दो कलशों में बताया गया है। ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होना तो है मोक्ष का हेतु और ज्ञान का कर्मस्वभाव से होना यह है बंध का हेतु, मोक्ष का हेतु नहीं। ज्ञान का स्वभाव से होना यह तो बना एक द्रव्य के स्वभाव से, स्वयं के खुद के स्वभाव से, और ज्ञान का कर्मस्वभाव से होना यह बना द्रव्यान्तरस्वभाव से, यह शब्द स्वयं अमृतचन्द्रसूरि ने इस कलश में प्रयुक्त किया है। जिससे अपने को अनेक शिक्षा की दिशाएँ मिलती हैं। तुम ज्ञानस्वरूप हो, परिणमते रहोगे। परिणमन बिना एक क्षण भी न होगा। अब बस सब यही निर्णय पड़ा हुआ है कि हमारा ज्ञान किस पद्धति से परिणमे कि हमारा आनन्दविलास बना रहे और यह ज्ञान किस पद्धति से परिणमे कि कष्ट, दुःख, व्यग्रता ये सारी बातें आ जायें। बस ज्ञान ज्ञानस्वभाव से हुआ, परिणमा, यह तो है आनन्दरूप और ज्ञान का कर्मस्वभाव से होना, यह

है संकटरूप। अब अपने आपमें यह परीक्षा करो कि हमारे ये दिन रात किस पद्धति से ज्ञान के परिणमन में गुजरते हैं? कर्म स्वभाव से परिणमते हुए गुजरते हैं स्वभाव से या ज्ञान से परिणमते हुए गुजरते हैं? याने कषाय से लगाव करके, अपनायत करके ये गुजरते हैं क्षण या अपने ज्ञानस्वभाव की दृष्टि रखकर गुजरते हैं। यह परीक्षा खुद की खुद कर सकते हैं। यदि क्रोध, अहंकार, माया, तृष्णा का रंग, ममता की वासना, ये ही बने रहते हैं और इनमें हमारा ज्ञान चलता रहता है तो यह है कर्मस्वभाव से होने वाली बात। कर्मस्वभाव से परिणमने में आत्मा का हित नहीं है।

915- अपने भविष्य के लिए अपना उत्तरदायित्व जानकर ज्ञानपरिणमनपद्धति का सुधार करने का सन्देश-

देख लो जरा कितनी चलती है बाह्य पदार्थों में ममता, तृष्णा का रंग कितना गहरा है, कैसा क्या है, यह बात आप परख लीजिए। है अपनी गलती। इसगलती को स्वीकार करके यह गलती मिटाना है हमको, नहीं तो परेशान होने को कोई दूसरा न आयगा। जगत में कोई मित्र नहीं है जो मेरा सुधार बना दे- अच्छा परिणमन कर दे। जगत के मित्रों का तो यह स्वरूप है कि जिसकी कषाय से कषाय मिल जाय बस वह मित्र कहलाता है। आपके चित्त में जिस तरह की कषाय जग रही है उस तरह की कषाय दूसरों में दिख जायें बस आपके दोस्त हो गये। कषाय का कषाय दोस्त है। आप खूब अच्छी तरह से निरखते जाइये, परिवार में देख लो- जैसी पति की कषाय है उस तरह की पत्नी की कषाय चल रही, एक समान कषाय मिल रही, घर हमें चलाना, द्रव्य हमें जोड़ना, द्रव्य इन्हें जोड़ना, लो इस कषाय में कषाय के मिलने से एक दूसरे के मित्र बन गए। जगत के मित्रों की क्या कहानी कहना और विरोध भी यही कहलाता कि कषाय से जिसकी कषाय न मिले। वह और तरह की कषाय कर रहा, यह और तरह की कषाय कर रहा, तो वह विरोधी मान लेता, यह मेरा विरोधी है। जगत में न कोई विरोधी, न कोई मित्र। इसकी तो यह कोरी कहानी है। यहाँ से हटना है। बहुत दूर चला गया यह उपयोग। आऊँ अपने समीप उतरूँ ! अब तो इस ज्ञानस्वभाव की जानकारी में आऊँ और रम लूँ, यह ही एकमात्र शरण है। आऊँ, उतरूँ, रम लूँ निज में, यह ही ज्ञानस्वभाव में आने की बात है और यह ही मोक्ष का हेतु है।

कलश 108

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।

मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥108॥

916- ज्ञान का कर्मस्वभाव से होने की मोक्षहेतुतिरोधायिता-

इससे ऊपर के कलश में यह बताया गया था कि ज्ञान का कर्मस्वभाव से होना, यह स्थिति मोक्ष का हेतु नहीं है, क्यों नहीं है? यह बात इस कलश में बतला रहे हैं। मोक्ष का जो हेतु है उसका तिरोधान होने से यह कर्म स्वयं बंध स्वरूप है अर्थात् शुभ अशुभ विभाव ये ही कर्म ये स्वयं बंधनरूप हैं, क्योंकि ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से भवन यहाँ नहीं है, किन्तु जो कर्मोदय है, उसका प्रतिफलन है, उसके अनुरूप इसमें विकल्प जगे हैं तो ये कर्मस्वभाव रूप से ज्ञान का होना बन रहा है। तो इस प्रकार की जो परिस्थिति है याने अपने सहज ज्ञानस्वरूप के आश्रय से जो कुछ अलगाव है, उसमें जो विभाव है वह तो मोक्ष के कारण का तिरोधान करता है अर्थात् उस ज्ञानविकास का वहाँ तिरोभाव है, वह तो विभाव में लग गया सो वह बंधनरूप है और मोक्ष का हेतु तिरौधायी है याने तिरस्कार करने वाला है, इस कारण वे कर्म निषेध्य हैं, मायने शुभ अशुभ सभी कर्म हेय हैं, भले नहीं है। मेरे को भला मेरे सहजस्वभाव की दृष्टि हैं। जगत के जीव जब जब जो जो दुःख पाते हैं वे दुःख क्या हैं, कष्ट क्या हैं? अपने सहज स्वभाव के आश्रय से चूँकि नहीं हुए हैं ना? तो कष्ट पा रहे, व्यग्र हो रहे। जैसे कोई मछली अपने रहने के घर से याने जल से किसी कारण अलग फिंक जाय और रेत में, धूल में कहीं पहुंच जाय तो अपना धाम तज दिया तो जैसे वह व्यग्र होती है, ऐसे ही उपयोग जब अपने स्रोत को तज देता है, मायने सहजस्वभाव की सुध से अलग होता है, दूर पड गया। वह दूर परतत्त्व क्या है? परभाव स्वभाव से हटकर परभाव में चला गया तो वह तो व्यग्र हो गया, तकलीफ हो गई और प्रकृत्या यह सब बात होगी। और, ऐसी स्थिति जो है वह मोक्ष के हेतु का तिरस्कार करने वाली है। मोक्ष का हेतु तो ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होना, बस यह परिणति है। तो इसका तिरोधायी होने के कारण ये समस्त विभाव पुण्य हों, पाप हों, पुण्यकर्म हो, पापकर्म हो ये सबके सब निषेध किए जाने योग्य है।

917- ज्ञानपरिणमन के प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र आदि-

देखिये कुछ अपनी अपनी पदवी की भी बात है। श्रद्धा में शुभभाव का पूर्ण निषेध करना, प्रवृत्ति में निषेध नहीं बनता। वह तो प्राथमिक दशा में है, उसके शुभोपयोग का प्रवृत्ति में निषेध नहीं बन पा रहा, मगर श्रद्धा में निषेध है, यह स्वभाव ही मोक्ष का हेतु है, इसका सही भवन होना। यह किसी भी प्रकार का जो कर्मस्वभाव है, मायने कर्म के प्रतिफलन में जो लगाव है, भाव है, इस रूप से ज्ञान का होना यह मोक्ष का हेतु नहीं हैं। हां तो क्या रहा मोक्ष का हेतु? ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होना, इस तथ्य को भेददृष्टि से तीन रूपों में रखते हैं- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ज्ञान का समीचीनपना याने विपरीत अभिप्राय जहाँ से निकल गया ऐसी ज्ञान की जहाँ स्वच्छता आयी, उस स्वच्छतारूप से होना यह है सम्यग्दर्शन। इसका तिरस्कार करने वाला कौन? मिथ्याभाव, मिथ्यात्व और मिथ्याभाव का निमित्तभूत मिथ्यात्वप्रकृति। हुआ क्या? वहाँ ही एक अतत्त्वश्रद्धानरूप से परिणमन। जैसे- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये क्या चीज है? ज्ञानी का जीवादिक अंतस्तत्त्व के श्रद्धान् रूप से होना सम्यग्दर्शन है। ज्ञान का जीवादिक ज्ञानस्वभाव से होना सम्यग्ज्ञान है, ज्ञान का रागादिक परिहार के स्वभाव से होना मायनेज्ञान में स्वयं रागपरिहरण का स्वभाव पड़ा

है, ज्ञान तो ज्ञानरूप है, ज्ञातारूप है, उसमें रागभाव का स्वरूप नहीं है, तो रागादिक के परिहार के स्वभाव से होना इसे कहते हैं सम्यक्चारित्र। तब फिर मिथ्यादर्शन क्या? इस ही ज्ञान का मिथ्यात्व कर्मस्वभाव से होना, सो हुआ मिथ्यादर्शन। इस ही ज्ञान का अज्ञानभाव से होना सो हो गया मिथ्याज्ञान, इस ही ज्ञान का रागादिक विकल्प से लगाव रूप से होना सो हो गया मिथ्याचारित्र। कर्मस्वभाव से होना इसमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये तीनों आ जाते हैं और ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होना इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र तीनों आ गए। भेदविवक्षा से निरखा जा रहा है।

918- जीव में श्रद्धान ज्ञान आवरण की शाश्वत प्रवर्तमानता-

जीव श्रद्धान, ज्ञान, आचरण बिना कहीं भी नहीं रहता, किसी भी परिस्थिति में हो, संसारी स्थिति में हो, मुक्त स्थिति में हो, कहा जायगा सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र गुण का परिणमन होता ही रहता है, और देखो-सब इस समय भी नजर आयगा। आप तो कार्य करते हैं उनमें विश्वास साथ है, जानकारी है, इस प्रकार की प्रवृत्ति है, इसी के मायने है कि आप जो भी कार्य कर रहे है उसमें तीनों साथ लगे हैं- श्रद्धान, ज्ञान, आचरण। रोगी वैद्य से दवा लेता है तो उसके प्रति एक श्रद्धान है कि इससे मेरी तबीयत ठीक हो जायगी, इसने अच्छी दवा दी है। उस दवा का ठीक-ठीक ज्ञान है, उसकी विधि का ज्ञान है, और फिर खाता है, उसकी प्रवृत्ति करता है, लो ये तीनों कार्य वहाँ किये ना? कहाँ नहीं होता श्रद्धान, ज्ञान, आचरण? व्यापार करते हैं लोग। श्रद्धान साथ है ना कि ऐसा ऐसा ढंग बनाना यह लाभदायक है, उसका ज्ञान भी है और उस रूप चेष्टा भी करते है, तो आत्महित में मोक्षमार्ग में भी तदनुकूल श्रद्धान, ज्ञान, आचरण काम करता है। ज्ञान का एक बड़े सहज स्वभावरूप में श्रद्धान रूप से परिणमन होना सम्यग्दर्शन, ज्ञान का जानकारिरूप से मात्र जाननरूप से जो ज्ञान की वृत्ति है वह है ज्ञान। ज्ञान तो ज्ञान ही है, राग राग है। राग में ज्ञान नहीं, ज्ञान में राग नहीं, स्वरूप उनका जुदा है, सो उस रागादिक के परिहार स्वभाव से ज्ञान के होने का नाम सम्यक्चारित्र, ये ही मोक्ष के हेतु हैं, इसका तिरोधान कर दिया मिथ्याभाव ने, मिथ्याज्ञान ने, मिथ्या आचरण ने इसीलिए इनका निषेध किया जाता है। ये परभाव हैं।

919- परभाव का परिचय-

परभाव का अर्थ है, पर पदार्थ का निमित्त पाकर होने वाला भाव, निमित्त नहीं करता है इस भाव को, क्योंकि वह जो नीति है, स्वरूप है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति नहीं करता वह अलंघन है, तो दो ही द्रव्य हैं सामने निमित्त और उपादान, तो निमित्त उपादान की परिणति नहीं करता फिर निमित्त कैसे कहते हैं? बस निमित्त के सन्निधान का ऐसा ही कोई सम्पर्कजभाव उदित हुआ है या एक वातावरण बना है कि वहाँ यह अशुद्ध उपादान अपनी परिणति से राग विकाररूप परिणम जाता ऐसा वह कर्मोदय के अभाव में नहीं परिणमा। कर्मोदय का सन्निधान पाकर परिणमा। जैसे दर्पण में फोटो आया तो उस फोटो को सामने जो हाथ या मुख है उसने नहीं कर दिया, वह फोटो या मुख तो मुख की जगह हैं, अगर मुख दर्पण में पहुंच जाय

और दर्पण की परिणति करने लगे तो यह मुख नदारत हो जायगा, यह मर जायगा, फिर काहे का दर्पण और काहे का देखना? यह मुख दर्पण में नहीं गया, दर्पण की परिणति मुख ने नहीं की, मगर उस समय यह स्थिति है कि मुख का सन्निधान पाकर दर्पण ने अपने में प्रतिबिम्ब रूप परिणमन बनाया, ऐसा ही परिणमन मुख के सामने आये बिना नहीं हुआ करता है, क्योंकि वह उसी के अनुरूप तो परिणाम है। सो यद्यपि निमित्तनैमित्तिक भाव में कर्तृकर्मत्व रंच भी नहीं हैं, मगर ऐसा ही योग है कि उस निमित्त का सन्निधान पाकर उपादान अपनी परिणति बनाता है, यह ही कहलाता है निमित्तनैमित्तिक योग। पूर्वबद्ध कर्म आ रहे हैं। कर्मसिद्धान्त का बहुत अधिक अध्ययन भी आवश्यक है। उससे बहुत स्पष्ट जानकारी होती है कि देखो यह बात कर्म में कर्म की चलती है।

920- शुद्धभाव के सान्निध्य में कर्मप्रकृतियों में प्रभाव-

जब जीव के शुद्धभाव होता है तो उसका निमित्तपाकर कर्म में भी कितनी गड़बड़ी चलती है। कैसे वे कर्म निर्जीर्ण होते हैं, उनकी बात कर्म में पायी जाती, पर जीव के शुद्ध परिणाम का निमित्त पाकर हो रहा यह सब कर्म में निर्जरण। कैसे होता? यों झट नहीं फूट जाते कर्म। झट नहीं निकल जाते कर्म। कर्म में जो लम्बी स्थिति पड़ी है तो प्रथम जो अन्तर्मुहूर्त है इससे ऊपर की अन्तर्मुहूर्त की निमित्त में से कुछ कर्मनिषेक की स्थिति बदलती है और करीब एक त्रिभाग छोड़कर कुछ अधिक दो त्रिभाग में वे निषेक मिल जाते याने उस जैसी स्थिति हो जाती इस तरह बढ़ते-बढ़ते जब आवली प्रमाण निक्षेप हो जाता है तब और ऊपर के नवीन निषेक निक्षेपों में बढ़ते जाते हैं, निषेक निक्षेप बढ़ते जाते, अतिस्थापनायें सरकती जातीं, अन्त में एक फाली रहती वह भी किसी प्रकार से सर्वसंक्रमण से बदल जाती। इस प्रकार आत्मा का एक प्लेटफार्म क्लियर हो जाता है। उसका निमित्त है जीव का शुद्धभाव। तो निमित्त नैमित्तिक भाव जहाँ हैं वहाँ अर्थ यह ही है कि एक दूसरे का कर्ता नहीं, पर उसके सन्निधान में उपादान परिणम गया। यह ही बात हो रही इस मोक्ष के हेतु का तिरोधान करने वाले भाव में।

कलश 109

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥109॥

921- समस्त कर्म की सन्न्यस्तव्यता-

सभी कर्म याने ज्ञानस्वभाव के आश्रय के सिवाय होने वाली जितनी परिणतियाँ हैं वे सभी कर्म त्यागने योग्य हैं। जब एक यह बात आयी, परिस्थिति हुई कि मोक्ष चाहने वाले पुरुष को सभी प्रकार के कर्मों का संन्यास करना चाहिए तो उस समय फिर पुण्य और पाप की जुदी-जुदी कथा ही क्या है, एक अपने सहजभाव का अनुभव, प्रतीति, ज्ञान, स्मरण, वही उसका सर्वस्व है। लोग कहते हैं परमपिता परमेश्वर। वह परमपिता परमेश्वर कहाँ हैं बाहर? दूर कहाँ है। पिता कहते हैं रक्षक को। परमरक्षक मेरा कौन? मेरा परमरक्षक मेरा स्वरूप। इस ज्ञान को इस स्वरूप को कोई कैद कर सकता क्या? कोई बाधा डाल सकता क्या? भले ही किसी के कुबुद्धि जगो- और किसी ज्ञानी को कैद कर दे, तो भला शरीर पड़ा है कारागृह में- पर ज्ञानविकास को, ज्ञानविलास को कोई कैद कर सकता क्या? वह अपने आपमें सहज बिलसित है। यह ज्ञान जो सम्यक्त्व आदिक निज स्वभाव से हो रहा। ज्ञानमात्र आत्मा कहो तो जिसका विलास, जितनी भी चीज परिणति होगी वह सब इस ज्ञान में ही तो घटित होगा। भेदविवक्षा से अनन्त गुण व उनकी प्रत्येक की पर्याय हैं सो अनन्त पर्याय हैं, फिर भी ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व को जब ज्ञानमात्र अभेदरूप में देखा तो कुछ भी पर्याय हो, वह इस ज्ञानमात्र आत्मा की अखंड पर्याय है। सम्यग्दर्शन होना वह भी ज्ञान का सम्यक्त्व स्वभाव से हुआ, सम्यग्ज्ञान हुआ तो वह भी ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होना हुआ, सम्यक्चारित्र हुआ तो वह भी ज्ञान का विकार परिहार स्वभाव से होना हुआ। तो इस प्रकार सम्यक्त्वादिक अपने स्वभावरूप से होने के कारण यह ज्ञान मोक्ष का हेतु है।

922- ज्ञानमयभाव की नैष्कर्म्यप्रतिबद्धता-

यह ज्ञान नैष्कर्म्य में प्रतिबद्ध है। जहाँ जाननमात्र की ही बात चल रही है वहाँ कोई कर्म तो नहीं है। कर्मरहित उपस्थिति से वह प्रतिबद्ध है। कर्म मायने ये शुभ अशुभ भाव, ये चेष्टायें। अथवा कर्म मायने निमित्तदृष्टि से पौद्गलिक कर्म। इन कर्मों से, इन परिणतियों से रहित जो एक अवस्था है उसमें यह नियतजो नियंत्रित है, प्रतिबद्ध है, ऐसा यह ज्ञान अपनी उज्ज्वल तरंगों से अपने एक उद्धत रस के रूप में शीघ्र दौड़ आता है, एकदम स्पष्ट सामने आता है। अपना यह ज्ञान अपनी नैष्कर्म्य अवस्था में ही रहता है। देखिये सारी करामात उपयोग में है। उपयोग जहाँ लगा है वहाँ उपयोग तन्मय है और उसी में ही बात कही जाती है। मुमुक्षु ज्ञानी के करणानुयोग की दृष्टि से अभी अनेक कमियाँ चल रही हैं। चल रही अबुद्धिपूर्वक। कर्मविपाक का प्रतिफलन होना अनिवारित है। तो वहाँ बुद्धिपूर्वक रागद्वेष नहीं है इसकी ही चर्चा द्रव्यानुयोग में चलती है। और कर ही क्या सकते हैं, बुद्धिपूर्वक पौरुष अपना अन्य बन ही क्या सकता है? यह ही तो ना? परद्रव्य में क्या पौरुष और उस कर्म विपाक का प्रतिफलन होना यह तो आत्मा की एक कला की बात है, एक उसके गुण की बात, गुणविकास की ही बात है। जो हो सो आया ज्ञेय प्रतिफलन में। अब वहाँ जो प्रतिफलन के साथ ही जितना मालिन्य हुआ वह अबुद्धिपूर्वक हैं। और जब यह उपयोग बाहर विषय साधनों में पड़ा है तो वह विकार बुद्धिपूर्वक विकार है।

923- निमित्त कारण व आश्रयभूत कारण में विवेक कर ने का अनुरोध-

यहाँ तीन प्रकार से कारण जानना- उपादान, निमित्त और आश्रयभूत। आश्रयभूत समस्त पदार्थ हैं, जिन-जिन में हमारा उपयोग लगे और निमित्त है केवल कर्मप्रकृति का उदय। निमित्त के साथ निमित्तक का अन्वय व्यतिरेक सम्बंध नहीं और तब ही यह बात सामने आती है कि भला यह जीव समवशरण में हो गया और इसे सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। अरे समवशरण में जाना यह सम्यग्दर्शन का निमित्त नहीं है, किन्तु है क्या? दर्शन, जिनबिम्ब दर्शन यह सम्यग्दर्शन के निकट पूर्व होने वाले शुभोपयोग के लिए आश्रयभूत कारण हैं। जिनबिम्बदर्शन आदिक ये सम्यक्त्व के आश्रयभूत कारण कभी नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र शुद्धोपयोग आदिक जो हैं ये सब निर्मल बातें हैं। ये अशुभोपयोग के बाद कभी नहीं होते ये सब शुभोपयोग के अन्तर होते हैं। और इसी के अन्तर होने के कारण शुभोपयोग परम्परया कारण है, उसका अर्थ यह ही है, तो वहाँ यह बात समझना कि जिनबिम्बदर्शन वेदनानुभव या अन्य अन्य चीज सो सम्यक्त्व के निमित्त कारण हैं यह शब्द दिया गया है धवल की छठी पुस्तक में जहाँ यह चूलिका दी गई है कि वहाँ यह सब बताया गया है कि उस गति के जीव में सम्यक्त्व के इतने निमित्त हैं, इनमें ये निमित्त हैं ऐसा कहा जाता है, पर विवेक यह करना कि सम्यग्दर्शनसे पहले होने वाले शुद्धोपयोग के लिए ये आश्रयभूत कारण हैं, उस शुद्धोपयोग के भी निमित्त कारण नहीं, जिनबिम्बदर्शनादि। सम्यक्त्व का निमित्त कारण तो मोहनीय की 7 प्रकृतियों का क्षयोपशम आदि है, दर्शन मोहनीय की 3 व अनंतानुबंधी नामक चारित्र मोह की 4 प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है। जो सम्यग्दर्शन क्षायोपशमिक हैं वहाँ उनमें से एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय है। कैसी स्थिति बनती है देखो अब शुभोपयोग में कि ज्ञानावरण का क्षयोपशम है साथ ही कुछ राग शुभ है उसका आश्रयभूत कारण होता है। सम्यक्त्व का आश्रयभूत कारण बाहर नहीं। सम्यक्त्व तो स्व के आश्रय से ही होता है। तो शुभोपयोग के आश्रयभूत कारण भी क्या है? उपचरित कारण हैं। जहाँ निमित्त शब्द आये वहाँ इतना विवेक करना चाहिए कि यह आश्रयभूत कारण के लिए कहा गया या वास्तविक निमित्त के लिए कहा गया। आश्रयभूत त कारण उपचरित कारण है, आरोपित कारण है, उपयोग जुटे तो कारण कहलाये, न उपयोग जुटे तो कारण नहीं कहलाता, पर वास्तविक निमित्त की यह बात नहीं। उसका कोई उपयोग ही नहीं कर पाता, एकेन्द्रिय के भी कर्मप्रकृति का उदय है। वहाँ तो कुछ सुना, समझा ही नहीं है। मनुष्यों में कुछ जैन लोग बात करते हैं, उस कर्म को चर्चा से, आशय से, युक्ति से जान करके बाहर प्रकट करते हैं। वहाँ तो ऐसा ही योग है। जब विपाक हो तो प्रतिफलन हो। तो कर्मोदय वास्तविक निमित्त है। इसके साथ अन्वयव्यतिरेक संबंध है, वह आरोपित कारण नहीं है, आश्रयभूत कारण आरोपित कारण क्यों हैं, यों कि उसके साथ विकार का अन्वय व्यतिरेक नहीं।

924- ज्ञप्ति के साध्य साधन भाव को उत्पत्ति के साधन मान लेने का अविवेक तज देने का अनुरोध-

अब ज्ञप्ति की बात देखिये- रागविकार होता, उसे देखकर कर्मोदय का ज्ञान किया कि इसके कर्मोदय है, इस जाति का कर्मोदय था तब ही तो ऐसा वह रोया, तब ही तो वह बड़ा विह्वल हुआ। तो उसका रागविकार देखकर जो कर्मोदय की जानकारी होती है सो ऐसी जानकारी होना इसे कह लीजिए एक ज्ञप्ति। सो एक ज्ञप्ति का तो परिचायक बना यह रागविकार, किन्तु उसका उद्भावक निमित्त कारण कर्मप्रकृति का उदय है। दो प्रकार के कार्य होते- ज्ञप्ति और उत्पत्ति। उत्पत्ति की बात कहेंगे तो यह कहना पड़ेगा कि अग्नि से धुवाँ उत्पन्न हुआ, वहाँ यह नहीं कह सकते कि धुवाँ से अग्नि उत्पन्न हुई, पर ज्ञप्ति की बात कहेंगे तो यह कहेंगे कि धूम देखने से अग्नि का ज्ञान हुआ। वहाँ यह बात नहीं बनती कि अग्नि के देखने से धूम का ज्ञान हुआ। तो यहाँ भी बात हो ज्ञप्ति की और चर्चा बना दें उत्पत्ति के ढंग की तो विवाद सम्भव होता है, बात तो करें आश्रयभूत कारण की और वास्तविक निमित्त की बात लपेट दें तो विवाद होता है।

925- व्यवहारनय व उपचारभाषा में विवेक करने का अनुरोध-

व्यवहार और उपचरित की भी जुदी जुदी बात है, ग्रन्थों में उपचार को भी व्यवहार शब्द से कहा और व्यवहार शब्द को भी व्यवहार शब्द से कहा तो जहाँ जहाँ यह व्यवहार मिथ्या है ऐसा कथन मिलेगा वहाँ उपचार वाला व्यवहार ही होगा, व्यवहारनय वाला व्यवहार न मिलेगा। यह उसमें परखने की बात है, अब होता क्या है कि व्यवहार नाम उपचार का भी है व्यवहारनय का भी है। तो सारे व्यवहार को जब कह बैठते हैं कि मिथ्या है तो वहाँ विवाद खड़ा हाता है। खूब सूक्ष्म निगाह से देखो- मोक्षमार्ग प्रकाश में या अन्य सब ग्रन्थों में जहाँ जहाँ व्यवहार को मिथ्यारूप बताया आत्मख्याति टीका में आदि आदि में, वहाँ मिलेगा आपको उपचरित वाला व्यवहार। उपचार वाला व्यवहार किसे कहते हैं? जहाँ परस्वामित्व और परकर्तृत्व की भाषा ला दी जाय उसे कहते हैं उपचार वाला व्यवहार। दो का सम्बंध बताने मात्र से उपचार नहीं, किन्तु दो का परस्वामित्व और परकर्तृत्व की विधि से संबंध बताये उसे उपचार कहते हैं। और, निमित्तनैमित्तिक व्यवहार बताना यह उपचार नहीं बताया गया और इसको कहीं भी मिथ्याशब्द से प्रयोग न मिलेगा। मिथ्या शब्द से प्रयोग मिलेगा तो बोलेंगे उपचार वाले व्यवहार को। ऐसी, ऐसी सूक्ष्म बातें हैं जिसकी कुञ्जी विदित न होने से साधारणरूप से कुछ भी कह दिया जाता तो वहाँ ऐसी ही एक बात बन जाया करती है। देखो- एक होता है आपका दूध, कोई एक आध छटांक आक का दूध पी ले तो वह मर जायगा, बच नहीं सकता। वह तो एक विष है और नाम उसका दूध रख दिया। जैसे गाय, भैंस, बकरी आदि का दूध, वैसे ही आक का दूध। जब कांटा लग जाता है भीतर गहरा तो लोग कहते हैं कि इसमें आक का दूध डाल दो, पककर कांटा निकल जायगा। तो आक का दूध तो विष है मगर उसका नाम धर दिया दूध। अब कोई जगह देखा कि आक का दूध पीने से लोग मर जाया करते हैं तो उसे देखकर कोई यह नियम बना ले कि दूध सारे प्राणघातक होते हैं तो यह नियम लोक में बाधारूप है, ऐसे ही कितने ही ऐसे तथ्य हैं जिनको आप बारीकी से निरखें तो, तथ्य का पता पड़ेगा। स्याद्वाद में विवाद का कहीं स्थान नहीं है। उसका प्रयोग विधि से करें।

926- ज्ञान से ज्ञान में ज्ञानस्वरूप निहारकर त्वरित सहज आनंदरस पान करने का अनुरोध-

भैया और करना ही क्या है? स्वभावदृष्टि करें, अपने स्वभाव में मगन हों, अपना काम बना लें और बाहर क्या है? लेवा मरे या देवा, बल्देवा करे कलेवा, क्या पड़ी है? इतना ही तो प्रयोजन है, स्वभावाश्रय करें। यह उपयोग बाहर में भटक-भटककर परेशान बन गया। इसकी परेशानी मिटावो। वहाँ से हटकर अपने सहजस्वरूप में इसको लायें, यह ही तो कार्यकारी है। यह सब करें, विवाद से क्या लाभ मिलेगा? यदि विवाद हो जहाँ कषाय बनती हो, कोई बात आती हो तो आज निश्चय समझें कि उसको स्वानुभव न जगेगा, क्योंकि कषाय का आग्रह बन बैठता है, तो ऐसे आग्रह को छोड़े- हमें तो अपना काम करना, अपने स्वभावदृष्टि में रहना, ऐसा एक भीतर में भाव बनाने से अपना लाभ है। तो इसी की बात कही जा रही कि यह स्वभावभाव, इसका आश्रय, इसका विकास, इसका विलास याने ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होना यह है एक व्रत, सम्यक्चारित्र, परमार्थसंयम यह है मोक्ष का हेतु, और अन्य विभावों में उपयोग को फंसाना, जुटाना, यह तो साक्षात् बन्धन है और क्लेश भी है, वह मोक्ष का हेतु कैसे हो सकता? इस तरह इस ज्ञानस्वरूप को निहारने पर एक नैष्कर्म्य दशा बनती है और उस नैष्कर्म्य दशा में जब ज्ञान प्रतिबद्ध हुआ तो इसका रस ऐसा अनुभव में आता कि बस यह ही स्थिति है वह जो भव-भव के बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा का निमित्त बनता है यह ही लाभ की बात है। बाहर में क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय तृष्णा इनका लगाव, इनकी प्रीति, इनमें अपना समय गंवाना है। कितने क्षणों का समय रह गया इस दुर्लभ मानवजीवन में? उस समय को व्यर्थ क्यों खोया जा रहा है? अपने उपयोग को अपने स्वभाव में लगावो। एक यह ही काम पड़ा है जीवन में करने को। इसको ही करने की हमारी वृत्ति होनी चाहिए।

कलश 110

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥110॥

927- वास्तविक विपत्ति की समझ में बनने की महती विपत्ति-

अपने आपमें विचार करना है। अपने लिए सोचिये मुझे सदा के लिए कष्टहीन होना है या नहीं? अपने आत्मा पर दया करके कुछ चिन्तन करें। यह संसार का ठाठ सदा नहीं रहने का। कुछ ही समय में या तो स्वयं ही इसका विलय हो जायगा या छोड़कर चले जाना होगा। इस संसार में पुण्य के उदय से कुछ धन वैभव आदिक मिले हैं तो ये सब तो पुद्गल हैं। मेरे स्वरूप का वहाँ रंच भी काम नहीं। उनसे मेरा कुछ काम

नहीं बनता। सब विकट कल्पनाजाल, मायाजाल है। इसके दिल में ख्याल न हो और बिना प्रयोजन सुखी दुःखी होने का अहंकार न हो। ये सब मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, और, जो समागम में आये हैं, परिजन, मित्रजन, बंधुजन जो कुछ भी हैं ये सब स्वतंत्र जीव हैं। आपके अधीन नहीं, उनके अधीन आप नहीं। जिसने जैसा कर्म उपार्जित किया उसके अनुसार यह जीव फल भोगता है। कभी मनुष्य बने, कभी पशु पक्षी बने, ऐसी नाना स्थितियाँ जो नजर आ रही हैं यह पूर्वबद्ध कर्म का विपाक है। सबसे बड़ी विपत्ति है कर्म का लदान और उसका निमित्त पाकर जो जीव में नाना तरह की कल्पनायें दौड़ती हैं पर वस्तु के बारे में यह भला, यह बुरा इस तरह की कल्पनाएँ दौड़ती हैं, यह महान विपत्ति है। भले ही मोही जीव संसार के कुछ सुख मौज पाकर यह महसूस न करे कि मुझ पर विपत्ति है, मगर यह तो बताओ कि फिर प्रभुमूर्ति के समक्ष क्यों आते? ये मोही जीव भले ही धर्म के नाम पर, कुल परम्परा के नाम पर भगवान की मूर्ति के दर्शन करने आते, मगर भीतर में यह ही विष भरा कि भगवान तो बेचारे हैं, बड़े तो हम हैं, ऐसी एक भीतर में वासना पड़ी है। कैसा हम भगवान की पूजा करके अपना काम निकाल लेते हैं, होशियार तो हम हैं, हम भगवान की भक्ति करते हैं और वैभव पाते हैं, मुकदमें में विजय पाते हैं, अच्छी संतान पाते हैं, मैं बड़ा हूँ, मेरे सब कुछ पुण्य है। भगवान तो एक हमारे काम के लिए निमित्त हैं, ऐसा जानकर सम्भव है कि मोहीजन भगवान से भी अधिक अपने आपको स्वीकार कर लेते हैं। संसार के जो संग प्रसंग मिले हैं, उनमें बेहोश मत बनो, नहीं तो दुर्दशा होगी। आज पुण्य के उदय में भले ही यह अनुभव न करें कि मेरा इसमें बिगाड़ है मगर कर्मबन्धन बराबर चल रहा। जैसा मोह है, जैसा राग है, जैसी वासना बनी है, वैसा कर्मबन्धन चल रहा और वे उदय में आयेंगे, फल प्राप्त होगा। दुःखी होना पड़ेगा, सो अपने आत्मा को जरा सावधान बनाना और जिसमें आत्महित है सो करना। कोई कष्ट की बात नहीं कही जा रही, जिसमें कष्ट हो वह काम जरा भी न करना जिसमें आनन्द मिलता है, सही आनन्द मिलता है वह काम तो अवश्य करना चाहिए।

928- अपने लिये अपनी महत्ता व उत्तरदायिता-

सोचिये अपने लिए, मेरे लिए बड़ा कौन? अपना खुद का आत्मा। खूब सम्हलकर जावो, सबकी शरण लो, सबको बड़ा मानो, कदाचित् लोक में कोई बड़ा कार्य भी बन रहा हो किसी बड़े के द्वारा तो वह भी आपके लिए बड़ा नहीं है। आपका जो पुण्योदय आया है उस कार्य के लिए वह पुण्योदय बड़ा है। किन्तु फिर अपने को सदा के लिए शान्ति मिले, संसार संकट टलें, ऐसे काम के लिए बड़ा कौन? अपना आत्मा। अपना आत्मा अपने लिए बड़ा है, अपना आत्मा अपने लिए शरण है, श्रेय है, सारभूत है, इसके सिवाय और कोई भी वस्तु का सहारा इसके लिए कार्यकारी नहीं है, अपने लिए आप ही बड़ा। क्यों बड़ा है कि शान्ति मिलेगी तो अपने आधार से मिलेगी, दूसरे के आधार से शान्ति न मिलेगी। कोई कष्ट आये, इष्टवियोग हो जाय, कोई बड़ी हानि हो जाय, जिसमें बड़े विह्वल हो रहे हों, दूसरा आदमी कितना ही समझाये, पर वह दुःख दूर नहीं होता और अगर आपकी समझ में आ गया कि क्या है? बाह्य पदार्थ है, रहा तो क्या, न रहा तो क्या, मेरा जो

सर्वस्व है वह तो सदा मेरे साथ है, ऐसा जब समझ गए तो आपकी आकुलता मिटेगी, दूसरे के पुरुषार्थ से, प्रयोग से, उपदेश से आपको शान्ति नहीं मिलती, इसलिए आपके लिए आप ही बड़े हैं, मगर कब बड़े हैं, यह भी ध्यान में दें। जब अपने आपके स्वरूप की सुध लें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है और यह ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप को जानता रहे, ज्ञान ज्ञानस्वभावरूप से परिणमता रहे, इसमें कोई विभाव की डली न पड़े, बाह्य पदार्थ का यहाँ पत्थर ढेला न आये, तरंग न बने, केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा में मात्र ज्ञाता रहे, यहाँ अन्य कोई तरंग न उठे, ऐसी स्थिति बने वहाँ आप सचमुच महान् हो गए।

929- बाह्य असार पदार्थों का लगाव तजकर अन्तस्तत्त्व की उपासना करने का सन्देश-

भैया, बाहरी पदार्थों को तजना ही होगा। पुण्यपाप के अनुसार जो बनना है वह संसार में होता है। आप तो अपने भाव के स्वामी है, बाहरी घटना के स्वामी नहीं। जैसा आपका भाव है, जैसा कर्मबन्ध हुआ, जैसा उदय वैसा योग मिलता है, इसमें आपका कुछ अधिकार नहीं, आप अपने भाव सम्हालें, शुद्ध बनें, किसी के प्रति विरोध की भावना न रखें। सबके प्रति इस प्रकार का भाव रखें, आपको बड़ा लाभ होगा। जो जीव कदाचित् आपका कोई बिगाड़ कर रहा हो, करता नहीं है बिगाड़, पर मानते तो हैं। किसी ने कोई तकलीफ दी हो और उससे हिम्मत करके आप बोल तो दो, वह आपको शत्रु न रहेगा, वह आपका परम मित्र बन जायगा। मगर खुद में कषाय भरी है कि मैं क्यों इससे अच्छा बोलूँ?...अरे भगवान आत्मा तो वह भी है, जरा हिम्मत तो बना लो, इसी को कहते हैं क्षमाभाव। आप अगर छोटे के पास जायें, उससे सद्बचन बोलें और नम्रता का व्यवहार करके तो यह कहलायेगा गुण और विवश होकर जाना पड़ा तो वह कोई गुण नहीं है, वह तो परिस्थिति की बात है। महत्ता तो आपकी इसमें है कि जो आपसे छोटा है उसके प्रति नम्रता का व्यवहार करें, उसके भगवत् स्वरूप को जानकर उसका आदर करें, नम्रता करें वह तो आपका सेवक बन जायगा जिस पर कि आप विरोध करते। जगत में कोई आपका विरोधी नहीं, आप ही अपने आप अपना विरोध कर रहे, मायने अपने में जो कषाय उठती है, उसकी आज्ञा में चल रहे हैं, उस कषाय से लगाव रख रहे हैं। कषाय को छोड़ना नहीं चाहते इसी कारण बाहर में मन, वचन, काय की चेष्टा विपरीत बनती है, दुःख होता है। स्वरूपदृष्टि करें, आपके लिए आप ही महान हैं। अंतः स्वरूप की परख बनावें, ज्ञानमात्र, ज्ञान ज्ञान ही मेरा सर्वस्व वैभव है, केवल बात कहकर नहीं रहना है। एक क्षण भी यह स्वरूप की बात उपयोग में क्यों उतरती नहीं? चित्त में तो यह बसा कि मेरे लिए मेरा पुत्र सब कुछ है, मेरे लिए मेरा घर सब कुछ है, चित्त में तो यह बात बसी हो और चाहें कि हम ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व का स्वाद लेवें, मोक्ष-मार्ग बना लें, सदा के लिए जन्ममरण के संकटों से छूटने का उपाय बना लें, तो यह बात यों बन नहीं सकती। एक बड़ी हिम्मत बनानी होगी। सर्व पौरुषपूर्वक अपने आपके अन्तः बसे हुए भगवान सहज परमात्म तत्त्व के लिए अपना सब उपयोग समर्पित कर दें, ऐसा साहस हो तो वह संसारसागर से पार हो पायगा। केवल गप्प करने मात्र से

संसार से पार नहीं हुआ जा सकता सो जानना, अपने को किस तरह से बनायें हवायें, याने खुद किस तरह से हों तो मोक्ष का कारण बने और यह खुद किस तरह बने तो यह संसार बंधन का कारण बने?

930- अपने ज्ञान विलास पर ही समस्त भविष्य की निर्भरता-

आपके भविष्य की सारी बात आपके ही अधीन है, दूसरे के अधीन नहीं। देखो निर्णय बनाओ मैं जो कुछ अपने आप हूँ सो ही मैं हूँ। क्या? केवल ज्ञान-ज्ञान मात्र, ज्ञानज्योति, ज्ञानप्रकाश, इसके अतिरिक्त मेरा कुछ भी वैभव नहीं। सो यह ज्ञान केवल एक जगमगाता हुआ, ज्ञानविलास करता हुआ बस जाने भर की वृत्ति में रहे और कोई रागद्वेष के ख्याल के विकल्प के तरंग न उठें, ऐसा ज्ञान बने तो मोक्ष का मार्ग मिले। और जो कर्म उदय में आये, जिसके विपाक प्रतिफलन होते और इसमें रम गया और उसके स्वभाव से चली इच्छा, तो ऐसे कर्मरूप स्वभाव से अपने ज्ञान का परिणमन किया तो वह संसार में रुलेगा। तब क्या होना चाहिए। इन कर्मों से विरक्ति होनी चाहिए, और अपने में केवल कल्पनायें जगती, कषायभाव विभाव होते, वे उसकी परिपाटी के हेतु हैं, परभाव है, ये मुझे नहीं चाहिए, इनसे निराला रहना है और अपने अन्तः परमात्मस्वरूप में लगना है। लेकिन उस कर्म में लिपटकर जो जिन्दगी गुजारता है वह अपने जीवन को व्यर्थ खोता है। बाहरी परभावों में लगाव लगाना बिल्कुल व्यर्थ है क्योंकि वह आपका कुछ है ही नहीं। बताओ आप यहाँ मंदिर में आये तो आपका घर आपके साथ चिपककर तो नहीं आया, आपका वैभव आपके साथ तो नहीं आया, आपके लड़के बच्चे स्त्री वगैरह, सब अपनी-अपनी जगह बैठे हैं। वे कोई चुम्बक की तरह खिंचकर आपके पास तो नहीं आते, आपके पीछे लगे तो नहीं फिरते। आपका कुछ है क्या, मगर आपने झूठा ख्याल बना रखा है कि ये मेरे है। जैसे आपने किसी के प्रति कुछ अनुचित काम कर डाला और आपसे एक विछोह हो जाय तो आपमें एक पछतावा आता कि नहीं कि बिना विचारे ऐसी प्रवृत्ति कर दिया जैसे आपके घर का कोई दादा बाबा बड़ा है और आप उसे सताते हैं, मारते पीटते, गाली देते, निरादर करते, मानो वह गुजर गया, कुछ समय बाद आपको अकल आयी, ओह मैंने व्यर्थ ही कष्ट दिया। ऐसे ही इस संसार में जो भी चेष्टायें हो रही है वे सब अज्ञानभरी चेष्टायें हैं, व्यर्थ की चेष्टायें हैं, आपको पछतावा आयगा कि व्यर्थ की चेष्टायें की। आपका कोई बड़ा इष्ट हो, बड़ा प्रेम किया हो, खूब आनन्द से (मौज से) रहते हों, पर जब उसका वियोग हो जाता तो पीछे ध्यान होता कि अरे मैंने व्यर्थ ही राग किया। जिन्दगी के इतने दिन व्यर्थ गए...तो ऐसे ही इन सारी चेष्टाओं के प्रति ज्ञान के जगने पर बड़ा पछतावा होगा, अरे मैंने अनन्तकाल यों ही व्यर्थ गमा दिया। तो वास्तविक जीवन की बात समझ लो- व्यर्थ में जीवन न गुजारें।

931- कर्मधारा व ज्ञानधारा के बहने पर भी उनमें भेद करने की कला का प्रभाव-

सोचिये अब, क्या करना चाहिए? जो कर्म आये हैं, कर्म का जो एक रस चढ़ गया है, जो शुभ अशुभ कल्पनायें जग रही हैं, जो कषायें हो रही है उनसे अत्यन्त विरक्त होना है। वह तो बड़ी ऊँची दशा है, जैसे कोई 11 वाँ, 12 वाँ गुणस्थान या अरहंत सिद्ध भगवान, वे उनसे पूर्णरूपेण विरक्त हुए। किसी भी अंश में

अब राग नहीं है। ऐसी स्थिति जब तक ज्ञानी को प्राप्त नहीं होती तब तक ज्ञान की दो धारायें चल रही हैं और उनमें समय समय पर कभी कर्म की विजय होती, कभी ज्ञान की। अन्तर निरन्तर ज्ञान की ही विजय है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव के यह ज्ञान बना रहता है कि मैं इस संसार देहफंद से निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूँ फिर भी पूर्वबद्ध कर्म उदय में आते हैं, विभाव बनते हैं, ये दो धारायें बनती हैं, मिश्रपरिणाम चलते हैं फिर भी कोई हानि नहीं। ज्ञानधारा तो साथ है। वह तो बिल्कुल मिटी नहीं। तो आपकी सुध, अपने आपके आत्मा का ज्ञान जब हो गया है तो विजय इसकी होगी, कर्म की विजय नहीं होती। सो दोनों स्थितियों में यह निर्णय करें कि जो भीतर ज्ञान उछल रहा है वह तो है मोक्ष का कारण और जो यह राग का भार चल रहा है यह है बंध का कारण। अपने आपमें यह निर्णय बनावें और देखो एक बार पूरे तौर से मन में आ जाय कि विभाव मेरा रंचमात्र भी नहीं, मेरी कोई चीज नहीं, इस कषाय को मैं क्यों करूँ। अच्छा ऐसी बात अगर मन में आयी और कषाय पड़ी थी पहले बहुत, तो इसको क्या दण्ड मिले? जिस दण्ड को स्वीकारने से बड़ा से बड़ा लाभ मिलेगा। जो कसूर करता है वह अगर दण्ड स्वीकार कर ले तो उसकी माफी हो जाती है तो अहंकार न बसे चित्त में, दूसरे जीवों को तुच्छ न समझें, उन पर अन्याय न करें, उनके प्रति नम्रता का व्यवहार करें, उससे मित्रता का व्यवहार बने इससे फिर तुच्छता न आयगी। अपने आपकी महिमा प्रकट होगी। आपका ज्ञान जो कषायों से दबा है उन कषायों को दूर करें तो भगवान अन्तस्तत्त्व यह ज्ञानमात्र आत्मा अपने उज्ज्वलरूप में प्रकट होगा, आप सदा के लिए सही हो जायेंगे सो कषायों के अपराध का दण्ड है विनयादिप्रवर्तन।

932- कर्मधारा से विमुख होकर ज्ञानधारा में अवगाहने के पौरुष का अनुरोध-

चल रहे है कर्म और ज्ञान दोनों की धारा, राग भी आते, विकार भी आते, समझ भी बनती, ज्ञान भी बनता, मगर लगाव रखें स्वरूप में, कर्म से विरक्ति बनावें, बन रही चेष्टायें, परिस्थिति है, उन्मत्तचेष्टा है, कर्म के उदय हैं, लेकिन ये मेरे स्वरूप नहीं। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, अपने ही स्वरूप में बसूँगा। ऐसा एक दृढ़ निश्चय बना लीजिए इस जीव में, भैया, ऐसी हठ बना लीजिये कि मैं इसका अध्ययन करके ही रहूँगा, मैं इन मकान वैभव आदि को छोड़कर ही रहूँगा। होने दो जो होना है पुण्योदय में अपने आप। घर में रहता है, कर्तव्य में बसा हुआ है। 6 घंटे दूकान पर लीजिए, 6 घंटे अन्य काम कर लीजिए, मगर उसके पीछे न लगें, क्योंकि यह सब धोखा है, यह सब माया है, इनमें अपना समय व्यर्थ जायगा, उस कर्मभार से हटें, विरक्ति पायें। जब इनसे पूर्ण विरक्त हो जायेंगे इन सब विभाव भावों का लेश भी न रहेगा तो भगवान बन जायेंगे, सदा के लिए संकटों से मुक्त हो जायेंगे। अपना यह प्रोग्राम बने कि मुझे तो सिद्ध होना है, मुझे तो अरहंत होना है, यह प्रोग्राम बनावें, यहाँ के पापी जीवों के समूह के बीच अपने को क्या दिखलाना है, संसार ही पाप है जो संसार में जन्ममरण लेते हैं वह सब पाप ही तो है। पापमय इस दुनिया में हमें किसी को कुछ दिखाना नहीं, कोई मुझे जाने भी मत, मेरे आत्मा का कोई नाम भी नहीं है, मैं निर्नाम हूँ, ऐसा मैं अपने चैतन्यस्वरूप

में ही बसूँगा, अन्य मेरा कोई निर्णय नहीं, अन्य बात के लिए मेरा जीवन नहीं। अनन्त भाव पाये यह भी भव पाया, विषय कषायों में समय गमायातो नई बात कौनसी की? क्रान्ति की बात कौनसी की? अपने आपमें क्रान्ति लावें। अपना मुख मोड़े, मुझे अपने आत्मा का ज्ञान करना है और उसही में रमकर संसार के संकट पार करना है। दूसरा ध्येय मेरे जीवन का अन्य कुछ नहीं है, अपने आपको सावधान बनाने के लिए जरूरत है स्वाध्याय की और सत्संग की। लोग उमंग रखते हैं कि मेरे बच्चे हैं, मेरा बड़ा संग है और उनके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्यौछावर हो रहा है, मगर इतनी भी दृष्टि नहीं होती कि कोई भी सत्पुरुष, कोई भी व्रती त्यागीजन, कोई भी ज्ञानीजन हमारे बच्चों के 100 वाँ भाग बराबर के भी होंगे। इनमें भी तो कुछ अपने को लाभ की बात होगी- यह कुछ नहीं। बस जिन जिन में मोह है उनके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर रहे, पर यह परिजन का संग आपके आत्मा को पतित बनायेगा और सत्पुरुषों का संग आपके आत्मा का उत्थान करेगा, इससे उमंग लावो सत्संग की।

कलश 111

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यत्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥111॥

933- कर्मनयावलम्बी व ज्ञाननयैकान्ती की दशा का चित्रण-

धर्म के प्रसंग में दो बातें चला करती हैं। एक तो आन्तरिक और एक बाह्य। आन्तरिक तो कहलाता है ज्ञाननय और बाह्य कहलाता है क्रियानय, कर्मनया और, है दोनों में ही तथ्य क्योंकि ज्ञानशून्य क्रिया झूठ और क्रियाशून्य थोथा ज्ञान भीकाम का नहीं। इस कारण बात तो होनी चाहिए अपनी पदवी में दोनों, किन्तु कोई पुरुष ज्ञान का ही एक हठ करता है याने ज्ञान का हठ करना तो भला है, ज्ञान का ही आग्रह करना चाहिए, पर ज्ञान को समझ तो पाते नहीं और और बात बात में ज्ञान का हठ करते हैं वे भी मार्ग नहीं पाते और जो क्रिया से ही सब कुछ समझते, यों हाथ जोड़ना, यों विनती करना, यों पूजा पाठ करना, केवल यह ही यह धर्म है, आत्मा का बोध नहीं करते, ज्ञानस्वरूप में आने की भावना नहीं तो उनके क्रिया कर्म से भी कुछ होने का नहीं है। यही बात दृष्टि में रखते हुए इस कलश में कह रहे हैं कि जो केवल कर्मनय का आलम्बन करते हैं वे डूबे, क्योंकि वे ज्ञान को जानते नहीं, केवल बाह्य क्रियाकाण्ड में ही धर्म मानते हैं। इसी प्रकार जो केवल ज्ञाननय की ही चाह करते हैं, आत्मा की चर्चा कर ली उछल उछलकर और भीतर में उछाल है नहीं, लोगों को देखकर खूब उछल उछलकर बड़ी ऊँची ऊँची बातें करते, लोग समझ जायें कि यह बड़े अच्छे

ज्ञानी हैं। भीतर में कुछ उछाल नहीं, आत्मस्वरूप की कोई दृष्टि नहीं, आत्महित की भावना भी नहीं किन्तु कोई एक जमाना होता है जब कि एक शौक बढ़ता है। जैसे आज कल का शौक देख लो, कितना जबरदस्त है। एक कमीज का ही शौक ले लो कितने ही प्रकार के फैशन वाले कमीज चले हैं। यही बात हर चीज में मिलेगी। लो मानो आजकल अध्यात्ममार्ग में भी एक शौक सा चल गया। शौक हुआ यह कि ज्ञान की बड़ी बड़ी चर्चा करें, मुख से खूब बोल लें, खूब गहरी-गहरी ज्ञान की बातें कर लें, जिनको अज्ञानवश यह पता नहीं कि यह स्याद्वाद की बात है या संख्यादिक की। केवल बातें ठोकने भर से काम है। कुछ दूसरों पर प्रभाव पड़े, सो जो तत्त्व को जानते नहीं, एक ज्ञान ज्ञान का ही शौक कहने को हुआ है तो उनको बाहर में भी अत्यन्त स्वच्छन्दता आ गई। क्रियाकलाप में पूजा ध्यान, स्वाध्याय सत्संग, गुरुभक्ति आदिक सभी धार्मिक क्रियाकाण्डों में एक प्रमाद आ गया, अरुचि हो गई, सो वे भी डूबे। तात्पर्य यह है कि ज्ञाननयैकान्त व क्रियानयैकान्त दोनों ही पातक हैं।

934- विश्व के ऊपर तरने का पात्र-

संसार में डूबे कौन नहीं? प्रगति पर कौन चलता है? जो ज्ञानस्वभावरूप अपने को मानते हुए ज्ञानरूप होते हुए कोई कर्म नहीं करते याने इतने ऊँचे उठे कि वे शुभ-अशुभ क्रियाकाण्ड वगैरह को नहीं करते और फिर भी किसी शुभ बात में, क्रिया में प्रमाद भी नहीं करते, याने अंतरंग से क्रिया करते नहीं और बाह्य प्रवृत्ति में प्रमाद करते नहीं। जैसी पदवी है इसके अनुरूप विभाव करके भीतर में ज्ञानस्वभाव का आश्रय कर जो बढ़ते हैं वे विश्व के ऊपर तैरते हैं। बात कोई कठिन नहीं चल रही है आत्मा की ही तो बात है, पर लोगों को कठिन यों लगती है कि आत्मा की भलाई करने की अन्दर में चाह नहीं। आत्महित की चाह हो तो अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने का अवसर मिलेगा।

935- आत्महित की भावना होने पर तत्त्वज्ञान की सुगमता-

अज्ञान में क्या-क्या विचार बनाया जा रहा है मेरे परिवार है, वैभव है। उसी की ही बढ़ोत्तरी में, क्षण में चित्त निरन्तर बसा हुआ रहता है तो भला एक हितकारी बात उपयोग में कैसे घर जमा सके याने बहुतों को प्रायः जो रुचि नहीं होती और ऐसा लगता कि बात तो बड़ी कठिन हुआ करती है शास्त्रसभा में जाकर क्या करे? वहाँ तो बड़ी कठिन चर्चा होती, बस वही आत्मा-आत्मा की ही चर्चा होती। हम तो चाहते हैं कि चक्की, चूल्हा, दाल, रोटी जैसी चर्चा हो, जो कि तुरन्त समझ में आये पर, ये यह नहीं ध्यान में देते कि किस्सा कहानी, दुनिया की बातें, यहाँ वहाँ की बातें जो बड़ी सरल लगती है वही-वही बात जिन्दगी भर हो तो उससे कौनसा अपना भला कर लेंगे। और अपनी बात आत्मा की बात जो अपने स्वरूप में है वह कठिन लगती है और यह उमंग रखते कि अपने निज घर की बात कठिन भी लगे मगर रुचिपूर्वक रोज-रोज भी सुनेंगे तो सरल हो जायगी। तो इस ओर उमंग रखना चाहिए कि हम उपयोग लगाकर कठिन से भी कठिन बात हो, उसको सुनेंगे, तुरन्त तो अर्थ उसका लग ही जाता है, उसका मनन करेंगे। कौनसा कठिन काम है? जो

केवलज्ञानी हुए, प्रभु हुए वे भी तो हम आप जैसे ही संसार में रुलने वाले प्राणी थे। उनको भी सारी बातें कठिन लगती थीं, किन्तु मार्ग पाया और भगवान बन गए। तो ऐसे ही हम आपको भी आत्मा की बात कठिन लगती है किन्तु मार्ग पायेंगे और प्रभु बनेंगे।

936- कर्मधारागत शुभ अशुभ भावों की अज्ञानरूपता-

यहाँ यह बात कही जा रही है कि ये जो बाहरी क्रियायें हैं, पुण्य है, पाप है, कर्म है, पौद्गलिक कर्म, शुभ, अशुभ भाव, ये सबके सब आत्मा के स्वभाव से हटे हुए परिणाम हैं। याने शुभभाव का भी जो स्वरूप है उस स्वरूप को देखो तो अज्ञानभाव है। यद्यपि शुभभाव करने वाले ज्ञानी पुरुष में ज्ञानधारा भी चल रही है। कोरा अज्ञानी नहीं है वह। सम्यग्दृष्टि, शुभभाव करने वाले, पूजा पाठ आदिक में प्रवृत्ति करने वाले अज्ञानी नहीं हैं मगर दो धाराओं में वहाँ निरखें कि भीतर में जो ज्ञानप्रकाश है वह तो है ज्ञानधारा और बाहर में जो प्रवृत्ति है, शुभभाव है, अशुभभाव है, मन, वचन, काय की चेष्टा है, स्वरूपतः देखें तो वह अज्ञानभाव है, सो जब वस्तुस्वरूप का विचार करते, आत्मा के सही स्वरूप का चिन्तन करते तो विदित होता है कि पुण्यपाप, शुभअशुभ सब एक ही समान बंधन की बेड़ी हैं। चाहे बेड़ी चाँदी सोने की पहना दी जाय, चाहे लोहे की बेड़ी हो, आखिर है तो वह बेड़ी ही।

937- पुण्यभाव, पापभाव, पुण्यकर्म, पापकर्म, पुण्यफल, पापफल सबकी बन्धनरूपता-

भैया, जरा स्वच्छ हृदय करके विचारेंगे तो पता पड़ेगा कि जो प्यारे लग रहे हैं पुत्र-पुत्री, स्त्री, भैया, घर, वैभव, तिजोरी आदिक वे सब बंधन है। और जो प्रिय नहीं लगते, अनिष्ट लगते ऐसी परिस्थिति में पहुंचे वह भी बंधन है। तो बंधन की दृष्टि से दोनों साधन समान हैं। बल्कि दुःखभरी स्थिति उतना विकट बंधन नहीं, जितना सांसारिक सुख मौज वाली स्थिति इस जीव के लिए बंधन है। दुःख में तो प्रभु की याद आ सकती, पर सुख और मौज में याद नहीं आती। अनेक लोग ऐसे मिलेंगे कि जो पहले धनी न थे, अत्यन्त साधारण स्थिति के थे तब दोनों बार मन्दिर में आते, जाप देते, प्रवचन में आते, गुरुवों की सेवा में रहते, स्वाध्याय करते, ये सब खूब चलते थे और वे ही जब धनिक बन गए तो फिर उनको जरा भी फुरसत नहीं मिलती। अगर कोई उनसे कहे भी कि भाई तुम शास्त्र-सभा में क्यों नहीं आते, पूजा में क्यों नहीं आते...? तो वहाँ कहता है कि क्या करें भाई, मरने की भी फुरसत नहीं है। अब देखो उनको इतना विश्वास है कि यह वैभव ही मेरे लिए सब कुछ है और मैं कभी मरूँगा नहीं। ये दोनों बातें भ्रमवश चित्त में चढ़ गईं तब ही तो बोलते हैं कि मरने की फुरसत नहीं है। जैसे कि मानो वह काल, यमराज आयुक्षय इस व्यस्तता को देखकर डरकर भाग जायगा कि यह सेठजी बहुत व्यस्त है, इनको मरने की भी फुरसत नहीं है तो हम क्या करेंगे आकर? तो ध्यान में लावो कि दुःख भरी स्थिति में भीतर में कितना आनन्द झरता था, ऊपर दुःख था, भीतर आनन्द था, कभी आप अनुभव कर सकते हैं ऐसा, कि है तो बड़ी कष्ट वाली स्थिति, विपत्ति है, परिस्थिति है, कष्ट हो रहा है, मगर भीतर में जो प्रभु की रुचि है, अपनी रुचि में ध्यान जम रहा हो तो भीतर में कोई दृढ़ता सी

भी है, आनन्द भी है, याने अँधेरा नहीं और आज वाली स्थिति हो तो अच्छे बच्चे, स्त्री, परिवार, वैभव खूब, घर में फ्रीज भी रखा, रेडियो रखा, टेलीविजन रखा, झट कान ऐंठा और ठंडा पानी पिया, फिल्म देख रहे, रेडियो सुन रहे, मौज आ रहा, रहने की जगह में भी जूता पहने हुए है, पलंग पर भी जूता पहने हुए हैं, खाना खाते समय भी जूता पहने हुए हैं, खूब सब प्रकार के मौज मान रहे। वे ऊपर से बड़े सुखी दिखते और भीतर में बड़े आकुलित हैं। खूब अंदाज कर लो सांसारिक सुखों में यही बात मिलेगी- ऊपर से माँग और भीतर में आकुलता ऐसा कस कर भरी हुई है कि उसकी चोंट निरन्तर सह लेते हैं। तो संसार की कौनसी हालत भली है? वह सुख वाली स्थिति काहे की अच्छी है, जिसमें अँधेरा रहता, भीतर व्यग्रता रहती और धोखा महान्। इतना बड़ा कष्ट आयगा कि जिसको सहन न कर पायेंगे। कोई पहले बहुत धनिक हो और वह एकदम से गरीब बन जाय तो उसके दिन तो बड़े कष्ट में गुजरते हैं, और कोई साधारण आदमी है तो उसकी बात पहले जैसी ही ठीक-ठीक चलती रहती है। तो यह पुण्यकर्म, पापकर्म, इनका फल, यह सब क्या है? सब बेड़ियाँ हैं, बन्धन हैं और फिर इस पुण्य पापकर्म के आस्रव के कारणभूत जो शुभभाव अशुभभाव हैं ये भी तो ज्ञानी को बन्धन जंच रहे हैं। अगर इन विभावों में आसक्त है तो वह मोक्ष मार्ग में कैसे बढ़ेगा? कैसे चलेगा?

938- श्रद्धासहित ज्ञानाचरण की फलप्रदत्ता-

भैया, मुख्य बात तो यह है कि अपने ज्ञानस्वरूप को निहारो और उसही को निहारते रहो ऐसा कि उसमें मग्न हो जावो, कुछ ख्यालात ही न जगें, किन्तु जब तक ऐसा नहीं हो रहा है तब तक केवल यह ही चर्चा मात्र रहे तो उससे अपनी प्रगति नहीं बन सकती। तो श्रद्धा चाहिए और तदनुकूल प्रवृत्ति चाहिए। एक कोई लकड़हारा था। वह जंगल में लकड़ियाँ बीनने गया। उसे वहाँ कोई साधु महाराज मिल गए। उनके प्रति श्रद्धा जगी और पास में बैठ गया। साधु से कुछ उपदेश सुना और कहा महाराज मेरे कल्याण के लिए कोई बात तो बोलो। तो साधु ने कहा देखो मैं तुम्हें एक मंत्र देता हूँ, उसका ध्यान निरन्तर रखे रहा करना, वह मंत्र है णमो अरहंताणं उसका स्वरूप व उसका फल भी बता दिया। उस लकड़हारे को वह मंत्र बहुत अच्छा लगा। उस पर पूरी श्रद्धा जम गई। वह उस मंत्र का ध्यान करता हुआ घर आया। उस मंत्र पर श्रद्धा इतनी अधिक बढ़ गई कि उसका लकड़ियाँ लाने का काम भी छूट गया। घर में बैठा हुआ णमो अरहंताणं का जाप करे। दो तीन दिन तक खाना भी न खाया। जब स्त्री से न रहा गया तो लकड़ियाँ बीनने नहीं जावोगे क्या? तो उत्तर मिला णमो अरहंताणं...बच्चे लोग क्या खायेंगे? णमो अरहंताणं...इस तरह से काम कैसे चलेगा?...णमो अरहंताणं, स्त्री ने तीसरे दिन जब खाना बनाया तो उस दिन खीर बनाया था सो ऊपर से आवाज दिया कि आवो खीर खा जावो, तो नीचे से उसने वही जवाब दिया- णमो अरहंताणं। लड़कों ने उससे खाने के लिए कहा तो वही उत्तर मिला। खीर किसी तरह जबरदस्ती पकड़कर खाने के लिए ले गए, बैठाया स्त्री ने खाना परोसा कहा- खावो तो बस वही णमो अरहंताणं। वहाँ उस स्त्री को ऐसा गुस्सा आया कि लूगर

(अधजली लकड़ी) उठाकर उसके सिर पर मारा। वहाँ वह लकड़ी फटी और उसमें से मोती बिखरे, अब क्या था, मालोमाल हो गया वह लकड़हारा। थोड़े ही दिनों में वह बड़ा धार्मिक व धनिक बन गया।

939- श्रद्धारहित आचरण से सिद्धि की असंभवता-

एक दिन उक्त लकड़हारे की पड़ोस की कोई सेठानी पूछ बैठी उस लकड़हारे की स्त्री से कि तुम इतना जल्दी धनिक कैसे हो गई। तो उसने कहा अरी जीजी सुनो- देखो हर जगह कहने की बात नहीं है, तुम बार बार पूछती सो बताये देती हूँ, और किसी से तुम कहना नहीं। देखे- ऐसा हुआ कि हमारे पतिदेव ने दो तीन दिन खाना नहीं खाया, उनसे हम कुछ भी बात कहें तो वह यही उत्तर दें- णमो अरहंताणं। इसके अलावा कोई दूसरे बात ही न बोलें। दो तीन दिन बाद हमने बनाई खीर। जबरदस्त बैठकर खाने को कहा तो वही बात णमो अरहंताणं कहा- हमने गुस्सा में आकर एक लूगर (अधजली लकड़ी) उठाकर उनके सिर पर मारा तो लकड़ी फटी और उसमें से मोती बिखरे। तब से मैं मालोमाल हो गई। तो उस सेठानी ने कहा- अरे यह तो धनिक बनने का बड़ा ही सुन्दर उपाय मिल गया। हम भी अपने घर में ऐसा करेंगी और मालोमाल हो लेंगी। सेठानी खुश होती हुई घर गई अपने पति से (सेठ से) कहा कि हम आज धनिक बनने का उपाय जानकर आयी हैं, वह उपाय करके मालोमाल हो लेंगी अब आपको व्यापार रोजगार करने की कुछ जरूरत न रहेगी। सेठ ने पूछा- क्या है वह उपाय? तो सेठानी बोली- बस आप दो तीन दिन कुछ खाना पीना नहीं, और हम जो कुछ आपसे कहें तो आप णमो अरहंताणं, बस यही बात कहना, बाकी काम हम सब बना लेंगी।...ठीक है, उसी दिन से सेठ ने कुछ खाना पीना नहीं लिया। उससे कोई कुछ कहे तो बस वह यही कहे- णमो अरहंताणं। तीसरे दिन स्त्री ने खीर बनाया, जबरदस्ती खाने के लिए बैठाया, खीर परोसा और खाने के लिए कहा तो बस वही बात- णमो अरहंताणं। तब सेठानी ने सेठ के सिर पर लूगर मसका तो लकड़ी फट गई और सारा कोयला ही कोयला बिखर गया। अब वहाँ मोती ढूँढ़े जा रहे, तो कहाँ धरे? सेठानी सोच रही थी कि देखो मैंने काम तो सारे ज्यों के त्यों ही कर डाले, पर न जाने कहाँ क्या कमी रह गई कि मोती कि बजाय कोयला बिखरा। अब बताओ क्या अन्तर रहा उन दोनों की क्रियाओं में, जिसके परिणाम में इतना बड़ा फर्क आ गया? अरे वह अन्तर रहा श्रद्धा का। लकड़हारे को उस मंत्र के प्रति पूर्ण श्रद्धा भी और सेठ को अंतरंग से श्रद्धा न थी? वह तो एक ऊपरी बनावटी बात थी। तो इस कथानक से यों समझो कि हम आपको इस मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए अपने ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व की श्रद्धा होनी चाहिए और फिर उसके अनुरूप अपना व्यवहार होना चाहिए, कोई व्यवहार व्यवहार ही तो करता रहे और भीतर अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा न बनावे तो उसको रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं हो पाती।

940- संसार में मझधार और पार करने वालों की चर्चा-

देखो भैया, दो तरह के जीव- कोई खाली ज्ञान-ज्ञान की चर्चा में ही मौज मानता रहे, कोई क्रियाकाण्डों में ही उलझा रहे, तो इन दोनों को समझाया गया है इस कलश में कि जो लोग कर्मनय का

एकान्त किए हुए हैं, शुभकर्म करें, दया दान, परोपकार, भक्ति-चेष्टा ये ही करते रहें मोक्ष मिल जायगा सो उनको ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा न होने से मुक्ति नहीं, वे संसार में डूबे ही हैं। भले ही क्रियाकाण्डी हैं, और कोई पुरुष ऐसा है कि क्रियाकाण्डों को छोड़ बैठा, पूजा में क्या, गुरु उपासना में क्या और जब छोड़ा तो कोई आधार भी चाहिए। अजी, आज कल कोई गुरु हो ही नहीं सकता, कोई अब साधु बन ही नहीं सकता, हैं ही कोई नहीं, ऐसा कह कहकर उनसे दूर रहते। ऐसे लोग हो गए बहुत जो कि ज्ञान-ज्ञान की चर्चा खूब करते और चर्चा ही चर्चा में रहकर कुछ सिद्धि नहीं पाते। तो जब साधुता की उमंग ही नहीं तो फिर करें क्या? सो वे भी डूब रहे। आचार्यदेव कहते हैं कि वे ही पुरुष संसार से तिर सकते हैं जो अपने ज्ञानस्वरूप की यथार्थ अनुभूति पा चुके हैं। यह हूँ मैं ज्ञानस्वरूप।

941- नाम व पर्याय की प्रीति तजकर अन्तस्तत्त्व की रुचि में कल्याण-

देखो लोगों को अपने-अपने नाम में कितनी बड़ी श्रद्धा बसी है। सब अनर्थों की जड़ है, महा पाप है जो अपने नाम के प्रति इतनी तीव्र रुचि लगी है कि यह सोचे हुए हैं कि मैं तो फलाने लाल हूँ, फलाने चन्द हूँ, फलाने कुमार हूँ। ऐसा तो भीतर में नाम के प्रति एक उमंग और श्रद्धा बनी है यह तो कर्म मार्ग में लगने में बहुत बड़ा विघ्न है। क्योंकि नाम किसका धरा जाय? चैतन्यस्वरूप आत्मा का कहीं नाम होता है क्या? वह तो एक सर्वसाधारण है। जैसे सब जीव, वैसा ही इसका स्वरूप। उसमें नाम नहीं होता। नाम धरा जाता है शरीर का, जो दिख रहा है। भले ही सजीव शरीर का नाम धरा, मगर दिखने में क्या आया? जिसको देखकर हम पुकारते हैं कि फलानेचंद, फलाने लाल, फलाने प्रसाद..., और इन नामों में हुई इसको बड़ी प्रीति तो इसके मायने यह ही तो हुआ कि पर्याय में आत्मबुद्धि है। किसी भी काम में लगे हों, पर कोई धीरे से भी वह नाम बोल दे तो झट कान में वे शब्द पहुंच जाते हैं। नाम के शब्द हों तो वे बड़ी जल्दी चित्त में आते। शरीर से प्रीति रखना, पर्याय में आत्मबुद्धि रखना, नाम में आत्मबुद्धि रखना यह बहुत बड़ा भारी मिथ्यात्व है, अंधकार है, समझना होगा कि अभी हम मोक्षमार्ग में कितना पिछड़े हुए हैं। ज्ञानप्रकाश प्राप्त हुआ कि जिसके कारण शीघ्र यह नाम संस्कार, ये सब कामनायें समाप्त हो जाती हैं। बौद्ध ग्रन्थों में आस्रव के जो कारण बताये हैं उन सबमें मूल कारण उन्होंने नाम रखा है। नाम का लगाव, नाम की बात- इनमें कर्मों का आस्रव होता। सो जैन सिद्धान्त में सबका नाम मिथ्यादर्शन रखा। तो पर्याय में आत्मबुद्धि न होना और भीतर में केवल ज्ञानज्योतिमात्र अन्तःस्वरूप की प्रतीति रहना और ऐसे ही ज्ञानस्वरूपमात्र रहने की कोशिश होना, जब यहाँ ज्ञानपौरुष नहीं चल रहा तो शुभभावों की चेष्टा होवे, इस तरह जीवन व्यतीत हो तो इस जीव का भविष्य प्रकाशमय हैं। आगे भी अच्छी चीज पायगा। नहीं तो मनुष्य हुए, पुण्य मिला, सुख मौज में मस्त रहे, और मरकर हो गए गधा, सूकर, नारकी, कीड़ा, मकौड़ा आदिक तो अब वहाँ क्या करेंगे? कुछ तो ख्याल करना है अपना कि यह संग मौज के लिए नहीं, किन्तु धर्म में जिस प्रकार प्रगति बन सके इन साधनों का उस तरह उपयोग करना है, तो ज्ञानी यह चिन्तन कर रहा कि पुण्य पाप सब एक समान हैं। मेरा ज्ञानस्वरूप

ही मेरे लिए शरण है। ऐसा सोचते हुए जो पुण्य बँध रहा वह बँध रहा, मगर पुण्य में इसकी श्रद्धा नहीं है और अपने ही ज्ञानस्वरूप में यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करता है।

कलश 112

भेदोन्मादं भ्रमरसभरात्राटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥112॥

942- कर्म में भेदोन्माद के नाटय का कारण मोहमदपान-

कर्म दो प्रकार के समझना- (1) द्रव्यकर्म (2) भावकर्म। द्रव्यकर्म तो उन कर्मों का नाम है जो पौद्गलिक हैं, जहाँ जिसकी कर्मत्व अवस्था बनती है, जिसकी सत्ता बंध उदय उदीरणा सारी हालत होती है, वह तो द्रव्यकर्म है और उन द्रव्यकर्मों के विपाक का निमित्त पाकर जो जीव में रागद्वेष मोह कषाय अभिलाषा आदिक भाव होते हैं, शुभभाव और अशुभभाव, वे कहलाते हैं भावकर्म। सो द्रव्यकर्म व भावकर्म में, जो बात किसी एक कर्म के बारे में कही जाय वैसा ही प्रायः दूसरे कर्म में घटित होता है। जरा अन्तर में आत्मा के भावकर्म पर घटित कीजिए। भावकर्म एक भेद के उन्माद को नचा रहा है याने विभावों में कोई शुभ कोई अशुभ कोई पुण्य कोई पाप, ऐसे दो भेद बन रहे हैं, क्योंकि ऐसी ही मोहमदिरा पी लिया है कि यह अज्ञानी जीव उन कर्मों में दो प्रकार के भेद इस उमंग से डालता है कि मानो पुण्य तो रक्षक है और पाप दुःखदायी है, पर ज्ञानी जीव जानता है कि जैसे पुण्य बंधन है, वैसे पाप भी बंधन है, सारे ही भाव हमारे लिए बंधन हैं, तो जिसने मोहमदिरा पी ली है वह भ्रमरस के भार से भेद के पागलपन को उत्पन्न करता है याने यह रुचि से भेद डालता कि यह पुण्य और पाप। यद्यपि पाप के भाव की अपेक्षा पुण्य भला तो है मगर इनमें से स्वरूप का विषय निहारते हैं तो पुण्य और पाप दोनों एक समान हैं। जैसे कहीं कहीं मान तो लेते हैं कि लोहा से सोना अच्छा होता, घर घर मान ही रहे सब लोग, और किसी को कैद कर दी जाय और खूब लोहा जितने ही वजन की सोने की बेड़ी पहना दी जाये तो वह तो उसे बन्धन ही मानता है, तो ज्ञानी जीव, जिसको कि अपना स्वभाव रुच गया वह तो अपने स्वभाव को ही सर्वसार मानता है, वहाँ पर यह भेद नहीं करता कि मेरे पुण्य रहा आये, पाप जाये। “पाप पुण्य मिल दोग पांयन बेड़ी डाली।” ऐसा कहते तो रोज रोज हैं विनती में, पर यह भाव समा जाय कि देखो सभी कर्म मेरे लिए बन्धन हैं, जब इन आठों प्रकार के कर्मों से छुटकारा हो तो हमारा बन्धन मिटे। पर यह बुद्धि बनती नहीं और कर्मभेद का भ्रम लग गया है मोह

में रहने के कारण। सो इस जीव की ज्ञानज्योति प्रकट होती है तो क्या स्थिति बनती है, वह ही बात इस कलश में कही जा रही है।

943- ज्ञानज्योति की कवलिततमस्कता-

ज्ञान ज्योति क्या? अपने आत्मा की जो ज्ञानशक्ति है, जानने की शक्ति है वही ज्ञानज्योति है सबमें ज्ञानज्योति है, पर आवरण पड़ा है विभाव का, रागद्वेष में उपयोग चलता है तो ज्योति कहाँ से प्रकट हो? किन्तु जिसने सहजभाव जान लिया ऐसे ज्ञानी जीव के ज्ञानज्योति प्रकट होती है, जिसके प्रकट होती है उसका सारा अंधकार दूर हो जाता है, क्या, अज्ञान अँधेरा याने इस ज्ञानज्योति ने उस अज्ञान अँधेरे को खा डाला। देखो एक बहुत गहरी तथ्य की बात मिलती है। किसी जीव में अज्ञान है और उसके ज्ञान प्रकट हुआ तो यह अज्ञान कहाँ चला जाता? कोई बतला सकता। निकलकर कहीं बाहर जाता है क्या? जैसे जहाँ टिन की गोल टंकी बनाकर कूड़ादानी बना दिया, लो टंकी में फैंको, ऐसे ही यह अज्ञान कहाँ फैंका जायगा? कहाँ जाता है? एक ही द्रव्य में अज्ञान भाव था, अब उस ही एक द्रव्य में अज्ञानभाव का तिरोभाव हुआ, व्यय हुआ और ज्ञानज्योति का प्रकाश हुआ, तो मानो इस ज्ञानज्योति ने उस अज्ञान को चबा डाला मायने अपने ही द्रव्य में उसका विलय कर दिया गया, पर्यायरूप से अन्दर रहता हो सो बात नहीं, वह तो विलय को प्राप्त हुआ, प्रकाश को प्राप्त हो गया तो जिस समय ज्ञानज्योति प्रकट होती है उस समय अज्ञान का अँधेरा नहीं रहने पाता। जैसे समुद्र में वायु प्रसंग से लहर उठ रही थी, अब जब वहाँ लहर रंच भी नहीं रहती, समुद्र गंभीर शान्त होता है तो बताओ लहर का क्या हुआ, लहर बाहर नहीं गई लहर भीतर भी नहीं, प्रलय हो गया। अज्ञान एक बड़ा अंधकार है। यह दीपक का उजेला कितना ही बना रहे, इससे अज्ञान का अँधेरा दूर नहीं होता तब तक इस जीव को शान्ति, आस्था, विश्वास, ये कुछ भी नहीं बनते। यह अज्ञान अँधेरा दूर होगा तो सत्य वस्तु स्वरूप का परिचय होने से ही दूर होगा।

944- ज्ञानज्योति की केवलज्ञानकला के साथ आरब्धकेलिता-

जब वह ज्ञानज्योति प्रकट होती है तो इसकी लौ एकदम पूर्ण ज्ञानविकास के साथ लगती है, केवल ज्ञान के साथ लगती है। जब किसी की बुद्धि खुलती है तो उससे पूछो कि तुम क्या बनना चाहते? तो जो ऊँचा से ऊँचा आदर्श हो उसमें उसकी धुन लग जाती है, जैसे किसी को संगीत गाना बजाना अच्छा लगता है प्राकृतिक देन हैं तो उसकी दृष्टि एकदम देश में जो सर्व प्रसिद्ध गायक संगीतकार हो उसकी ओरजाता है- मैं तो ऐसा बनूँगा। तो जब एक सच्ची ज्ञानज्योति प्रकट होती है तो यह ज्ञानज्योति केवल ज्ञान के साथ अपनी लीला बनाती है। उसमें ही सम्बन्ध जुड़ता है। अहा केवलज्ञान के साथ ज्ञानज्योति कैसीजुड़ती है कि जरा लीलामात्र ही अपने आपमें दृष्टि दे और स्वभाव का आश्रय करे, सहज ही समस्त कर्मों का विनाश होकर केवलज्ञान प्रकट हो जायगा। उस केवलज्ञान के साथ इस ज्ञानज्योति का अपना सम्बन्ध बनेगा। यह जीव पुण्य पाप के दो विकल्प बनाकर संसार में मौजपूर्वक रहने की सोच रहा था। जहाँ ये दो बातें चित्त में

आती कि पुण्य भला, इसमें मेरा उद्धार होगा वहाँ उसकी ज्ञानज्योति का तिरोभाव है। ज्ञानी पुरुष भी पुण्यकर्म करता, किन्तु पुण्य की उमंग नहीं होती। अगत्या क्या करे? जब चारित्रमोह का उदय है ज्ञानी जीव के तो उसकी प्रवृत्ति होगी पूजा, स्वाध्याय, व्रतीसेवा, त्याग, दया, दान आदि की, मगर उसकी श्रद्धा में यह ही बसा है कि मेरा जो सहज स्वरूप है वह मुझमें प्रकट हो।

945- ज्ञानी के प्रवृत्ति होने पर सकल परभावों की उपेक्षा-

होता है ना ऐसा कि भाव में जो बात बसी हो कहो प्रवृत्ति में न बने, प्रवृत्ति और प्रकार से हो। मन से उमंग हो और दुःख देखना पड़े। ऐसी बात तो बहुत-बहुत करके होती है, और कहो मन में उपेक्षा है और ऊपर से उमंग दिखाईपड़े। तो ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव उसको सर्व-ओर से उपेक्षा है, मगर चारित्रमोह का उदय है सो कहीं हर्ष, कहीं विषाद, ऐसी परिणति बनती है। जैसे मानो किसी लड़के की बारात सज धजकर जाने वाली है तो उस समय राख फिरती है, लड़का घोड़े पर बैठकर चलता है और पड़ोसी की स्त्रियाँ गाना गाने के लिए बुलाई जाती है। वे क्या गाती हैं- मेरा बन्ना बना सरदार, रामलखन सी जोड़ी...आदि खूब हाथ पसार-पसार कर गाती हैं, काहे के लिए? मात्र पाव भर बतासे पाने के लिए (हँसी) और उस लड़के की माँ को तो उस समय किसी से बात करने तक की फुरसत नहीं रहती। उसके तो काम के मारे शरीर से पसीना बहता, कभी किसी को कुछ सामान देती, कभी किसी को कुछ मनाती कभी किसी को। वह तो बड़ी परेशान सी रहती। उस लड़के के प्रति बाहर से उसमें कोई उमंग नहीं दिखती और पड़ोस की नाइन, धोबिन वगैरह सभी खूब हाथ पसार-पसार कर गाती हैं और अपनी उमंग दिखाती हैं, पर जरा उनका अंतरंग तो देखो, उमंग उस लड़के की माँ के हैं न कि उन पड़ोस की स्त्रियों के। कैसे, सो सुनो। अभी वह लड़का कहीं घोड़े से गिर पड़े और उसकी टाँग टूट जाय तो दुःखी कौन कौन होगा? उस लड़के की माँ ही दुःखी होगी। वे पड़ोस की स्त्रियाँ न दुःखी होगी। तो देखो उमंग अधिक दिख रही थी पड़ोस की स्त्रियों में और उसकी माँमें कोई उमंग नहीं दिख रही थी, पर वास्तव में उमंग थी उसकी माँ में ही, पड़ोस की स्त्रियों में नहीं। गुजरात में तो किराये की रोने वाली स्त्रियाँ बुलाई जाती हैं। वे सब गोल-गोल लाइन से इस ढंग से खड़े होकर रुदन मचाती हैं कि मानो गीत जैसा गा रही हों। एक बार हमने अपनी आँखों यह दृश्य देखा। वहाँ हमने जब लोगों से पूछा उसके बारे में तो उन्होंने बताया कि ये रोने के लिए किराये पर स्त्रियाँ आती हैं। यह तो यहाँ का रिवाज है वे सब स्त्रियाँ एक लाइन से गोल-गोल खड़ी होकर ऐसा छाती पीट-पीटकर रोती हैं कि देखने वालों को लगता कि कही ये खुद मर जायें, पर वहाँ वास्तविकतादेखो तो उनको जरा भी चोट नहीं लगती। वह तो उनमें एक ऐसा प्रदर्शन करने की कला है। तो भाव कुछ हो प्रवृत्ति कुछ हो, यह बात बनती कि नहीं? इस विषय में तो मानों मिथ्यादृष्टि अपना एक दिलचस्प आदर्श उपस्थित करता कि जो भाव है वैसी ही प्रवृत्ति दिखती है सम्यग्दृष्टि से नहीं बन पा रहा ऐसा, जब तक कि चारित्रमोह का उदय है याने मिथ्यादृष्टि के मन में मोह है, पाप है, खोटा भाव है तो वैसी प्रवृत्ति कर बैठता (हँसी)। और ज्ञानी पुरुष, सम्यग्दृष्टि पुरुष,

उसका भाव निर्लेप में है, उपेक्षा के है, दंदफंदों से हटे हुए हैं, मगर चारित्रमोह का ऐसा उदय है कि उसको प्रवृत्ति करनी होती है।

946- ज्ञानज्योति की केवलज्ञानकला के साथ केलि-

यह ज्ञानज्योति जिसके प्रकट हुई है, सो उसका अज्ञान अँधेरा सब दूर हो गया और परम कला के साथ याने केवलज्ञान के साथ यह ज्ञानज्योति अपनी क्रीड़ा करना प्रारम्भ कर देती है। जैसे छोटे-छोटे बच्चे उसी घराने के बड़े-बड़े राजा महाराजाओं के पास निःशंक होकर खेलते हैं क्योंकि उनके कुटुम्ब के ही तो बच्चे हैं तो ऐसे जो केवलीज्ञानी अरहंत सिद्ध भगवान हैं उन्हीं का तो लघुनन्दन है ज्ञानी सम्यग्दृष्टि, तो फिर क्यों न केवलज्ञान के साथ अपनी क्रीड़ा करेगा? सारी महिमा ज्ञानज्योति की है लोग तो धन को परिग्रह को वैभव को बड़ा महत्त्व देते और अपनी इस काल्पनिक इज्जत को बड़ा मान बैठते इन लोगों में बड़ा प्रतिष्ठित हूँ, समझदार हूँ, नेता हूँ और अपना वैभव देखकर जिसके पास जितना है वही उसे बड़ा मानता है। कोई वैभव से यह हिसाब नहीं है कि जिसके लाखों का वैभव भरा हो सो ही धनी है। वहाँ धनी तो अपने-अपने मन के हिसाब की बात है, मगर यह सब अँधेरा है, इससे पार न पायेंगे, कल्याण न होगा। इन सब कलुषताओं से, कषायों से हटना है और अपना जो सहज आनन्द स्वरूप है उसमें लगना है। तो शुभ अशुभभावों का प्रलय करती हुई यह ज्ञानज्योति प्रकट होती है।

947- अपने उपयोग की परीक्षा करने व सम्हाल करने का अनुरोध-

यहाँ अपनी-अपनी परीक्षा कर लो कि हमारा उपयोग कहाँ लगा रहता है रात दिन। यह अपनी-अपनी बात अपने को खूब मालूम पड़ेगी। किसी का उपयोग परिग्रह के संचय में लगा, किसी का पुत्रों में, किसी का स्त्री में, किसी का अपनी इज्जत प्रतिष्ठा में, किसी का किसी में...। जो-जो जिसको इष्ट बन रहा, वहाँ लग रहा चित्त। और आत्मा में न लग रहा हो चित्त, उस स्वरूप की एक उमंग न उठती हो कि मैं अपने में बसे हुए सहज परमात्मतत्त्व को जानूँ तो सारा जीवन व्यर्थ समझियेगा उससे कोई लाभ नहीं, क्योंकि जीने के बाद मरना और जैसी करनी, जैसा उपयोग, जैसी यहाँ वासना बसी उसके अनुकूल कर्मबन्ध होता, उसका उदय होता, वैसा जन्म लेना पड़ता है। आज कोई मनुष्य यह संतोष नहीं किए हुए है कि भाई जितना उदय से मिला वह तो गुजारने के लिए मिला, और गुजारा के लिए काफी मिला, गुजारा कर लो, हल्का गुजारा सही, संतोष रखो और धर्म के लिए ज्ञान बढ़ाने के लिए जीवन समझो तो वह तो पवित्र जीवन है, जड़ वैभव संचित करने के लिए मनुष्य जीवन नहीं, किन्तु आत्मा के स्वभाव का परिचय पाकर यहाँ ही दृष्टि देकर बस निर्मल और प्रसन्न रहने से जीवन की सफलता है। अपने उपयोग की खोज तो करो, कहाँ उपयोग लगाना? और देखिये- धोखा सब पायेंगे। जिसने विश्वास बनाया है इन पर वस्तुओं में तो उसको एक न एक दिन धोखा अवश्य मिलेगा। जब धोखा मिलेगा तो दुःख पायगा। वे परवस्तु मेरी कुछ नहीं है, बाहरी चीजें हैं, पौद्गलिक बातें हैं, जो अजीब हैं, दूसरे जीव हैं, उनसे मेरा क्या मतलब? ऐसी बुद्धि नहीं कर पाते और इन

जड़ वैभवों से ही एक अपनी उमंग का प्रभाव बनाते, अहंकार बनाते। जो मैं हूँ सो मेरे बराबर और कौन रखा है? मेरे में बड़ी कला है, ज्ञान है, बुद्धि है। मानो सारा ज्ञान दो आँखों में हो तो हर एक कोई यह सोचता है कि डेढ़ आँखें तो हमने पायी है और आधी आँख जगत के सब जीवों में बँट गई, याने जगत के सारे जीवों का मिलकर जो ज्ञान हो उससे तिगुना ज्ञान अधिक हमने पाया, ऐसा सोचते हैं, ऐसी पर्याय में आत्मबुद्धि बनाया है तो उसमें भला नहीं होने का, कष्ट ही होगा। ज्ञान को बढ़ावें, और अपने संकट मिटावें। भैया संकट बाह्य संग प्रसंग से न मिटेंगे। संकट मिटेंगे तो अपने ज्ञानबल से ही मिटेंगे। संकट मिटेंगे तो अपने ज्ञानबल के द्वारा सो पहला काम तो यह करना कि स्वरूप को छोड़कर, स्वभाव को छोड़कर बाकी जितने भाव हैं उनमें यह श्रद्धा यह बुद्धि लावें कि ये सबके सब मेरे से बाह्य हैं, मेरे शरण नहीं हैं, मेरा शरण तो मेरा सहज परमात्म तत्त्व है।

948- नाटक और नाटककार की मूल पहिचान में नाटक के रंग का भंग-

यह पुण्य पाप अधिकार चल रहा है और आज यहाँ समाप्त हो रहा है। क्या हुआ था कि कर्म में घटाओ एक ही कर्म दो भेषों को रखकर अपना नाटक दिखाता आया था। ज्ञानी ने उसे पहचान लिया कि वह यह एक ही तो है और यह कभी पुण्य का भेष रखता, कभी पाप का। विभावों में भी यह ही बात समझें। परभाव ही तो हैं सब, कभी शुभभाव में हैं, कभी अशुभभाव में हैं। तो जब पहिचान लिया कि है तो वह कर्म मूल में एक और भेष रख रहा है दो, तो फिर मानो शर्मिन्दा होकर अपने भेषों को छोड़कर इस मंच से निकल भागेगा। कोई बहुरूपिया आपकी दूकान पर आकर खूब डटकर खड़ा हो गया, कभी इन्स्पेक्टर बनकर कभी पोस्टमैन बनकर या कभी कोई दलाल बनकर, सो उसकी ऐंठ तब तक रहती है जब तक वह दूकानदार उसको पहिचान नहीं पाता कि यह तो फलाना है। जब तक पहिचान लेता कि अरे यह तो फलाना लड़का है ऐसा भेष बनाकर आया है तो फिर वह बहिरूपिया झट वहाँ से आगे बढ़ जाता है, अभी कोई नाटक हो रहा हो तो उसमें लड़के लोग अपना भेष धर धरकर आते हैं ना उस मंच पर, सो देखने वाले लोग जब पहिचान नहीं पाते कि यह फलाने का लड़का है, यह राजा बनकर आया है यह देखो कैसा इस प्रसंग में रो रहा है तो वे दर्शक लोग भी रोने लगते हैं, और कोई विजय की बात हो तो दर्शक लोग हर्ष से ताली बजाने लगते और क्यों जी जिसे पहिचान हो जाय कि यह तो फलाने का लड़का है और ऐसा भेष धर रहा है, देखो कैसी कला खेल रहा है तो उस पर उस घटना का असर न होगा, क्योंकि वह जानता कि ऐसा हो नहीं रहा, यह तो फलाने का लड़का है, उस तरह से खेल दिखा रहा है...। और, जिसकी बुद्धि जम गई कि सचमुच देखो धवल सेठ ने श्रीपाल को पटक ही तो दिया आदि, जो यों देखेगा वह खेद मानेगा या प्रसन्न होवेगा, जैसी घटना हो। किन्तु जिसे मालूम हो कि वह तो खेल ही तो हो रहा यह तो अमुक का लड़का है यह अमुक का है, और ये तो आपस में एक दूसरे के बड़े दोस्त हैं, कोई इनमें विरोध थोड़े ही है। यह तो दिखा रहे हैं लोगों को इस तरह से पटक दिया, तो ऐसी बुद्धि वाला क्या रो सकता है? न रोवेगा। तो ऐसे ही यह ज्ञानी जीव ने

इस सारे संसार को खेल के रूप में परखा कि यह सब नाटक हो रहा, वह इसमें हर्ष विषाद नहीं मानता। जैसे सिनेमा में आप शो, और कोई थियेटर में भी देखते, तो बताओ वह नाटक है कि नाटक की नकल? वह तो नाटक की नकल है। तो नाटक फिर कहाँ है? यहाँ हम आप सभी तो नाटक कर रहे और इसी का अगर फोटो ले लिया जाय फिल्म में ले लिया जाय और उसे दिखाया जाय तो वह नाटक की नकल है। सो नाटक की नकल देखने को तो लोग पैसा भी खर्च करते और उसकी भारी चर्चा करते। चाहिये तो यह है कि असली नाटक देखें। क्यों पैसा खर्च करें, क्यों व्यर्थ में रातभर आँखें फोड़े?

945- कर्मभेष तजकर स्वरूप में रुचि करने का अनुरोध-

जगत में जितने भी ये कष्ट हो रहे, जितनी भी विषाद की बातें हो रहीं, ये सब कर्म के नाटक हैं। जो यह पहिचान जायगा कि कर्म तो एक पौद्गलिक चीज है, कर्म भेष धर-धरकर आ रहे हैं पुण्य पाप तथा जीव तो चैतन्य चमत्कार स्वभाव वाला है और यह भेष धर-धरकर जन्ममरण करता रहता है यह सब उसका भेष है, स्वरूप तो उसका एक विशुद्ध चैतन्यभाव निरपेक्ष सदा में जैसा हूँ सो है। ऐसी जिसको वस्तु के वास्तविक स्वरूप की पहिचान होती है उसको हर्ष और विषाद न सतायेगा। कषाय, क्रोध, मान, माया, लोभ ये उस पर सवार नहीं हो पाते। तो सुख शान्ति होना है तो उसका मूल उपाय है कि सच्चा ज्ञान पावें। यह ज्ञान रागद्वेष को दूर कर अलौकिक अपूर्व आत्मोत्थ आनन्द का लाभ करता व अज्ञान अंधकार को दूर करता, ऐसी सुस्थिति का काम बड़ा कठिन काम दिखता इन मोहियों को। ये जो ज्ञानीजन हैं उन्हें कठिन दिख रही है मोहियों जैसी बात करना। मोह करना उन्हें बहुत कठिन दिखता। कैसे किया जाय मोह? कर ही नहीं सकता ज्ञानी मोह, क्योंकि जब भेद जान लिया कि सब जीव स्वतंत्र-स्वतंत्र है, फिर कैसे यह मान सकेगा कि यह मेरा है? तो जैसे अज्ञानी मोही जीवों को उदासीनता पाना कठिन है, ऐसे ही ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवों को मोहियों की तरह रोना वहाँ बन ही नहीं सकता। उनसे खेद, आकुलता बन ही नहीं सकती, किन्तु ज्ञान के बल से वह सारे संग प्रसंग विपदाओं से अलग हो गया और अपने उस परमात्मतत्त्व के दर्शन करके आनन्द पा रहा। तो लो यों ज्ञानी की उपयोग भूमि से पुण्य पाप अपना भेष छोड़कर बाहर निकल गए।

—: आश्रवाधिकार :—

कलश 113

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररङ्गपरागतमास्रवम् ।

अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥113॥

946- आस्रव विधान-

समयसार में पहले अधिकारों में यह बताया गया था कि आत्मकल्याण चाहो तो अपने निरपेक्ष सहज स्वरूप को जानो। वह सहज स्वरूप क्या है? दर्शन ज्ञान स्वरूपी आनन्दमय, समस्त परद्रव्यों से निराला, अपने आपमें सहज है, उसमें जो विभाग जग रहे हैं वे विभाव मेरे स्वरूप नहीं हैं, वे पुण्य पाप के कर्म के विपाक हैं। उनकी छाया माया प्रतिफलन है, और इस तरह जो नहीं जानता है उसको कर्मबन्धन की परम्परा चलती है, आस्रव होता है और जिसके फल में संसार में जन्म मरण करना पड़ता है। तो अब तब अनादि से यह ही नाटक चला आया है कि ये कर्म, ये विभाव ये मनमाना अपनाऊधम मचा रहे हैं सब पर, फिर भी अपनी वृत्ति पर जरा भी अफसोस नहीं कर रहा यह प्राणी और उमंग मचा रहा है परवस्तु के लाभ के लिए, आस्रव चल रहे हैं- कर्म बँध रहे हैं तो ये आस्रवभाव मानो आत्मा में कोई ऐसी त्रुटि, ऐसा छिद्र है कि जहाँ जिस कारण से कर्मों का आस्रव होता रहता है। आस्रव का अर्थ मोटे रूप में तो है आना और सही अर्थ किया है चारों तरफ से चूना। जैसे कोई ऐसा साधन हो कि वहाँ से पानी का धार तो नहीं गिरता किन्तु वह प्रदेश, पत्थर बूँद-बूँद से चारों ओरसे गीला हो जाता है, थोड़ा ही झरता है। तो जैसे उस पर्वत के एक भाग में सब ओरसे पानी चुवा है ऐसे ही आत्मा में चारों तरफ से कर्मत्व चुवा है, याने वे कार्माण वर्गणायें बाहर से नहीं आती किन्तु अपने आपमें बसी हुई जो विश्रसोपचय हैं बस वे ही कर्मरूप बन जाती हैं, ऐसा इनका चूना है। भले ही कुछ थोड़ी दूर की कार्माण वर्गणाओं का भी आस्रव हो, किन्तु उसकी मुख्यता नहीं, वे भी तो विश्रसोपचय बनकर तुरन्त कर्मरूप हो जाते हैं। तो आत्मा ने कोई गलती की, खोटा परिणाम किया तो तुरन्त ही यही बसी हुई कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। इस विपत्ति को यह प्राणी नहीं तक पा रहा, जिसको विषयों के साधनों में मोह लगा है, इस तरह यहाँ आस्रव आता है।

947- महामदनिर्भरमन्थर आस्रव पर ज्ञानज्योति का विजय-

अनादि से आस्रव का इस जगत पर राज्य सा चल रहा है, और इसको महान मद आया, विकल्प आया, जिससे भरा हुआ यह आस्रव मन्थर बनेगा। जैसे यहाँ किसी ने शराब पी हो, अहंकार बसा हो तो जैसे उसकी एक मदायली धीमी प्रवृत्ति होती है ऐसे ही उसकी गति मन्थर हो गई मायने कर्म आते कहाँ से? यहीं से, कोई लम्बी जगह से नहीं। आत्मा के प्रदेश में ही कर्म बसे हैं जिसमें कर्मपना आया है तो ऐसी महान निधि से भरे होने के कारण यह मन्थरगति वाला होता है अर्थात् अहंकार के वश होकर उसकी मदायली जैसी प्रवृत्ति हो जाती है, ऐसे ही यह आस्रव अनादि से इस जीव पर हुकुम करता लदा हुआ चला आ रहा है, लेकिन अनादिकाल बीत गया इसी पद में, अब कुछ ज्ञानज्योति प्रकट हुई तो अब इनका युद्ध चलने लगा। जैसे कभी कोई कहता है कि ऐसा मालूम होता है कि हममें कोई दो चीजें बसी हैं याने कहो मन और प्रभु मन तो खोटे काम के लिए उमंग लाता है, पाप करने के लिए, व्यसन प्रकृति के लिए यह मन एक उत्साह दिलाता है, उमंग दिलाता है, प्रवृत्ति कराता है और प्रभु उसे रोकता है। कभी दो मन जैसे हुआ करते तो वे दो

मन नहीं हैं। मन तो वहाँ एक ही है पर वह कुछ ध्यान में वासित है, कुछ कषाय से वासित है, तो ऐसे प्रदेश में उसकी ये दो धारयें चलने लगती हैं। अब आ गया ज्ञान समररंग में, युद्धस्थल में तो यहाँ अब दो का युद्ध है- आस्रव और भेदविज्ञान ज्योति, यह ज्ञान धनुर्धारी, जिसका जितना बड़ा कठिन है। असली और नकली जब इन दो की मुठभेड़ होती है तो नकली का क्या वश चलेगा? देखिये परभाव और स्वभावज्योति जब इन दो का मुकाबला होगा तो परभाव का विलय होगा। तो यहाँ सम्यग्ज्ञान रूप धनुर्धारी अब वहाँ विजय पाता है आस्रव पर। कैसी है यह ज्ञानज्योति जो आस्रव पर विजय पा रहा? सो सुनिये।

948- बोधधनुर्धर वीर ज्ञानतत्त्व की उदारता व गंभीरता-

यह उदार है क्योंकि इष्ट विषय से प्रीति नहीं, अनिष्ट विषय में द्वेष नहीं, किसी पर पक्षपात नहीं, समता की गली से चलने वाला है, जो सही ज्ञान है वह उदार हुआ करता है, साथ ही गम्भीर बन गया याने अब उसमें तरंग नहीं उठ रही, लहर नहीं उठती। जैसे कभी हवा न हो तो समुद्र अपनी शान्त मुद्रा में रहता है, तरंग उठी तो उसमें खलबल हलचल हुई। ज्ञान के ऊपर रागद्वेष की तरंग चली तो खलबल हलचल होती, पर सम्यग्ज्ञान ने अपने ज्ञानस्वभाव को उपयोग में लिया है तो वहाँ तरंग नहीं, इसलिए वह गम्भीर है। ऐसे महान अभ्युदय के लिए जिसका अभी तक विकास न था, ऐसा ज्ञान होता है और आस्रव पर विजय प्राप्त करता है, आस्रव चीज क्या हैं? अकर्मरूप पुद्गल में कार्माणवर्गणाएक जाति होती है पुद्गल की जिसका नाम कार्माण वर्गणाहै वह कर्मरूप बन जाता है। कैसे बन जाता कर्मरूप, जो पहले बाँधे हुए कर्म हैं उनका उदय आया, उसका निमित्त पाकर नवीन कर्म आ जाते हैं, और उन उदय वाले कर्मों में निमित्तपने की बात आ रही हैं जीव के रागद्वेष मोहभाव का निमित्त पाकर। यह अज्ञानभाव है, जिसको करते हुए यह जीव अपने आप चतुराई समझता है। किसी को अगर ठग लिया तो उसमें बड़ी चतुराई समझता है, देखो मैंने उसे कैसा उल्लू बनाया, ठग लिया। अरे यह नहीं जानता कि खुद को ही ठगा है, दूसरे को नहीं, मेरा तो सब कुछ मेरे पुण्य पाप के अनुसार होगा, मगर खोटे परिणाम हुए तो खुद को ही ठग लिया। तो देखो खुद को कितना ठग रहे लोग। रात दिन राग करके द्वेष करके अज्ञान बताकर खुद को कितना ठग रहे, लुट रहे, यह लुटावा इस जीव का तब तक चलता ही रहेगा जब तक अज्ञानभाव है।

949- ज्ञानज्योति के प्रकट होने पर अज्ञानभाव का प्रलय-

ज्ञानज्योति जहाँ प्रकट हो रही वहाँ अब अज्ञान का आविर्भाव नहीं होता। आत्मा तो एक है, उपयोग भी एक है। जब उपयोग में ज्ञानज्योति आयी तो अज्ञान के भाव दूर हो जाते हैं और आस्रव भी दूर हो गया, क्योंकि आस्रव तो इस जीव के रागद्वेष मोह के बल पर हुआ करते थे। याने चीज तो वह एक ज्ञान है मगर वहाँ रागद्वेष मोह का संबंध है तो वहाँ अज्ञान का वातावरण बन गया। और, वहाँ कर्म का ग्रहण हो गया। यदि रागद्वेष मोह का सम्पर्क छोड़ दें तो कर्म का आस्रव भी दूर हो जायगा। जैसे लोहे के पास चुम्बक रख दो तो लोहा खिंच आयगा और चुम्बक को दूर धर दो तो क्यों खिंचेगा? ऐसे ही रागद्वेष मोहभाव बसेंगे तो कर्म

का परिणामन होगा, रागद्वेष मोहभाव न रहे तो कर्म का आस्रव कैसे रहेगा? देखो एक तो होती है घटना की बात और एक होती है उपयोग में श्रद्धा में रहने की बात। जैसे सम्यग्दृष्टि अपने उपयोग में ज्ञान में अविकार चैतन्यस्वरूप को ही समाये है, उसके बुद्धिपूर्वक आस्रव होते ही नहीं, और घटना देखो तो जब तक कमजोरी है, भीतर वासना है, रागद्वेष के साधनभूत कर्म का विपाक है तो अबुद्धिपूर्वक चल रहा है आस्रव, पर जो ज्ञानी निमित्तनैमित्तिक भाव का तथ्य जान गया वह जानता है कि वे जीवभाव नहीं हैं। ये रागद्वेष जो परिणाम हैं वे मेरे भाव नहीं हैं। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ? सो जहाँ यह तोड़ कर दी तो जैसे कोई फल टूट जाय डंठल से तो वह डंठल में कैसे जुड़ेगा फल? ऐसे ही मेरे ज्ञान में सही बात समा गई और रागद्वेष मोह को अलग कर लिया तो ये रागद्वेष मोह अब जीव के साथ एकत्व को कैसे प्राप्त हो सकते? यही तो एक अपनी विजय है। भीतर में ही ज्ञान सम्हालना है, फिर अपनी पूरी विजय है। रागद्वेषमोह ये ही कर्मों के आस्रव के जनक हैं, इन्हें दूर करें फिर अपनी विजय ही विजय है।

कलश 114

भावो रागद्वेषमोहेर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत एव ।

रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥114॥

950- ज्ञानी जीव के भाव की ज्ञाननिर्वृत्तता-

रागद्वेष मोह के बिना जो जीव का भाव, जीव का ज्ञान परिणाम चलता है वह तो ज्ञान से रचा हुआ ही है। रागद्वेष तो अज्ञानभाव हैं, और ज्ञान जब ज्ञानस्वरूप को देखे जाने तो वह ज्ञानभाव है। भैया, अपने-अपने उपयोग को तो देखे आपका ज्ञान कहाँ लग रहा है। आपका ज्ञान जहाँ लगरहा आपके लिए तो बस वही सर्वस्व है, दूसरा कुछ नहीं है। यहाँ फिट बैठती भी नहीं यह बात कि आपके ज्ञान में जो बात बस रही, मकान, धन, परिवार, आदिक, सो यही आपके लिए सर्वस्व है, यह बात फिट बैठती नहीं, फिर भी ज्ञान में उन्हीं परतत्त्वों को बसाये हुए हैं और अपने ज्ञान में आत्मा का ऐसा ज्ञान का प्रकाश ही रहे तो यहाँ बात फिट बैठती है। कितनी सुगम बात है। खुद है, खुद को ही तो जानना है पर इतनी सुगमता होने पर भी कषाय का ऐसा उदय है, प्रभाव है कि इसे यह बात बड़ी कठिन लग रही है। घर की बात कठिन लगे, दूसरे की बात आसान न लगे। घर के बच्चों की ऐसी आदत होती कि घर का भोजन रुचता नहीं और दूसरे का घर का भोजन सूखा-रूखा भी हो तो भी रुचता है, तब ही तो बच्चों में ऐसी आदत देखी जाती कि वे अपने घर में न खाकर मौसी के पास से कुछ खा आये, कहीं बुवा के पास से तो कहीं किसी के पास से। तो ऐसे ही ये संसारी अज्ञानी मोही प्राणी अपने आपके स्वरूप में बसे हुए निज ज्ञानानन्द स्वरूप को न चखेंगे, किन्तु

परवस्तु के भोग चाहेंगे। तो जहाँ रागद्वेष मोहभाव है वहाँ अज्ञानभाव है, जहाँ रागद्वेष मोह नहीं है वह तो ज्ञानी ही रचा हुआ भाव है याने ज्ञान से ही पैदा हुआ, ज्ञान से ही बना, ज्ञान को ही बनाया।

951- ज्ञानमय भाव की स्वाधीन वृत्ति-

ज्ञानमय भाव की रचना एक ऐसी स्वाधीन है जिसमें किसी अन्य-अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं कोई भोजन बनाता है तो बनाने वाला और, आधार और तवा आदिक साधन आटा वगैरह अन्य आग जल रही, कितना झंझट है और आत्मा के अनुभव के काम में कोई झंझट नहीं। यह ही ज्ञान अनुभव करता, इसी ज्ञान का अनुभव होता। इसमें किसी परतत्त्व की कोई अपेक्षा ही नहीं होती। तो कितना स्वाधीन काम और अपने को लग रहा है कठिन और परपदार्थों में रमने के विकल्प के काम इनको लग रहे हैं सरल। सो जिसकी जैसी रुचि है उसे उस प्रकार की बात सरल लगती है और उसके खिलाफ कोई बात आये तो वह उसे बड़ी कठिन जंचती है। किसी बालक को ऐसा कोई देख ले घर पड़ोस के कि यह तो केवल धर्म-धर्म में ही चित्त देता, मंदिर में, त्यागियों के संग सेवा में यहाँ ही चित्त देता है, न इसे खाना रुचता है, न घर रुचता, न लोग रुचते, सो एकदम ऐसा संदेह करने लगते कि कहीं इसका दिमाग खराब तो नहीं हो गया। डाक्टर को भी दिखाते। उन्हें आश्चर्य होता है कि ऐसा कैसा कर्तव्य होता कि अपने घर को न देखें, किसी से राग नहीं, मोह नहीं। बस त्यागियों के संग ही बना रहे। जब हम कथानक सुनते हैं कि सुकौशल, सुकुमार, गजकुमार आदि महापुरुष ऐसे उपद्रव के समय भी अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। सुन लेते हैं, मगर हृदय अनुभव नहीं कर पाता कि ऐसा भी हो सकता, क्योंकि जिसकी जैसी रुचि है उसकी वैसी प्रवृत्ति होती है। तो जीव के जब ऐसी केवल ज्ञानज्योति का विलास चलता है, जिसमें रागद्वेष मोहभाव नहीं है तो वह सारे द्रव्यकर्म आस्रव को रोकता है, अब उसमें शुभ अशुभ विभाव नहीं चलते बुद्धिपूर्वक और कर्मों का आस्रव नहीं होगा, बस यह ही कहलाता है समस्त आश्रवों का अभाव। जब ज्ञान में ज्ञानस्वरूप ही समाये, स्वानुभव हो रहा तो वहाँ अबुद्धिपूर्वक कुछ भी हो पर बुद्धिपूर्वक बिगाड़ वहाँ रंच भी नहीं है।

952- वहिस्तत्त्व का आग्रह तजने में ही कल्याण लाभ-

हित के लिए अपना कर्तव्य क्या है? बस अपने में बसे हुए सहज परमात्मतत्त्व को इस ज्ञानस्वरूप को निहारो और जरा भी ऐसी भीतर में श्रद्धा में न लावो न बनाओ कि बाहर मेरा कुछ है। जो कुछ कुछ चाहेगा उस पर विपत्ति ही आयगी, लाभ कुछ न मिलेगा। कुछ की हठ छोड़ो परिवार से ही कुछ मिलेगा, दूकान से कुछ मिलेगा, अमुक से कुछ मिलेगा। अरे जो हो सहज सो हो, पर अपने आत्मस्वरूप के सिवाय बाहर में परद्रव्य में किसी की भी, कुछ भी इच्छा न रखना। श्रद्धा में ऐसा निर्माण बनना है। कुछ चाहने वालों को क्या मिलता? कोयला। एक नाई सेठ की हजामत बना रहा था। वह सेठ था कुछ डरपोक, कुछ बहमी। जब वह नाई सेठ की हजामत बना रहा था तो उस्तुरा भी कभी कभी गर्दन के पास तक जाता था। सेठ खूब डर रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि यह नाई हमारी गर्दन ही साफ कर दे। सो उस डर के मारे सेठ ने कहा नाई से-

खूब अच्छी तरह दाढ़ी बनाना, हम तुम्हें कुछ देंगे। तो वहाँ नाई ने समझा कि सेठजी हमें न जाने क्या वैभव हमें देंगे पुरस्कार रूप में। खैर जब हजामत बन चुकी तो सेठ ने 1) निकालकर नाई को दिया। पहले तो दिया करता था कोई दो आने, पर उस दिन 1) दिया। तो वहाँ नाई अड़ गया, बोला- सेठजी हम 1) नहीं लेते आपने तो कहा था कि हम कुछ देंगे, सो जो देना हो सो दे दो। सेठ ने 10, 20, रु. दिए, पर नहीं लिया, मोहर दी, पर नहीं लिया, वह कुछ की अड़ करके बैठ गया। सेठ बहुत परेशान हो गया, बहुत सोचा कि अब मैं इसे क्या दे दूँ। कुछ समझ में नहीं आता। खैर इसी प्रसंग में सेठ को लग गई प्यास सो नाई से कहा- जरा वह आले में रखा दूध का गिलास दे देना। कुछ दूध पी लें, फिर तुम्हेंदेंगे कुछ। नाई ने झट से गिलास उठाया, नजर गई तो उसमें कुछ पड़ा था, समझ में न आया, तो झट कह उठा अरे सेठजी इसमें कुछ पड़ा है।...क्या कुछ पड़ा है?...हाँ कुछ पड़ा है।...अच्छा तो तू उसे उठा ले क्योंकि तू कुछ की अड़ किए पड़ा था। लो नाई ने उसे उठाया तो क्या पाया?...कोयला। तो भैया जो कुछ की हठ करता है उसे कोयला ही हाथ लगता है अर्थात् उसे कुछ नहीं प्राप्त होता। आज जो लोग इन बाह्य पदार्थों की आशा तृष्णा लिए बैठे हैं, बस कुछ मिले, यही हठ किए बैठे हैं तो उसके फल में लाभ मिलेगा कुछ नहीं, उल्टी बरबादी ही होगी। अरे एक अपने आपके ज्ञानस्वरूप को ग्रहण करो। वही अपने लिए सर्वस्व है, सारभूत बात है।

953- अपने को सर्वविविक्त कृतार्थ निरखने का संदेश-

भैया, अपने को सर्व से निराला, कृतकृत्य देखो। बाहर में कहीं कुछ करने को नहीं पड़ा। कुछ किया ही नहीं जा सकता बाहर में। केवल यह भाव ही तो बनाना है जीव को। भाव से अतिरिक्त यह जीव कुछ नहीं करता। बाहर में मेरे को करने को कुछ नहीं पड़ा। वहाँ से वह विश्राम लेता है, अपने आपमें रमता है और अपना आनन्द बढ़ाता रहता है। किन्तु जो बाहरी पदार्थ में इष्ट अनिष्ट की बुद्धि रखता है उसके उदारता खतम हो जाती है, गंभीरता रंच भी नहीं रहती है, झगड़ा कलह ये उसके एक खेल से बन गए हैं। यह तो अनादि से चला आया है, उसमें ही रम रहा है। उसके आस्रव होता, संसार में रुलना होता। कुछ थोड़ा भी यदि सोच लिया जाय कि हम मनुष्य हुए हैं तो यह भव तो सदा नहीं रहने का। यह तो कुछ ही दिनों का है और तिस पर भी यह निश्चय किया कि हम कल भी जीवित रहें, अगले क्षण भी जीवित रहेंगे। भले ही आशा बना रखी है, मगर निश्चित तो कुछ नहीं ना। जब मृत्यु हमारे सिर पर ही मंडरा रही है तो फिर यहाँ भोगों की प्रीति से कौनसा काम साध लिया जायगा? एक अपने आत्मस्वरूप को देखो, उस ही में तृप्त हो, उसी की बात करो, अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए तन, मन, धन, वचन, प्राण सब कुछ भी समर्पित करने पड़ें, तो करें। उसने एक बहुत बड़ी निधि पायी जिसने अपने आत्मा के सहज आनन्दमय स्वरूप की उपलब्धि की। यह ही है ज्ञानज्योति, जो धनुर्धारी बड़ा वीर, सारे संकटों को नष्ट कर देने वाला है। यह आत्मज्ञान प्रकाश जहाँ उदित होता है वहाँ फिर कर्मों का आस्रव नहीं रहता।

954- हेय तत्त्व आस्रव पर संवर का विजय-

आस्रव बंध ये दो ही तो संसार के तत्त्व हैं। 7 तत्त्व जो बताये गए- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष, इनमें हेय तत्त्व क्या हैं? जो बुरे हैं, जो हमें छोड़ना ही चाहिए, इन 7 में हेय तो दो तत्त्व है आस्रव और बन्ध। ये भले के लिए नहीं हैं। इनको छोड़ना ही चाहिए। और, उपादेय तत्त्व क्या है जिसको कि ग्रहण करे। तो अत्यन्त उपादेय तो है मोक्ष और मोक्ष न मिले जब तक, उसकी प्राप्ति के उपाय में उपादेय है सम्बर और निर्जरा। तो आस्रव बन्ध हैं हेय, सम्बर निर्जरा हैं उपादेय और मोक्षतत्त्व है सर्वथा उपादेय, अत्यन्त उपादेय। और जीव और अजीव से पदार्थ हैं, ज्ञेय हैं इन्हें जान ले। केवल जीव अजीव में हेय, उपादेय पाने की बात क्या? पदार्थ हैं, अपना-अपना सत्त्व लिए हुए हैं। तो हेयतत्त्व कौन कहलाये? आस्रव और बन्ध, और इनमें भी मूल कौन है। आस्रव। आस्रव हो तो बंध का मौका मिलता तो ऐसा जो हेयतत्त्व आस्रव है उस पर विजय पाने से प्रकट हुआ है यह सम्यग्ज्ञान। इस सम्यग्ज्ञान के बल से ये सारे आस्रव रुकते हैं और अपने भीतर बसे हुए सहज परमात्मतत्त्व से इसका मिलाप होता है। प्रभु मिल गए। अपना प्रभु अपने में जो बसा वह मिल जाय, इससे बढ़कर जगत में और कोई सार की बात नहीं है।

कलश 115

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।

ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥115॥

955- विभावविष को तजकर स्वभावामृत का पान करने की प्रेरणा-

जितने भी संसार में कष्ट हैं वे अब अपने स्वरूप की सुध छोड़कर कर्मविपाक से उत्पन्न हुए, कर्मरस में, कर्मलीला में अपने उपयोग को जुटाने से हुये हैं। साफ स्पष्ट मामला है। दो बातें हैं- आपको अगर सबसे निराले निज अन्तः स्वरूप की रुचि है और मात्र उसमें ही रहकर आप प्रसन्नता पा सकते हैं तो आपका भविष्य उज्ज्वल है और इस आत्मतत्त्व की सुध छोड़कर इस कर्मरस में, इस ज्ञान विकल्प में, इन रागद्वेष भावों में, इनके बाह्यसाधनभूत पुत्र, मित्र, स्त्री कुटुम्ब वैभव आदिक में यदि आपकी उमंग है, रुचि है तो नियम से भविष्य खराब है, दुर्गति ही प्राप्त होगी। दो ही निर्णय हैं और ये दोनों ही बातें अपने आपके उपयोग पर निर्भर हैं। भला बतलाओ- जहाँ इतनी छूट दी जाय कि तुम चाहो तो अमृत पी लो यह भी रखा सामने और तुम चाहो तो विष पी लो, यह भी सामने रखा है। अब इसमें कोई विष पीने की ही हठ करे तो उसका और इलाज क्या है? ऐसे ही अपने आत्मक्षेत्र में स्वयं अनादिनिधन ज्ञायकस्वभाव परमात्मतत्त्व निरन्तर बसा हुआ है, और पर्याय में बाहर रागद्वेष विकल्प ये चीजें चल रही हैं, अब तुम्हारी रुचि की बात है। अगर पर्याय में रुचि करते हो तो दुर्गतियाँ ही प्राप्त होंगी और स्वभाव में रुचि होती है तो आपका भविष्य उज्ज्वल होगा, संकटों से मुक्ति मिलेगी। तो देखो यदि कोई स्वभावामृत को तजकर विभावविष का पान करता है तो

उसे क्या कहोगे खुद एक अपने को अपना प्यारा, अपना श्रेय जानकर अपने पर दया कर लीजिए। भीतरी ही बात है। समाधान और प्रयोग कीजिये कि कहाँ उपयोग जमायें कि इस जीव का कल्याण हो।

956- ज्ञानतत्त्व की लगन में ही उद्धार की संभवता-

भैया, एक बात कह देते हैं और आप उसको चाहे कहीं शिला पर अंकित कर रख लें- ज्ञान के प्रति, ज्ञान की साधना के प्रति यदि उमंग नहीं जमी है और उसके विरुद्ध तृष्णा का रंग जमा है तो उद्धार का रास्ता नहीं मिलता। यह बात एक प्रयोग की है। जो मन आये सो करोमगर यह सदा ध्यान रखना कि सर्वोत्कृष्ट वैभव ज्ञान है, ज्ञानस्वभाव का परिचय है। अगर इस ज्ञान के प्रति उमंग नहीं है तो समझिये कि केवल ज्ञान की सम्भावना नहीं है। केवलज्ञान होने के लिए उसे इस ज्ञानबीज में पनपना है, यह ही एक बीज है, ज्ञानस्वभाव की प्रीति, जिसके लिए तन भी हाजिर, मन, धन, वचन, प्राण भी हाजिर, ये सब भी अगर न्योछावर हो जायें तो भी वहाँ आपने सर्वस्व पाया, ऐसे ज्ञानस्वभाव के प्रति उमंग नहीं है और धर्म के नाम पर चाहे आप मन्दिर निर्माण करें, चाहे आप धर्मशाला बनवायें, चाहे और-और भोज खोल दें, कुछ भी काम करें, एक ऐसे ज्ञान की उमंग नहीं, रुचि नहीं तो आपको मोक्षमार्ग न मिलेगा। संसार के संकटों से छुटकारा का रास्ता न मिलेगा। ज्ञान की बात चल रही, ज्ञान में कितना वैभव पड़ा है, ज्ञान में कितना आनन्द बसा हुआ है, उपयोग ही तो है, बाहर तो हमारा कुछ नहीं। ये ये हैं, बाहर में बाहरी बातें हैं, कोई संबंध तो नहीं बाहर की चीजों से, बाह्य संगप्रसंग में दुःख ही दुःख है। यही ज्ञानतत्त्व इसके लिये सर्वस्व है, बाकी तो सब धोखा है, और ऊधम है।

957- अनात्मतत्त्व की रुचि तज देने का अनुरोध-

अहो, अपने आत्मा को नियंत्रण में रख नहीं पाते और इन असार पदार्थों में रुचि और तृष्णा घर कर रही है, तो बतावो, क्या पावोगे। रहेगा कुछ नहीं, छोड़कर सब जाना होगा। दूसरे लोग ही इस बात को समझ पायेंगे कि सारे जीवन इसने कुछ नहीं किया। धर्म की, ज्ञान की कोई बात नहीं की, छोड़कर चले जायेंगे। खुद कैसे समझेंगे? खुद तो अगले जन्म में पछतायेंगे। पछता भी न पायेंगे, क्योंकि पछताना तो तब बनेगा जब यह ज्ञान हो कि मैंने पूर्वभव व्यर्थ गमाया था, इस कारण मैं पशु हुआ हूँ, पर यह ख्याल कहाँ आयगा? बस कष्ट ही भोगना हाथ रहेगा, इसलिए चेतो, अपनी मोड़ मोड़ों, ज्ञानस्वभाव की रुचि करो और इस ही आत्मज्ञान के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दो, अन्य कुछ नहीं। कहते तो रोज-रोज पूजा में भगवान के सामने, पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि। वहाँ चूँकि यह ज्ञान-ज्ञान ही दिखा वही भगवान, उसकी भक्ति में कहते हैं कि इस केवलज्ञान रूपी अग्नि में उस सारे पुण्य को मैं एकमन होकर स्वाहा करता हूँ। पुण्य वैभव की रुचि थी इसलिए पुण्य वैभव के स्वाहा की बात किया। पाप में रुचि नहीं है तब तो इतनी पात्रता है। प्रभुभक्ति कर रहे हैं और पाप में रुचि हो, धन संतान वैभव चाहना, दूसरों को हराना मुकदमें में हराना, अन्याय करना, अन्याय करते हुए भी दूसरों पर विजय पावें, ऐसी इच्छा आकांक्षायें बनाता है तो उसे पाप में रुचि कहेंगे या पुण्य में?

पाप में कहेंगे। तो एक अपनी सम्हाल करें, इसी में सार है, बाकी बाहरी पदार्थों की सम्हाल करने में एक विकल्प जाल है और उस विकल्पजाल में अपने आपका उद्धार नहीं।

958- प्रवृत्ति होने पर भी ज्ञानी का आंतरिक लक्ष्य-

ज्ञानी जीव ने क्या पाया? अविकार अपने आत्मा के स्वभाव की दृष्टि। समझ बनी कि मैं अपने स्वरूप में केवल एक प्रकाशमात्र हूँ, बीत रही घटना के निषेध के विषय में समय गमाना वह तो एक अन्याय है। परिणति का विरोध करके स्वभाव की एकान्ततः चर्चा करना अच्छी बात नहीं, क्योंकि सत्य का अपलाप क्यों किया जा रहा? घटना तो हो ही रही लेकिन उस घटना ही घटना में चित्त बसाये तो आत्मा का उद्धार नहीं। है घटना, मान ली, मगर किसको हम दृष्टि में लें कि हमारा उद्धार हो। वह क्या है? अपना सहज स्वरूप। उसे ज्ञान में लिया तो अब जितने भी भाव बनेंगे वे ज्ञानमय भाव बनेंगे। कषाय के काम में भी प्रवृत्ति हो रही मगर भीतर तो देखो रुचि कहाँ है? और लगन कहाँ है, धुन कहाँ है, यह बात जिनके हो उनकी ही वह चर्चा है। ज्ञान की बाहरी क्रिया को देखकर उन क्रियायों का तो आग्रह कर लिया, पर ज्ञानी की अंतः साधना को कोई रहस्य ही नहीं समझ पाया, तो उससे काम नहीं बनता। एक किताब है गधे की कहानी नाम की। एक धोबी के पास उसका एक गधा था और उसकी एक कुतिया भी थी, जिसके छोटे-छोटे पिल्ले भी थे। कुछ बड़े हो गए वे पिल्ले तो वह धोबी उन पिल्लों को खूब खिलाये, हाथ से उठाये, कंधे पर बिठाये, छाती से लगाये- अब वह सोचता है कि मैं तो मर रहा भार से और मैं ही इसके कुटुम्ब का पालन पोषण करता हूँ, मैं इसके परिवार को खिलाता हूँ, मैं तो इतना कमाता हूँ, मगर यह धोबी हमको नहीं खिलाता हमसे नहीं प्यार करता ! तो उसने सोचा क्या कारण है। कि मैं इतना तो काम करता हूँ और फिर भी यह मुझको तो खिलाता नहीं और इस कुत्ते को खिलाता है, उसकी समझ में आया- ओहो इन पिल्लों पर इसलिए धोबीकी इतनी प्रीति है कि ये इसको अपने पैरों से मारते हैं, ऊपर चढ़ते हैं, काटते हैं- बस ऐसा ही काम मैं भी करूँगा जिससे हमारा यह धोबी मालिक हमसे प्रीति करेगा, हमको खिलायगा। इस आशा से उसने धोबी के पास जाकर फटाफट लातें मारना व काटना शुरू कर दिया, पर वहाँ काहे का प्यार? वहाँ तो फटाफट डंडे बरसने लगे। वहाँ गधा सोचने लगा अरे हमसे ऐसी क्या भूल हो गई जो हम पर डंडे बरसे। तो सबकी बात जुदी होती है। किसी की बाहरी क्रिया में देखकर उनकी नकल करने मात्र से कार्य की सिद्धि नहीं होती। ज्ञानी की बाहरी क्रियायें भी ऐसी ही होती हैं जैसा कि प्रायः रिवाज है धर्म के प्रसंग में पूजा, दया, दान, त्याग, व्रत उपवास आदिक का, मगर यह ज्ञानी कैसा परिणम रहा, कैसा ज्ञान बना रहा, किस ओरदृष्टि दिए हुए है, यह तो ध्यान में आया नहीं और ऊपरी क्रियायों की नकल करे कोई तो नकल मात्र से अन्तः शान्ति तो नहीं आ सकती, वह तो बाह्य प्रवृत्ति मात्र आयगी। होता ही है ऐसा पद में, ऐसा कर्तव्य ही है मगर किसके लक्ष्य से, किसके आश्रय से कर्म कटते हैं इस बात का भी तो ध्यान करें। आत्मस्वभाव के आश्रय से, कर्म कटते हैं। तो ज्ञानी ने अपने सही ज्ञानस्वरूप को निरखा तो उसके अज्ञानमय भाव सब रुक गया, अब

ज्ञान-ज्ञान जैसा ही भाव चल रहा। अब उसके ज्ञानस्वरूप में धुन होने से ऐसी निर्मलता जगी है कि पूर्वबद्ध कर्म उदय में आवे तो वे भी अबुद्धिपूर्वक या कम अनुभाग में प्रकट होकर निकल जाते हैं।

959- ज्ञानी के भावाश्रव का अभाव और द्रव्याश्रव से स्वत एव भिन्नपना-

देखो जो कर्म आज बाँधे हैं उन कर्मों का फल आज ही नहीं मिलता। वह सत्ता में ही पड़ा रहता है। जब उनकी सत्ता पड़ी होने को होती है याने प्रकट होने आती है तब उसका फल प्राप्त होता। तो देखो अज्ञान अवस्था में तो कर्म बाँधे थे, पर जब कर्म उदय में आने का समय हुआ उस समय में इसकी ज्ञान अवस्था बन गई, तो पहले तो पृथ्वी के डेले के समान पड़े थे, याने उनका कोई कुफल न था। अब ये विपाककाल में आये सो ज्ञानी का मन विरक्त हो गया तो अब वे भी निष्फल हो रहे हैं। जैसे किसी बड़े उम्र वाले पुरुष ने एक छोटी कन्या से विवाह किया, पहले था रिवाज- तो वह कन्या मानो 8-9 वर्ष की थी, तो वह उपभोग के योग्य नहीं है, जब वह जवान हुई और उपभोग के योग्य हुई तो पुरुष के ज्ञान व वैराग्य का अभ्युदय हुआ। देखो विवाह के बाद वह कई वर्ष तक बेकार रही, और जब वह उपभोग के योग्य हुई, जवान हुई और इस पुरुष को भीतर में ज्ञान जग गया, अन्तः वैराग्य बना, ज्ञानस्वरूप की धुन बनी तो उसको उपभोग तो कुछ नहीं हुआ। जैसे एक मोटी कहावत है कि जब दाँत थे तब चने न मिलते थे गरीबी के कारण और जब चने हुए याने गरीबी दूर हुई तो दाँत नहीं रहे। तो जब कर्म बाँधे, अज्ञान अवस्था थी सो पहले बाँधे का तो फल पा रहा, मगर इस समय बाँधे का फल नहीं मिल रहा। और जब उनका फल मिलने का समय आया तो यहाँ कषाय की उमंग न रही। ज्ञानस्वभाव में प्रीति जग गई, तो यही तो हाल हुआ ज्ञानी का। उसके अब भावाश्रव नहीं रहा। देखो जो कर्म थे उनसे तो न्यारा था ही यह जीव स्वरूपदृष्टि से। यद्यपि यहाँ बन्धन तो है मगर स्वरूप को देखो तो जो द्रव्यकर्म है, द्रव्याश्रव है उससे तो यह भिन्न है, स्वयं यह ही क्या? अज्ञानी भी भिन्न है, ज्ञानी आत्मा भी भिन्न है, क्योंकि वे पदार्थ दो प्रकार के हैं और दो पदार्थ विभिन्न होते ही हैं मगर जैसे ही इसको अपने ज्ञानस्वरूप की सुध हुई वह भावाश्रव से भी दूर हो गया। सो भावाश्रव तो इसके रहा नहीं, मायने भावों का आश्रव नहीं रहा, रागद्वेष के प्रति इसकी उमंग नहीं रही, लगाव नहीं रहा, उसे सर्वस्व समझे यह बात अज्ञान में थी। अब तो विरक्त हो रहा। तो भावाश्रव का अभाव हो गया ज्ञानी के, और द्रव्यकर्म सो जुदा है ही। अब यह ज्ञानी सदा ज्ञानमय ही एकभाव में बस रहा। अब यह तो ज्ञायक है, ज्ञाता है।

960- अन्तस्तत्त्व के आश्रय का प्रताप-

आत्मस्वभाव व विभावों में भेद विज्ञान की बातें जिन्होंने पायी वे हैं अमीर और भेदविज्ञान की छटा जिन्होंने नहीं पायी, वे विषयों में रमते, इष्ट अनिष्ट सोचते, धन वैभव ही अपना सर्वस्व समझते। उनके उपयोग में ज्ञानस्वभाव को, परमात्मस्वरूप को रंच भी स्थान नहीं, और कदाचित् भक्ति भी करें, कुछ धर्म भी करें जिसे समझ रखा तो केवल वैभव की तृष्णा के कारण करते हैं, उन्हें वह दृष्टि मिली नहीं कि जिससे यह

प्रकाश जगे कि ये धन वैभव ये अत्यन्त तुच्छ बातें हैं। तो यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने भावों में इतना स्पष्ट निर्मल हो गया, ऐसे ज्ञानी की सेवा मिलना ही बड़ा कठिन और दुर्लभ है। ज्ञानी संत की सेवा भी जिसे प्राप्त हुई वह भी एक बहुत बड़ा भाग्यवान है, उसका निर्मल भवितव्य है और फिर जिसने उस ज्ञानी के अन्तः स्वरूप का परिचय पाया कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप अपने ज्ञान को कहाँ छुवे रहता है, वह कौनसा तत्त्व है कि जिसमें रमण करके यह अपने आपमें अपना प्रसाद पाये हुए है, उस ज्ञानी की कला का परिचय हो जाय यह उससे भी अधिक सौभाग्य और सुभवितव्य की बात है। और, फिर उस परम ज्ञानकला के प्रति ऐसी उमंग उठी कि मुझे यह ही चाहिए, बाकी तीनों लोक का वैभव भी तुच्छ है। त्रिलोक के वैभव से मेरे आत्मा का उद्धार नहीं, बल्कि बरबादी है, यह भाव जहाँ जम गया और अपने अन्तः उस सहज परमात्मस्वरूप में भक्ति जग गई तो समझिये कि हमारा संसार संकट छूट गया। जैसे एक पेड़ कटा गया, जड़ से गिर गया हरातो अब भी है मगर वह हरियाली क्षण-क्षण मुरझाने की ओर है तत्काल तो मुरझाना विदित नहीं होता। दो चार दिन में मुरझाने की बात कुछ अंदाज में आती, मगर जिस काल में पेड़ कटा उस ही काल से वे पत्तियाँ मुरझाने की ओरमुख कर गई, अब हरियाने की ओरमुख नहीं है, ऐसे ही स्वभाव और विभाव का जहाँ भेदविज्ञान हुआ, अपने स्वभाव की दृष्टि हुई, यह मैं हूँ, विभाव पर हैं, ऐसा भेद जगा, ऐसा ज्ञान में परिचय आते ही ये विभाव मुरझाने की ओर हैं, अब बढने की ओर नहीं हैं। तुरन्त तो मुरझाना विदित नहीं हो रहा मगर जड़ ऐसी ही बन रही। लोग कहते हैं कि भरत चक्रवर्ती को दीक्षा लेते ही तुरन्त अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया ऐसी तुरन्त की साधना कैसी? लोगों को तो विदित हो रहा कि तुरन्त की साधना थी? उन्होंने गृहस्थावस्था में भी निरन्तर आत्मसाधना की थी, घर में रहते हुए भी वैरागी, भरत के बारे में प्रसिद्ध ही है। इतना वैभववान होकर भी वैभव से अलिप्त रहे, उसमें मोह नहीं, उसमें उपयोग नहीं, राग नहीं बसा। तो ज्ञानी पुरुष की अन्तः साधना यही तो एक काम करती है, काम करने को दूसरा कुछ नहीं रखा।

961- परकर्तृत्व का व्यर्थ भ्रम-

यह तो व्यर्थ का भ्रम है कि धन वैभव मेरे जोड़ने से जुड़ता। अरे जिन-जिन के काम में यह वैभव आयगा उनका पुण्योदय है तो आपको उनका नौकर बनना पड़ा। आप धन कमा नहीं रहे, आप तो उनकी नौकरी कर रहे। किनकी? जिन-जिन के उपभोग में यह सम्पदा आयगी। अच्छा तो उनकी नौकरी करने से कुछ फल मिलेगा क्या? हाँ मिलेगा फल। वह पाप, पाप का फल, यही तो मिलेगा। और अधिक अच्छी नौकरी नहीं मिलने की, क्योंकि सब कुछ ऐसे ही तो (मुफ्त ही तो) आया है। तो यह जायगा भी मुफ्त, मुफ्त कैसे आया? पैदा होते ही आपने कुछ कमाया क्या? कमाया तो नहीं, पर कहलाने लगे लखपति। तो यह सब पुण्ययोग है, पूर्वकाल में किए हुए धर्म का प्रसाद है। हो गया, मगर यदि धर्म में बुद्धि नहीं, ज्ञान में प्रीति नहीं तो बस ऐसे ही यह विषय वैभवों की प्रीति में समय जायगा, जो बिल्कुल बेकार सा समय है और अन्त में खोटा फल प्राप्त होगा। तो क्यों न चेते और अपने अध्यात्म में अपना प्रकाश पायें।

962- आत्मज्ञान से आत्मजीवन का प्रारम्भ-

एक बार एक छोटी ही उम्र के मुनिराज किसी सेठ के घर आहार करने आये। आहार करने के पश्चात् जब थोड़ा बैठे तो सेठ की बहू ने पूछा मुनिमहाराज से- महाराज आप इतने जल्दी कैसे आ गए। तो मुनिराज बोले- बेटी समय की खबर न थी। मुनिराज ने पूछा बहू से- बताओ तुम्हारी उमर कितनी है?...महाराज मेरी उम्र 5 वर्ष की है।...और पति की आयु?...सिर्फ 5 महीना की।...और तुम्हारे ससुर साहब की?...महाराज ससुर साहब तो अभी पैदा ही नहीं हुए?...अच्छा ताजा खाती हो कि बासी।...महाराज सुबह दोपहर, शाम तीनों ही बार बासा ही बासा खाते हैं, ताजे का नाम नहीं। खैर, मुनि महाराज तो चले गए। इधर सेठजी बहुत बिगड़े अपनी बहू पर। बोले कि आज जो तूने इतने लोगों के सामने मेरी इज्जत गँवा दी। कैसे अटपट उत्तर दिए। तो बहू बोली- पिताजी आप नाराज न हों, चलो उन्हीं महाराज के पास, उन्हीं से सब बातों का समाधान करें। पहुंचे तो क्या समाधान मिला कि मुनि थे 18-19 वर्ष की उम्र के सो जब बहू ने पूछा था कि इतने जल्दी कैसे आ गए, तो उनका अर्थ था कि इतने जल्दी मुनिपद में आप कैसे आ गए। तो वहाँ मुनिराज ने कहा था कि बेटी समय की खबर न थी याने इस जीवन का क्या ठिकाना कि कब तक रहे यही सोचकर जल्दी ही इस मुनि पद में आ गए। बहू की उम्र के विषय में जो बात चली तो बहू ने बताया कि 5 वर्ष से मुझे धर्म में श्रद्धा हुई तभी से मैं अपना जीवन समझती, उसके पहले का जीवन कोई जीवन नहीं समझती। जब से धर्म में श्रद्धा हो तब से जीवन सही समझना। पति की उम्र 5 माह की बतायी तो उसका अर्थ था कि पति को सिर्फ 5 माह से धर्म में श्रद्धा हुई। और ससुर बोला-महाराज, यह तो ठीक समझ गए, पर मैं जो इतना बड़ा बूढ़ा हो गया सो उसे बताती कि अभी पैदा ही नहीं हुए सो कैसे? तो बहू बोली- महाराज देख लो यह अब भी झगड़ते हैं। इनको अभी तक धर्म में श्रद्धा नहीं हुई तो हम इनका जीवन कैसे समझें। धर्म में श्रद्धाविहीन जीवन कोई जीवन नहीं। अब रोज-रोज बासा खाने की बात क्या थी, उसके संबंध में बहू ने बताया कि सेठजी ने पूर्वभव में जो पुण्य की कमाई की थी उस कमायी को आज खाया जा रहा है। सो वह सब बासा ही तो कहलाया क्योंकि सेठजी कोई नई कमाई धर्म की पुण्य की नहीं कर रहे। सेठ की समझ में सब आ गया कि इस बहू और मुनिराज की वास्तविक वार्ता क्या थी, सहर्ष वापिस आया। तो भाई जिन्दगी अपनी तब से समझो जब से अपने को अपने आत्मा की प्रीति जगे। ज्ञानस्वरूप का आदर बने, तोये कर्म झड़ेंगे संसार के सर्व संकट छूटेंगे।

कलश 116

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिन्दन्परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भव-

त्रात्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥116॥

963- ज्ञानी की निराश्रवता का तथ्य-

यहाँ श्रावकाधिकार में यह बताया जा रहा है कि जिस आत्मा ने अपने सहज स्वरूप को पहिचाना, सहज स्वरूप में अपने अस्तित्व को स्वीकार किया, ऐसा ज्ञानी पुरुष तो निराश्रव है अर्थात् अब वहाँ कर्मों का जोर नहीं, आस्रव नहीं। इस प्रकरण में यह सदा ध्यान में रखना कि द्रव्यानुयोग में जो वर्णन होता है वह बुद्धिपूर्वक का वर्णन होता है। अबुद्धिपूर्वक तत्त्व का वर्णन द्रव्यानुयोग में नहीं, करणानुयोग में है, इस कारण करणानुयोग मोटा से मोटा वर्णन करता है, और छोटा से छोटा वर्णन करता है, सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकरणों का वर्णन करणानुयोग में है। द्रव्यानुयोग में तो बुद्धिपूर्वक बातों का वर्णन है, ज्ञानी के ज्ञान का उपयोग सहजस्वरूप की ओर लगा है, आनन्दसागर है, जिस स्वरूप में स्वयं आनन्द भरा हुआ है। पदार्थ सभी निरापद हुआ करते हैं स्वयं अपने आप। तो ऐसा जो अंतस्तत्त्व है उसकी ओरजिसकी दृष्टि लगी है विषय के साधनों की ओरजिसका उपयोग नहीं है ऐसा ज्ञानी पुरुष चूँकि उसके बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह का आस्रव नहीं है, सो उस ओर से ये निराश्रव कहलाते हैं, और चाहिए क्या? जो प्रयोग में आये, जिससे सफलता मिले, प्रगति बने वही तो एक काम की चीज है। जहाँ बुद्धिपूर्वक आस्रव न रहेगा तो अबुद्धिपूर्वक आस्रव कब तक चलेगा? तो ज्ञानी पुरुष के आस्रव की भावना का अभिप्राय नहीं है, इस कारण निराश्रव ही है। अबुद्धिपूर्वक आस्रव को आस्रव में गिना नहीं क्योंकि वह एक आनुषंगिक चीज है उसका मिटना। जब बुद्धिपूर्वक आस्रव न रहेगा तो अबुद्धिपूर्वक आस्रव अपना समय पाकर सब दूर हो जायगा। जैसे कोई वृक्ष की जड़ कट गई तो वृक्ष हरा होगा है खाद डालने से, पानी डालने से। जहाँ जड़ की कट गयी खाद पानी डालकर प्रयत्नपूर्वक जहाँ हरे करने की गुंजाइश ही नहीं रही, तो वह हरा कैसे रहेगा, यद्यपि हरा रहता है कुछ समय मगर वह मुरझाने की ओरही उन्मुख रहता है, इसी तरह ज्ञानी पुरुष के रहते है आस्रव, राग, मगर वे सब मुझ्राये हुए की ओरही रहते हैं।

964- अन्तस्तत्त्व की अपनी वार्ता-

यहाँ अपने आपके अंतस्तत्त्व की बात कही जा रही है। अपने आपकी खुद की बात खुद दृष्टि में लें, खुद ध्यान में लें, खुद का खुद में प्रकाश मिल जाय तो आप यह समझें कि तीन लोक का वैभव भी न कुछ है, और आपको अपने आपके भीतर का, स्वरूप का जो प्रकाश मिला वह आपके लिए सर्वस्व है, कारण यह है कि शरण होगा आपको तो आपके स्वरूप का आश्रय शरण होगा, जगत में जो बाह्य पदार्थ हैं उनका आश्रय तो धोखे से ही भरा हुआ है, शरण की बात तो दूर ही रही, खुद ही खुद के लिए शरण है। मोटे रूप में तो प्रायः सभी कहते हैं, देहातों में भी कहते हैं कि किसी का कोई शरण नहीं, खुद के लिए खुद शरण है, पर प्रायः वहाँ इतनी ही दृष्टि रहती है कि भाई खुद अच्छा चलें, अच्छा बोलें, दूसरे का उपकार करें, हम

अगर अच्छा काम करेंगे तो हम खुद के लिए खुद शरण हुए, वहाँ दृष्टि केवल इतनी है। यहाँ अध्यात्म में वह दृष्टि लेना है कि समस्त क्रियाओं और चेष्टाओं से रहित जो आत्मा का सहज स्वरूप अंतस्तत्त्व है, उसमें ज्ञान जाय कि यह मैं हूँ, निष्क्रिय, रंग चेष्टारहित ऐसी भीतर में ज्ञान की अपूर्व रहे चेष्टा, ऐसी स्थिति ही इस जीव का शरण है। तो जहाँ ऐसा अन्तः स्वरूप प्राप्त कर लिया ज्ञानी ने तो बुद्धिपूर्वक राग का तो त्याग ही हो जायगा। देखिये बुद्धिपूर्वक राग का त्याग हुआ, इसके दो अर्थ हैं- एक तो राग होते हुए भी याने जानकर राग कर रहा है ज्ञानी, जानकर मायने उपयोग में तो है, चेष्टा तो हो रही है मगर श्रद्धा ने काट दी है जड़, निरन्तर यह प्रतीति रहती है कि ये सारी चेष्टायें ये सब मेरी नहीं है। मेरा तो सहज स्वरूप एक चैतन्य प्रकाश है। तो यों बुद्धिपूर्वक राग नहीं रहा। इससे बढ़कर और बुद्धिपूर्वक आस्रव का अभाव क्या है कि जब जीव ज्ञानस्वभाव के अनुरूप में होता तो वहाँ चेष्टा नहीं रहती है। वहाँ है बुद्धिपूर्वक आस्रव का अभाव। दोनों ही पदों में बुद्धिपूर्वक आस्रव का राग द्वेष मोह का अभाव है, अतएव ज्ञानी निराश्रव है।

965- ज्ञानी की बुद्धिपूर्वक रागपरिहरणश्री का श्रृंगार-

ज्ञानी बुद्धिपूर्वक राग का निरन्तर त्याग किए हुए हैं जैसे किसी का कोई इष्ट गुजर गया, जो कि घर का एक लौकिक सहारा था, और बहुत प्रिय था अचानक वह गुजर गया, तो उसकी याद वह रात दिन रखता है। कौन? जिसका कि इष्ट गुजर गया तो क्या वह खाना पीना भी बंद कर देगा? क्या वह अपना काम काज भी बंद कर देगा, या वह किसी के साथ अपना बोल चाल भी बन्द कर देगा? नहीं। करता है सब कुछ मगर प्रतीति में, धुन में, वासना में याद उसकी बनी हुई है। थोड़ी देर को जितनी देर दूकान में समय लगा, दूकान में उपयोग लगा, और जरा सा भी अवकाश मिला तो झट याद करके अपने अश्रु बहाता है। तो देखो सारे काम काज करते हुए भी उसकी प्रतीति में निरन्तर यही इष्ट बसा रहता है और जिस समय उसको याद विशेष आये याने बाहरी व्यग्रता न रहे तो झट उसकी याद करके दुःखी हो जाता है और अपने अश्रु बहा देता है। इसी तरह ज्ञानी जीव को इस अन्तः स्वभाव की प्रतीति तो निरन्तर रहती है मगर काम काज में जब लगा है पूजा, वंदना, रसोई, भोग, उपभोग आदि जब इन कामों में लगा है तब उसे याद नहीं रहता, प्रतीति तो है मगर प्रत्यक्षपना नहीं, सामने नहीं आयी बात, लेकिन जैसे ही थोड़ा अवकाश मिला और यहाँ से बल तो यह उठा ही रहता है कि मैं अपने को स्वानुभव का अनुभव करूँ, बस जैसे अवकाश मिला, बल यहाँ से उठा ही है, यह अपनी ओर आ जाता है, अनुभूति में, चर्चा में, ज्ञान में यह अपने आपमें आ जाता है। जैसे कोई बच्चों के खेलने का ऐसा मेंढक आता है टीन का कि जिसके नीचे रार लगी हो और वहाँ पत्ती चिपका दी, जब तक वह चिपकी है तब तक वह खेल का मेंढक जमीन पर रखा है, जैसे ही वह पत्ती का लगाव मिटा कि वह मेंढक उछलकर बड़ी दूर जा गिरता है। कोई किवाड़ भी ऐसे स्प्रिंगदार आते हैं कि जिनको जब तक पकड़े रहो तब तक तो खुले रहेंगे और जब हम उसके खोलने की चेष्टा छोड़ दें तो वे स्वतः ही बंद हो जाते हैं। तो अपनी ओर आना, खिंचना यह ज्ञानी का नैसर्गिक काम है, लेकिन चारित्रमोह

की प्रेरणा कहो, उसका विपाककाल कहो, जब तक इसका उपयोग विषय साधनों में रहता तब तक यह खिंचा-खिंचा फिरता है लेकिन निसर्गतः उसकी धुन, उसका आगमन, उसकी मोड़ अपने आपके स्वभाव की ओर होती है।

966- ज्ञानी की मुख्य धुन सहजपरमात्मतत्त्वानुभूति के लिये पौरुष-

भैया एक नीति बनाओ मुझको वही चाहिए मुख्य प्रधान काम मूल में कि मेरे को अपने इस सहज ज्ञानप्रकाश में यह अनुभव बने कि मैं यह हूँ, व्यर्थ की माया को क्यों मान रहे कि यह मैं हूँ, इस शकल सूरत शरीर को क्यों मानते कि यह मैं हूँ, कर्मविपाक में उठा हुआ विकल्प विचार को क्यों माना जा रहा कि मैं हूँ, जो मिट जाने वाला है, जो मायारूप है, विचार विकल्प वितर्क इनको मान रहा कि मैं हूँ, मैं तो यह निर्विकल्प अखण्ड सहज ज्ञानस्वभावमात्र हूँ। सोचिये, चिन्तन करिये और ऐसे ही प्रयोग में अपने आपके ज्ञान को ढालें, धन्य क्षण आयेंगे कोई कि सारे विकल्प टूटकर एक इस ज्ञान स्वभाव का अनुभव होगा कि जिस अनुभव में कहीं का विकल्प नहीं और मैं खुद को जान रहा हूँ, खुद में लग रहा हूँ, यह भी विकल्प नहीं, विकल्प का नाम नहीं और वहाँ बस यह ज्ञानस्वभाव का अनुभव, उसमें एक परिणमन, यह एक चीज होगी। जहाँ सहज अद्भुत अलौकिक का अनुभव होना ही होता है, उसे फिर समझाने की जरूरत नहीं कि तुझे अनुभव हुआ कि नहीं। वह स्वयं जान जायगा क्योंकि उसके चिन्ह हैं। वह खुद समझेगा, अब उसे जगत का वह लौकिक वैभव उसके लिए कुछ न रहेगा।

967- बुद्धिपूर्वक आस्रव का संन्यास करने वाले ज्ञानी का अबुद्धिपूर्वक आस्रव को जीतने का सहज प्रयास-

ज्ञानी पुरुष बुद्धिपूर्वक तो निरन्तर राग का त्याग किए हुए हैं, अब रह गया अबुद्धिपूर्वक राग विकार, मायने कर्म के उदय होते हैं, उनकी झलक होती है जैसे कि सिनेमा के पर्दे पर दूर चल रहे फिल्म का निमित्त पाकर वहाँ फोटो आ जाती है ऐसा यहाँ प्रतिफलन होता है, उस प्रतिफलन को कोई रोक नहीं सकता। अबुद्धिपूर्वक विकार है, रोकने का प्रयत्न बुद्धिपूर्वक को होता है, लेकिन उसी उपाय से, स्वभावाश्रय से अबुद्धिपूर्वक विकार को भी जीतने का प्रयत्न सहज चल रहा है, वह प्रयत्न यही है कि अपने स्वभाव में रहें। स्वभावदृष्टि की जावे, यह ही अनुभव किया जावे कि मैं तो ज्ञान स्वभावमात्र हूँ, फिर समय पर सहज ही अबुद्धिपूर्वक राग दूर होगा। तो अबुद्धिपूर्वक राग को जीतने के लिए यह ज्ञानी जीव अपनी शक्ति का बार बार स्पर्श करता है। किसी कुमित्र का (खोटे दोस्त का) साथ लग जाय तो उससे छूटकारा पाने का उपाय क्या है? उससे लड़ना, यह उपाय नहीं, उससे प्रेम करना यह भी उपाय नहीं है। कुछ न करें, उपेक्षा कर जायें, समय आयगा जल्दी कि उसका संग छूट जायगा। यह कर्म उपाधि का प्रसंग और तन्निमित्त विभाव का प्रसंग जो उसके साथ लगा हुआ है इसको दूर करने का उपाय उन पर दृष्टि देना नहीं, कर्म और विभाव को गाली देना उपाय नहीं, किन्तु उनकी उपेक्षा कर जावे और अपने सहज स्वभाव की ओर उपयोग लगा दे तो ये कर्म

और विभाव ये जैसे जैसे जिस विधि से दूर होंगे, जिसकी विधि करणानुयोग मेंबतायी है, दूर हो जायेंगे। तो बुद्धिपूर्वक विकार को जीतने के लिए जीव अपनी शक्ति का स्पर्श करता है।

968- ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से होने का मोड़ देने की प्रेरणा-

भैया, अब इसी समय जितने शीघ्र हो उतने शीघ्र ज्ञान की जो समस्त परिवृत्ति है परिवर्तन है, कर्मस्वभाव का होना है उसका उच्छेद कर दें, ढंग बदल दें, उस सही परमार्थता को स्वीकार तो कर लें। आत्मा ज्ञानस्वरूप है उसका काम निरन्तर जानते रहना है। यह ज्ञान द्वारा जाना ही करेगा। अब वह जानना किस विधि से हो रहा है बस इसी में ही संसार और मोक्ष का उपाय बना हुआ है। आत्मा ज्ञानमात्र है, अन्य कुछ करता नहीं है। तब यह ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व किस प्रकार से इसका परिणाम बने यह ही बात खास देखने की है। दर्पण तो अचेतन है, मगर कुछ स्थितियों तक इसके लिए वह दृष्टान्त है पूरा दृष्टान्त नहीं बनता, क्योंकि वह अचेतन है। यहाँ तक तो दृष्टि निभायेगा। यह कि सामने किसी वस्तु का सन्निधान हुआ, तत्काल स्वच्छस्वरूप दर्पण ने अपनी स्वच्छता ढककर अपने में फोटो का परिणमन कर लिया, इसी तरह कर्मविपाक रागद्वेष प्रकृति, इनका उदय हो, अपने में जब विपाक फूटा हो जैसा कि कपड़े का रंग कपड़े में ही है, मगर रंगीन कपड़े का सन्निधान पाकर दर्पण में भी उसी रंग का फोटो होता है, ऐसे ही कर्म की प्रकृति कर्म में ही है, उसमें ही उसका विपाक निकला है, मगर उसका सन्निधान पाकर उस ही प्रकार यह प्रतिफलन होता है, छाया माया यह कर्मलीला, कर्मरस ये सब उसके उपयोग में प्रतिफलन रूप में आये। यहाँ तक दर्पण का दृष्टान्त निभा। अब चूँकि यह दर्पण अचेतन है तो वह यह नहीं कर सकता कि उस फोटो को वह अपना ले कि मैं तो यह ही हूँ। लेकिन यह आत्मा चूँकि चेतन है सो वह यहाँ कर डालता है, यह अपने में आया हुआ जो कर्मविपाक प्रतिफलन है उसको अपना लेता कि यह मैं हूँ, अपने सही कुल की बात तो भूल गया यह, चैतन्यकुल में मैं हूँ, यह तो वह बिल्कुल भूल गया और जो जड़ कर्मरस है उसको अपना लिया। तो जिनकी ज्ञानदृष्टि बन गई कि यों हो रहा है यह काम, यह भ्रम में बन रहा है यह सब कुछ जगजाल, मैं तो अपने में ज्ञानस्वभाव मात्र हूँ, जहाँ यह दृष्टि जगी और स्वभावविभाव का यह भेद बना, बस उस समय से फूट पड़ गई, संधि में भेद आ गया, अब स्पष्ट जान रहा है कि यह मैं नहीं हूँ, यह मेरे पर बोझ है, भार है, परतत्त्व है, परभाव है, ऐसा जानता है, इस कारण उसका परभाव से अब राग नहीं लगाव नहीं। ज्ञानी कष्ट में खेद नहीं मानता। कुछ तो होता ही है, पर खेद नहीं मानता, पर अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव तो उस ही रूप अपने को अनुभव करता है इसलिए वह सदा खेदखिन्न रहता है। तो ऐसे ज्ञान की सकल में यह मोड़ आया। अज्ञानवश अनादि से उस प्रतिफलनरूप में अपने को ढाल-ढालकर उस रूप अनुभव करता आया था यह प्रकृति चली आयी, किन्तु आज उसमें भंग हुआ तो यह अपने स्वभाव की ओर मुड़कर अपने को ज्ञानस्वभाव रूप अनुभवने लगा। ऐसी स्थिति में ज्ञान का ज्ञान स्वभाव से होने की बात पूर्ण करता हुआ अपने में यह जीव नित्य निराश्रव है।

969- परविविक्त निज अन्तस्तत्त्व को निर्भर परखकर प्रसन्न रहने का संदेश-

उस प्रसंग में हम आपको क्या उत्साह लेना चाहिए, क्या उत्साह जगना चाहिए सो भाई देखो यह भ्रम छोड़ दो कि तेरे पालने पोषने से बच्चे पलते पुसते हैं। काम तो यही बनेगा गृहस्थावस्था में जो कर रहे हैं, दूकान जायेंगे, सब कुछ करेंगे मगर मौलिक बात समझें। अगर ऐसा नियम हो कि आपके पालने से आपके रक्षा करने से यह रक्षित होता है इसलिए हम पर उनका भार है, अगर ऐसी ही बात है श्रद्धा में, प्रवृत्ति में तो यह करना ही पड़ेगा जब तक गृहस्थ हैं। गृहस्थ का और तरह से गुजारा नहीं, मगर सत्य बात तो जानो। यदि ऐसा है कि आपके परिजन का पुण्य का उदय उतना नहीं है, पाप का उदय आ गया है तो आप कभी सफल हो भी सकेंगे क्या? सिद्धान्त की बात देखो। यहाँ जितने भी जीव हैं वे सब अपने-अपने कर्मोदय से ही सुखी दुःखी होते हैं और किसी भी जीव का कर्म कोई दूसरा दे नहीं सकता। जिसने जो कर्म उपार्जित किया बस वही कर्म उसके उदय में है और उसके अनुरूप उसकी स्थिति बनती है तो मैं दूसरे को क्या कर सकता हूँ? पर जब राग है तब तक आप ऐसा किए बिना ही नहीं रह सकते। बाह्य निमित्त है परिजन का पुण्योदय, अतः प्रेरणा मिलती है, आपको पर के राग से क्या लाभ मिल रहा। काम तो सारा चल रहा है, मगर सत्य बात समझने का इतना बड़ा महत्त्व है कि हर परिस्थिति में रहकर यह जीव अन्तः प्रसन्न रहा करता है। तभी तो बतलाया कि नारकी जीव कटते छिदते भिदते हैं? फिर भी वे अन्तः प्रसन्न रहते हैं। इतनी विपत्ति में भी रहकर भीतर प्रसन्न रह सकें, यह किसका बल है? ज्ञानदृष्टि का। देव जो ज्ञानी हैं वे भलेभले पुरुष देवांगनावों के बीच रहकर भी तरह तरह के सांसारिक सुखों के बीच रहकर भी अन्तः प्रसन्न रहते हैं। इसका कारण क्या है? ज्ञानदृष्टि। दुःख में भी संकट है, सुख में भी संकट है आकुलता है। तो जहाँ भोगसाधन बहुत मिले हों और यह उपयोग बाहर-बाहर की ओर चला करे तो इसमें आकुलता नहीं है क्या? वह मोह में मानता नहीं, पर भीतर में तो आकुलता उसके बराबर चल रही है। तब ही तो वह उचक-उचककर विषयों के समूह में दौड़ता है। विषयसम्बन्धी तृष्णा में इतनी आकुलता है कि वह उसके लिए चेष्टायें करता, विकल्प मचाता, जहाँ विकल्प उठते हैं वहाँ क्लेश ही क्लेश हैं।

970- स्वनिधि की भान व आदान की शान-

ज्ञानी, देवजन भी सांसारिक सुखों के विषय के बीच पड़े हुए अन्तः प्रसन्न रहा करते हैं। तो किसका बल है? यह अन्तः स्वभाव में अपने आपको स्वीकार करने का बल है, यह बात यहाँ मनुष्यों में आप निरखते जाइये, जिसको ज्ञान जगा है भीतर स्वभावदृष्टि बनी है, कुछ परिस्थिति ऐसी होती है कि उस परिस्थितियों में वह गुजर रहा है, व्यवहार करता है फिर भी अपने इस आनन्दमय स्वरूप को भूलता नहीं है। प्रतीति में है उसके। कोई बड़ी निधि मिल जाय किसी याचक को तो उसकी वह इतनी खुशी मानता है कि निरन्तर उसकी याद रहती है। और, उस याद में, उस अनुभूति में यह जीव अन्तः प्रसन्न रहता है। घर में निधि गड़ी है तो वह गरीबी का अनुभव करता है और कष्ट भोगता है। अगर घर में गड़ी हुई निधि का भान भी हो जाय कि

मेरे घर में निधि गड़ी है और उसे वह निकाल भी नहीं पाया और उस दारिद्र्य की परिस्थिति में सूखा रूखा खाकर ही गुजारा कर रहा है, पर उसके अन्दर एक ठसक जरूर आ जाती है कि मेरे घर में यह निधि गड़ी है। तो एक तो उस निधि के माल की शान और दूसरे वह उपाय करे और उस निधि को ग्रहण कर ले, पा ले तो उसकी शान उससे भी अधिक हो जाती है। तो सम्यग्दृष्टि ने तो अभी अपनी निधि का भान किया है। जाना है तो इस ज्ञान भी बड़ा प्रभाव है कि वह अपने आपमें एक ठसक रखता है मायने एक बल रखता है, प्रसन्न रहता है, साहस रखता है, जिससे उपद्रवों को, कष्टों को बड़े हर्ष से सह लेता है। और जब यह उपाय करे, अनुभव बनाये और उस निधि को हस्तगत कर ले, प्रत्यक्ष कर ले, अपने ज्ञान में समाये रहे। ऐसी स्थिति अगर पा ले तो इस ज्ञानी की स्थिति एक बड़े शान की होती है। बस यही तो बात आयी। यह आध्यात्मिक कथन यह सब ठीक चल रहा। अगर स्वानुभव के लिए चले तो बस वहाँ विघ्न होता है। क्या? कि घर की खबर, बच्चों की खबर। चूँकि वस्त्रादिक के परिग्रह रखे हैं ना, तो वे बाधक होते हैं आत्मा के स्वानुभव में लगे रहने के पौरुष में। इस कारण इनका त्याग है बस, यह है चरणानुयोग का तथ्य। अतएव उस ज्ञानी पुरुष के अपने स्वभाव में अभिमुख होने के कारण, उसका परिचय, अनुभव होने के कारण बुद्धिपूर्वक आस्रव तो दूर हो गया और अबुद्धिपूर्वक आस्रव को दूर करने का निरन्तर प्रयत्न चल रहा है। ऐसी स्थिति में इसका ज्ञान ऐसा प्रसिद्ध हो गया कि वह तो निराश्रव है, वंदनीय है, आदरणीय है, क्योंकि उसकी दृष्टि इस ओर लगी है और इस ओर जुटने का प्रयत्न चल रहा है। हमको यह भली प्रकार निर्णय रखना चाहिए कि मेरा जीवन परिजन, धन वैभव इनके लगाव के लिए नहीं है, इसमें तो हम धोखा खा जायेंगे, दुर्गति में रहना होगा। मेरा जीवन तो अपने आपमें इस सहज अंतस्तत्त्व में यह मैं हूँ- ऐसा अनुभव बनाये रहने के लिए है।

कलश 117

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।

कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥117॥

971- ज्ञानी के निरास्रवत्व का प्रकरण-

यहाँ यह बतलाया जा रहा था कि यह जीव जब अपने ज्ञान को अपने ज्ञानस्वरूप में जोड़ता है अर्थात् मैं सहज ज्ञानमात्र हूँ ऐसा अपने में विश्वास लाता हुआ जानता है और इसके कारण अब उसके इच्छा नहीं रही संसार के प्रपंचों की, ऐसी स्थिति में इस जीव के आस्रव नहीं होता। यहाँ बुद्धिपूर्वक आस्रव नहीं होता, यह अर्थ जानना और जहाँ ऊँची समाधि हो जाती है साधुजनों की वहाँ अबुद्धिपूर्वक भी न होगा, साम्परायिक आस्रव भी अकषाय में नहीं होता। द्रव्यानुयोग में समयसार में जहाँ-जहाँ भी यह लिखा है कि ज्ञानी निराश्रव है, सम्यग्दृष्टि के कर्म का बंध नहीं है वहाँ यह अर्थ लेना कि इस जीव की इच्छा अब विषयों में रमण की

नहीं है, वहाँ ये यह हटाव लिए रहता है इस कारण इसके बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह नहीं है, मोह तो है ही नहीं और बुद्धिपूर्वक रागद्वेष नहीं है इस कारण यह जीव निराश्रव है, अर्थात् बुद्धिपूर्वक रागद्वेष होने के कारण जो आस्रव हुआ करता है वह यहाँ नहीं होता। फल मिलता है अपने भावों का। कोई परिस्थिति में क्रिया कुछ करनी होती फिर भी फल होगा तो भाव का होगा। जैसे लड़की का विवाह हुआ और बहुत उम्र हुई, कुछ वृद्धापना आने को है और जब-जब भी वह अपने मायके आती है तो मायके से जाते समय वह रोकर जाती है एक रिवाज है, और, मन में चाहे यह हो कि घर का काम बिगड़ रहा, हमें जल्दी जाना है, मन में खुशी है, क्योंकि काम तो चलेगा घर से, तो मन में खुशी है, सो जायगी, पर रोये बिना न जायेगी। रिवाज है, परिस्थिति है और ऐसा रुदन भी करती कि दूसरे लोग सुनकर चाहे आँसू ला दें कि यह तो बहुत कठिन रो रही, इसे बहुत अधिक खुद हो रहा है और भीतर में फल क्या है? उसे तो सुख है, बल्कि कोई लिवाने न आये तो अपने लड़का बच्चों को खबर भेजती कि तुम लिवाने आ जाना। फल किसका मिला? जैसा भीतर में भाव है उसका फल मिला।

972- आशयानुसार भविष्यनिर्माण-

कोई दो बालक थे, छोटे बड़े भाई थे। उस नगर में कुछ ही घर भक्तों के थे। वहाँ एक-एक दिन एक-एक घर के लोग बारी से मंदिर में पूजन करते थे। एक दिन इन लड़कों की पूजा की बारी थी। उसी दिन रसोईघर में लकड़ियों की जरूरत पड़ गई तो उस बड़े लड़के ने छोटे से कहा कि हम तो जाते हैं लकड़ियाँ बीनने और तुम जाकर पूजा कर आना।...ठीक है। बड़ा लड़का तो चला गया लकड़ियाँ बीनने और छोटा लड़का चला गया पूजन करने। अब जंगल में लकड़ियाँ तोड़ने वाला लड़का क्या सोचता है कि कहाँ मैं झंझट में पड़ गया? हमारा छोटा भाई तो प्रभु की भक्ति में, पूजा में प्रभु के गुणगान करके आनन्दविभोर हो रहा होगा...और इधर छोटा भाई मंदिर में क्या सोचता है कि मैं कहाँ झंझट में पड़ गया। मेरा बड़ा भाई तो आम के पेड़ों पर चढ़कर मीठे-मीठे फल खा रहा होगा, सिनेमा के गीत गा रहा होगा...अब देखो भावों की बात। इससे कहीं यह न समझ लेना कि लकड़ी बीनना अच्छा है (हंसी) अरे अगर लकड़ी बीनते हुए भी भाव खराब रखा तो वह अच्छा काहे का? अच्छापन तो पूजा में आयगा। थोड़ा भाव सुधार ले, भगवान के स्वरूप की दृष्टि कर ले, यह तो एक साधन है, मगर फल मिलता है भाव का। तो ज्ञानी जीव के भाव आत्मा के स्वभाव की ओर है। इस ही में वह तृप्त रहना चाहता। बाकी चारित्रमोह के उदयवश बाहरी कामों में लगना पड़ रहा है फिर भी उसका मूल उद्देश्य, मूलभाव यह स्वभावरमण है। इसी कारण ज्ञानी को निराश्रव कहा है।

973- द्रव्यप्रत्ययसंतति होने पर निराश्रवत्व प्रतिपादन में एक आशंका-

ज्ञानी के निराश्रवत्व की बात सुनने पर यह एक आशंका हुई कि अभी यह ज्ञानी अविरत भी है श्रावक भी है और मुनि भी हो, पर श्रेणी में तो नहीं है, और हो तो भी 9 वें, 10 वें गुणस्थान तक इन सबके कर्म लगे हैं, निरन्तर कर्म उदय में आ रहे हैं, लगातार उदय में आ रहे हैं, द्रव्यप्रत्यय की संतति बराबर चल रही है।

द्रव्यप्रत्यय मायने पहले बाँधे हुए कर्म जो उदय में आये हैं तो उदय में आये हुए कर्मों का नाम है द्रव्यप्रत्यय। उसके तो संतान लगी है, लगातार चल रही है फिर इस ज्ञानी को निराश्रव कहा सो कैसे कहा? और, कहा कि यह ज्ञानी सदा निराश्रव है याने सो रहा है वहाँ पर भी सम्बर जग रहा, खा रहा पी रहा और इन्द्रियविषयों में भी है तो भी निराश्रवत्व, सम्बर उसके ही रहा, ऐसा क्यों कहा गया है। कर्मोदय बराबर चल रहा है, तो द्रव्यप्रत्यय जो कि विकारभाव के निमित्तभूत हैं वे चल रहे और फिर निराश्रव कह रहे सो इसका कारण क्या है? उसके उत्तर में अब आगे का कलश सुनो।

कलश 118

विजहति न हि सत्तं प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः

समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।

तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-

दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥118॥

974- बुद्धिपूर्वक रागद्वेषमोह का अभाव होने से ज्ञानी के निराश्रवत्व का प्रतिपादन-

यद्यपि पहले के बाँधे हुए कर्म अपनी सत्ता को नहीं छोड़ रहे हैं, उनकी सत्ता बनी हुई है और जब-जब उनका समय आता है तो वे कर्म अपने समय में अपना विपाक भी उगलते हैं तो भी समस्त रागद्वेष मोह का अभाव होने से ज्ञानी जीव के कभी कर्मबंध नहीं होता। देखना, थोड़े पढ़े लिखे लोगों को यह ही संदेह होता और एकान्त हो जाता है, किन्तु इस ग्रन्थ में लिखा यह है कि इच्छापूर्वक रागद्वेष नहीं है, सो इच्छापूर्वक जो आश्रव होता वह नहीं है। कर्मोदय की चेष्टा चल रही है। रागद्वेष को यह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भी कर रहा है सो उसके क्या आश्रव न होगा? क्या बंध न होगा? आश्रव है, बंध है, पर चूँकि उससे विरक्त है, उस ओर इच्छा नहीं है इस कारण से उसके अधिक आश्रव या अधिक बंध (तीव्र) नहीं है। याने बुद्धिपूर्वक आश्रव से जैसा बंध होता सो नहीं है। यह बात सर्वत्र लगाना। तो अन्य ग्रन्थों में विरोध न आयगा, अन्यथा यह शंका रहेगी कि धवल में, कर्मकाण्ड में, महाधवल में तो 10 वें गुणस्थान तक साम्पारायिक आश्रव कहा, बंध कहा और अरहंत भगवान तक के भी आश्रव कहा, बंध तो नहीं है, वहाँ ईर्यापथाश्रव है और यहाँ कह रहे कि जहाँ सम्यग्दर्शन हो, ज्ञानी हो मायने चौथे गुणस्थान से लगा लो- वहाँ से वह निराश्रव है, निर्बन्ध है, तो उसका अर्थ है कि अबुद्धिपूर्वक तो आश्रव हो रहा है मगर इच्छा करके, लगन करके उसके आश्रव बंध नहीं है।

975- कर्म परतत्त्व का परिचय-

अच्छा अब थोड़ा थोड़ा ध्यान में लायें कि ये कर्म क्या चीज है? कैसे उदय में आते हैं और क्यों फल इनका मिलता है? तो देखो कर्म की बात तो सभी लोग कहते, तकदीर, देव, भाग्य, रेखा, कर्म, और-और भी बातें करते हैं कि कर्मरेखा नहीं मिटती, भाग्य बड़ा प्रबल है..सारी बातें करते हैं, पर ऐसी बात करने वाले को अनेक पुरुष कहने लगते हैं, इसका स्पष्ट बोध नहीं होता कि कर्म भी कोई वस्तु हुआ करती है। उसके बारे में अंदाज है- ईश्वर ने भाग्य बना दिया, अब कई लोग मुर्दा को खोपड़ी को भी निरखते कि इसमें कैसी रेखायें पड़ी हैं तो उससे जीव का अंदाज लगाते। अरे, इन हड्डी की रेखाओं का नाम कर्म नहीं है, कोई सोचना मात्र ही कर्म नहीं, हौवा मात्र नहीं। जैसे अन्य पदार्थ है वैसे ही वास्तव में कर्म भी पदार्थ है। यह जो परमाणुओं का समूह है ईंट भीट पत्थर आदिक ये जो हैं सो हैं, तो जैसे ये पौद्गलिक हैं ऐसे ही कर्म भी पौद्गलिक होते। फर्क इतना है कि इनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श व्यक्त है, इन्हें हम लोग इन्द्रिय के माध्यम से जान जाते हैं और कर्म का रूप, रस, गंध, स्पर्श अव्यक्त है। हम इसे नहीं जान पाते, केवल ज्ञानी जाने, सर्वावधि परमावधि ज्ञानी जाने, और के वश की साक्षात् जानकारी नहीं, पर हैं वे कर्म, और जहाँ इस जीव ने कषायभाव किया, यही पड़ी हुई कार्माण वर्गणायें कर्मरूप बन गई। कर्मरूप हो गई याने उनमें फलदान शक्ति आ गई। अब वे सत्ता में पड़े हैं, उससे जीव का कोई नुकसान नहीं, मगर नुकसान करने वाले कर्म पड़े तो है और सत्ता में और उससे पहले के उदय में आ रहे तो उदय में जब आते हैं तो यों समझिये कि जैसे दर्पण के सामने कपकपाता हुआ हाथ आया तो दर्पण की फोटो भी कपकपाती हुई बनती है, तो ऐसे ही वे कर्म अपना अनुभाग विपाक लिए हुए उदय में आये मायने निकलते समय उनमें एक अपनी तडफन हुई। इतना काम कर्म में हुआ मगर चूँकि वे एक क्षेत्रावगाह में हैं, इनके बंधन में हैं याने परस्पर निमित्त नैमित्तिक बन्धन है, सो वे दर्पण में अंधकार की तरह भीतर ज्ञेय बन गए, प्रतिफलन हुआ, छाया हुई, फोटो आयी, किन्हीं शब्दों में कहो, वहाँ वे कर्मविपाक ऐसा जानने में आये कि यह जान नहीं पाता और जान गया। कैसा विचित्र जानना है कि इसकी बुद्धि में नहीं आ पाता, ज्ञान में नहीं समा पाता कि ये कर्म है और कर्मरस है, मगर उस कर्मरसरूप अपने को मानने लगा तो यह जानने में ही तो उसका एकरस बना। यह ऐसा विचित्र ज्ञेय होता कि जिसकी कोई उपमा नहीं। यह कर्म यह प्रतिफलन बाहर नहीं। पदार्थ ज्ञेय होता है तो बाहरी पदार्थ का तो परिचय हो जाता है यह है पत्थर, यह है ईंट, आदि लेकिन चीज की फोटो आयी और रात के समय में खूब अंधेरी रात में उस दर्पण में कोई फोटो है या नहीं सो बताओ। अब उस अंधेरे की फोटो की उस दर्पण में कुछ मालूम पड़ता है क्या? नहीं। उसकी सत्ता ही नहीं ज्ञात होती कि जैसे दिन होने पर दर्पण में इन चीजों की फोटो सुविदित होती है। तो अंधकार का प्रतिफलन होना, फोटो आना ऐसा विचित्र है कि उसमें दर्पण तक का भी पता नहीं रहता, और का तो पता क्या पड़े, क्या है। तो ऐसे ही कर्मविपाक एक अंधकाररूप से ज्ञात होता है कि उसमें यह लिप्त हो जाय, उस अनुरूप प्रवृत्ति बन जाय फिर भी यह ज्ञान नहीं हो पाता कि ये कर्म आये हैं, ये आये हैं, जैसे कि ये बाहर की चीजें जानने में आती।

976- परभावों से स्वभाव का पार्थक्यपरिचय-

ये कर्म व कर्मविपाक अन्य हैं और अपने में इसका कर्मरूप प्रतिफलन बनता है यह परभाव है। बस यही दो टूक करना है, ज्ञान से यही भेद करना है। ज्ञान से भेद करो कि जो यह प्रतिफलन, यह फोटो, यह कर्मरस, यह कर्मलीला, यह कर्मछाया है यह मैं नहीं हूँ। मेरे में हुए तो हैं सो यह मेरी स्वच्छता की प्रशंसा है। जो कर्मविपाक का प्रतिफलन मेरे में हुआ है सो यह तो स्वच्छता की प्रशंसा है। यह मैं नहीं हूँ। जैसे कभी किसी कमरे में बल्ब जल रहा और बाहर बैठे हुए को उस कमरे की खिड़की में से कुर्सी टेबल सब नजर आ रहे, बल्ब नजर नहीं आ रहा, दीपक नजर नहीं आ रहा, पर उस खिड़की में से अनेक चीजें प्रकाशित नजर में आ रहीं। तो उन प्रकाशित चीजों को परखकर आप तुरन्त यह ज्ञान नहीं करते, क्या, कि बल्ब जल रहा है? होता ना ज्ञान। दीपक जल रहा, तो ऐसे ही इसमें रागादिक आये, विकार बने, उनको निरखकर हम यहज्ञान करें कि यह स्वच्छता का अभ्युदय है याने आत्मा में ज्ञान की स्वच्छता का विलास है, प्रशंसा है कि यह राग यहाँ उदित होता है, ऐसी स्वच्छता की ओर जोर दिया जाय। ज्ञान की ओर मोड़ कीजिये, विकार की ओर मोड़ न कीजिए, यहाँ ऐसा भेद करना है, ऐसा छेदन हो जावे तो समझ लीजिए कि हमारा जीवन सार्थक है, आगे हमारा भविष्य उज्ज्वल है और अन्त तक विभावों में ही रम गया, उस तृष्णा में, कषाय में, माया में, इनमें ही रम गया और इसी रूप हो रहे तो यह ही तो अनादि से किया है। किसी भी भव में पहुंच गए, दूसरा कोई उस भव में साथ नहीं गया। किसी भी भव का प्रसंग आपको मददगार उस समय भी नहीं होता, आगे भी न होगा तो यहाँ विरमना क्या, यहाँ लगना क्या? यह अपने आपके स्वभाव में लगता है। बहुत गम्भीरता से विचार करें। बड़ा होना हो तो अपने स्वयं सहज बड़प्पन की बात करें। पौद्गलिक वैभव की तृष्णा में, ममता में बड़प्पन न बनेगा। आपका बड़प्पन आप में है आप स्वयं बड़े हैं, स्वरूप से बड़े हैं। तो अपने स्वरूप की सुध लें, ज्ञान की सुध लें तो वह है आपका सच्चा बड़प्पन। उसमें एक सहज आनन्द है, परमवृत्ति है, और उसके अतिरिक्त अन्य विभावों में तो सारी उलझन, फंसाव, बंध, आस्रव ये सभी बातें आ जाती हैं।

977- भेदविज्ञानी के ज्ञान व वैराग्य के कारण कर्मबन्धन का अभाव-

इस कलश में यह कह रहे हैं कि अज्ञान अवस्था में जो पहिले कर्म बाँध रखा था वे कर्म अपनी सत्ता नहीं छोड़ रहे और जब उनका उदयकाल आता है तो वे अपना विपाक दिखाते हैं। बात यद्यपि ऐसी है तो ज्ञानी ने अपने सहज स्वरूप को पहिचाना, अनुभवा जिस कारण से इसको अब बाहरी प्रसंगों में इच्छा नहीं रही। और देखो- इच्छा बिना कोई रोटी खायगा क्या? मुनि आहार को निकलें आहार ग्रहण करें और कहो कि उनके इच्छा नहीं है तो यह बात कोई मान लेगा क्या? मानेगा तो नहीं, मगर इच्छा-इच्छा का भेद है। एक तो बाह्य चीज को अपना सर्वस्व जानकर चाहना और एक परिस्थिति, प्रसंग ऐसा बन गया कि गुजारा के लिये चाहना। इन दो चाहों में अन्तर होता है। जैसे कैदी को चक्की पीसनी पड़ती तो वह इच्छा बिना पीस

सकता क्या? अरे, वह इस इच्छा को मन में रखकर चक्की पीसता कि कहीं सिपाही लोग हंटर से पीट न बैठें। तो बिना इच्छा के पीस तो नहीं सकता और ये घर के अन्दर चक्की पीसने वाली बुढ़ियाँ जो गा-गाकर पीसती हैं, बड़ी उमंग के साथ, तो बताओ उनके चक्की पीसने में और कैदी के चक्की पीसने में अन्तर है ना? है अन्तर। यहाँ आसक्तिसहित इच्छा है और वहाँ विरक्तिसहित इच्छा है, मामूली इच्छा है। उस इच्छा को यहाँ इच्छा नहीं कहा है। यहाँ इच्छा कह रहे हैं उसी को जो मोह वाली इच्छा है। सो ऐसी इच्छापूर्वक बुद्धिपूर्वक विकार नहीं है। रागद्वेष नहीं है ज्ञानी के इसलिए कर्मबन्ध नहीं होता। शास्त्र का स्वाध्याय तो है मगर तत्त्वरहस्यमयी विद्या गुरुगम बिना नहीं आती मौलिक ढंग से याने केवल पढ़ लेने से या थोड़ा सुन लेने से उसका मर्म पूरा हो जाय सो बात बन नहीं पाती। कोई विषय होते हैं ऐसे कि बाँचने से भी सही-सही समझ में नहीं आते। उनमें नासमझी से एकान्त या अनर्थ की बात भी कर सकते। इस कलश में सीधा लिखा है, बुद्धिपूर्वक, अबुद्धिपूर्वक की कोई बात नहीं लिखी है, मगर जिसने चारों वेदों का अध्ययन किया-प्रथमानुयोग, द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, ऐसा जो चतुर्वेदी विद्वान है वह उससे सही तथ्य निकालेगा और निकालकर चूँकि एक अध्यात्मप्रगति करना है अतएव वह विवादों को हटायेगा, बस जान लेगा और जान करके, उपेक्षा करके एक स्वभाव भाव में ही लगेगा ऐसे ज्ञानी पुरुष के कर्मबन्ध नहीं होता। इसी बात के समर्थन में अब एक श्लोक कह रहे हैं।

कलश 119

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः ।

तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥119॥

978- ज्ञानी के रागद्वेषमोह की असंभवता के कारण बन्धन का अभाव-

ज्ञानी जीव के रागद्वेषमोह होना असम्भव है, कितना तेज शब्द डाला है, क्या सर्वथा यह बात बनेगी? जिसके सम्यग्दर्शन हो गया उसके रागद्वेष होते नहीं, क्या यह बात सत्य है? हाँ नहीं होते वह महान साधक है, मगर सभी सम्यग्दृष्टियों के रागद्वेष नहीं होते, यह तो सही बात नहीं और श्लोकों में कह रहे कि ज्ञानी पुरुष के रागद्वेष होना बिल्कुल असम्भव है? तो सर्वत्र यह अर्थ लेना है कि अध्यात्म शास्त्र में प्रायः सर्वत्र बुद्धिपूर्वक बन्ध के निषेध का जिक्र चला करता है और फिर एक दृष्टि और दीजिए कि जैसे आदमी तो एक है वह पूजा करता सो पुजारी है, पढ़ाता है सो पंडित है, दूकान करता सो व्यापारी है और पंचायत में निर्णय देता तो सरपंच भी है। अब पुजारी शब्द सेपुकारा जाय तो केवल यह तब नाता उसमें लगेगा जब कि वह पूजा करता हो और कुछ न देखेंगे कि यह दूकान करता या पंच भी है। केवल जो शब्द बोला उस शब्द का ही अर्थ लगाना है। दूकान पर बैठे हुए को कौन कहता है कि पुजारी जी क्या कर रहे है? और यहाँ मंदिर में

पुजारी शब्द बोला जायगा। तो ऐसे ही जब ज्ञानी कहा तो वहाँ ज्ञान में ज्ञानस्वभाव आये तो ऐसी स्थिति को ही ग्रहण करना। इस स्थिति के कारण आस्रव नहीं होता, किन्तु जो राग चल रहा है उसके कारण तो आस्रव होता ही है तो व्यक्ति एक है और आत्मा एक है और काम वहाँ दो हैं। राग भी चल रहा और ज्ञानधारा भी चल रही है, पर जब ज्ञानी कहा तो कहना निर्बंध। और सम्यग्दृष्टि भी किसी हद तक रागी रहता है, सो जब रागी कहा तब सोचना बंध। इस तरह से ज्ञानमात्र के नाते से उसको परखा जा रहा है तो वहाँ रागद्वेष मोह नहीं है, और जब रागद्वेष मोह नहीं है तो इस ही कारण वह बंध में कारण नहीं बनता, याने रागद्वेष मोह नहीं है, सो बंध वहाँ नहीं होता।

979- विभावों के उपेक्षक ज्ञानी का अन्तः स्वरूपागमन में पौरुष-

जितने कर्मबन्ध हैं सब रागद्वेष मोह के कारण हैं। अपने को भविष्य में विपत्तियों से बचाना है, तो कर्मबन्ध से हटें। कर्मबन्ध से हटना है तो रागद्वेष मोह से हटें, और इन तीनों में प्रथम व पूर्णतया हटना है मोह से। अज्ञान मोह हटा कि रागद्वेष होते हुए भी हटे से हैं और हट जावेंगे। घर में आप रह रहे और प्रधान हैं आप और 5-7 जनों जो घर में हैं उनसे आपकी नहीं बनती, स्त्री से भी आपकी नहीं बनती तो आप उस ओर देखना तक भी नहीं चाहते, उपेक्षा करते। तो क्या कहा जायगा कि आप विविक्त हैं, न्यारे हैं। देखो आप रह रहे हैं घर में और लोग कहते कि यह तो घर से अलग है। जब घर में रहते हुए में किसी से मन नहीं मिलता तो यही बात तो वहाँ गुजरती है तब ही तो एक कहावत है- भली मार करतार की, दिल से दिया उतार। किसी को दिल से उतार दिया वह चाहे एक ही तख्त पर क्यों न बैठा हो, पर वह तो निराला है, अलग है, किसी से मिला नहीं है। तो रागादिक विकार चल भी रहे हैं ज्ञानी पुरुष के चारित्रमोह के उदय से, मगर जब उनसे दिल नहीं मिलता, उनमें आस्था नहीं जगती तब तो उनसे निराला ही समझिये न हुए बराबर जैसा समझिये। तो विजय अपनी इसमें है कि इन विभावों से तो उपेक्षा करें और अपने परमार्थ सहजस्वरूप में अपने आपको अनुभवे कि मैं यह मैं सहज परमात्मतत्त्व हूँ।

कलश 120

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-

मैकाग्रय्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते ।

रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः

पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥120॥

980- ज्ञानघन शुद्धात्मा का अवलम्बन-

हम आप सब ज्ञानस्वरूप पदार्थ हैं। ऐसा कोई पदार्थ है अन्दर, जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं जो पकड़े से पकड़ा नहीं जा सकता छेदा नहीं जा सकता, बहाया नहीं जा सकता, आकाश की तरह अमूर्त, किन्तु ज्ञानघन। जैसे कि घड़े में पानी भरा हुआ है तो वह पानी घन है याने उस पानी का जितना विस्तार है उसके भीतर कहीं भी एक सूत भी पानी नहीं रहे ऐसा नहीं है और इसी दृष्टान्त के कारण पानी से भरा हुआ कलश कोई ला रहा हुआ दिख जाय तो उसे आप सगुन मान जाते हैं। जल से परिपूर्ण कलश का दिखना सगुन जो माना जा रहा है उसकी मूल बात यहाँ ये उठी। ज्ञानघन आत्मा को निहारना वास्तव में यह ही सगुन है, कहीं मिट्टी पानी सगुन नहीं या कोई आदमी, स्त्री सगुन नहीं है। अरे इस सगुन आत्मा का, ज्ञानघन का यह दृष्टान्तरूप है। ताकि उसे देखकर झट ख्याल आये कि जैसे वह घड़ा अपने आपमें जल से ऐसा भरा है कि घनरूप है। घन उसे कहते हैं कि जिसके बीच में कहीं भी उस सारतत्त्व से रहित स्थान न हो। घन का अर्थ वजनदार नहीं किन्तु जितनी उसकी बोडी है, अवगाहना है, पदार्थ जितने को ओकोपाई किए हुए हैं उस स्वक्षेत्र के अन्दर रंचमात्र भी एक प्रदेश भी ऐसी जगह नहीं है जो उस स्वरूप को घेरे हुए नहीं हो, सो ऐसा जो होता है वह प्रायः वजनदार हो ही जाता है। ठोस लकड़ी जैसे कि कुछ सागौन की लकड़ी दिखती है। तो ठोस लकड़ी कौन। जिसके अन्दर साररहित स्थान न हो, जो पोली न हो और कुछ साधारण एक फसफस जैसी स्थिति न हो तो वह वजनदार तो बन ही जायगी, मगर घन का अर्थ यह है कि उसके बीच में द्रव्यान्तर न होना, अन्य स्वभाव न होना, असार बात न आना। तो यह आत्मा ज्ञानघन है, इस आत्मा के इन प्रदेशों में इस स्वपदार्थ में कहीं भी ज्ञान से रिक्त स्थान या प्रदेश नहीं होता। तो यह आत्मा अमूर्त है, ज्ञानघन है, और जो सहज है, स्वरूप है दर्शनज्ञानमय चैतन्यमात्र उसका ध्यान बने, दर्शन हो, लक्ष्य हो तो समझिये वह एक मोक्षमार्ग है, मोक्ष के अत्यन्त निकट है वह जीव जिसका ज्ञान अपने सहज स्वरूप में बसा हुआ हो वहाँ वैसी स्थिति बन जाती है। विशेष स्थिति तो भयंकर हुआ करती है। जैसे कहीं भी बलबा मच गया तो इसको खबरों में कहते हैं कि अभी साधारण स्थिति नहीं हो सकी। साधारण स्थिति मायने शान्त, संतोष आनन्दमयी स्थिति, तो जब यह ज्ञान अपने सहज ज्ञानस्वभाव में उपयुक्त होता है तो वहाँ साधारण स्थिति बन जाती है। अर्थात् निर्विकल्प केवल ज्ञानस्वरस का ही अनुभव ऐसी आनन्दमयी स्थिति होती है। बस उस स्वरूप को कहते हैं शुद्धनय। शुद्धनय का अर्थ तो है शुद्धतत्त्व को जानने वाला विकल्प। मगर शुद्धनय का जो विषयभूत है उसे भी शुद्धनय बोलते हैं। यह एक बोलने की भाषा है। तो इस शुद्ध अखण्ड तत्त्व का आश्रय करके जो स्वरूप में ही एकाग्रता लाते हैं वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

981- समयसारप्रयोगयोगपौरुषी के प्रायोगिक तीन पुरुषार्थ-

समयसार का प्रयोग बने, अन्तः प्रकाशमान ज्ञानस्वभाव का उपयोग बने, इसके लिए और कितना पुरुषार्थ करना होगा? उन सब पुरुषार्थों में सबसे पहला पुरुषार्थ है कि सर्व जीवों में समता की दृष्टि आना। अगर आत्मा के उस विशुद्ध स्वरूप का उपयोग करना चाहते हैं तो जब तक यह स्थिति न बने- सर्व जीवों में

समता आना, तब तक आत्मा के उस विशुद्धस्वरूप का उपयोग नहीं बन सकता। और, क्यों जी, जितने हम आप मनुष्य बैठे हैं, या जितने भी हैं उन सब मनुष्यों के अन्दर यह मेरा यह गैर, यह अमुक यह तमुक, यों अगर भावना हो और ऐसी बात चित्त में सम्भावना भी हो सकती है क्या? कितनी तैयारी करना, कितना पुरुषार्थ करना कि हम अपने आपमें अन्तःप्रकाशमान इस सहज ज्ञानस्वभाव का अनुभव कर सकते। इसका उद्यम करना है। अब धर्म के नाम पर किसी तत्त्व पर कितने ही पक्ष बनें और वहाँ मैं मैं, तेरा मेरा, ऐसी बात आये तो वह आत्मकल्याण का पात्र नहीं। पहला पौरुष तो यह है। दूसरा पौरुष यह करना कि अपने अपने प्रसंग में, अपने उपयोग में जो जीवन की जो उपयोगी बाह्य बातें हुआ करती है, जिनके कारण विकल्प मचा करते हैं उन समस्त पदार्थों को चेतन हो, अचेतन हो, अणुअणुमात्र समस्त पदार्थों का परपदार्थ जानकर और इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, यह मेरा कोई रक्षक नहीं, ऐसी उन सब बातों को अपने लिए असार जानकर एक चित्त होकर अपने आपके स्वभाव के अभिमुख होना, यह उसका एक बहुत बड़ा पौरुष है। और बन सके ऐसा तो वह अनुभव करेगा, मगर बाधा क्या आती है कि अपने अन्दर वासनार्ये पड़ी हुई है नाना तरह विषयों के उपयोग की अन्य-अन्य बातों की तो उन वासनाओं का परिहार करने के लिए अपना जीवन कैसा विशुद्ध होना चाहिए? वह त्यागमय, त्यागप्रधान, जितने से अपना काम चले वह तो ठीक है, मगर बाहरी ऊलमथूल साधन विकल्प न हो याने फंसाव न बने ऐसी अपनी बाहरी स्थिति होनी चाहिए। बस इसको बताता है चरणानुयोग। अभक्ष्य का त्याग, कम खाना, रात्रिभोजन का त्याग, और-और, जीवदया करना, इस तरह से जिनका चित्त सुवासित है वहाँ ये वासनार्ये परेशान न करेगी और हम अपने स्वभाव की अनुभूति में सफल हो जायेंगे। तो ये तीन तरह की बातें अगर हम कर सके, प्रयोग में ला सके तो किसी क्षण हम अपने उन स्वरूप का अनुभव पा लेंगे कि जिसके बाद यह निश्चय है कि नियम से मोक्ष होगा। संसार के जन्म मरण के संकटों से हम सदा के लिए निश्चय से छूट जायेंगे। कभी भी हम संसार से छूटें, निकटकाल में तीन बातें आयेंगी।

982- सर्वजीवों में साम्यभाव पुरुषार्थ की ज्ञानवृत्ति-

सर्व जीवों में आत्मस्वरूप को निरखना और उस स्वरूप की दृष्टि करके सर्व जीवों में समता का भाव आना यह बहुत बड़ा कठिन तपश्चरण है। जरा सी कोई प्रतिकूल बात निहारते हैं तो हम उसमें उद्विग्न हो जाते हैं, मगर यह जानें कि उसके प्रतिकूल जो यह चेष्टा है तो इससे आगे इसका क्या अपराध? इस आत्मा को क्या जरूरत पड़ी है? यह आत्मा तो सहज निरपराध चैतन्य स्वरूप है, पर कर्मविपाक की ऐसी छाया है कि उसमें ऐसी अटक चल रही है, पर यह मूलतः स्वभावतः निरपराध है। सर्व जीवों में समता की बुद्धि चाहिए। यह है मूलमार्ग, पर इसकी उपेक्षा करके कोई धर्म में बढ़ना चाहे कि हम प्रयोगात्मक कुछ लाभ पा लें तो वह कठिन है। तो स्वरूपदृष्टि का ऐसा दृढ़ अभ्यास बने कि सर्व जीवों को किसी को भी देखें तो पहले स्वरूप दिखे, पीछे गड़बड़ी दिखे। एक धुन ही तो होती है। जिसको जिसकी धुन होती है उसको वही

सब दिखता है। एक खवास (नाई) बादशाह की हजामत बना रहा था। तो देखा होगा आपने कि खवास लोग बाल बनाते समय बातें बहुत किया करते, तो बादशाह से भी बहुत-बहुत बातें कर रहा था। बादशाह ने पूछा- खवास जी, सच बताओ हमारी नगरी की जनता सुखी है या दुःखी? तो खवास बोला- महाराज आपकी नगरी में सारी जनता सुखी है। घी दूध की तो बहुत नदियाँ बहती हैं। बादशाह ने समझ लिया कि सचमुच यह सुखी है, इसके पास घी दूध का अच्छा साधन है, तभी तो उसकी सारी जनता सुखी दिखाई देती है। पूछ बैठा बादशाह- बताओ तुम्हारे पास कितनी गाय भैंसे हैं? तो खवास बोला- महाराज हमारे पास सैकड़ों की संख्या में काफी-काफी गाय दूध देने वाली भैंसे हैं।...ठीक है। अब बादशाह ने क्या किया कि कुछ थोड़ा सा आरोप लगाकर उस खवास की सारी गाय भैंसे जब्त करवा ली। कुछ दिन बाद फिर वही खवास बादशाह की हजामत बनाने आया। वहाँ बादशाह ने पूछा- कहो खवास जी, हमारी नगरी की सारी जनता सुखी है या दुःखी? तो वहाँ खवास ने जवाब दिया महाराज- आपकी नगरी की सारी जनता बहुत दुःखी है। घी दूध के तो किसी को दर्शन भी नहीं होते। तो जिसके मन में जैसा है उसको वैसी बात बाहर में दिखती। अभी कोई बड़ा दुःखी हो, वह कहीं जा रहा हो, रास्ते में उसे कोई हंसते बोलते लोग दिख जायें तो वह तो यही सोचता कि ये सब बनावटी हँस रहे, अन्दर से दुःखी है। और ऐसी ही अगर कोई बड़ा खुश हो, उसे कोई दुःखी लोग दिखें तो वह सोचता कि ये लोग बनावटी दुःखी हो रहे, अन्दर से ये सब खुश हैं। तो ऐसी ही बात सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष की है। ज्ञानी पुरुष को अपने सहज ज्ञानस्वरूप का ऐसा दृढ़ अभ्यास है कि उसको सब जीवों में उस सहज स्वरूप के सर्वप्रथम दर्शन होते हैं। बाद में जब चेष्टायें दिख रहीं, घटनायें दिख रही तो यह जंचेगा कि यह सर्व कर्मविपाक का फल है। तो सबसे पहली बात है सर्व जीवों में समता आना।

983- समयसारदर्शी का अनात्मत्वसन्न्यास-

समयसारदर्शी का दूसरा पौरुष है अपने जीवन को एक त्यागमय बनाना। अगर त्याग करना बेकार और फोकट है तो बेकार और फोकट बात करने में क्यों कठिनाई महसूस की जा रही है? सबका एक निर्णय है कि जो बेकार है सो उसको धारण करने में भीतर कठिनाई महसूस नहीं होती है। वह क्यों होती है कि इन्द्रिय के विषय भीतर से सता रहे हैं, वे छोड़े नहीं जा सक रहे तो फिर बाहरी थोड़ा त्याग कैसे बन सकता है? यह स्वभाव की अनुभूति की सही बात कह रहे हैं। कैसे अनुभव की पात्रता आती है। तीसरा पौरुष यह है कि जिन-जिन साधनों में हमें रहना पड़ता है, घर है, दूकान है, मील है, परिजन है, जो-जो भी साधन हैं उन सब साधनों में सबको एक बराबर, एक समान, एक साथ परतत्त्व जानकर यह मेरे आत्मा में क्या कर सकता है। मेरे इस ज्ञानस्वरूप आत्मा की ये कोई परिणति बना देंगे क्या? कुछ भी नहीं कर सकते हैं, तब उसके विकल्प करके मैं अपने में विकल्प क्यों करूँ और स्वानुभव का अवसर क्यों खोऊँ। एक ही साथ मेरे तो सबका त्याग है। मैं अपने इस सहज अंतस्तत्त्व को ही निरखूँ, ऐसा एक दृढ़ संकल्प बनाकर स्वभाव के

अभिमुख हों तो वह वहाँ एक ऐसी साधारण स्थिति पा लेगा कि जिसमें क्लेश का काम नहीं, आनन्द का सहज अनुभव है। ऐसा पुरुष समयसार का अनुभव कर सकता है। समयसार मायने आत्मा का विशुद्ध सहज निरपेक्षस्वरूप।

984- अन्तस्तत्त्व के रुचिया की रागादिमुक्तमनस्कता-

समयसार दर्शन की पात्रता तब आ पाती है तब सर्वजीवसाम्यभाव व सकलसन्न्यास प्रयोग में आ सके। कभी समयसार ग्रन्थ हाथ में ले लिया, दो लकीर बाँच लिया, इतने से बात नहीं बनती या समयसार विवेचन करने वाले कुछ हर्ष दिखाकर, उछल कुंद कर वहाँ बाँचने लगे तो उनको उससे कहीं अनुभव नहीं होता। अपने में अगर सर्वजीव समता अनात्मत्वसन्न्यास व संयम प्रयोग में आ पाते हैं तो अनुभव हो, जिसको ज्ञानज्योति जग गई वह तो अकेला ही रहना चाहता है, अकेला ही निवास चाहता है। उसको बाहरी बातें सब कीचड़, विपत्ति, आफत जंचती है, क्योंकि सार कुछ है नहीं और फंसाव बड़ा हो जाता है। यह उसके ध्यान में है। ज्ञानदृष्टि श्रावक के ध्यान में है कि परिजन, वैभव, अन्य-अन्य बातें, इनके संग्रसंग में मेरे इस परमार्थ आत्मा का कोई भला नहीं है। जिसे वास्तविक भलाई कहते हैं और उसमें विघ्न बन रहा है। केवल एक ही तत्त्व इस ज्ञानी को रुचा है, दूसरी कोई बात नहीं रुची। उसको स्पष्ट बोध है कि घर में रहने वाले दो चार जीव स्वतंत्र सत्ता वाले हैं इसके ही भाव के अनुसार इसका कर्मबन्ध है, इसके ही उदय के अनुसार इसकी सांसारिक स्थिति है। इसके ही वीतराग परिणाम आये तो यह मोक्ष पायेगा। सब कुछ इसका इसके भाव पर ही निर्भर है, उसमें मेरा रंच भी दखल नहीं, ऐसे ही सब कुछ भवितव्य मेरा मेरे पर ही निर्भर है, मेरे भाव पर ही निर्भर है। यहाँ भी किसी का दखल नहीं। तब ऐसे ये सब पदार्थ स्वयं अपने आपमें नंगे-नंगे रहा करते हैं। जब ऐसे ये पदार्थ स्वयं अपने आपमें नंगे रहा करते हैं, तो मतलब नहीं किसी का किसी दूसरे से तो फिर वह जीव अपने आपको कर्मस्वभावरूप से बनाकर क्यों दुःखी होता है? यह ज्ञान अपने ज्ञान को ज्ञान स्वभावरूप से बनाकर क्यों नहीं सर्वसंकटों से मुक्त होता? उसकी दृष्टि में यह अपना शुद्ध सार तत्त्व आया है तो अब उसे बाहर में कुछ भी रुचिकर नहीं है। हाँ परिस्थितियाँ होती हैं ऐसी कि उन्हें करना पड़ता है, परमार्थ रुचि केवल अपने अंतस्तत्त्व में है। तो जो जीव इस शुद्धनय का, इस अंतस्तत्त्व का, किसका? जिसका कि उन्नत ज्ञान ही चिह्न है याने जिसको कोई रोक नहीं सकता ऐसा उद्वत ज्ञान वही जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्धनय का सहारा लेकर जो एकाग्र मन से उसही का संग्रह करता है ज्ञान में लेता है वह पुरुष रागादिक से मुक्त मन वाला हो जाता है।

985- करणानुयोग व द्रव्यानुयोग में निरास्रवता बताने का विभिन्न वर्णन होने पर भी अविरोध-

देखो करणानुयोग की दृष्टि से याने वास्तविकता से ज्ञानी के भी और प्रमत्त अवस्था तक अधिक रूप से उसके संग चल रहे हैं अपने अपने भाव के अनुसार, तो भी मन रागादिक से मुक्त है। श्रद्धा में तो रागादिकरूप निराला ज्ञानस्वरूप ही मेरे लिए सर्वस्व है, इस कारण द्रव्यानुयोग में सम्यग्ज्ञान जगने पर

भेदविज्ञान प्रकट होने पर यह ही वर्णन आता है कि ज्ञानी के रागादिक छूट गए। रागद्वेष अब असम्भव हैं, इसलिए वे निराश्रव हैं। देखो करणानुयोग से द्रव्यानुयोग का विरोध नहीं। करणानुयोग तो सूक्ष्म और स्थूल, बुद्धि और अबुद्धिपूर्वक सब घटनाओं का वर्णन करता है। और द्रव्यानुयोग कुछ बुद्धिपूर्वक जो घटनायें हैं उनका वर्णन करता है और इतना काम ही बुद्धिपूर्वक बनता द्रव्यानुयोग से, शेष है अबुद्धिपूर्वक, पर इसकी बात क्या चलाना, वह तो अपने आप नष्ट होगा। हम ज्ञान को अपने स्वभाव की ओरले जायें तो बुद्धिपूर्वक हमने यह पुरुषार्थ किया और बुद्धिपूर्वक वहाँ आस्रव नहीं। तो रागादिक भावों से जिनका मन मुक्त है वे सतत ऐसे ही विविक्त होते हुए इस बधविधुर समय के सार को देखते हैं। वह अखण्ड तत्त्व, वह सहज ज्ञानस्वरूप, वह शक्तिरूप वह बंध से निराला है, वहाँ बन्ध का क्या काम? पदार्थ में जब सत्ता है तो सत्ता तो अपने आप है ना निरपेक्ष है ना? उस सत्त्व में क्या बंध पड़ा है, भले ही स्थिति है बंध की, स्थिति है राग की, मगर स्वरूप को देखें तो स्वरूप में बन्ध नहीं है। अगर स्वरूप ही बंध वाला हो तो मोक्ष की चर्चा करनी भी व्यर्थ है, क्योंकि स्वरूप कभी मिटता नहीं। सो बंध स्वरूप नहीं है। ऐसे बंध से विविक्त अंतस्तत्त्व के सार को वे पाते हैं। जिसकी जो श्रद्धा, जिनकी जहाँ लगन, जिसको जो समाया हुआ है सो कारणवश दूसरी बात में भी लगना पड रहा हो तो भी प्रतीति निरन्तर है उसकी, जिसकी ओर लगन है और अवसर पाकर तुरन्त ही उसकी ओर शीघ्र पहुंचता है। जैसे जिसको किसी इष्टवियोग की चोट लग गई हो, खाना उसे भी पड़ता है, व्यवहार भी उसे करना पड़ता, मगर धुन तो उस ही की लगी रहती है।

986- स्वभावानन्द व भवभय के परिणाम का फल-

बताया है कि जो साधुजन होते हैं प्रमत्त विरत गुणगान वाले उनको नींद, अधिक नहीं आती, अल्प निद्रा बतायी है। आप सोचते होंगे कि कारण क्या है जो उनको कम नींद आती। अच्छा तो साधुओं की बात छोड़ो, और की बात बताओ, जिसको नींद नहीं आती और कभी कभी तो रात भर भी नींद नहीं आती उनको क्या कारण है? तो उनको नींद दो कारणों से नहीं आती। एक तो किसी बात का भय हो या किसी बात की उमंग हो, देखो अगर उमंग हो तो भी रातभर नींद नहीं आती। कोई ऐसा ममता परिणाम हो जाय, कोई जैसे मान लो एम. पी. निर्वाचन में खड़ा है, आ गया रिजल्ट, हो गया निर्वाचन में सफल तो उसे उमंग के मारे रातभर नींद भी नहीं आती। और, चिन्ता, भय लग जाय तो उसमें भी नींद नहीं आती। यह ही बात मुनि महाराज की है। उनको भय इतना लगा कि उसके मारे उन्हें नींद नहीं आती। काहे का भय लगा है? संसार में रुलने का, इस जन्ममरण की परम्परा का, इस भवधारण करने की विपत्ति का उनको भय लगा है, यह कैसे मिटे, यह बड़ा खतरनाक है, और उमंग किसकी है? अपने आपमें सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन हुए हैं और उसका एक अलौकिक आनन्द पाया है तो उस आनन्द के कारण इतना विभोर रहता है, इतनी उमंग रहती है कि उनका यह ही चाव रहता है कि मैं उस शुद्धनय के आश्रित होने वाला अद्भुत आनन्द वही-वही मेरे वर्तो, प्रक्रिया वही, प्रयत्न वही, तो स्वभावदर्शन में तो उमंग और भव भ्रमण का भय, ये दो स्थितियाँ मुनिराज की हैं सो

उनके भी नींद नहीं आती। चूँकि शरीर है तो झपक तो आ ही जाती है, तो ये दो बातें अपने में पैदा करें। शायद आप सोचते होंगे कि यह तो अच्छी बात बतायी कि जिससे हमको नींद भी न आये, आराम से सो भी नहीं सकते। अरे, थोड़ा उमंग बनावें तो सही अपने आपके स्वभावदर्शन की, फिर अनुपम सहज आनन्द पावेंगे, नींद की क्या फिकर?

987- अन्तस्तत्त्व की शरण गह कर दुर्लभ नरभव को सफल करने का संदेश-

मेरा शरण केवल मेरा स्वरूप है, उसकी ओर मेरी बुद्धि हो, वही मेरा ज्ञान बना रहे, बाहरी विकल्पों में उलझे नहीं तोइसको आनन्द यहाँ ही है। अन्यथा, यह बात अगर नहीं बन सकती तो यह न सोचो कि हम मनुष्य हो गए हैं सो जैसे कि लोग सोचते हैं कि मैं तो अब मरकर मनुष्य ही बनूँगा। यदि मरकर बन गए और कुछ, घटने का काम बने, तो...। अज्ञानी जीव की ऐसी स्थिति है कि यह घटे तो तुरन्त निगोद हो सकता, एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक हो सकता, अन्य जीव की बात तो ऐसी है कि उनमें कुछ नियंत्रण है कि ये ये ही बन सकेंगे और कुछ नहीं। जो देवगति के जीव हैं वे मनुष्य या तिर्यञ्च गति ही पा सकते हैं, नारकी और देव नहीं बन सकते। नरकगति में जीव मरकर मनुष्य या तिर्यञ्च ही बन सकते, नारकी या देव नहीं हो सकते। छोटे-मोटे सभी जीवों में ऐसा नियंत्रण है, मगर मनुष्यों के लिए कोई नियंत्रण नहीं है। एक मनुष्य सामान्य के लिए बात लीजिए। एकेन्द्रिय से लेकर समस्त पञ्चेन्द्रिय तक ये जन्म ले सकते हैं, नरक में, देवों में, चारों गतियों में। और, इनका बल बने तो ये मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। यह सब मनुष्यों की बात कहा जा सकती। पंचमकाल के मनुष्यों पर ही दृष्टि नहीं है। आज यह दुर्लभ मानव जीवन पाया तो इस भव से मोक्ष नहीं बनता तो न सही मगर इसका पौरुष हम इस भव में भी बना सकते हैं, वह बना लें, फिर अपने आनन्द का आनन्द होगा। इन बाहरी बातों में, हठों में, इनमें पड करके अपने जीवन को व्यर्थ गमा देने में चतुराई नहीं है, चतुराई अपने आत्मकल्याण का काम बनाने में है।

कलश 121

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
 रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः ।
 ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
 द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥121॥

988- शुद्धनय से च्युत पुरुषों की विडम्बना-

अपने आपको पर से निराला और अपने स्वरूपमात्र ज्ञानज्योति रूप में निरखना यह कहलाता हैशुद्धनया। इस शुद्धनय की बात कोई छोड़ दे, उस शुद्धता से गिर जाय तो क्या बात बनेगी? चूँकि अपने ज्ञान से तो हट गया तो रागादिक के साथ उसका सम्बन्ध बनेगा। यदि अपने आपके स्वरूप में लगा है तब तो वह सही है और स्वरूप से च्युत हुआ तो रागादिक के साथ सम्बन्ध बना। जब रागादिक के साथ सम्बन्ध बना, तो कर्मबन्ध को करता है। कर्म का कहाँ बँध होगा? कर्म किससे बंधते है जो पहले बाँधे हुए कर्म है उन कर्मों से बंधते है। पर उनके इस निमित्तयोग में निमित्त है साक्षात् द्रव्यप्रत्यय और द्रव्यप्रत्यय में नव्यकर्मास्रव का निमित्तत्व आवे इसका निमित्त है विकारभाव। विकारभाव की सब अनर्थों की जड़ है। तो यहाँ यह बतलाया जा रहा है कि हम सबका कर्तव्य है कि अपने आपको इस तरह निरखें कि मैं तो केवल ज्ञानज्योति स्वरूप हूँ शरीर से भी निराला समस्त अन्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव से जुदा ज्ञानज्योति मात्र हूँ ऐसा अपने आपको निरखें तो यह जीव शिवमार्ग में है और जहाँ अपने आपके स्वरूप से च्युत हुआ कि यह रागादिक बन्धन में पड जाता है। अब दो स्थितियाँ है- एक तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूप में निरन्तर नहीं लग पाता, तो अपने स्वरूप से वह हट गया। एक तो ज्ञानी की स्थिति और एक मिथ्यादृष्टि की स्थिति कि अपने स्वरूप की श्रद्धा भी खो दी और अज्ञानभाव में आ गया। अपने स्वभाव से हटने में दोपरिस्थितियाँ हुआ करती हैं। एक तो अज्ञानी बन करके अपने स्वरूप से हट गया, दूसरे ज्ञानी रहता हुआ भी अपने स्वरूप में उपयोग न रख सका। तो इन दोनों में बंध तो है, ज्ञानी भी अपने स्वरूप से हटा हुआ है, तो उसके भी बंध है, मगर मिथ्यात्व वाला बंध नहीं है, अल्पबंध है। और, जो अज्ञानी ही बन गया, मिथ्यादृष्टि ही बन गया उसका बंध मिथ्यात्व वाला बंध है। मगर बंध है दोनों में। इसीलिए यह प्रेरणा दिलाई जाती है कि तुम अपने स्वरूप की प्रतीति किये रहो और भरसक पौरुष करो कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा एक अपने अन्दर स्पष्ट करें। जैसे पतंग दूर उड़ गया, उसकी डोर हाथ में है तो पतंग दूर नहीं गया, ऐसे ही उपयोग अगर किसी कारण से घर में, दूकान में, सेवा में, अन्य बातों में जाय और प्रतीति रहे अपने आत्मा की कि मैं यह आत्मा उपयोग नाम का केवल पतंग मात्र हूँ तो आपका उपयोग पतंग की तरह अपने आश्रित है। एकदम जैसे डोर टूट जाय तो पतंग हाथ नहीं आती, कहीं की कहीं पड़ती।ऐसी स्थिति ज्ञानी की नहीं है, यह अज्ञानी की स्थिति है कि डोर उसकी टूट गई, पतंग कहीं पहुंच गई। तो ज्ञान ही एक अपने को शरण है। ज्ञानमय अपना एक भाव रहेगा तो अपने आपका उद्धार होगा। जगत में कोई दूसरा उद्धार का साधन नहीं है।

989- कर्मबन्ध का कारण शुद्धस्वरूप से प्रच्यवन-

क्या स्थिति यहाँ वर्णन में चल रही है कि ऐसा जीव जिसने अपने ज्ञानोपयोग से हटकर बाहरी पदार्थों में लगाया है, ऐसे जीव तो अनन्तानन्त हैं जगत में। उनके खराब परिणाम का निमित्त पाकर ये कर्म नाना प्रकार से बँध जाते हैं, जैसे भोजन किया तो पेट के अन्दर भोजन पहुँच गया। अब उसके बाद उसकी सारी क्रियायें अपने आप होती हैं। उस भोजन का कौनसा हिस्सा क्या बनता है, कोई अंश खूनरूप बनता है, कोई हड्डीरूप

बनता है, कोई वीर्य रूप बनता है कोई किसी रूप...ऐसे ही जहाँ यह कषायभाव जगा और वहाँ कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणामी तो कुछ वर्गणायें ज्ञानावरणरूप बनीं, कुछ दर्शनावरण बनीं और उनमें अनुभाग भी वैसा ही बना, तो ऐसे 8 प्रकार के वे कर्म बँधते और 8 ही नहीं, उस 8 में और भी भेद हैं, उतने प्रकार के कर्म बँधते। जैसे सकल सबकी एकसी नहीं होती। मनुष्य होते सभी एक ही ढंग के अंगोपांग वाले फिर भी ये जो जो कुछ भेद नजर आते समझो उतने कर्म के उदय हैं। कर्म 8 नहीं हैं। कुछ विसम्वाद है, तो समझो कि उसका निमित्तभूत कर्म उस ढंग का है, तो कर्म केवल 8 नहीं, केवल 148 नहीं, अनगिनते प्रकार के कर्म हैं। उन्हें बताया कैसे जाये? तो उनको उनकी जाति में अन्तर्भूत करके बताया गया है। क्योंकि जितने भी विषम कार्य होते हैं वे किसी पर निमित्त के सन्निधान बिना नहीं हो सकते। ऐसे ही हर एक लौकिक बात में लगा लो। तो जो कर्मजाल नाना प्रकार के बँधते हैं उनका निमित्त यह है कि यह जीव अपने स्वभाव का आश्रय न करे, अपने आश्रय में इसका उपयोग न रहे और बाहर बाहर उपयोग चले तो नाना प्रकार के कर्मबंध इसके हो जाते हैं।

990- शुद्धनय के त्याग से बन्ध और शुद्धनय के आश्रय से अबन्ध-

कलश 122

इदमेवात्र तात्पर्य हेयः शुद्धनयो न हि ।

नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि ॥122॥

यहाँ तात्पर्य यह है कि शुद्धनय कभी छोड़ना न चाहिए, यह हेय नहीं है, अपने आत्मा में निरपेक्ष विशुद्ध स्वरूप की दृष्टि त्यागने योग्य नहीं है। अपने स्वरूप की दृष्टि न त्यागो। मैं ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ, ऐसा अपना अनुभव बनेगा तो बंध न होगा और यदि उस शुद्धनय का त्याग कर देंगे तो नियम से बन्ध होता है, बस इस संसार में रुले बँधे फंसे उसका कारण है अपने को अपने स्वभावरूप न मान पाना। अन्य रूप से माना जाना बस यही आपकी बड़ी दुर्गतियों का कारण है। कुछ लोग तो सुनकर अचरज कर सकते हैं कि इस जीव ने ऐसा क्या अपराध किया। अगर मान लिया किसी पदार्थ में कि यह मेरा है तो इतनी ही बात तो उसके अन्दर आयी, मगर इतना कठोर दण्ड क्यों मिल रहा कि यह जीव मरकर पशु बन जाय, कीड़ा बन जाय, वृक्ष बन जाय। इतना कठोर दंड इतने से परिणाम का मिल गया कि परपदार्थ को मान लिया कि यह मेरा है ! हाँ मिल गया। यह परमात्मप्रभु भगवान आत्मा बहुत पवित्र अंतस्तत्त्व है। इसमें किसी प्रकार का विकार तरंग नहीं, यह इस पर बहुत बड़ा भारी अन्याय है जो अपने स्वरूप से चिगकर किसी बाहरी पदार्थ में कोई बुद्धि ममता रखे, तो उसमें इतना विचित्र कर्मबन्ध होता कि उसके उदय में यह जीव एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक

अनेक तरह की दुर्गतियों को प्राप्त करता है। अब अपने अपने उपयोग को सम्हालें कि हम अपने स्वरूप से कितना बिछुड़े हुए रहते हैं और चिग करके हम अपना कितना विनाश कर रहे हैं। साथ कोई दूसरा तो नहीं होने का, जो बाह्य पदार्थों में तृष्णा करे, ममता करे, उसे ही सब कुछ माने, दूसरे को कुछ न समझे, ऐसी जो वृत्ति है वह बहुत बड़ी खोटी वृत्ति है। उससे कभी भी अपना उद्धार नहीं है। इसलिए एक बार तो सबसे निराला अपने को निर्भार अनुभव कर लें- मैं समस्त भार से रहित केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ, तो स्वरूपदृष्टि रहेगी, शुद्धनय का त्याग न रहेगा तो उसका बन्धन नहीं, यदि स्वदृष्टि त्याग दी केवल बाहरी-बाहरी साधन ये भोग ये उपभोग जहाँ बाहर चित्त गया तो जैसे मछली पानी से निकलकर बाहर रेतीली जमीन पर पड जाय तो जैसे उसका भला जीवन नहीं, तड़फ-तड़फ करके मरेगी ऐसे ही हम आप सभी जीव अपने स्वरूप से चिगकर, अपने ज्ञानस्वभाव का आश्रय तजकर बाहरी पदार्थों में उपयोग लगाये रहें तो उस मछली की तरह बुरी तरह तड़फेंगे और अपना जीवन यों ही बेकार करेंगे एवं संसार परम्परा बढ़ायेंगे।

991- दुर्लभ मानवजन्म के अवसर का सदुपयोग न करने का विषम फल-

आज हम मनुष्य हैं तो कुछ बोध है, कुछ समझते हैं, हम आपको कुछ समझा सकते, आप ही कुछ समझा सकते हैं, ये सब बातें चल रही हैं और मनुष्यभव के बाद मानो कीट पतिंगा हो गए तो वहाँ सब बातें एकदम खतम हो गई। क्या दिखती नहीं हैं इन जीवों की दशायें? इन जीवों की दशा देखकर भी हम नहीं चेतते। एक बार एक पुरुष किसी शराब वाले की दूकान पर गया- दूकानदार से पूछा भाई विलायती शराब होगी क्या आपके पास?...हाँ है।...खूब अच्छी है ना? हाँ-हाँ खूब अच्छी है।...अजी हमको तो बहुत ही अच्छी चाहिए?...हाँ हाँ बहुत ही अच्छी होगी। और यदि आपको विश्वास न हो तो चलो इसका साक्षात् प्रमाण भी तुम्हें दिखा दें कि हमारे यहाँ कि शराब अच्छी है कि नहीं, चलो, देखो वे जो नाली में गंदगी में पड़े हुए जोग हैं, जिनके मुख में कुत्ते भी मूत रहे, जो बेहोशपड़े हैं उनको देखकर अनुमान कर लो कि हमारे यहाँ की शराब अच्छी है कि नहीं। तो ऐसे ही इस जगत के इन दुर्गतियों में पड़े हुए जीवों को देखकर कुछ विश्वास कर लें, इन पशु पक्षी एकेन्द्रिय आदिक, गधा सूकर आदिक दुःखी जीवों को निरखकर ही ऐसा अंदाज बना लो कि मोहरूपी मदिरा का पान करके ऐसी-ऐसी दुर्गतियाँ जीवों की हो जाया करती हैं। वह क्यों है? यों ही तो है कि अपने शुद्धस्वरूप से च्युत हो गए और बाहरी पदार्थों में रागादिक बना डाला। उनका यह फल है कि ये नाना प्रकार के कर्मबन्ध होते हैं।

992- शुद्धनय के त्याग की दो स्थितियां-

शुद्धनय के त्याग में दो अन्तर हैं, एक तो ज्ञानी अपने स्वभाव से हट गया और कहीं बाहर लग गया तो वह तो थोड़ी-थोड़ी देर की स्थिति है। और, तब भी अपनी प्रतीति सही है, उसमें भी बंध तो होगा मगर थोड़ा बंध होगा। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी सम्बन्धी न होगा। और कदाचित् कोई ज्ञान से बिल्कुल च्युत हो जाय याने सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि बन जाय तो अज्ञान हो गया। उसके रागादिक, ऐसा अधिक योग बनता

है, वहाँ फिर यह जीव अपने स्वभाव से ऐसा चिग जाता कि मिथ्यात्व अनन्तानुबंधीकृत उसके बंधन चलता है। तो हर प्रकार, हर एक पुरुषार्थ से अपने को चाहिए कि चिग भीजाय तो भी उसी की ओर लगे। जैसे चींटी भीत पर चढ़ती है, गिरती है फिर भी चढ़ना नहीं छोड़ती, ऐसे ही हम अपने स्वभाव की ओर अभिमुख होने का प्रयत्न करें, गिर भी जायें, फिर भी प्रयत्न करते रहें, उसके लिए बाहरी बातों के प्रसंग त्यागे। कुछ करना पड़े अपने लिए तो करें, इसमें रखा क्या? जैसे कोई-कोई आदमी ऐसे होते कि उनको बतावो कि इसमें बड़ा दोष है जैसे गोभी का फूल, उसे अगर किसी को छोड़ने को कहा जाय तो कहते कि भाई हम तो इसे नहीं छोड़ सकते। तो वह सब बेकार बात है गोभी के फूल का तो त्याग करना ही चाहिए। ऐसे ही आत्महित की दृष्टि से इन बाहरी पदार्थों का त्याग, संयम प्रसंग ये करने ही चाहिये, चरणानुयोग की आज्ञा है तो वे साधारणरूप से भी कठिन क्यों लगते? यह भी कर सकते हैं क्योंकि धुन है कि मैं अपने शुद्धनय को न छोड़ूँ तो अपने आपके शुद्धनय से मायने आत्मा के सहजस्वरूप की दृष्टि से हम कहीं च्युत न हो पायें, प्रतीति से च्युत न हो पायें, ऐसी अपनी निरन्तर भावना होनी चाहिए।

कलश 123

धीरोदारमहिम्ननादिनिधने बोधे निबध्नन्धृतिं
 त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वङ्कषः कर्मणाम् ।
 तत्रस्थाः स्वमरीचिक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्बहिः
 पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥123॥

993- संसारी प्राणियों की दुःखमयता-

अपने आपका कल्याण किस स्थिति में है, ध्यानपूर्वक सुनो- एक बार भी अगर अपना यह ज्ञान इस निज ज्ञानस्वरूप में रम गया तो समझ लीजिए सदा के लिए संसार का संकट टल गया- अन्यथा यह बतलाओ, जन्मे मरे, फिर दूसरी जगह जन्मे फिर मरे तो ऐसा जन्म मरण का ताँता लेकर कौनसा कल्याण पा लिया जायगा? दुःख ही दुःख है, जन्म का दुःख, मरण का दुःख, और जन्म मरण के बीच की जो जिन्दगी है उसमें भी दुःख। जैसे बाँस का पोर होता है उस पौर के भीतर कीड़ा फंसा हो और बाँस के दोनों तरफ लग जाय आग तो कीड़े की दशा क्या होती है? ऐसे ही समझ लो कि हमारा जीवन है मध्य तथा उसके दोनों तरफ लगी है जन्ममरण की आग, तो एक तरफ जन्म की आग, एक तरफ मरण की आग, और इसके बीच की जो जिन्दगी है वह महाकष्ट से भरी हुई है। तो ऐसे इस जीवन से कौनसा हित पा लिया जायगा? इसलिए उचित तो यह है कि एक ही बार में पूर्ण श्रद्धा के साथ यह स्वीकार कर लो कि मेरा तो ज्ञानस्वरूप के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, अन्य मेरा कुछ नहीं।

994- आत्मज्ञान से ही शान्ति की संभवता-

अपने आपमें आने के लिए क्या करना? देखो निरखो अपने ज्ञानस्वरूप को। यह ज्ञानस्वरूप धीर है, उदार है, महिमा वाला है। मेरे लिए महान मेरा यह सम्यग्ज्ञान है। हाँ जब यह सम्यग्ज्ञान अपने आपके स्वरूप में नहीं रहता है और रागद्वेष की तृष्णा में कोई तरंग चलती है तो यह जीवन दुःखमय हो जाता है। सो थोड़ा भेदविज्ञान की बात रहेगी चित्त में तो शान्ति रहेगी और भेदविज्ञान की बात चित्त में न रहेगी तो कुछ भी कमा लें, राज्य पा लें। करोड़ों का वैभव पा लें, शान्ति उसको नहीं मिल सकती। शान्ति देने वाला वैभव नहीं है। शान्ति देने वाला तो आत्मज्ञान है। चाहे आज शान्ति पाने का उपाय बना लें चाहे कुछ भव बाद, मगर शान्ति पाने का उपाय तो केवल आत्मज्ञान है, केवल आत्मवैभव है। सो धीर, उदार, महिमा वाला यह अनादि अनन्त मेरा ज्ञानस्वरूप है। उसमें मैं अपने को लगाऊँ। उसमें मैं धीरता बाँधू याने मेरी दृष्टि अपने आपके उस ज्ञान प्रकाश पर रहे और फिर यह बोध, यह शुद्धनय यह कभी त्याज्य न रहे, हेय न रहे, दृष्टि में रहे, प्रतीति में रहे। यह संसार बड़ा दुःखमय है, और रंच दुःख भी नहीं है। जहाँ बाहर देखा वहाँ दुःख हो गया, जहाँ भीतर निरखा, बस सारे दुःख शान्त हो गए। जिन भगवान की हम पूजा करते हैं वे पूर्ण आनन्दमय हैं। और, इन्होंने क्या किया? बाहर की दृष्टि त्यागी, अपने आत्मा में दृष्टि लगायी, उसके प्रताप से केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, अब सारे लोकालोक को वे युगपत् जान रहे हैं और अपने आनन्द में निरन्तर लीन रहते हैं। यह है प्रभु का स्वरूप, और ऐसा ही मेरा स्वरूप स्वभाव है। जैसा उपाय प्रभु ने किया वही उपाय हम आप कर सकते। तो मेरे को भी यह आनन्द प्राप्त हो सकता है। सदा के लिए संकट मिट जायेंगे। इस ओर उमंग क्यों नहीं लायी जाती? मुझे तो अपने आत्मा में बसे हुए सहज परमात्मतत्त्व की उपलब्धि करना है।

995- शुद्धनय की सर्वकषता-

यह शुद्धनय, आत्मदर्शन, बाहर के विकल्प त्यागकर अपने को केवलज्ञानस्वरूप निरखना यह समस्त कर्मों का सर्व कष है। मायने परविकल्पों का यह सर्वप्रकार से करने वाला है, विनाश करने वाला है, प्रलय कर देगा, जो विभाव हैं, जो कर्म हैं उनका प्रलय कर देगा। अपने को ऐसा निरखना कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान ही मेरा वैभव है, ज्ञान के सिवाय परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है, ऐसा दृढ़ निर्णय बनाये बिना शान्ति का मार्ग तो पा नहीं सकते, बाकी जैसी जिन्दगी चलती है चलती रहेगी। जिन्दगी पार हो जायगी, फायदा क्या पा लिया जायगा? इसके बाद जीवन, फिर वही पाटी, फिर वही मरण। और, कहाँ कहाँ जीवन, कहाँ कहाँ मरण, कहाँ बुद्धि लग रही है। सर्व ओर से अपनी बुद्धि को संहत करके अपने आपमें निरखें कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी दृष्टि दृढ़ तो बनायें, उसमें नुकसान कुछ नहीं होने का। क्योंकि धन वैभव की कमाई यह कोई आपके हाथ से नहीं हुई, आपके दिमाग से नहीं हुई। जिन जिनके उपभोग में वह वैभवआता है उनके पुण्य का उदय है जिससे आपको आपकी सेवा करनी पड़ती है, और काम बन जाता है। अपने आपके स्वरूप की ओर अभिमुख होने का काम रहेगा तो पुण्यकर्म बढ़ेगा, घटने की बात नहीं है, और जितने

भवशेष हैं इस जगत में उन भवों में आराम से रहेंगे। और फिर देखना होगा कि जो जीव मुक्त हुए हैं उनमें प्रायः सभी जीव उत्सव सहित मुक्त हुए हैं। कुछ मुनिजन ऐसे जरूर हैं जिन पर उपसर्ग आये, उपद्रव आये और फिर उनको मुक्ति मिली। मगर ऐसे बिरले हैं। बाकी तो किसी का निर्वाण कल्याणक मनाया गया, किसी का कुछ उत्सव मनाया गया। इस तरह मुक्त होने वाले बहुत हैं, क्योंकि है ही ऐसा। आपके घर का बच्चा विलायत जा रहा हो तो आप उसे बड़ा उत्सव समारोह मानकर भेजते हैं और फिर इस संसार में रहने वाला कोई एक जीव इस संसार घर से सदा के लिए बिदा हो रहा है तो यहाँ रहने वाले लोग मन भर उसका समारोह करते हैं। यही तो निर्वाणकल्याणक समारोह हुआ।

996- वीतरागता का सर्वोत्कृष्ट वैभव-

वीतरागता सबसे बड़ा वैभव है, सम्यग्दर्शन ही एक मात्र विभूति है, बाकी पौद्गलिक रंग ढंग ये सब बातें कौन क्या हैं उनमें बुद्धि लगे तो उससे अपना अनर्थ ही है, कुछ उससे अपनी निर्मलता नहीं बनती है। भाई ज्ञान अगर ठीक है तो जितना उसमें ज्ञान है, जितने अंश में वीतराग भाव है उतने अंश में उसको शान्ति प्राप्त होती है। करने का काम यह है बलपूर्वक, सारे आग्रहपूर्वक एक जिसे कहते हैं दमदार, पहले पार। कोई नदी बह रही है एक साहस न बनाया, लो गिर गया, बल लगाया, किनारे पहुंच गया, इसी तरह से एक साहस ऐसा बनायें कि चेतन अचेतन सभी पदार्थों से ममत्व छूट जाय और एक बार तो अपने अन्तः में बसे हुए उस परमात्मतत्त्व का आनन्द आ जाय। यह अपने स्वरूप का दर्शन, स्वरूप का आश्रय, अपने स्वभाव में ही रहना, देखना यह एक इतना ऊँचा अलौकिक काम है कि समस्त पापों का सर्व कष हो जाता है। तब क्या करना? बस आत्मस्वरूप में स्थित होकर ध्वस्त कर दें मरीचिका चक्र को याने मरीचि तृष्णा के रंग को। जैसे उदाहरण है कि कोई हिरण नदी के किनारे रेत पर था। उसेप्यास लगी थी। वह नदी के रेत दूर से पानी जैसी चमक रही थी। उसने दौड़ लगाया, वहाँ पहुंचा तो पानी का नाम नहीं, फिर आगे दृष्टि डाला तो दूर की चमकती रेत पानी जैसी दिखी, दौड़ लगाया, वहाँ पहुंचा तो क्या देखा कि पानी का नाम नहीं। दौड़ लगाते-लगाते प्यास की वेदना बढ़ गई। यों ही दौड़ लगा-लगाकर वह हिरण अपनी प्यास की वेदना को बढ़ाता जाता है, अन्त में गिरकर अपने प्राणपखेरू उड़ा देता है। तो ऐसे ही कुछ सुख की आशा में ये संसारी प्राणी दौड़ लगा रहे हैं, मैं इस धन वैभव से सुखी होऊँगा, स्त्री-पुत्रादिक से सुखी होऊँगा, इज्जत पोजीशन आदि से सुखी होऊँगा।...योंसोच-सोचकर सुख की आशा कर करके ये अपनी आशा तृष्णा की वेदना की और अधिक बढ़ते रहते हैं, अन्त में निराश होकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर जाते हैं। बताओ इन बाह्य पदार्थों की आशा करके, इनके पीछे दौड़ लगाकर पाया क्या? केवल कष्ट ही पाया। और अन्त में दुर्गति हुई। ऐसे उदाहरण जीते जागते मिलेंगे। तो संसार के इन वैभवों में इनमें विश्वास न करना कि इनसे मेरा हित होगा।

997- सम्यग्ज्ञान की हितमूलता-

मेरा हित होगा तोसम्यग्ज्ञान से होगा। हमारे भीतर के नेत्र भीतर में खुल जायें, अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव हो जाय तो समझो कि सदा के लिए हमने समस्त दुःखों से छुटकारा पाया। यहाँ की थोड़ी-थोड़ी बातों का क्या सोचना कि इसमें यह सुविधा मिलेगी इसमें यह मिलेगी। वे सब दुविधायें हैं। जितने भी बाह्य अंधकार हैं वे सब दुविधा हैं सुविधा नहीं। सुविधा उसमें है कि अपने आत्मा के स्वरूप में रमो, अपने इस मरीचि समूह को बहुत जल्दी मिटाकर देखो तो सही ज्ञानीजन क्या निरखते हैं, ज्ञानघन का पिण्ड, याने ज्ञान ही ज्ञान रस से पूरा भरा हुआ, इसे कहते हैं ज्ञानघन। मेरे स्वरूप में और चीज है क्या? ज्ञान ही ज्ञानमात्र तो उस अचल को, अविचल को जो शान्त पुरुष हैं, ज्ञानीपुरुष हैं वे शान्ति तेज के रूप में निरखते हैं अपने को कैसा निरखना? बस इस ही में बंधन, मुक्ति, दुःख, सुख, आनन्द सब कुछ इस पर निर्भर है। और, दूसरी बात का उत्तर नहीं। केवल एक बात। मैं अपने को कैसा परखूँ कि मैं क्या हूँ। बस इस पर ही सारे कष्ट और सारा आनन्द निर्भर है। जिसने अपने को यों निरखा कि मैं मकान का मालिक हूँ, धनी हूँ, वैभव वाला हूँ, स्त्रीसहित हूँ, परिवार सहित हूँ, इज्जत वाला हूँ। समाज वाला हूँ- इस प्रकार कोई अपने को निरखे तो उसका फल है कष्ट भोगना और जो अपने को इस तरह निरखे कि उन समस्त विभावों से निराला, शरीर से भी निराला केवल ज्ञानमात्र, ज्ञानप्रकाश एक मैं ही मात्र हूँ, वहाँ ऐसा देखें तो उसके मोक्ष का द्वार खुल जाता है। तो प्रोग्राम बनावें तो मोक्ष का बनावें। बंधन का प्रोग्राम मन में मत सोचें। है बन्धन, घर है, परिवार है, मगर मुख्यता किसको देना चाहिए? मोक्ष की ओर, बन्धन की ओर नहीं। तो ऐसे जो ज्ञानी पुरुष हैं वे इस शान्त तेज को निरन्तर निरखते रहते हैं। यह दृष्टि देना है सबको। किसी की भलाई किसी दूसरे से न होगी। अपने काम से अपने आत्मा का भला होगा। अपने में ज्ञानस्वरूप की दृष्टि का काम करें उसका भला होगा। किसी का कोई दूसरा भला नहीं कर सकता। इससे अपना मुख मोड़ लें। मेरे को और कुछ न चाहिए। मेरा जो एक सहज परमात्मतत्त्व भगवान आत्मा है वह मेरी नजर में रहे, मेरी दृष्टि में रहे। मात्र यही मैं चाहता हूँ।

कलश 124

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
 नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः ।
 स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
 नालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥124॥

998- रागादिविगम से आस्रवविगम, अन्तर्दर्शन, सर्वविज्ञान होकर ज्ञान का अनुपम विकास-

जहाँ रागादिक दूर हुए राग दूर हो ही जायेंगे ज्ञान में। राग में रहते हुए भी राग फिर न कहलायेगा। जहाँ यह जाना कि मेरा तो मात्र ज्ञानस्वरूप है, यह राग जो है वह कर्मछाया है, मेरा स्वरूप नहीं है, यह तो अँधेरे का प्रतिफलन है, इसमें मेरे को क्या है? मैं अपने स्वरूप में ही मग्न होऊँ, यहाँ ही चलूँ ऐसा जिसने भाव बनाया है उसके राग आये तो भी राग नहीं। तो रागादिक शीघ्रता से जब दूर होते हैं, सब ओर से, जब इस आस्रव का प्रलय होता है तो अपने आपमें अनादिकाल से अन्तः प्रकाशमान जो परमार्थ वस्तु है वह अपने अनुभव में आने लगती है। यह विकार ही तो बाधक है जो हम अपने अन्दर बसे हुए भगवान के दर्शन नहीं कर पाते। और विकार मिटाने के लिए यह ही ज्ञान चाहिए कि शरीर भी जब मेरा नहीं और यह विकार जो कर्म का उदय पाकर आया है वह भी मेरा नहीं तो मेरा फिर जगत में क्या रहा? केवल मेरा ज्ञानस्वरूप, वही रहा। थोड़ी यह बात भी तो चित्त में बसा लें कि किस किस को अभी तक मौत के प्रसंग नहीं आये? किसी के बीमारी में मुश्किल से प्राण बचे, किसी के दंगा में, किसी के किसी प्रसंग में, अनेक मौके पर आये होंगे जबकि इस जीवन का कुछ भरोसा न था। बड़ी मुश्किल में प्राण बचे। मान लो उस मौके में आपके प्राण चले गए होते तो फिर क्या था आपका यहाँ कुछ? यहाँ से मरकर न जाने कहाँ किस गति में जन्म लेते। यहाँ का कुछ भी समागम साथ तो नहीं जाता, मेरा यहाँ बाहर में कुछ है भी तो नहीं। मेरा तो मात्र मेरा आत्मवैभव है। वही मेरे साथ जायगा, दूसरा और कुछ मेरे साथ न जायगा तो जब रागादिक आस्रव वेगपूर्वक हो रहे हैं तो अपने आपमें निर्वाध नित्य अन्तः प्रकाशमान् कोई परमवस्तु नजर आती है। फिर अपने स्वरस के फैलाव से सर्व पदार्थों पर तैरता हुआ लोक और अलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को जानता हुआ यह अनुपम ज्ञान प्रकट होता है। विकारों से लगाव को छोड़े। केवलज्ञान क्यों नहीं प्रकट होता और विकारों में और छोटी-छोटी धन वैभव आदिक की जो छाया है उसमें मोह रखेंगे तो कौनसा कल्याण पा लिया जायगा, तो अपना विचार कर लो। कोई मेरा सार नहीं है। मेरा सार मेरे में मेरा अंतस्तत्त्व ही है।

अथ संवराधिकारः

कलश 125

आसंसार-विरोधि-संवर-जयैकान्तावलितास्रव-
 न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं सम्पादयत्संवरम् ।
 व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक्स्वरूपेस्फुर-
 ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्ज्मते ॥125॥

999- उपयोगमंच पर आये हुए जीव अजीव पुण्यपाप आस्रव का भेद ज्ञात होने पर निष्क्रमण-

उपयोगभूमि पर याने एक जानकारी के प्रसंग में पहले जीव और अजीव ये दोनों भेष बनाकर आये थे। उनकी जानकारी हुई। पुण्य पापरूप में भेष बनाकर आये थे, उनकी सही जानकारी हुई। उस सही जानकारी के होते ही भेष बनाने वाले में कान्ति नहीं रहती। जैसे कोई बहुरूपिया आपके घर पर आये तो उसके आते ही तो एकदम प्रभाव सा बैठता है, कि इन्स्पेक्टर या कोई आफिसर सा बनकर आ गया तो उसे देखकर एक बार तो दिल दहल जाता कि क्या मामला हो गया, और थोड़ी ही देर में जब आप खुद पहिचान गए कि यह तो फलाना व्यक्ति है, भेष धरकर आया है, या उससे ही कुछ मुस्कराने जैसी बात बन जाय जिससे पहिचान में आ जाय कि यह तो बहुरूपिया है। सही पहिचान हो जाने पर फिर उसके भय नहीं रहता और साथ ही वह बहुरूपिया वहाँ से आगे बढ़ जाता, वहाँ ठहर नहीं सकता। उसके ठहरने का संकल्प तो तब तक मजबूत था जब तक कि वह बहुरूपियापन जिसका भेष धरा वह सही उतरता और प्रभावित होता। जब उसका मूल स्वरूप जाना कि वह फिर ठहरता नहीं, इसी प्रकार, पुण्य, पापकर्म का मूलस्वरूप जानें तो वे ठहरेंगे नहीं। आस्रव भी आया था अपना नाटक दिखाने को। वहाँ पर भी इस दर्शक ने, मननशील इस अन्तरात्मा ने समझा, आस्रव का भी भेद और जाना तो आस्रव भी निष्कान्त हो गया। यह सब नाटक भेष के रूप में इन 7 तत्त्वों का परिचय कराया जा रहा है।

1000- आस्रवनिष्क्रान्ति का उपायभूत आस्रवतथ्य का परिचय-

आस्रव की क्या पहिचान किया था मूल में कि जिससे आस्रव टिक न सका। मायने हमारे ज्ञान में जो आस्रव की उमंग रहती है बस वही तो एक भेष, नाटक चल रहा है, और जहाँ यह जाना कि आस्रव नाम है किसका, कोई मौलिक पदार्थ तो नहीं, सत्तावान तो चीज है नहीं, मूल में तो दो ही चीजें हैं यहाँ चेतन और जड़कर्म, बना कैसे यह आस्रव? यह आस्रव मायने आना, कार्माणवर्गणाओं में कर्मत्व परिणति हो गई, यह ही तो आस्रव है, कैसे आ गई? विषम विकार, परिणाम किसी परनिमित्त के सन्निधान बिना हो ही नहीं सकता। अन्यथा वह स्वभाव बन बैठेगा। तो पुद्गल कार्माणवर्गणाओं में जो कर्मत्व आया है उसका निमित्त कारण क्या है? तो उदय में आया हुआ पुद्गल कर्म, यह है उसका निमित्त कारण। अच्छा तो उदयागत द्रव्यप्रत्यय नवीन कर्म के आस्रव का निमित्त बने, यह बल कैसे मिला? कोरे द्रव्य प्रत्यय में नवीन कर्म के आस्रव का निमित्तपना हो नहीं पाता। यहाँ निमित्तपना आया कैसे? तो उस द्रव्यप्रत्यय के उदय के निमित्त से जो जीव में रागद्वेष भाव हुए हैं उस विकार का सन्निधान पाकर इन उदयागत द्रव्य प्रत्ययों में नवीन कर्मों के आस्रवपने का निमित्तपन आया। जैसे कमरे में रोशनी आयी जहाँ अँधेरा था, जहाँ सूर्य की रोशनी कभी न पहुँची थी, मगर किसी बच्चे ने कहीं धूप में बाहर खड़े होकर ऐसा दर्पण किया घर के सम्मुख और सूर्य के सामने कि वह सूर्य का प्रकाश घर में पहुँच गया। घर में जो प्रकाश हुआ, पदार्थप्रकाश पहुँचा, उसका निमित्त क्या है? वह दर्पण उस परिस्थिति में रहने वाला दर्पण और दर्पण में ऐसा निमित्तपन आया उसका निमित्त क्या है? वह दर्पण, उस परिस्थिति में रहने वाला दर्पण और दर्पण में ऐसा निमित्तपन आया उसका निमित्त क्या है? सूर्य।

तो मूल में तो सूर्य ही रहा। सूर्य न हो तो वह दर्पण उस घर में पहुँचे हुए प्रकाश का निमित्त नहीं बन सकता। तो इसी तरह उदय में आये हुए द्रव्यप्रत्यय में जब निमित्तपना नहीं आता तब कर्मास्रव नहीं होता। उसके निमित्तत्व को स्फुरित करने में निमित्त हुए रागद्वेष विकार। तो उदय में आये हुए द्रव्यकर्म की दो क्रियायें हुई एक प्रकार से। है वह नैमित्तिक कार्य कि एक तो रागविकार उत्पन्न करना और एकनवीन कर्मों का आस्रव करना। जैसे कबड्डी खेलने वाले लड़के दोनों तरफ से सावधान रहते हैं ऐसे ही मैदान में आये हुए विपाक द्रव्यकर्म, इनका दोनों तरफ प्रभाव चलता है। जहाँ रागविकार हुआ वहाँ कर्माश्रव है। हैं दोनों नैमित्तिक। यद्यपि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन अपने में है, दूसरे में नहीं। फिर भी अगर विकाररूप कोई उपादान परिणमे तो उसमें ऐसी ही कला है कि उस अनुकूल निमित्त सन्निधान में वह विकाररूप परिणमता है। आस्रव की पोल जानें, भेष जानें, मूल चीज जानें। आस्रव भी निकलकर भागेंगे।

1001- चिन्मय उज्ज्वल ज्ञानज्योतिर्मय संवरतत्त्व का प्रवेश-

देखो, उपयोग तोचल ही रहा है। उपयोग में सम्वर का प्रवेश हुआ। सम्वरतत्त्व आया, वह सम्वर क्या चीज है? यह कोई स्वतंत्र पदार्थ तो नहीं है। बताओ संवर उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप है क्या? गुणपर्यायवान् है क्या? सम्वर तो एक परिणमन है। वह क्या चीज है? वह चैतन्यस्वरूप। यही स्वयं सम्वर स्वरूप है, तो जो चिन्मय स्फुरायमान ज्योति है, यही है सम्वर, सो यह ज्योति, यह संवर तत्त्व अब यहाँ बड़े वेग से प्रकट होता है। तो यह चिन्मात्र चिन्मय, स्फुरायमान उज्ज्वल ज्योति जो प्रकट हुई है तो वह अपने ही रसभार से भरा हुआ है- उसका श्रृंगार, उसका तेज, उसका बल, उसकी कला। जैसे कोई मंच पर अपना पार्ट खेलने आया हो तो उसमें सभी चीजें होती ना? वह अपने आप में बलिष्ट, तेजस्वी कहने का ढंग, बोलने की बात, पूरी शक्ति प्रयुक्त होना याने एक वह मनस्वी एक ढंग से ही तो पार्ट में आता है, अन्यथा उससे कुछ बनेगा ही नहीं, काँप करके गिर जायगा या शर्मिन्दा होकर भाग जायगा। तो ऐसे ही यह सम्वर जो आज अपने उपयोग मंच पर आया है जिस प्रसंग में हम सब केवल जानकारी निरीक्षण कर रहे हैं वह अपने आपमें बड़ा बलिष्ट है, वैभवशील है और अपने निजरस से भरा हुआ है। यह सम्वर अब यहाँ उदित होता है। क्या करता हुआ उदित हो रहा? इस आस्रव पर विजय प्राप्त करता हुआ उदित हो रहा। आस्रव कैसा है आस्रव ने तो इन समस्त संसारी जीवों पर अनादि से ही एक ऐसी छाप दी है कि प्राणी इस आश्रवों से अपना स्वरूप मान मानकर ऐसे विह्वल हुए हैं जिससे कि आस्रव को एक बड़ा घमंड आ गया कि मैं ही तो इस जगत का बादशाह हूँ। लेकिन, उसका भी तिरस्कार कर दिया इस सम्वर ने।

1002- ज्ञानरुचि का प्रभाव-

लोग तो सोचते हैं कि यह मोह बड़ी प्रबल चीज है, मोह के आगे किसी की बात नहीं चलती है मगर स्वरूप देखो, सच्चाई देखो तो मोह और ज्ञान इन दोनों में तुलना करें तो मोह बलिष्ट है कि ज्ञान? अनादिकाल से इस मोह ने इस जगत के प्राणियों पर अपना एक साम्राज्य बना रखा है। जो ऐसे बलिष्ट मोह को भी पछाड़

दे वह ज्ञान बड़ा पूजनीय है। अच्छा इसके विपरीत भी तो बोल सकते हैं कि जो ज्ञान एक स्वभावतः बलिष्ठ है वह सब कुछ है, लेकिन इस ज्ञान को अनादिकाल से अब तक इस मोह ने पछाड़ रखा। बल सबका मालूम पड़ेगा मगर जिस पहलवान की ओर रुचि होती है उस पहलवान की विजय पर दर्शकों को खुशी होती है और उसके लिए एक दाद दी जाती है, ऐसे ही मोह भी बलिष्ठ, ज्ञान भी बलिष्ठ, अगर मोहबल कुछ न कहलाये तो फिर अब तक क्यों रुलते आये हैं, क्यों नहीं इससे पहले मुक्ति प्राप्त कर ली? मोह का भी अतुल बल समझो। ज्ञान का भी एक अलौकिक बल है, मगर जिसको ज्ञान पहलवान से रुचि लगी है उसकी मुद्रा जानकर, उसकी कोई बात परखकर ही तो उसकी रुचि बनती है। प्रभावित पहलवान के प्रति दार्शनिकों के मन में जरूर छॉट हो जाती है कि यह तो हमारा पहलवान है। क्यों छॉट हो जाती है? कोई बात तो नजर आयी ना। कोई मुस्कराता पहलवान है कोई बड़ा अच्छा ढंग है, कोई बात है तब ही तो दो पहलवानों में तुलना करके कोई न कोई रुच जाता है। यद्यपि वहाँ बेकार बात है, क्यों रुचे पहलवान? वह तो एक बेकार सी बात है। ऐसे ही मोह और ज्ञान में ज्ञान रुचना चाहिए, मोह नहीं। अब, जब ज्ञान की रुचि है तो हमें ज्ञान की बलिष्ठता दिखेगी। ज्ञान विजय प्राप्त कर रहा है, और यद्यपि अनादि से सम्बर तत्त्व पर ही विजय प्राप्त कर रहा यह आस्रव, इस ज्ञान ज्योति पर विजय प्राप्त कर रहे ये आस्रव और कर्म, लेकिन तब तो बेसुधी थी। अब कुछ थोड़ी स्व की परख आयी, थोड़ी ज्ञान की मुद्रा ज्ञान का रूप, ज्ञान के गुण रुचने लगे। हाँ बस रुचने लगे, इतना ही भर तो चाहिए। इस ज्ञानी के इतना ही तो दाद चाहिए था, दर्शक के और मालिक के थोड़ा इस ज्ञान की ओरदृष्टि तो आये, फिर अपने ज्ञान में इतना बल है कि वह प्रकट हो जायगा। ज्ञान की उपेक्षा करेंगे तो ज्ञान क्या करे? थोड़ा ज्ञान रुचे, ज्ञान की दृष्टि जाय फिर ज्ञान का प्रताप और ज्ञान का उमंग जो स्फुटित होता है वह एक अपने वेग के साथ होता है। यह आत्मा, यह उपयोग यह ज्ञानमात्र है। है एक ही चीजाथोड़ा ज्ञान से तो रुचि कर लें फिर यह बड़े वेगपूर्वक होता है तो ऐसा यह अपने निज रस से प्रागभावरूप बोझल एक अपने आपमें कुछ महत्त्व मानता हुआ यह ज्ञान प्रकट होता है। यह सम्बर, सम्बर कहो, ज्ञान कहो, निधि कहो, निज की एक बात है, वह कैसे प्रकट होता? यह आस्रव का तिरस्कार करने से प्रकट होता, जो अनादि से सम्बर पर विजय प्राप्त करके एक मदेला बन रहा था।

1003- ज्ञानस्वरूप में ज्ञान की नियमितता-

जो यह सम्बर बना, क्या स्थिति हुई इसकी? यह कहाँ है ज्ञानज्योति। अपने आपके स्वरूप में तो नियत है और समस्त परपदार्थों से निराला है। ज्ञान कहाँ रखा है? ज्ञान में ज्ञान रखा है। ज्ञानस्वरूप में ज्ञान मिल रहा, बाहर कहीं नहीं मिल रहा, किन्तु ज्ञानस्वरूप में ही यह ज्ञानतत्त्व, यह सम्बर यह नियतहै नियमित है ऐसा है यह तत्त्व। आकाश कहाँ है? आकाश आकाश में है, अन्य जगह नहीं रह रहा, और चीजों की पूछो कि घडा कहाँ है, चौकी कहाँ है? तो कदाचित् कहा जा सकता कि घर में रखी, इस जगह पड़ी। यद्यपि वहाँ भी स्वरूप दृष्टि से अपने आपमें वे सब हैं? जीव कहाँ? जीव में। संसारी जीव कहाँ रहते? अपने प्रदेशों में,

अरे आकाश में ही तो दिख रहे अवगाही से, मगर क्या कह सकते? आकाश कहाँ है? आकाश आकाश में है। आकाश तो सर्वत्र व्यापक है, अनन्त है। केवल आकाश को ही देखो, इसी तरह ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को देखो, इसका यह सहज स्वरूप, यह ज्ञानस्वरूप यह कहा है? यह ज्ञान में है अपने स्वरूप में है, अपने स्वरूप से बाहर नहीं है? यद्यपि ज्ञान आत्मप्रदेश में हैं तो भी इस प्रकरण में ऐसा देखना नहीं है, ऐसा रहो क्यों द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चारों से पहिचान तो होती है वस्तु की। तो भी बाह्यवस्तु की पहिचान में ये चारों ही मुख्य हैं, वहाँ अपना कुछ प्रयोजन नहीं। मगर आत्मतत्त्व की पहिचान में भावदृष्टि मुख्य है। पिण्ड, क्षेत्र, परिणाम ये मुख्य नहीं बनते। हैं तो प्रयोजक सब दृष्टियाँ मगर स्वानुभूति का प्रयोजक पिण्डदृष्टि का निर्णय नहीं है यद्यपि यह भी निर्णय अवश्य प्रयोजक है मगर साक्षात् प्रयोजक नहीं। क्षेत्रदृष्टि से भी सब कुछ पहिचानें, आत्मा इतने विस्तार वाला, असंख्यात प्रदेश वाला....वर्तमान में तोकोई 5 फिट वाला मनुष्य है उतने प्रमाण आत्मा है। तो 5 फिट वाला भले ही निर्णय तो हुआ, और यह निर्णय काम का तो है मगर स्वानुभव के लिए साक्षात् प्रयोजक नहीं। याने जिस मन के बाद स्वानुभव हो सकता है वह क्या क्षेत्र पिण्ड वाला प्रदेश है? यह भी साक्षात् प्रयोजक नहीं। है यह सब, किन्तु भावस्वरूप में जानने के लिए प्रयोजक है। किसी भी तरह पहिचानें, मगर भावदृष्टि से और उसमें भी अभेदभावदृष्टि से पहिचानें, तो आनन्दधाम का अनुभव होता है।हमें जो बात चाहिए उसको ही तो निरखना है, तो यह ज्ञान कहाँ मौजूद है? यह अपने स्वरूप में ही सम्यक् प्रकार से निहित है, ऐसा वह संवर स्वरूपज्ञान तत्त्व अब यहाँ प्रकट होता है।

कलश 126

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥126॥

1004- संवरतत्त्व के अभ्युदय की भेदविज्ञानमूलता-

सम्बर कैसे प्रकट होता? सम्बर तत्त्व इस उपयोग भूमि पर आया, यह आ कैसे गया? तो यह आ पाया है भेदविज्ञान के बल से। स्व और पर में भेदविज्ञान होना, स्व क्या? चैतन्यस्वरूप। पर क्या? जडरूप। कहाँ देखा, कहाँ भेद किया? तो सम्बर होवे। भेदज्ञानी तो प्रायः सभी लोग हैं। देहात में भी जावो तो वहाँ बिना पढ़े लिखे लोग भी भेदविज्ञान की बात करते मिलेंगे। किसी पुरुष के गुजर जाने पर लोग कहते कि देखो हंसा उड़ गया, यह शरीर यही पड़ा रह गया। ऐसा सभी कहते हैं, मगर इसमें वह चोट नहीं आ पायी जिससे प्रकट यह जीव अपने आपमें रहता हुआ प्रसन्न रह सके। वहाँ आकुलता है व्यग्रता है, भय न बन रहा। क्या

यह भेदविज्ञान है जो भय को पैदा करे, शंका करे, स्पष्टता न लाये? वह तो नाम का भेदविज्ञान है। यहाँ भेदविज्ञान करना है। कहाँ? स्वभाव में और विभाव में। एक ही में भेदविज्ञान करना। यहाँ आशंका हो सकती। भेद तो दो में ही होता है। स्वभाव भी तो जीव की ही बात है और विभाव भी तो जीव की बात है कि जीवविकार, क्रोधादिक विकार ये परिणमन किसी दूसरे के तो नहीं हैं। एक में क्या भेद डाल रहे, क्यों फूट पाड़ी जा रही और किसी परिवार में फूट डालने की कोशिश क्यों करते? बने रहने दो विभाव, वे विभाव भी बन रहें, स्वभाव भी बना रहे। घर में भी दसों तरह के आदमी होते हैं, उनमें कोई कमाऊ होता, कोई बैठा रहता, कुछ नहीं करता, लेकिन घर से भगाते तो नहीं किसी को। सभी को घर में रहने देते। तो ऐसे ही रहने दो सबको अपने अन्दर, क्रोधादिक कषायें भी रहें, रागद्वेष मोहादिक भी रहें, आखिर अपनी ही तो परिणतियाँ हैं। विभाव भी रहने दो। परन्तु यह मंजूर नहीं हो पा रहा इस ज्ञानी आत्मा को। बस प्रबल बलधारी इसे उपचार भाषा में बोलते और प्रयोजन करके याने कर्म के बल पर बल रखने वाला है विभाव तभी तो इसे नैमित्तिक कहते। उस उपयोग के विकल्प से ये विभाव बने हैं।

1005- कर्मविपाकप्रभव होने से विभावों की परभावता-

विभाव का अर्थ यह न लेना कि किसी परतत्त्व का आश्रय, उपयोग करके होता है इसलिए यह परभाव है। यद्यपि परभाव का यह भी अर्थ है किन्तु समस्त परभावों का यह अर्थ न बनेगा कि परपदार्थ का आश्रय करके होने वाले भाव को परभाव कहते हैं। हाँ बुद्धिपूर्वक जो परभाव है याने जगत में ये विषयसाधन इतने पड़े हुए हैं, इन विषय साधनों का आश्रय करके, इनमें उपयोग जोड़कर जो रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभादिकभाव उत्पन्न होते हैं वे परभाव ऐसे हैं कि पर का आश्रय करके उत्पन्न हुए हैं। किन्तु एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चौइन्द्रिय असंज्ञीजीव, संज्ञी में भी थोड़े से जैनियों को छोड़कर जो कि कर्म की चर्चा करते हैं, बाकी सब मनुष्य जो कर्म को नहीं जानता वह कर्म का कैसे विषय, आश्रय करके अपना उपयोग बनाये, वहाँ तो ऐसा सहज निमित्त नैमित्तिक योग है कि जैसे अग्नि पड़ी है उस पर लात आ गई तो तुम भले ही न जानो पर वहाँ जलनकार्य तो बनता ही है, उसी प्रकार आत्मा में जो प्रतिफलन है, विकार है, उसके निमित्तभूत कर्म को जानो तो, न जानो तो उनके विपाककाल में यह प्रतिफलन होता ही है। वहाँ उपयोग में मालिन्य है और उपयोग उस अनुरूप विकल्प करता है यही जुटना समझें तो यह सहज है। हाँ उस काल में यदि इन बाहरी विषय साधनों पर दृष्टि देंगे, उनका आश्रय करेंगे तो यह बुद्धिपूर्वक विकार होगा।

1006- अध्यात्मशास्त्रों में बुद्धिपूर्वक विभावों के सद्भाव अभाव आदि का वर्णन-

बात यहाँ एक यह सदा समझना कि समयसार या अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों में जितना वर्णन हुआ है वह बुद्धिपूर्वक तत्त्वों का वर्णन हुआ। अबुद्धिपूर्वक बात का वर्णन इनमें नहीं हुआ। अबुद्धिपूर्वक तत्त्व का वर्णन द्रव्यानुयोग नहीं करता, लेकिन आचार्यजन सभी विषयों में निपुण होते हैं। तो कहीं संकेत दे दिया करते। समयसार में कहा है कि ज्ञान गुण के जघन्य परिणमन से आस्रव है। अर्थ यह है कि यथाख्यातचरित्र अवस्था

से पहले नियम से होने वाले राग का सद्भाव होने से वहाँ आस्रव है, और इसी कारण ज्ञानस्वभाव का तब तक आस्रव बनावें, दृढ़ता से बनावें कि जब तक यह पूर्णतया इस अबुद्धिपूर्व आस्रव से भी रहित हो जाय। करणानुयोग की बात का बीच बीच में संकेत दिया, मगर अध्यात्मशास्त्र में बुद्धिपूर्वक तत्त्व का ही वर्णन होता, और जबएकयह न्याय अपने लिए अध्यात्मशास्त्र का है तो इसको कुछ भी कहने में अब हिचक नहीं रही। क्योंकि हिचक तब होती तब पहले से कुछ अनिर्णीत हो जाता है कि किस दृष्टि से अध्यात्मशास्त्र में वर्णन है। निःशंक बोलिये ज्ञानी सर्वथा निराश्रव है, ऐसी बड़ी बड़ी दृढ़ता वाले शब्द अध्यात्म ग्रन्थों में दिये जाते हैं, मगर कहीं फिसल न जायें इसलिए बीच बीच में एक संकेत भी दिया जाता है कि अबुद्धिपूर्वक विभाव भी होता है। मगर जहाँ स्वभाव लक्ष्य बना है वहाँ बुद्धिपूर्वक विभाव के परिचय की मुख्यता नहीं होती, क्योंकि विविध भावों के स्पर्श करने की मुख्यता यदि हो तो उसकी चाल में फर्क आ जाता है।

1007- अन्य भावों में न अटककर स्वभावाविमुख होने के लिये ज्ञानी की निःशंक वृत्ति-

निःशंक होकर अपने सहज ज्ञानस्वभाव की पहिचान चाहता है यह ज्ञानी, तो बस वही वही बात सामने रखे जायें। दूसरी बात और जो हुआ करती है उन्हें नहीं सामने रखना, नहीं तो यह छिड़ जायगा। जैसे कोई आदमी मंदिर आना चाहता है घर से, तो रास्ते में बहुत से लोग मिलते किंतु उन मिलने वालों से छिड़ता नहीं, क्योंकि लक्ष्य तो मंदिर में आने का है, तो मिलते तो हैं इतने मित्र भी, इतने परिचित लोग भी मिलते, मगर तुम उपेक्षा करो। मंदिर आना हो तो सीधे मन्दिर में ही आ जावो, रास्ते में इससे बात की उससे बात की...इसमें समय गमाना ठीक नहीं। अरे उन सबकी उपेक्षा करो। मन्दिर में आने का लक्ष्य है तो इस मन्दिर की ओरही तेजी से आ जावो और आराम से बैठकर अपना ध्यान बनाओ। उसी प्रकार जब ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने का ही लक्ष्य है तो बीच में आ पड़ता हुआ, युक्तिविज्ञात अबुद्धिपूर्वक राग है, और शरीर भी हैं, कर्म निमित्त भी है। यहाँ बात झूठ तो नहीं है, शरीर है नहीं क्या अभी? और, बन्धन में नहीं है क्या? अबुद्धिपूर्वक राग विकार उठता नहीं है क्या? सब बात है मगर तुम इनसे बात न करो। इनसे छिड़ो मत, भिड़ों मत, क्योंकि इसने लक्ष्य बनाया है कि ज्ञानस्वभाव आनन्दधाम निज के मंदिर में आना है। बीच में रहने वाले इन अनेक पदार्थों का पिण्डोला इन्हें क्या देखना। ऐसा अध्यात्मशास्त्र का एक नियम है, संकल्प है। एक नीति है ऐसी, इसी कारण तो एक ही कुञ्जी है कि प्रतिपक्षनय का विरोध न करके विवक्षितनय की मुख्यता करके प्रयोजन को सिद्ध करो। यह हर जगह बात आती है। हमें स्वभाव निरखना है तो द्रव्यार्थिकनय से निरखते जायेंगे। और पर्यायार्थिकनय का विरोध न करके अपने प्रयोजन से द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता करें तो उसे धोखा न होगा, मगर प्रतिपक्षनय का विरोध करके विवक्षित तो कुछ रहा ही नहीं, फिर भी जो माना उस पर एकान्त से लगे तो उसे धोखा है, क्योंकि मोह में अज्ञान में यह पड़ा हुआ है। तो यह ही एक नीति है सर्वत्र कि प्रतिपक्षनय का विरोध न कर विवक्षितनय की मुख्यता करके उस प्रयोजन में रहे, उसे सफलता

प्राप्त होती। तो यहाँ बतला रहे हैं कि यह सम्बर कैसे प्रकट हुआ? अपने स्वभाव में, आत्मस्वभाव में विभावों में भेद डालकर हुआ। कैसे डाला, क्या डाला, इसे आगे कहेंगे।

1008- स्वभावाश्रय में संवर तत्त्व-

ज्ञानीजीव के सम्बर होता है, जो जिस पद में है, गुणस्थान में है उसके उस अनुरूप कुछ प्रकृतियों का सम्बर चलता है, उस सम्बर का मूल क्या है? स्वभाव का आश्रय। स्वभाव के आश्रय का उपाय क्या है? स्वभाव का सुपरिचय। स्वभाव के सुपरिचय का उपाय क्या है? ज्ञान और राग में दो टूक कर देना, भेद कर देना ऐसा यह भेदविज्ञानस्वभावाश्रय का उपाय बनायगा और स्वभावाश्रय से सम्बर होगा। जितना भी जो कुछ उपदेश है, ज्ञान है उन सबका प्रयोजन है अपने सहज स्वभाव का आश्रय बनाना। जैसे कोई भोजन तो सब कुछ बना डाले और उसे यहाँ वहाँ फेंक दे, खाये नहीं, तो भोजन बनाने का प्रयोजन क्या रहा? इसी प्रकार समस्त नयों से सर्वप्रकार का ज्ञान किया और उसका फल विकल्प ही बनाया, विवाद ही बनाया तो उसका फल क्या मिला? वह तो भोजन को यत्र तत्र फेंक देने के बराबर है। ज्ञान का प्रयोजन है स्वभावदृष्टि करके स्वभाव में अपने उपयोग को लगाना, अन्तस्तत्त्व में मनन करने का पौरुष करना। यह बात बने उसके लिये प्रारम्भ में क्या करना होगा? भेदविज्ञान, ज्ञान और राग में भेद डालना। ज्ञान चैतन्यस्वरूप को धारण किए हुए है और राग जड़पने को धारण किए हुए है, ये दो बातें यहाँ प्रकट भेद में आ रही हैं। देखिये इन दोनों बातों के समझने के लिए और स्वभाव का सुपरिचय पाने के लिये निमित्त नैमित्तिकभाव का परिचय बहुत सहयोगी बनता है। कुछ निमित्तनैमित्तिकभाव का निषेध या निमित्तनैमित्तिकको न बदलने की उमंग यों बड़ी है कि लोग कर्ताकर्मबुद्धि करके यों मानने लगे थे कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता है, जो बात कहीं सम्भव नहीं। अब कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की परिणति कर दे, इस प्रकार के भ्रम को दूर करने के लिए निमित्तनैमित्तिक भाव को झूठ कहने लगे तो उसने अपना प्रयोजन बिगाड़ा और निमित्तनैमित्तिक भाव को भी विकृत बनाया, सो ज्ञानबल वह कहलाता है कि निमित्त नैमित्तिक भाव और वस्तुस्वातंत्र्य दोनों को एक जगह एक साथ निरख सकें। निमित्त नैमित्तिक भाव बराबर चल रहे हैं, इतने पर भी वस्तु की स्वतंत्रता का विघात नहीं है। वस्तु की स्वतंत्रता यहाँ चल रही है, फिर भी जो विकार परिणमन हो रहा उसमें निमित्त नैमित्तिक भाव की अप्रतिष्ठा नहीं है, दोनों बातें एक साथ परख में आती हैं। यहाँ बहुत सुगमता से स्वभाव दृष्टि जैसे परिचय के लिये मूल में बात कह रहे हैं निमित्त नैमित्तिक भाव के परिचय की।

1009- ज्ञानस्वरूपआत्मा में विकार के उपद्रव की विधि के ज्ञान से स्वभावदृष्टि को प्रश्रय-

मैं हूँ ज्ञानस्वरूप। मेरा स्वभाव है मात्र प्रतिभास, जानना। यह जानना इसका स्वरूप है, सो चलता ही रहता है। और फिर यह जो राग बन रहा, जिसमें हम बड़ी विपत्ति में पड जाते, यह राग क्या है? तो श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रीमद् अमृतचन्द्र सूरि ने यह स्पष्ट बताया कि पुग्गलकम्मं रागोत्तस्स विवागोदओ हबदि एसो। ण हु ते मज्झ सहावा जाणगभावो हु अहमिक्को। अस्तिकिल रागो नाम पौद्गलिक कर्म।

तदुदयविपाकप्रभवोयं भावो न मम स्वभावः एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमात्रोऽहं। नियम से है राग, प्रकृति नाम का पौद्गलिक कर्म, इसके उदयविपाक से उत्पन्न हुआ यह रागभाव यह मेरा स्वभाव नहीं। मैं तो टंकोत्कीर्ण वत् निश्चल ज्ञायकस्वभावमात्र हूँ, देखो अलग होना है ना, तो ये परभाव हैं, ऐसा सही समझे बिना विभावों से अलगाव न बन पायगा। ये विभाव परभाव हैं, क्योंकि ये कर्म के विपाक से उत्पन्न हुए। कर्म ने नहीं किया, किन्तु वहाँ ऐसा ही सम्पर्कज भाव है कि कर्म अपनी स्थिति पर अपने में विपाक को करता हुआ उदित होता है और चूँकि यह आत्मा उपयोग स्वरूप है उसमें वह प्रतिफलन होता है और यह उपयोग में ही तो प्रतिफलन है सो यह जुटान अबुद्धिपूर्वक है, इसके फल में यह जीव अपने को राग करता हूँ, द्वेष करता हूँ इस तरह अपने आपको बोलने लगता है। जैसे जिस पुरुष को साँप ने डस लिया तो वह पुरुष ऐसी भाषा बोलने लगता है कि अरे मुझे क्यों पीटा, इसने मेरे ऊपर पैर क्यों रखा? ऐसी विष चढ़े हुए पुरुष की आवाज होती है, ऐसे ही मोह से ग्रस्त प्राणियों के उस कर्मस्वभावरूप से ज्ञान के भवन की बात चला करती है। हाँ तो यह सम्पर्कजभाव है। जड़ क्यों है कि यह विभाव जड़ के विपाक का एक प्रतिफलन है जिस पर उस रूप से अब उपयोग यहाँ बिगड़कर चला है, इस कारण राग जड़ है। दूसरी बात यह कि राग का जो स्वयं स्वरूप है वह चेतना से शून्य है, उसका परिज्ञान चेतना द्वारा होता है, याने राग स्वयं चेतक नहीं है। यह चेत्य तो है पर वह ज्ञान द्वारा चेत्य है, स्वयं के द्वारा चेत्य नहीं है। जो बात, जो जो भाव, जो जो पदार्थ स्वयं के द्वारा चेत्य नहीं हैं वे सब जड़कहलाते हैं। अब यहाँ केवल स्वरूप पर दृष्टि दी है यह राग जड़ है, क्योंकि यह स्वयं अपने आपको चेतता नहीं है, यह ज्ञान द्वारा अनुभव में आता है, तो यह राग जड़ है। जब इन दो बातों से समझ लिया कि राग जड़ है, क्योंकि यह जड़ कर्म का निमित्त पाकर हुआ है, उसका प्रतिफलन है, उसका उपयोग विकल्प बनाता है उस रूप? इसलिए जड़ है। तो देखिये दोनों का स्वरूप जानकर भेदविज्ञान करना है।

1010- आत्मसंयमन से दुर्लभ नरजीवन की सफलता-

यह मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनाई से मिली है, मन भी श्रेष्ठ मिला है, तो मन को इतना निर्मल रखना, इतना आत्महित का पिपासु रखना कि इसके आगे केवल एक ही प्रोग्राम रहे कि मेरे आत्मा का हित कैसे हो। ये बाहरी कर्मबन्ध की बातें, मैं ऐसा बोल रहा हूँ, यह ऐसा क्यों नहीं मान रहा, या जैसा मैं सोच रहा हूँ वैसा होना ही चाहिए, ये सब बातें व्यर्थ की है। यह अध्यवसान दूर हो और केवल एक आत्महित की ही बात हो, जिसमें मेरा हित है, सो मुझे चाहिए। अन्य की बात क्या? कोई मित्र, कोई जगत के लोग ये मेरे क्या मददगार हैं ! मेरा बाहर में कहीं कुछ नहीं, मैं अपने में अकेला रहा करता हूँ। मैं अपने शुद्ध अंतस्तत्त्व को प्राप्त कर लूँ, तो उसका मेरे को शरण मिल गया और इसको प्राप्त न कर सकूँ तो मेरे को कुछ भी शरण नहीं।

1011- रागादिकपरिणमनघटना का वास्तविक तथ्य-

हाँ तो देखो- जहाँ यह समझा कि यह कर्मोदयविपाकप्रभव भाव है, इससे मेरा क्या मतलब? मैं तो ज्ञायकस्वरूपमात्र हूँ। तो उसको स्वभावदृष्टि करने की बड़ी सुगमतया शुद्ध मार्ग मिल जाता है, इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है, यह फलिहमणी सुद्धोण सयं परिणमइ रागमादिहिं। रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादिहिं दव्वेहिं। एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमादिहिं। रायज्जदि अण्णेहिं दु सो रायादिहिं दोसेहिं। इसकी आत्मख्याति में जो कहा है उसे ध्यानपूर्वक सुनिये उसका हिन्दी अनुवाद। हिन्दी में कह रहे वहाँ बड़ी दृढ़ता से किल शब्द किया, एव शब्द दिया। बड़े निर्णय के साथ कहा जा रहा है कि जैसे स्फटिकमणि अपना परिणमन स्वभाव रख रहा है, क्योंकि वह तो स्वरूप है किन्तु स्वयं शुद्धस्वभाव वाला है वह स्फटिक, इस कारण अपने आपकी लालिमा में वह निमित्त नहीं है। वह तो सफेद है, स्वभाव से सफेद है। तो फिर होता किस तरह से है, याने जब लालिमा में स्वयं स्फटिक निमित्त नहीं है तो स्वयं नहीं परिणमता वह लालिमारूप। यह एक ध्यान देने की बात है। भाव लाना, परिणमता तो वह स्वयं है। मगर निरपेक्षतया पर की उपाधि बिना खुद अपने आप परिणम सके ऐसी बात नहीं होती। उसको ही इन शब्दों में कहा है अमृतचन्द्र सूरि ने, कुन्दकुन्दाचार्य ने कि यह स्फटिक स्वयं रागादिक रूप से नहीं परिणमता। तो फिर होता क्या है कि परद्रव्य के ही द्वारा, कैसे एव और किल देकर बात की गई है कि परद्रव्य के ही द्वारा जो स्वयं रागभाव को आपन्न है, मायने जैसे कपड़ा रखा है स्फटिकमणि के सामने तो वह परद्रव्य हुआ कपड़ा और स्वयं वह लाल है और वह इस स्फटिक की लालिमा होने का निमित्तभूत है, ऐसा परद्रव्य के द्वारा ही वह स्फटिक अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ रागरूप से परिणम रहा है, टीका के इन सब शब्दों का अनुवाद हिन्दी में चल रहा है। उसी प्रकार केवलःकिलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तवाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, किन्तु परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणमम्यते। न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः। तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्। उसी प्रकार यह आत्मा स्वयं परिणमन स्वभाव वाला है। वस्तु है ना? सत् है ना? कैसा? उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। स्वयं परिणमने का स्वभाव वाला होकर भी खुद शुद्धस्वभाव वाला है, मायने अपने आप अपनी सत्ता की ओरसे केवल एक चैतन्य मात्र के स्वभाव वाला है, इसलिए अपने रागादि विकार में स्वयं निमित्तभूत नहीं है। अतः आत्मा रागादिक रूप से स्वयं नहीं परिणमता। स्वयं न परिणमने का अर्थ समझना, याने पर उपाधि के सम्पर्क बिना खुद ही खुद रागरूप परिणम जाय, ऐसा नहीं होता। तो फिर परिणमता किस प्रकार है, किसके द्वारा परिणमता है? उस परद्रव्य के ही द्वारा जो स्वयं रागभावसम्पन्न है।

1012- पौद्गलिक कर्म परद्रव्य का परिचय-

वह कौन है जिसके द्वारा जिसके सन्निधान में आत्मा विकाररूप परिणम जाता है? वह है कर्मप्रकृति। क्या वह रागभावसहित है? हाँ रागभावसहित है। जिस काल में बंध हुआ था चाहे वह सागरों वर्ष पहले हुआ

हो, जब यह बंध हुआ था उसी समय में प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग बंध हुए थे। प्रकृति मायने क्या? यह रागप्रकृति, द्वेषप्रकृति। ये जो बंध गए थे, वे स्वयं रागभाव करके सहित हैं, मगर उनमें अचेतन जैसा ही रागभाव होता, विकार और प्रकार होगा। तो वह रागभाव से आपन्न होने के कारण इस आत्मा के रागविकार के निमित्तभूत उस परद्रव्य के ही द्वारा यह आत्मा अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होता हुआ रागरूप से परिणमता है और इसी तथ्य को टीका के कलश में इतनी दृढ़ता से कहा गया है- न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः। तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोयमुदेति तावत्। देखो स्वभावदृष्टि की उमंग रखने वाले ज्ञानी किस-किस प्रकार स्वभाव की ओर उन्मुख हो रहे हैं। कभी भी यह आत्मा अपने आपके रागभाव का निमित्त नहीं होता। जैसे कि स्फटिक पाषाण स्वयं ही अपने आपकी ललाई का निमित्तभूत नहीं होता। तब फिर होता क्या है? तस्मिन्निमित्तं परसंग एव, उस रागभाव के होने में निमित्त पर का संग ही है। टीका में एव लगाया, किल लगाया, वस्तुस्वभाव कहा, तावत् कहा- कितनी दृढ़ता से बात कही जा रही है। यह वस्तु का स्वभाव ही है, मायने रागादिक भाव होने का यह ही ढंग है और प्रकार नहीं है। क्या कि पूर्वबद्ध कर्म का विपाक हुआ, उस काल में चूँकि प्रतिफलन तत्काल हुआ और वह अशुद्ध उपादान अपने आपके शुद्धस्वभाव से च्युत होकर उस ही कर्मस्वभावरूप से अपने ज्ञान को हुबाता रहता है बस यही स्थिति है अज्ञानी की। इस तथ्य को जाननेसे इसमें भेदविज्ञान कैसा स्पष्ट हुआ कि इस रागविकार से मेरा मतलब नहीं, रागविकार तो नैमित्तिक है, औपाधिक है, मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो एक विशुद्धज्ञानस्वभावमात्र हूँ। देखिये यथार्थ परिचय करना, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में परस्पर कर्ताकर्मबुद्धि का कोई अवकाश नहीं। यह वस्तु के सत्त्व का नैसर्गिक नियम है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य की परिणति को नहीं कर सकता। मगर विकार जब होता है तो वह विकार इस पर उपाधि के सन्निधान बिना होता नहीं, तो इस तरह से इसके विभाव को परभाव निरखें, तब समझिये कि उसके विविक्त जो आत्मा का चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्व है उसका हमने परिचय पाया। उस ओरहमारी उमंग हुई।

1013- ज्ञायकस्वभाव की टंकोत्कीर्णवत्ता के उदाहरण का अन्तस्तथ्य-

मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वरूप हूँ, टाँकी से उकेरी गई प्रतिमा की तरह। उसमें क्या क्या होता है? प्रधान बात तो यह आती है कि प्रतिमा निश्चल होती है। टाँकी से उकेरी गई प्रतिमा के हाथ पैर आदिक अंग हिलते नहीं। कोई मिट्टी की, रबड़ वगैरह की मूर्ति बना दे तो थोड़ा मोड़ लिया, कुछ सीधा कर लिया, उधर टाँकी से उकेरी गई प्रतिमा कैसे चलित की जा सकती? ऐसे ही मेरा जो चैतन्य स्वरूप है वह कहाँ चलित हो सकता? अब तक यद्यपि रहा भ्रम में, बिगाड़ हो गया तो भी मेरा स्वभाव तो वही वही है, एक बात। दूसरी बात जैसे टाँकी से उकेरी गई प्रतिमा किसकी व्यक्ति है? उसी पाषाण की। जब कारीगर पत्थर को देखता है, लोगों ने चाहा कि उसमें ऐसी बाहुबली स्वामी की प्रतिमा बना दो। कोई बड़ा पत्थर पड़ा था, कारीगर ने उसे चारों ओरसे अगल बगल से देखा और कह दिया कि हाँ साहब बिल्कुल बन जायगी,

ऐसा कहना इस बात की सूचना देता कि कारीगर को तो उस पत्थर में प्रतिमा दिख चुकी। तभी तो वह झट कह देता कि बिल्कुल बन जायगी। मगर आँखों से नहीं दिखी, ज्ञान से दिखी। अच्छा अब आँखों से देखने के लिए क्या पौरुष करता है? वह जो प्रतिमा ज्ञान से दिखी, उस पर ठोकर नहीं लगे और उस प्रतिमा का आवरण करने वाले अगल बगल के पत्थर हट जायें, ऐसी वह अपनी चेष्टा करता है। पहले बड़ेहथौड़े से, फिर छोटी हथौड़ी ये छेनी से वह पत्थरों को हटाता है, फिर अत्यन्त छोटी छेनी व हथौड़ी से उस पर ढंकने वाले, आवरण करने वाले पत्थरों को हटाता है, इस तरह पत्थरों को हटाने पर वह मूर्ति प्रकट हुई। मूर्ति तो जो थी बस सो ही है। उसका जो आवरण था वह दूर हो गया है। तो देखो इसी तरह से प्रथम जो यह जीव है साम्प्रत पर्याय वाला, यह ही पत्थर का उदाहरण ले लीजिए। इस उपयोग ने सोचा, इसे उपदेश मिला, खुद ने चाहा कि हमको सिद्ध भगवान बनना चाहिए। यहाँ से वह परमात्मस्वरूप प्रकट होना चाहिए। कैसा? जो कर्मों से मुक्त है, विषय कषाय विभावों से जो अलग है, ऐसा यह सहज परमात्मतत्त्व प्रकट होना चाहिए। तो इसको परखें, अपने को भीतर देखें, खूब निरखें। अपनी ओरआया, उतरा कुछ परख के बाद यह बोल उठा कि हाँ बनेगा यह सिद्ध प्रभु। किसके अन्दर में यह दृढ़ता की आवाज है? उसके आवाज होगी जिसने अविकार परविविक्त अपने स्वभाव को निरखा है। अच्छा, वह ज्ञान से तो देखा, श्रद्धा से तो जाना। अब व्यक्त रूप में यह आ जाय उसके लिए अब क्या करना? बस आवरण को हटावो। आवरण में ही तो पड़ा हुआ यह सहज भगवानआत्मा इस स्थिति में है, आवरण हटावो। आवरण कैसे हटेगा? वहाँ तो बाहर की हथौड़ी , बाहर की छेनी, उसका साधन बनाया था। यहाँ कौनसी चीज लायें? तो यहाँ क्या है? बस प्रज्ञा यही है छेनी, यह ही हथौड़ी और यही है कारीगर। दूसरा कोई कारीगर नहीं, अपने आपमें सहज परमात्मतत्त्व का विकास करने वाला न कोई दूसरा साधन है न कोई दूसरी चोट है। तो यह अपने आपमें ज्ञानबल से वह निरख रहा। क्या निरख रहा? अरे वही जो स्वभाव समझा उसे ही प्रखरता से निरख रहा।

1014- द्रव्यानुयोग के साधक को चरणानुयोग की आवश्यकता का एक चित्रण-

हाँ अब देखो चरणानुयोग कहाँ आ धमकता है। इस स्वभाव का आलम्बन करने की धुन इस ज्ञानी में है मगर पूर्वबद्धकर्म के विपाक ऐसे हो रहे हैं कि उस प्रसंग में बाह्यपदार्थों का आश्रय कर अपने स्वभाव के उपयोग से दूर हो जाता है, हट जाता है। इसमें भी क्या संदेह कर रहे? सोच लो आप इस समय हट रहे कि नहीं, हम हट रहे कि नहीं। चाह रहे हैं कि हम स्वभाव में मग्न हो जायें, चाह के अनुरूप दृष्टि बनी रहे तो ऐसी स्थिति होती कि नहीं?बस, उन विघ्नों से दूर होने के लिए हम जान-जानकर अध्यवसान के आश्रयभूत पर पदार्थों का त्याग किया करते हैं।यद्यपि यह कोई नियम नहीं है कि हम बाह्यपदार्थों का त्याग कर दें तो अध्यवसान हट ही जाय, मगर यह नियम है कि अध्यवसान नहीं होते, ऐसी स्थिति तब ही बनती जब बाह्यपदार्थों का संग प्रसंग नहीं है। तो चरणानुयोग में यह ही तो विधि है कि अध्यवसान के आश्रयभूत परपदार्थ का परिहार करें, हो गया। जैसे किसी एक बड़े लाभ के लिए छोटे काम भी करते, बड़े काम भी

करते, सम्भावना पर भी काम करते। वहाँ तो गम नहीं खाते, और यहाँ स्वभाव का आश्रय करने रूप धर्म के लिए हम कोरी एक बात ही बात करते रहें, और हम अपना संयमी जीवन न बिताये तो समझिये स्वभाव की रुचि विशेष न कही जायगी, क्योंकि स्वभाव की रुचि यदि विशेष बलिष्ठ है तो उसके लिए यह सब कुछ समर्पण व परिहार करने में संकोच नहीं कर सकता।

1015- जीवविकार में परसंग के निमित्तत्व के कथन में वस्तुस्वभाव की प्रयुक्तता-

यहाँ प्रकरण चल रहा है, घटना के वस्तुस्वभाव का। वह परसंग ही विकार में निमित्त है। स्वयं स्वयं के विकार में निमित्त नहीं है उस स्थिति में यह आत्मा शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ रागविकार रूप परिणमता है। तो ऐसी स्थिति जानकर हम यह शिक्षा लें कि यह राग औपाधिक है, नैमित्तिक है, यह परभाव है, यह मेरा स्वभाव नहीं है, ऐसा सोचने के साथ साथ ही यह ज्ञान में आ रहा है कि मेरा स्वभाव यह है। जैसे जब थाली में चावल बीनते हैं घर में भात बनाने को, सो जैसे वह कहता कि यह चावल नहीं है, यह चावल नहीं है, तो देखो उसे चावल का बोध है तब ही तो वह दूसरी चीजों का निषेध कर रहा है। यह विकार भाव मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा वही तो जान सकता कि जिसको स्वभाव का परिचय हुआ है। तो ऐसे इस अंतस्तत्त्व ज्ञानमात्र ज्ञानस्वरूप को पहिचान रहा है ज्ञानी और राग को जड़ के रूप में निरख रहा है ज्ञानी। स्वभाव परिचय के लिये किस तरह क्या किया भीतर में? बड़ा कठिन छेदन किया, उसका अलगाव किया तो वहाँ निर्मल भेदज्ञान उदित होता है, अहा, इसका आश्रय करने वाला जीव प्रसन्न हो, जयवंत हो।

1016- अन्तरात्मा को अन्तर में ज्ञानघनौघता का दर्शन-

यहांसम्बर तत्त्व में इस अन्तरात्मा को क्या दृष्टि हो रही, यह तो एक शुद्ध ज्ञानघन का ही ओध है, पिण्ड है, ज्ञानघन में घन वजनदार का नाम नहीं है। घन वजनदार हो यह बात अलग है मगर घन नाम वजनदार का नहीं, किन्तु किसका नाम है? जहाँ द्रव्यान्तर भाव का प्रवेश नहीं उसे कहते हैं घन, घन का सही अर्थ। कभी स्वयं स्वयं में भी द्रव्यान्तरपना हो जाता है ऐसा हो तो वह घन नहीं। जैसे एक सागौन की लकड़ी है। कोई ठोस है, कोई गैर ठोस है, ठोस मायने क्या कि जिसमें कमजोर या हल्का काठ, फोका अंश हो यह सब कहलाता है कि वह ठोस नहीं है। ठोस लकड़ी कौन है? जहाँ फोकापन भी नहीं, खाली जगह भी नहीं ऐसी लकड़ी को कहते हैं कि यह ठोस लकड़ी है। आत्मा ज्ञानघन है अर्थात् आत्मा में यह ज्ञान, ज्ञानमय यह आत्मस्वरूप, इसका कोई भी एक प्रदेश ज्ञान से रिक्त नहीं है, एकरूप ज्ञानवत है, जैसे कलश में भरा हुआ पानी, वह पानी जितते में हैं उसके बीच जरा सी भी जगह पानी से खाली नहीं हैं, अछूती नहीं हैं, वह पानी से खाली नहीं हैं, अछूती नहीं है। वह पानी से घन है, मायने भीतर में किसी भी जगह जरा से एक सूत भी जगह में, बहुत हल्की जगह में भी पानी न हो ऐसा नहीं है। घड़े में चने भर दिये, भले ही चने भरे हुए हैं मगर बीच-बीच में खाली जगह रहती है, मगर पानी भरे हुए में तो बीच में कहीं भी खाली जगह नहीं। वह है घन। और यही है उदाहरण आत्मा को ज्ञानघन निरखने का। उस जलपूर्ण घड़े को देखकर आत्मा के ज्ञानघन

की सुध होती है इसी कारण से पानी से भरा हुआ घड़ा दिख जाना सगुन माना है। आत्मा की सुध आयी ना। जिस-जिसको देखकर अपने आपकी ओर अभिमुखता हो वह-वह सब सगुन है। तो ऐसे ज्ञानघन का ओघ यह एक है सो दूसरी चीज से च्युत होकर और एक ज्ञानघन का आश्रय करके हे अन्तरात्माओ अपने आपमें अपना प्रसाद प्राप्त करो।

कलश 127

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदय-मुदय-दात्माराममात्मानमात्मा
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥127॥

1017- सहजज्ञानानुभूति में प्राप्त सहज आनन्द के अनुभव के क्षण को धन्यवाद-

उसे ही नया वर्ष कहो, उसे ही नया दिन कहो, उसे ही नई घड़ी कहो जिस काल में यह जीव अपने सहज चैतन्य स्वरूप में यह मैं हूँ ऐसा अनुभव करके निर्विकल्प होवे, आत्मीय आनन्द का अनुभव करे। ऐसा ज्ञानी पुरुष प्रशंसनीय है, धन्यवादमय है- आदर्श है और अपने लिए तो वह स्वयं कल्याणमय है। कैसे प्राप्त हो यह स्वभाव की अनुभूति? सीधे-सीधे उपाय हैं। मोक्ष का मार्ग स्वभाव के आलम्बन से ही मिलेगा। स्वभाव का आलम्बन स्वभाव के परिचय बिना कैसे किया जायगा, स्वभाव का परिचय विभाव से हटे बिना कैसे बन पायगा? जो जीव अपने ज्ञान को कर्मस्वभावरूप से हुआते रहते हैं उनको स्वभावदृष्टि का अमृत कैसे प्राप्त हो सकता है? तो विभावों से उपेक्षा करना यह सबसे पहला काम है। और, विभावों से उपेक्षा करने में बस यह निमित्तनैमित्तिकभाव के परिचय की बात बहुत साधक है, पर इसके ठीक सदुपयोग से इसका काम लेना, यदि परस्पर कर्ताकर्मबुद्धि हो गई तो बात न बनेगी। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता कभी होता ही नहीं अर्थात् एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप परिणम जाय तो बताओ वह रहा कि यह रहा? कुछ भी न रहेगा, सो ऐसा हो ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है, पर जिसे विकार कहा गया वह हुआ कैसे? सो सुनिये।

1018- विकारघटना का विचरण-

भैया। घटना से देखोगे तो समझ बनेगी कि विकार यों हो गया कि पूर्वबद्ध कर्म का उदय आया, उस काल में तत्काल प्रतिफलन हुआ और वहाँ यह उपयोग अबुद्धिपूर्वक कर्मविपाकाकार हुआ, मानों वह प्रतिफलन एक आक्रमण है जैसा कि समयसार आत्मख्याति में कहा गया, कर्मविपाकाक्रमण, उस काल में यह जीव अपने शुद्धस्वभाव से च्युत होकर, उसके अनुरूप विकल्परूप परिणमने लगा, विकार के समय हुआ

क्या? एक आत्मा की दृष्टि से देखें, तो हुआ क्या? एक पर दृष्टि देकर निर्णय करें, निश्चय से क्या हुआ? तो हुआ यह कि यह आत्मा कर्मस्वभावरूप से परिणम गया, कर्म के स्वभाव से नहीं। जो बाह्य में पुद्गल द्रव्य है, उसके स्वभाव से नहीं, पर भीतर में ही जो एक प्रतिफलन है, जो एक परतत्त्व है उसकी ओर अबुद्धिपूर्वक इसका जुटाव बना। देखिये यह जुटाव कैसे बनता? जैसे दर्पण में चीजों का फोटो आया, हाथ का आया, मुख का आया, और भी अन्य चीज का आया। अच्छा बताओ दर्पण में अंधेरे का फोटो आता कि नहीं? अच्छा रात के समय दर्पण रखा है तो बताओ उसमें कोई फोटो आ रहा कि नहीं? आ रहा। किसका?...अंधेरे का। वहाँ कुछ पता भी पड रहा क्या? पता कुछ नहीं पड रहा। तो यहाँ जो बाहरी ये विषय प्रसंग हैं इनका जानना तो पता वाला जानना है। हम जानते हैं, इसको जाना, उसको जाना। अगर यहाँ कर्मविपाक का प्रतिफलन हो गया, हुआ तो वह ज्ञान में विकल्प, मगर जानकारी में कुछ नहीं आ पाता कि यह ज्ञेय बनता। और, नटखट सब हो जाते हैं। जैसे दर्पण में फोटो का प्रतिबिम्ब हुआ ऐसे ही इस उपयोग में, स्वच्छभूमि में कर्मविपाक का प्रतिफलन हुआ, अब आत्मा यह अपने स्वभाव से च्युत हुआ अपनी स्वच्छता के तिरोभाव में कर्मरूप से परिणमने लगा।

1019- विभावों की असारता जानने पर विभावों से हटने का उद्यम-

तो ये मूल में विकार की बातें जिनको विदित हों वे विभाव से हट जाते हैं। क्या सार है इन विभावों में? ये जब स्वभाव से उदित नहीं हुए, ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, तो जीव के लिए तो ये आपत्तिरूप हैं, दुःखरूप हैं, क्योंकि ये सब आगंतुक हैं। ऐसा बोध करके यह अपने स्वभाव के उन्मुख होता है। हाँ अब चलो अन्दर जब स्वभाव की ओर अभिमुख हुए तो एक आत्मतत्त्व का पूरा ध्यान बनावें। क्या है यह स्वभाव? अनादि अनन्त अहेतुक परमात्मतत्त्व है जिसका कि जाननस्वरूप है, प्रतिसमय जानता रहता है। जानना ऐसा स्वतंत्र है कि यह किसी के अधीन नहीं है, जानने में विषय, होते हैं इसलिए कहा जाता कि ज्ञेय का आलम्बन कर इसने ज्ञान परिणति की, पर ऐसा नहीं है। यह ज्ञेय का आलम्बन करके परिणति नहीं करता, ज्ञेय से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, ज्ञेय से ज्ञान का तादात्म्य नहीं होता, यह तो क्षणिकवादियों का कथन है कि ज्ञान की उत्पत्ति बाहरी पदार्थ से होती है। ज्ञान बाहरी पदार्थ हुआ करता है यह भी क्षणिकवादियों का सिद्धान्त है। ज्ञान तो अपने आत्मद्रव्यत्व स्वभाव के कारण ज्ञान को विषय करता हुआ सदा परिणमता रहता है। अब ये स्थितियाँ एक बन्धनदशा की हैं कि यहाँ हम इन इन्द्रियों का आलम्बन लेकर कुछ जान पाते हैं कि इतने-इतने परिग्रह हैं, अन्य साधन हैं, इन सबके प्रसंग में हम इसे निरख पाते हैं। यह स्थिति आ गई लेकिन यहाँ भी ज्ञान जो जान रहा है वह अपने ही सामर्थ्य से जान रहा है अन्य पदार्थ की सामर्थ्य से नहीं जानता, तो यह तो ज्ञानरूप हुआ। मैं ज्ञानस्वभावी हूँ और ज्ञान-ज्ञानरूप परिणमता रहता हूँ, ऐसा अपने आपको यहाँ स्वभाव से देखो, और जहाँ यह परिचय पाया स्वभाव में कि यह मैं हूँ तो वह अब अज्ञानरूप कहाँ बनेगा?

1020- ज्ञानस्वभाव का अनुभव होने पर उसकी प्रतीति की निरन्तरता-

आपने किसी चीज को जान लिया कि यह फला चीज है, अब कितने ही लोग बहकायें तो भी आप बहकते तो नहीं। वह ज्ञान बदलता नहीं, ऐसे ही यह अन्तरात्मा अपने आपके सहज ज्ञानस्वभाव को पहचान ले, अब उसकी यह पहचान बदलती नहीं। फिर भी स्थितियाँ बड़ी विचित्र हैं। कहीं उपशम हुआ, फिर मिथ्यात्व उदय में आया और वहाँ उस रूप भाव बने तो वह ज्ञान मिट भी जायगा। अज्ञानरूप परिणाम जायगा। वहाँ पर भी यह ज्ञान अपने आपमें किसी कल्मषता को लेकर अज्ञानरूप परिणाम, परिणामे, पर ऐसा हम ध्यान क्यों रखें कि यह अज्ञानरूप परिणामेगा। जब उसने अंतस्तत्त्व को निरखा, उसका सारपना जाना कि यह ही एक सारभूत पदार्थ है तो जो दिल में बसे, जो सारभूत हो, हितरूप हो, शरण हो, सर्वस्व हो वह दिल में से निकल सकता क्या ज्ञानकाल में? तो ऐसे इस ज्ञान में जब यह अंतस्तत्त्व आया, यह स्वभाव मेरा स्वरूप जब यह परिचय में आया भली प्रकार तो यह निकल सकता क्या? अब काम क्या करना? काम यह करना कि अनवरत धारा से उसही में इसका प्रयोग किए रहें, बस यही हमें करना, आपको करना, कर नहीं पाते, सबकी आवाज ऐसी ही आयगी, करते हैं, कर नहीं पाते, अरे नहीं कर पाते तो भी करने का ही लक्ष्य रखना है, यह भी तो ध्यान है ना या नहीं करना है ऐसा ध्यान है। क्या ऐसा परिणाम जगता है? स्वभाव को निरखना, उसमें मग्न होना चाहते हैं, उसी का निरन्तर ध्यान रखना चाहते हैं। नहीं रख पाते हैं तो भी वह लक्ष्य तो नहीं छूटना चाहिये। करना तो यह ही है। तो ध्यान से, प्रतीति से, प्रयोग से, पौरुष से, सर्व प्रकार से अपना बल प्रयोग करके (कौनसा बल, ज्ञानबल) यदि किसी प्रकार से इस ही निरन्तर धारा में होकर कुछ स्वभाव का ही उपयोग बना रहे और वह इस शुद्ध परिणाम को प्राप्त करे, शुद्ध आत्मारूप अपना उपयोग बनाये तो यह पर परिणति का निरोध करके सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

1021- शुद्धात्मा का अर्थ-

यहाँ एक बात खास जानना कि शुद्धात्मा शुद्धात्मा के बराबर प्रयोग होते और उसके बाबत लोग विवाद करने लगते तो उस शुद्ध आत्मा का अर्थ क्या है, देखिये शुद्धात्मा का प्रयोग दो जगह मिलता है, एक तो जिसकी परिणति, अवस्था निर्मल होती है उसे कहते हैं शुद्ध तो ऐसा शुद्धात्मा कौन हैं? अरहंत और सिद्ध, जिसकी परिणति शुद्ध हुई है, निर्मल हुई है सो शुद्ध आत्मा हुए। मगर शुद्धात्मा का एक अर्थ और है, जो शुद्धात्मा का मुख्य अर्थ शुद्धपरिणति वाला ज्ञात होने से, उसे शुद्धात्मा बोलने में कुछ खटक सी लगती, मगर जब शुद्धत्व का अर्थ ज्ञात हो जायगा तो खटक न रहेगी। शुद्ध के मायने है केवल प्योर। वैसे नाम शुद्ध रख दिया, पवित्र, पर शुद्ध का शुद्ध अर्थ है जो हो सो है, पर प्योर का, केवल का खालिस का अर्थ उस पर्यायनिर्मलता पर दृष्टि रख कर नहीं है, किन्तु वह वह ही है, उसके साथ दूसरा कुछ नहीं होता, न कोई द्रव्य का सम्बंध होगा, न कोई द्रव्यान्तर का प्रभाव, वहाँ पर का कुछ मतलब नहीं, प्रभाव नहीं, कुछ बात ही नहीं, केवल वह ही वह हो उसे शुद्ध कहते हैं। यहाँ द्रव्य शुद्धि के भाव को समझने में पर्यायनिर्मलता की बात बिल्कुल ध्यान में न देना, अनिर्मलता की बात भी ध्यान में न देना, केवल एक सत्त्व को दृष्टि में लें। वह एक

पदार्थ है, सत्त्व है, उस ही को ध्यान में लें, वही एक शुद्धत्व है, उसको ध्यान में लेकर यह जानें कि यहाँ शुद्धात्मा मायने है ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा के अन्दर परखा गया केवल, खालिस एकमात्र जानन प्रतिभास स्वरूप यह परमात्मतत्त्व। केवल आत्मा के सहज सत्त्व कला पर दृष्टि देकर जहाँ ध्यान में लिया, बस पर से विवक्त अपने आपके स्वरूप में एकत्व ऐसा जो तत्त्व है उसे कहते हैं शुद्ध। देखिये जान रहे हैं ऐसा शुद्ध, फिर भी जो राग परिणमन चल रहा है निरन्तर अबुद्धिपूर्वक सो चल ही रहा क्योंकि उपयोग तो लिए हुए है हम इस शुद्धात्मा की ओर, तो उपयोग में कैसे आयेंगे? उपयोग रहेगा हमारी जानकारी में कि जैसा है यह सब कुछ जान रहे हो। सो बुद्धि में विकार आयगा तो नहीं, मगर उदय है, प्रतिफलन है और उस प्रकार का वहाँ उपयोग है, चल रहा है, पर्याय में देखें तो अभी वह अशुद्ध है, कौन? जो शुद्ध आत्मतत्त्व के ध्यान में लगा हुआ है, मग्न है, अथवा यों कहो कि स्वानुभव में वह है और एक अलौकिक आत्मीय आनन्द ले रहा है, मगर हम उस अशुद्धता को देखते भी नहीं, हमारा वहाँ कुछ प्रयोजन ही नहीं। अशुद्धता को देखने में विकल्प है, अशुद्ध होकर भी अशुद्धपने को देखने में हमारी प्रगति नहीं है, हमारी प्रगति है इस केवल शुद्ध तत्त्व को निरखने में।

1022- दृष्टान्तपूर्वक शुद्धात्मा के अर्थ का विवरण-

एक दृष्टान्त ले लो दृष्टान्त कई बार लेते है दूध का, शुद्ध दूध का। देखो- शुद्ध दूध का अर्थ क्या है ! एक तोयह अर्थ है कि ऐसा दूध जो ब्रती लोग खा सकें: हाथ पैर धोकर लाये और अन्तर्मुहूर्त में उसे छान ले, फिर चाहे उसमें अठपहरा पानी कितना ही मिला देवे, पर वह शुद्ध माना जाता है पर एक शुद्ध दूध की बात दूसरी ओरसे देखो। चाहे कैसे ही दुहे, कोई भी दुहे, जुता पहनकर दुहे या बिना हाथ पैर धोये दुहे, पर उस दूध में न तो जरा भी पानी डाले, न उसमें से जरा भी क्रीम निकाले, केवल दूध ही दूध रहे तो वहाँ पदार्थ की ओरसे देखो तो वह शुद्ध दूध है, वह खालिस दूध है। खालिस के मायने क्या ! जिसमें कोई दूसरी चीज न लगायी जाय और भीतर का कुछ निराला न जाय उसे कहते हैं पदार्थ की ओरसे शुद्ध। तो ऐसे ही शुद्धात्मा के मायने क्या है? जिसका कि ध्यान करने से हमको मोक्षमार्ग मिलता। कहते हैं ना शुद्धात्मा का ध्यान रखें तो मोक्षमार्ग मिल जायगा। तो अब वहाँ ध्येय शुद्ध आत्मा कौन? कह सकते हैं अरहंत सिद्ध, मगर वे परपदार्थ हैं। उनका ध्यान हमारे शुभोपयोग को तो बना लेगा, मगर परपदार्थ का लक्ष्य होने पर वह हमारे शुद्धोपयोग की रचना न करेगा, जरूरत उसकी भी है इसलिए वह बात चलती है और एक तुरन्त तुरन्त बात होने से पता नहीं पड़ता कि यह शुद्धोपयोग स्वावलम्ब से हुआ है या भक्ति से हुआ है। 100 पान हैं और सुई यदि तेजी से चुभो दी जाय तो वहाँ ऐसा लगता है कि वे सभी पान एक साथ छिद गए, पर ऐसी बात नहीं है, एक के बाद एक पान क्रम क्रम से छिदा मगर त्वरित काम होने से पता नहीं पड़ता।

1023- स्वावलम्बन से सम्यक्त्व का उद्भव-

सम्यग्दर्शन का उद्भव स्वावलम्बन से है, मगर स्वावलम्बन से होने वाला सम्यग्दर्शन अशुभोपयोग के बाद होगा या शुभोपयोग के बाद? शुभोपयोग के बाद ही होगा, अशुभोपयोग के बाद रत्नत्रय नहीं होता, शुद्धोपयोग नहीं होता। शुभोपयोग के बाद ही सम्यक्त्व होता है। तो उस सम्यग्दर्शन की उद्भूति से पहले जो शुभोपयोग हुआ, अनन्तर पहले उस शुभोपयोग में जिनबिम्बदर्शन, वेदना, ऋद्धिदर्शन, उपदेश सुनना, चर्चा आदिक सब बातें आयी ना? और, उस आशय से इसका वह शुभोपयोग हुआ। जिस शुभोपयोग के बाद उसका स्वावलम्ब बनता और सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती। तो तीर्थप्रवृत्ति में तो कहा ही जायगा यह कि सम्यग्दर्शन के निमित्त हैं। क्या-क्या? जिनबिम्बदर्शन, ऋद्धिदर्शन था और-और, ये सब सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के निमित्त हैं, और, इसी कारण धवला में, चूलिका में, छटी पुस्तक में अन्त में एक अधिकार ही दिया है कि किस गति के जीव कौन-कौन सा निमित्त पाकर सम्यग्दर्शन करते हैं। कहीं चार निमित्त हैं, कहीं तीन, कहीं, कहीं दो। वह उसमें वर्णन है, पर सबका तथ्य तो जानना।

1024- शुद्धात्मोपलम्भ का पौरुष-

मूल में क्या करना कि धारावाही ज्ञान से एक अपने आपके इस शुद्ध आत्मा को निरखना। क्या? वही वही केवल, एकत्व, विभक्त, विभक्त के मायने पर से निराला एकत्व मायने अपने स्वरूपमात्र में तन्मय, ऐसा यह अपने आपमें निरखो तो जब निरखने आप चलेंगे, प्रयोग करने चलेंगे, कोई बात सोचेंगे तो आप उसमें पुरुषार्थ लगायेंगे कि नहीं। तो क्या पुरुषार्थ लगता है कि जिससे हमको इस अंतस्तत्त्व का अनुभव बनता है। पुरुषार्थ सीधा है अपने को ज्ञानमात्र निरखना जाननमात्र, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं बन पायगा और उसके जानने में इष्ट अनिष्ट रागद्वेष विकार रूप नहीं है। किसी अग्नि में लोभान गंधक डाल दिया और उसकी ज्वाला कुछ रंगीली, कुछ और तरह, कुछ ढंग से उठे, उठ गई, उसमें ज्ञानबल से भेद कर सकते ना कि अग्नि का शुद्धस्वरूप यह, और यह है परप्रसंग की बात। बल्ब पर नीचे हरा कागज लगा दिया वही रोशनी हो गई। आप उस रोशनी में यह भेद डाल सकते ना कि जो हरापन है वह रोशनी नहीं, जो रोशनी है वह अपने में एक प्रकाशमात्र है। अब वह प्रकाश कहीं सफेद मिलता, कहीं हरा मिलता, कहीं लाल मिलता, कहीं और तरह का मिलता, जिस पर भी प्रकाश का स्वरूप तो प्रकाश ही है, हरा, पीला, नीला आदिक नहीं है, ऐसे ही अपने आपके आत्मा में, अपने आपके केवल उस ज्ञान प्रतिभास को निरखिये जाननमात्र, यही यही बार बार निरखिये, करने का काम यही है, बाकी तो जब एक यह काम नहीं करते हैं तो उस समय की बातें है। क्या पदार्थ है, क्यों है, कहाँ है, क्या घटना, क्या प्रसंग, जब बाहर-बाहर डोल रहे हैं, तो बाहर बाहर की बातें इससे सम्बंधित चल रही हैं। मगर जहाँ केवल अपने आपके इस अंतस्तत्त्व का ही सम्बन्ध रखा वहाँ बाहर की बातों का काम क्या? केवल एक ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको निरखना। यह बात कुछ देर तक चलती तो रहे। यह आत्मा अपने इस विशुद्ध स्वरूप को ज्ञान में प्राप्त कर लेता है, वहाँ हो ही गया पर परिणति का निरोध।

1025- ज्ञानपरिणाम की दो विधियों के दो प्रभाव-

देखो ज्ञान है ना? उस ज्ञान के परिणाम की दो विधियाँ हैं। यह ज्ञान ज्ञानस्वभाव से परिणाम ले या यह ज्ञान कर्मस्वभाव से परिणाम ले। दो ही तो उसकी बातें हैं। कर्मस्वभाव से परिणामे उसका फल है संसार, जन्ममरण, चारों गतियों के दुःख और ज्ञानस्वभाव से परिणामे, उसका फल है मोक्षमार्ग, मोक्ष की प्राप्ति। अपने आपको कैसा अनुभव करना, बस ज्ञानमय भाव। और, अज्ञानमय भाव का अर्थ क्या है? कर्मस्वभाव से परिणामते हुए अपने को अपना स्वरूप समझना। इसे कहते हैं अज्ञानमयभाव, और ज्ञानस्वभाव से परिणामते हुए की उस स्थिति में अपने स्वरूप का परिचय करना कि मैं यह हूँ, ऐसी बात जहाँ पड़ी है वह ज्ञानमय भाव है। ज्ञानमय भाव होने पर ज्ञानमय बात ही चलती है, अज्ञानमय भाव होने पर अज्ञानमय बात चलेगी।

कलश 128

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या

भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।

अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां

भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥128॥

1026- पर की महिमा का भान छोड़कर अपनी महिमा समझने का अनुरोध-

यह जीव खुद अपने लिए महान है, शरण है, पर अपनी महिमा को भूल गया और कैसा पाप का उदय है कि बाह्य वस्तु की महिमा को यह समझ रहा, इसे पाप का ही उदय कहना चाहिये, क्योंकि मिथ्यात्व का उदय महापाप का उदय कहलाता है। हम अपने आपकी निधि को पहिचानें नहीं, अपनी निधि को समझें नहीं, और बाहरी पदार्थों की महिमा गाया करें तो ऐसा करते-करते जीव का अनन्तकाल गुजर गया, मगर यह जीव उस ही दंदफंद में, जन्म मरण में पड़ा हुआ है। यह भव पाया है दुर्लभ, तो यहाँ गृहस्थ होने के कारण आपको करना तो पड रहा है सब कुछ, मगर धुन, ध्यान, दृष्टि, लक्ष्य यह ही बनाना होगा कि मैं अपने स्वरूप को समझूँ और उस ही में तृप्त रहूँ जिससे कि संसार के जन्म मरण संकट सदा के लिए छूट जायें। बाकी पर की महिमा गाने से लाभ क्या पा लेंगे इस जीवन में? मानों कभी सम्पदा भी बढ गई तो वह सम्पदा क्या है? पौद्गलिक चीज है। आपसे भिन्न है, उसके कारण कहीं शान्ति नहीं आया करती। शान्ति तो अपने महिमा वाले ज्ञान से समझिये, स्वावलम्बन से ही शान्ति होगी। शान्ति बाहरी पदार्थ से नहीं होती, इसमें तो और तृष्णा ही बढती है। तो बाहरी पदार्थों की महिमा का गान करना छोड़ दें और अपने आपकी स्वरूप की महिमा का गान करें, जैसे जो कोई किसी वस्तु में बहुत कुछ तकलीफ पा चुका हो किसी संसर्ग में, तो जैसे वह उपेक्षा कर देता, अब उसे उस बात का प्रयोजन नहीं, न ही हठ है कि मैं तो यही रहूँगा, तो

जब संसार में अनन्त काल जन्ममरण की विडम्बना में सह-सहकर अपने को दुःखी किया तो अब तो यह बनावें अपना दृढ़ संकल्प कि मैं अब पर की महिमा न गाऊँगा, पर पदार्थ में महिमा की कोई बात ही नहीं मेरे लिए, मैं तो अपनी महिमा को निरखूँगा और उसी महिमा में रत होऊँगा।

1027- अपने अन्तस्तत्त्व की महिमा-

वह क्या है अपनी महिमा? जो मेरा असल परमार्थ निरपेक्ष सत्ता के कारण जो मेरा स्वयं सहज स्वरूप है यह स्वरूप ऐसी महिमा वाला है कि यदि उस स्वरूप में ही मैं रहूँ, उस स्वरूपमात्र ही अपने को मानकर रहूँ तो उस स्वरूप का इतना अतुल विकास होगा कि तीन लोक अलोक के समस्त पदार्थ एक साथ इसमें प्रतिबिम्बित हो जायेंगे। तीन लोक का ज्ञाता हो उससे बढ़कर किसकी महिमा कहें? मुझे केवलज्ञान हो जाय, मैं तीन लोक का ज्ञाता हो जाऊँ यह इच्छा भी आवरण हो गया, यह भी बाधा है, और इससे क्या मतलब? तीन लोक का ज्ञाता होवे तो क्या, न होवे तो क्या? यदि अपने स्वरूप में अपना ज्ञान बना है, बसा है तो निराकुलता है, अब इसके फल में जो होना, सो स्वयमेव होगा, इससे आगे और कोई फल न चाहिए। केवल एक ही निर्णय, एक ही अपनी धुन कि मैं अपने स्वरूप को जानूँ, अपनी महिमा को पहचानूँ और उसमें ही खुश रहूँ।

1028- बाह्यपदार्थप्रसंग में लगाव तजने में ही हित-

बाहरी पदार्थों के संग प्रसंग के क्लेश के अनेक उदाहरण तो सामने पड़े हैं। यदि कोई एक घर के लोग बड़ी अच्छी तरह से रह रहे, बड़े अच्छे लड़के हैं, आज्ञाकारी है, सब मौज बन रहा है, बड़े अनुकूल बन रहे हैं उसे एक अपना घर कोई समझ ले और उसमें रहकर बड़ा मौज माने तो इतने मात्र से काम क्या बनता? तो बताओ आप एक ऐसे ही मनुष्य भर ही हैं क्या, और कुछ नहीं बन सकते क्या? जैसे और परिवार के आदमी हैं किसी की किसी से कलह रहती, किसी की स्त्री और पति की कलह रहती, उनमें आपस में सुविधा सब कुछ होने पर भी एक फूट होने के कारण तकलीफ चल रही है यदि ऐसी बातें जब सर्वत्र दिख रही है तो आप उनमें से नहीं हो सकते थे क्या? आज अगर अच्छे परिवार में हुए, मौज में हुए तो इसका क्या भरोसा? ये सब रहेंगे क्या? ये छूटेंगे नहीं क्या? और आज ऐसे हैं कल का कुछ पता नहीं। जो आज अनुकूल है कल प्रतिकूल हो सकते। तो यह सारा संसार दुःखमय है, किसी भी परतत्त्व से मेरे को कोई सुधार नहीं होता। मैं सुधरा हुआ हूँ तो पर पदार्थ वे हमारे आनन्द में मौज में एक सहायक हो गए, बाह्य कारण बन गए और खुद में सुधार न हो फिर और कोई दूसरा मददगार बने लौकिक दृष्टि से, ऐसा तो नहीं होता। आज दिमाग ठीक है, प्रतिष्ठा है, मान लो किसी का दिमाग बिगड़ गया, गलियों में फिरने लगा और ऐसे ही पागलपने में वर्षों गुजर गये तो उसके कोई घर का मददगार बनता है क्या कि यह मेरा अमुक है, इसकी मदद करें। इसको आराम से रखें...। अरे अब जान लिया कि यह दिमाग से पूरा बिगड़ चुका, अब इसका सम्बंध रखने से हमको कोई लाभ नहीं, तो उसके लोग उसे छोड़ देते। संसार में कौनसी

परिस्थिति ऐसी है जो मौज मानने लायक है। ये सब परिस्थितियाँ एक बाह्य हैं। उनसे मेरे को कुछ लगाव नहीं। लाभ है तो अपने आपकी महिमा होने में लाभ है। धर्मकरें। जब तक संसार है तब तक अच्छे अच्छे भव मिलेंगे, मुक्ति हो जायगी। लाभ ही लाभ है अपने आपको। पर पदार्थ से नाता जोड़ने में नुकसान ही नुकसान है।

1029- श्रद्धा में परिहार की नितान्त आवश्यकता-

भैया, वर्तमान परिस्थिति है, गृहस्थावस्था है, सारे काम करने होते हैं, इतने पर भी दृष्टि अगर विशुद्ध रहेगी तो आप अपने लिए शरण बन जायेंगे। अगर दृष्टि निर्मल न रही तो कभी भी अपना भला नहीं हो सकता। तो अपनी महिमा में रत होने का प्रयत्न रखिये। क्या महिमा है अपने सहज स्वरूप की। देखिये ऐसी बुद्धि व्यवस्थित करने के लिए बड़ा त्याग करना पड़ेगा। कितना त्याग करना पड़ेगा? सबका त्याग करना पड़ेगा, अरे, तब तो यह बड़ी कठिन बात है। कठिन बात नहीं है, ध्यान से समझो अपने आपको, सबका त्याग किए बिना स्वरूप की समझ नहीं बन सकती। सबका मायने घर का?...हाँ!...परिवार का?...हाँ!...तो आप कहेंगे कि अच्छे उपदेशक आये। भैया, अभी यों त्याग करने की बात नहीं कह रहे, पर ज्ञान में यह तो लावो कि मेरे स्वरूप में कोई पर पदार्थ मिला ही नहीं है। ज्ञान में त्याग की बात तो पूरी लेनी ही पड़ेगी। बाहरी त्याग की बात जुदी है, उसकी कुछ चर्चा नहीं कर रहे, पर ज्ञान में सबका त्याग हुये बिना अपने आत्मा के स्वरूप का दर्शन कर पाये यह कभी सम्भव नहीं। कैसे त्यागें? जान लो, इतना तो जानते हो, जैसे मान लो यह घड़ी है तो इस घड़ी में और कोई बाकी चीजें घुसी है क्या, या यह ही है, घड़ी में तो घड़ी है, और चीजें तो नहीं घुसी हैं, जैसे यहाँ यह बात समझ में आती कि घड़ी में घड़ी है, उसमें कोई दूसरी चीज नहीं घुसी, यह ही समझ अपने में बना लें, मेरे में मैं ही हूँ, इसमें दूसरी चीज कुछ नहीं घुसी, यह सत्य बात है तो ऐसा मान लो कि अन्तः नहीं घुसा कुछ, मुझमें किसी पर का प्रवेश नहीं। सभी पदार्थ अलग ही तो रह रहे, वे अपनी सत्ता में हैं। यह मैं अपने आपमें हूँ, उन सबका त्याग करता हूँ, अज्ञानी ही यह मानें कि मेरे में तो यह है, कौन कहता कि यह मेरा लड़का नहीं? मेरे घर में पैदा हुआ, मेरी बात मानता है, मेरा कैसे नहीं है। अरे ये लौकिक बातें छोड़ दो। यह बात बतलावो कि आपका जो स्वरूप है, जो भीतर ज्ञानमय तत्त्व है, जितने प्रदेश में है उसमें भी इन लड़कों का दखल है क्या? यह उसमें प्रवेश कर गया क्या? कोई इससे भी जुटा हुआ है क्या? है ना अलग, तो अपने ज्ञानस्वरूप को निरखो सही-सही रूप में तो एक रास्ता मिल जायगा इसी समय शान्त होने का, और ऐसा अपने आपका स्वरूप पाये बिना कभी भी शान्ति हो ही नहीं सकती। और, फिर कितने दिनों की बात? जीवन कितने दिन का है? अनन्तकाल के सामने यह 100-50 वर्ष का जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या? ध्यान में तो लावो कुछ बात। अपनी महिमा को पहिचानो। “लाख बात की बात यही निश्चय उर लावो। तोडि सकल जग दंद फंद निज आतम ध्यावो।” इसकी महिमा है केवल ज्ञान प्रतिभासा। जिन बातों को आप स्पष्ट समझते, जिसके पीछे आप तन, मन, धन, वचन, प्राण

सब कुछ न्यौछावर करने को तत्पर रहते उन उनका लगाव आपका पूरा दुश्मन है। लगाव परिजन से नहीं कर रहे। बच्चे दुश्मन नहीं, स्त्री दुश्मन नहीं, पति दुश्मन नहीं, घर दुश्मन नहीं, पर इन पर पदार्थों के प्रति ऐसा लगाव कि यह मेरा ही तो है, कौन कहता कि मेरा नहीं? ऐसे मेरेपन का लो भीतर में लगाव वाला ज्ञानविकल्प बसा, ऐसा जो लगाव, बस यह ही हम आपका पूरा दुश्मन है जो परमात्मस्वरूप का दर्शन नहीं होने देता।

1030- निर्मोह होकर जीवन बिताने का संदेश-

निर्मोह होकर घर में रहना नहीं बनता क्या? निर्मोह रहकर भी गृहस्थ घर में रह सकता। मोह का अर्थ राग नहीं, मोह का अर्थ है अज्ञान। अज्ञान हटाकर भी घर में रहा जा सकता। निर्मोह मायने अज्ञानरहित। मोह का अर्थ प्रीति नहीं, प्रीति तो चलेगी, प्रीति बिना गृहस्थी में कोई रह नहीं सकता, पर अज्ञानरहित होकर घर में रहा जा सकता है। वह अज्ञान दूर करना, अपनी महिमा को पहिचानना। तो अपनी महिमा में जो रत हैं, लीन हैं ऐसे ज्ञानी जनों को भेदविज्ञान की शक्ति से अपने आपमें बसे हुए शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है। मेरे में मैं हूँ, मेरे में और कोई नहीं, मैं मैं हूँ, मैं अन्यरूप नहीं। मैं ज्ञान ज्ञानमात्र हूँ, इस मेरे का जगत के अणुमात्र से भी ताल्लुक नहीं, सम्बंध नहीं, बात यह सही है कि नहीं? सही है। नहीं तो पहले इस बात पर ही निर्णय बना लें कि यह गलत है क्या? मेरे आत्मा का एक अणु मात्र से भी सम्बन्ध नहीं, बात सही है तो ऐसी ही बात जान लो, विश्वास में लावो, अब अपने आपकी महिमा समझने के लिए एक अपने उपयोग का उद्यम करो, यह महिमा समझी गई भेदविज्ञान के बल से। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे में दूसरी चीज नहीं आती। कर्मों के उदय होते हैं, उनका प्रतिफलन होता है, तो यह मुझ ज्ञानस्वरूप की ही कला है कि जो हो सो ज्ञेय बने। मगर ज्ञेय तक ही तो रहे यह जीव, उसके आगे बढ़ा कि राग करने लगा। ज्ञान की तो छुट्टी है। जितना चाहें आप ज्ञान करते रहें, पर का करें, स्व का करें, किसी का करें, मगर उस ज्ञान के साथ राग, इष्ट अनिष्टबुद्धि तरंग, यह न आनी चाहिए। मगर इस पद में, इस स्थिति में जो जानने के साथ ही कोई तरंग उठी जहाँ किसी चीज को भी जान लेने पर वह प्रतिषेध्य है, जिससे अधिक प्रयोजन भी नहीं, कहीं दो हवाई जहाज उड़ रहे हों, एक का तो बड़ा चमकदार सफेद रंग है और एक का मटमैला है तो उस चमकदार को देखकर मन कर जाता कि देखते रहें, यह बड़ा अच्छा है। और अच्छा तो है पर तुम्हें मिल क्या जायगा? तो प्रयोजन भी कुछ नहीं, मिलना जुलना भी कुछ नहीं मगर ऐसी आदत पड़ी है कि इष्ट अनिष्ट की बुद्धि उनमें कर डालते। जबकि तत्त्वज्ञान के मान पथिक को अपने घर में रहने वालों में भी उस नाते से इष्ट अनिष्ट की बुद्धि न जगना चाहिए, फिर जिससे कुछ प्रयोजन नहीं उनको देखकर तरंग उठ जाती है, ये सब चीजें परमात्मतत्त्व के दर्शन बाधक हैं।

1031- वर्तमान जीवन का अमूल्य लाभ सहज स्वरूप का अवलम्बन-

इस जीवन का ऐसा अमूल्य लाभ लीजिए अनुपम लाभ कि कहते तो यों हैं कि फिर से मुझे माँ का दूध न पीना पड़े याने ऐसा हो तो नहीं सकता अभी, मोक्ष होगा तो मनुष्यभव से होगा और बच्चे होंगे तो माँ का दूध पीना पड़ेगा। तो माँ का दूध न पीना पड़े, मायने जन्म न लेना पड़े। ऐसा एक अपने आपमें भाव हो कि मुझे फिर जन्म न लेना पड़े। इस काल के भव के बाद जन्म तो लेना पड़ेगा मगर देखो तो अपना स्वरूप। जन्मरहित स्वरूप है इसका। अपने आपके सहज स्वरूप को देखो, यह किसने सिखाया, भेदविज्ञान ने। तो भेदविज्ञान के बल से ही जब हम अपनी महिमा में लीन बन जायेंगे तो हमको उस शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति होगी। अकेलापन देखो, अपने आपको आत्मा, अकेला स्वयं, प्योर, अकेला मात्र यह आत्मा क्या है, सो यह ही निगाह में रखना है। इसी से धर्म का पालन होगा। अगर यह बात निगाह में नहीं आ पाती तो मोक्षमार्ग जरा भी नहीं बना हुआ है, और यह बात आती है तो बाकी तो फिर चलेगा, जो जिस पद में है उसके अनुकूल वातावरण चलेगा, करना होगा, होता ही है वह सब, मगर अपनी महिमा जिनको ज्ञात नहीं है उनसे कुछ भी नहीं होता।

1032- ज्ञानी पुरुषों को सन्मार्ग का स्पष्ट दर्शन-

ज्ञानी पुरुष याने जो भी निर्मोह दिखे तो उनकी मोहरहित स्थिति को देखकर अज्ञानी जन तो आश्चर्य मानते कि ऐसा हो कैसे जाता? मगर जिन्होंने अपने स्वरूप को पहिचाना उनको कुछ आश्रय नहीं होगा, उनकी धुन केवल अपने स्वरूप में होने की रहती है। उनसे बाकी सब चीजें छूट जाती है, तृष्णा के तरंग आदि। यह मोह की स्त्री है तृष्णा, ये दोनों एक दूसरे के बढने में परस्पर सहयोगी है, साधक है, परपदार्थ के प्रति जिसकी तृष्णा का, ममता का गहरा रंग है, भला इस सहज सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन की पात्रता हो भी सकती क्या? काम तो सब उसी विधि से बनेगा। जिस विधि से जो काम बनता है वह उसी विधि से। जो काम बना है वह उसी विधि से बनेगा। तृष्णा भी रखी जाय और धर्म भी करते जायें, ममता भी करें और धर्म भी करते रहें, ये दो बातें नहीं बनती। सोचना होगा अपने आपको सबसे निराला। केवल अनुभव करना होगा स्वयं को। धन्य हैं वे जीव जो अपनी महिमा को पहिचान गए और जिनका अपनी महिमा में लीन होने का उद्यम रहता है, ऐसे पुरुषों को शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है, और जिसको इस शुद्ध ज्ञानतत्त्व की प्राप्ति हुई वह सब अन्य द्रव्यों से दूर ही स्थित है। अब उसे निरन्तर यही शुद्ध तत्त्व नजर आ रहा। दृष्टि में आ रहा तो उसके तो नियम से कर्मक्षय होगा, विशुद्ध स्वयं जो जो है सो ही प्रकट हो जायगा।

1033- विदेशी हुकूमत की असह्यता-

जैसे किसी देश में किसी विदेशी शक्ति की हुकूमत चल रही है, जैसे हिन्दुस्तान में यह ही तो था पहले विदेशी लोगों का शासन था उस समय में बड़ा मौज चाहे मिल रहा हो तो भी मैं दूसरों के अधीन हूँ, मुझ पर दूसरे देश के लोग भी राज्य करते हैं, यह बात नहीं सही जा रही थी, चाहे आज उससे कठिन स्थिति में हों महंगाई या और कुछ, ब्लेक-लड़ाई झगड़े रिस्वत वगैरह बहुत-बहुत कष्ट बढ़ गए हों जो पहले न थे

जबकि देश परतंत्र था मगर यह बात सहन नहीं हो रही थी कि मैं दूसरे देश वालों के शासन में रहूँ। परतंत्रता किसी को पसन्द नहीं। अब यहाँ देखो अपने आत्मा पर संघर्ष चल रहा है विभावों का स्वभाव के साथ, इन कर्मों का जीव पदार्थों के साथ। अब तक इसने विदेशी हुकूमत की शासन को ही पसंद किया, याने पौद्गलिक कर्म का जो प्रतिफलन है बस उस कर्मस्वभाव के साथ अपने ज्ञान को बनाना यह ही पसंद किया है और उसका फल यह है कि हम चारों गतियों में भटक रहे हैं, विदेशी हुकूमत हम पर चली आ रही थी और उसके फल में चारों गतियों में डुलते फिर रहे थे, लेकिन यह विदेशी हुकूमत कब तक चलेगी, जब तक कि आप अपनी महिमा को न पहिचानेंगे तो यह विदेशी हुकूमत यह सब प्रतिफलन कर्मस्वभाव कुछ ही बने, उसी रूप में अपनी परिणति बनेगी, ये सब बातें चलती रहेगी। बोलो विदेशी हुकूमत में कुछ थोड़ाबहुत सुख भी है क्या? भले ही लौकिक परतंत्र देश में लौकिक सुख मिल जायें मगर कर्मों की इस विदेशी हुकूमत में यहाँ लौकिक सुख भी कुछ नहीं मिलता। केवल एक कल्पना ही की जाती है। ऐसी मोहनीय धूल पड़ी है कि दुःख पा रहे हैं और सुख मान रहे हैं। पञ्चेन्द्रिय के विषयों की प्रवृत्ति में खूब भले प्रकार परख कर लो-भीतर में धक्का आकुलतायें निरन्तर चलती हैं। शान्ति रंच मात्र भी नहीं, मगर मोह की धूल ऐसी पड़ी है उन विषयों में ही सुख मान रहे, हो रहा दुःख खूब पहिचान लो भली प्रकार, कितनी व्यग्रता है, स्पर्शन इन्द्रिय का भोग, विषय प्रसंग, मैथुनसेवन या प्रीति का आदान प्रदान, बड़ा आकर्षक परस्पर वचन बोलना, इन सब स्थितियों में व्यग्रता है। व्यग्रता बिना यह प्रवृत्ति बन ही नहीं सकती। जो व्यग्र न होगा वह तो शान्त स्थित रहेगा, वह कोई प्रवृत्ति क्यों करेगा? वह किसी तरह की चेष्टा क्यों करेगा? जो इन्द्रिय विषयों के भोगों में चेष्टा करता है यह चेष्टा ही इसका अनुमापक है कि इसके भीतर में व्यग्रता है, कठिन दुःख हुआ है और उसे मेटने के लिए यह विषय भोगों में प्रवृत्त हो रहा, पर मिटता तो नहीं। जैसे खून का दाग खून से नहीं धुलता, ऐसे ही इन्द्रिय विषयों की इच्छा से होने वाले दुःख इन्द्रिय विषयों के भोग से कभी नहीं मिट सकते।

1034- अपनी महिमा में रत होने वाले अन्तरात्मा के ही कर्मक्षय की संभवता-

अपनी महिमा पहिचानें, यह स्वयं अपने स्वभाव में कैसी महिमा वाला है। जहाँ शान्ति-शान्ति बसी सहज आनन्द का जो धाम है, केवल ज्ञातादृष्टा रहने में, मात्र जाननहार रहने में किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं। तो यह ही तो चाहते हैं कि मेरा कष्ट दूर हो, उसी की तो यह चिकित्सा चल रही है कि हमारे कष्ट इस तरह दूर होंगे, बाह्य पदार्थों के प्रसंग में ममता से, तृष्णा से कष्ट दूर नहीं हो सकता। तो यों जिसने अपनी महिमा पहिचानी है, अपने अन्तः प्रकाशमान शुद्धआत्मतत्त्व की प्राप्ति कर लिया है वह अब विचलित नहीं होता, सो एक अचल ढंग से जिस शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति की है उसमें ही उपयोग लगाकर बाहरी सब पदार्थों से उपयोग हटा लीजिए। कर्मों का क्षय तो होना ही पड़ेगा। ये कर्म तब लगे हैं जब हम इनमें लगाव रखते हैं। दूसरे महिमान आपके घर आते हैं रोज-रोज जब आप उनको प्रेम दिखाते हैं तो वे आपके घर कई दिन ठहर जाते और प्रेम न दिखावें तो फिर वह महिमान कैसे टिकेगा? ये पौद्गलिक कर्म जब आते हैं तब हम इन

पौद्गलिक कर्मों के प्रतिफलन में, कलावों में अपना लगाव रखते हैं। महिमान में आप अपना लगाव न रखें, प्रीति तो करना चाहिए। और यहाँ सब चतुर हैं। महिमान से कोई लगाव नहीं रखता। प्रीति तो होती है। आप ही जानते आपके दामाद भी है, लड़का भी है, तो लगाव आपका दामाद में होता कि लड़के में? प्रीति तो दामाद में लड़के से भी अधिक बन जायगी, किन्तु प्रायः लगाव नहीं, जान लिया कि यह पर घर का है। कुछ हो यह बात अलग है, पर प्रायः बात आप देखो- महिमान मायने क्या? महिमा न। जिसकी कोई महिमा नहीं उसका नाम है महिमान। महिमान की महिमा नहीं होती आपके दिल में। वही बात यहाँ रखें कि ये कर्म महिमान हैं, और कहावत भी ऐसी कहते कि कितने दिन का महिमान? तो ये पौद्गलिक कर्म है। इनके लगाव में, इनके फल के लगाव में इस जीव ने इनकी संतति बढ़ा रखी है। सो लगाव जब न हो और अपने आपमें स्थित हो तो कर्मों का क्षय तो होना ही पड़ेगा। कर्मक्षय हुआ कि सदा के लिए संकटों से दूर हो गए।

कलश 129

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।

स भेदविज्ञानत एव तस्मात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥129॥

1035- शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से मोक्षमूलोपायभूत संवर का संपादन-

इस समय यहाँ हम आप सब संसारी जीवों के विभावों की अपवित्रतापड़ी हुई है। ये विभाव बने है अपनी परिणति से, किन्तु यहाँ निमित्त है कर्मविपाक और ये कर्मविपाक बने कैसे? कर्म का बन्ध हुआ था सो उदय में आकर इनका विपाक बना, बंध क्यों हुआ था? कर्म आये, कर्मत्व बना, आस्रव बना, आया, उसके साथ ही बन्ध हुआ, तो हम आपके अनर्थ की जड़ हैं आस्रव और बन्ध । 7 तत्त्वों में आस्रव और बन्ध ये सब अनर्थ की जड़ है। इनका अभाव होना ही कल्याण का उपाय है। आस्रव का अभाव होना उसके मायने है सम्बर, याने अब नवीन कर्म न आये, यह उपाय पहले बनाना होगा। जैसे जिस नाव में छेद है, पानी आ रहा है और उससे पानी में डूबने का खतरा है तो उस नाव से बचने का उपाय क्या है? नाव में आये हुए पानी को उलीचना, दूर कर देना। मगर यहाँ तो पानी को उलीचा जाय और छेद से पानी बराबर आता जाय तो इससे तो सफलता न मिलेगी। तो पहला काम है कि पानी के छिद्रों को रोक देना बंद कर देना ताकि नया और पानी न आये और पहले का आया हुआ पानी यहाँ से हटा दिया जाय तो नाव भली प्रकार पार हो जायगी। इसी प्रकार संसारसमुद्र में हम आपकी यह नैया मझधार में पड़ी और यह वजनदार बन गई जिससे यह संसार में ही चारों गतियों में रूल रहा है। इसके उद्धार का उपाय क्या है? पहला उपाय तो यह करना कि जो कर्मों के आने का द्वार है, आस्रव है उस आस्रव को रोकना, मायने सम्बर करना, मन, वचन, काय की चेष्टा के निमित्त से जो आत्मा में बौखलाहट चलती है वह न रहे तो सम्बर हो जायगा। जहाँ नये कर्मों

का आना बन्द हुआ और पहले के बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा हुई तो ऐसा होते-होते कोई निकट समय आयगा कि कर्मों के भार से बिल्कुल रहित हो जायगा।

1036- भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि-

यहाँ यह बात जानना कि सभी कर्मों का सम्बर एक साथ नहीं हो पाता। जैसे पानी के छेद को बन्द भी करे तो भी कुछ न कुछ आता रहता है, मगर कुछ समय बाद वह बिल्कुल बन्द हो जाता, ऐसे ही जब हम मोक्षमार्ग की ओर अपना मुख डालते हैं याने हमारा ज्ञान अविकार स्वभाव की ओर अपना चलता है तो उस समय कुछ सम्बर होता है मगर जो अधिक खतरनाक प्रकृतियाँ हैं उनका सम्बर पहले होता, रहा सहा थोड़ा काम यह होता रहेगा। तो सम्बर कैसे होता है? यह होता है शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से, याने अपने आत्मा का जो सहज स्वरूप है, अविकार स्वरूप है ज्ञानमात्र, वही ध्यान में रहे, वही उपयोग में रहे तो सम्बर बनता है और वह भेदविज्ञान से ही हो सकेगा। याने आत्मतत्त्व की उपलब्धि भेदविज्ञान से होती है और आत्मस्वरूप की प्राप्ति याने जानकारी और आस्था होने से सम्बर होता है, तो शिक्षा यह निकली कि भेदविज्ञान की बहुत-बहुत भावना करना चाहिए।

1037- भेदविज्ञान से प्राप्त शुद्धात्मतत्त्व के उपयोग से रागादिक का शमन-

यह राग आग दहे सदा ये जगत के जीव मानो ईंधन सा बन रहे और उनको राग आग जला रही है। उस राग की आग का शमन करने का उपाय समतारूपी जल है, याने रागद्वेष न जगें, इष्ट वियोग में प्रीति, अनिष्ट विषयों में द्वेष, ऐसी राग विरोध की बात न बने एक समता परिणाम रहे तो उस समता जल से वह सब राग आग शान्त की जा सकती। वर्तमान में दुःख क्या है? सब लोग अपने आपमें दृष्टिपात तो करें, दुःख नाम किसका है? कोई कहेगा कि हमको इतना धनलाभ नहीं है, हमारा यह काम रुका है, अभी हमारा मकान नहीं बना है इस कारण से दुःख है, पुत्र, आज्ञा नहीं मानते हैं इस कारण से दुःख है, अच्छा तो जिसके मकान अच्छा बना है, परिवार भी आज्ञाकारी है उनसे जाकर पूछो कि तुमको दुःख है कि सुख है? यद्यपि वे सामने आकर कहेंगे कि हम खूब सुखी हैं, मगर उसके ये वचन एक व्यग्रतापूर्व निकले। कोई शान्त मुद्रा में तो नहीं निकले, वहाँ तो बोलने की बात ही नहीं आती। वह तो शुद्ध आनन्दामृत का पान करता। संसार के सुख जो भोग रहे हैं उनमेंभीव्यग्रता है और जिसे लोग दुःख कहते हैं उसमें भी व्यग्रता है, क्योंकि व्यग्रता का मूल कारण है बाहरी परपदार्थों का आश्रय करके विकल्प बनाना। यह है आकुलता का मूल कारण। चाहे इष्ट पुत्र मित्र का उपयोग करके विकल्प बनाये, वहाँ भी व्यग्रता आयी, चाहे अनिष्ट तत्त्व का विकल्प करे वहाँ भी व्यग्रता। जहाँ कोई अनात्मतत्त्व हमारे उपयोग में न बसे और केवल एक सहज ज्ञानानन्द स्वरूप यह अंतस्तत्त्व ही उपयोग में रहे तो इसे कहते हैं अनाकुलता। आकुलता में कर्मों का आस्रव है, कर्मों का बंध है और निराकुलता में सहज आनन्द की स्थिति, कर्मों का निर्जरण, कर्मों का सम्बर, श्रेयोमार्ग में गमन है। आकुलता मिटाना है तो तत्काल इसी समय लो, मिटा सकते हो। अगर अपने को

अनाकुल रखना है तो उसका उपाय बताया कि अपने विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि करें याने इन विषय कषायों का उद्यम छोड़ दें और अपने में अन्तः प्रकाशमान जो सहज चैतन्य स्वरूप है उस उस रूप अपने को अनुभव करें कि मैं यह हूँ, आकुलता समाप्त हो जायगी, इसी को कहते है सम्बर तत्त्व।

1038- निज सहज अन्तस्तत्त्व के परिचय बिना सांसारिक दुर्दशायें-

भेदविज्ञान से निज शुद्ध आत्मा की उपलब्धि हुई और शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से सम्बर तत्त्व बना। यह जीव अपने आत्मस्वरूप में है, और जो आत्मप्रदेश में कर्मों की झलक हुई है, विपाक का प्रतिफलन हुआ है उसमें भेद नहीं मान पाता कि यह तो पर तत्त्व है और मैं चैतन्य स्वरूप हूँ। जैसे दर्पण के सामने कोई रंगीन चित्र रखा है तो उसका प्रतिबिम्ब हुआ दर्पण में और, यहाँ हम समझते हैं ना, कि दर्पण में जो यह रंगीन फोटो आयी है वह दर्पण की निज की चीज नहीं है, यह उसकी फोटो है, मायने उसके सदृश यहाँ यह आकार बना है। उसका निमित्त पाकर यहाँ दर्पण की यह निज की चीज नहीं तो जैसे यहाँ यह भेद कर सकते हैं, ऐसे ही अपने आपके आत्मा के अन्दर भी तो भेद डालें। ये परभाव, रागादिक भाव ये सब अनात्मतत्त्व हैं। कर्मविपाक का सान्निध्य पाकर यह प्रतिफलन है। यह मैं नहीं हूँ मैं तो वह हूँ जो अपने ही स्वरस से जो कुछ हूँ चैतन्यमात्र, ऐसा यहाँ अगर भेदविज्ञान बने तो बाहर में और आगे का सब काम सुगम है। अब देखिये- जो केवल जिन्दगी भर की बात है वही कठिन लग रही है, बाहर में कुछ करें, कुछ छोड़े, यह तो चर्चा ही नहीं की जा रही है, सिर्फ यही कहा जा रहा है कि जैसे आप दर्पण को निरख रहे हैं कि यह फोटो दर्पण का निज का फोटो नहीं है, सामने आये हुए पदार्थ का प्रतिबिम्ब है, ऐसे ही क्या यहाँ न जानना चाहिए, जानने में कृपणता क्यों? जानने में आलस्य क्यों। जो सच्ची बात है उसके समझ में तो उमंग रहा करती है। कोई लौकिक घटना आये तो वहाँ यह उमंग रहा करती है कि वास्तविक बात है क्या? कहीं कोई झगड़ा मच गया तो यह उमंग रहती है कि आखिर यह झगड़ा हुआ क्यों? कैसे हुआ? जड़ में बात क्या थी? तो बाहर की बातों में तो हम सही जानकारी पाने की उमंग रखा करते हैं और अपने आप पर जो बीत रही हैं उसकी सही जानकारी के लिए उमंग नहीं। मेरा स्वरूप सिद्ध समान है, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द, ऐसा मेरा स्वभाव है तो फिर यह हो क्या रहा? यह कीड़ा भी बन गया, मनुष्य भी बन गया यह क्या मच रहा है कैसे बन गया?

1039- भगवान सहज अन्तस्तत्त्व का तिरस्कार करने वाले विभावों की प्रीति के महान् अन्याय का फल-

अब समाधान सुनिये, भाई झगड़े की मूल जड़ यह है कि हमने अपने स्वभाव की सुध तो ली नहीं, और जो अनादिसंतति से चले आये ये कर्मविपाक हैं, कर्मप्रतिफल हैं उनको अपने आत्मरूप समझ रखा, बस लो यहाँ तो एक समझ भर की बात थी, और झगड़ा इतना बड़ा बन गया कि पशु बने, पक्षी बने, नारकी बने, और और बने, झगड़ा इतना ऊँचा। अभी किसी से जरासी मामूली सी गलती हो जाय याने कुछ मानो कुछ शब्द कह दिया और उस पर इतना उत्पात मचे कि उस पर लाठी बरसाये तो लोग समझाते कि

भाई बात क्या थी। जरासी बात इससे निकल गई, थोड़ीसी गलती भई, पर इतना उत्पात न मचावो कि उसके प्राण चले जायें। एक कहावत में कहते हैं ना- ककरी के चोर को कटार मारिये नहीं, ऐसे ही यहाँ लग रहा कि इस जीव ने क्या किया? अरे यहाँ कर्मप्रतिफलन हुए, ज्ञेय बने और उसमें यह मान लिया कि यह मैं हूँ, इतनी भर गलती का इतना बड़ा दंड क्यों मिल रहा है? नारकी बने, तिर्यश्च बने, पशु पक्षी बने, तो मालूम होता है कि इसका गैर सम्बन्ध, खोटा सम्बन्ध मामूली अपराध नहीं है। भगवान ज्ञानघन आनन्दमय सहज परमात्मतत्त्व के प्रति यह कितना बड़ा अन्याय है कि हम उसकी सुध ही नहीं लेते। उपेक्षा करते, और यहाँ उस स्वभाव का तिरस्कार करने वाले इन विभावों को अपनाते। तो भला बतलावो कि भगवान परमात्मतत्त्व के तिरस्कार करने वाले विभावों से यदि प्रीति की जाय तो इस निज भगवान आत्मा पर कितना बड़ा अन्याय है। इतने महान अन्याय का यह दण्ड हुआ। बल्कि न्यायसंचित बात यह है कि यह नारकी बने, पशु पक्षी बने, क्योंकि इन्होंने अपने भगवान आत्मा का तिरस्कार करने वालों का साथ निभाया तो कल्याण का प्रारम्भ तब तक नहीं हो सकता जब तक कि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि न हो सके। शुद्ध आत्मा की उपलब्धि हो उसका उपाय है भेदविज्ञान। तो इस भेदविज्ञान की अधिकाधिक भावना करना चाहिए।

कलश 130

भावयेद्भेद-विज्ञान-मिदमच्छिन्न-धारया ।

तावद्यावत्पराच्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥130॥

1040- ज्ञान में ज्ञान की मग्नता न होने तक भेदविज्ञान की उत्कृष्ट भावना की आवश्यकता-

कहते हैं कि अनवच्छिन्न धारा से इस भेदविज्ञान की निरन्तर भावना करना चाहिए। कब तक भावना करें जब तक कि परतत्त्वों से एकदम हटकर यह ज्ञान ज्ञान में मग्न न हो जाय। हमारा सहारा, हमारा शान्ति का आधार सिर्फ ज्ञान है। दूसरा कोई हमारी शान्ति का आधार नहीं, हमारा सहारा नहीं, इन वैभवों को तो ऐसा समझो कि अभी कुछ ही दिनों बाद छोड़नापड़ेगा। अभी कितने दिन जीवन के शेष हैं इसका कुछ पता क्या? न जाने किस क्षण यह जीवनलीला समाप्त हो जाय। अब थोड़े दिनों बाद चूँकि यह जीवन समाप्त ही हो जाने वाला है। आज का पाया हुआ यह सारा समागम छूट जाने वाला है, तब फिर अभी से मान लो कि आज जो कुछ हमारे पास धन वैभव, परिवार आदिक का समागम है वह हमसे छूटा ही हुआ है। कोई समय आयगा ना ऐसा कि जिस समय यह सारा का सारा समागम छूट जायगा और इस आत्मा को यहाँ से अकेला ही जाना होगा। जिस शरीर को निरख-निरखकर हम अन्दर में बड़ी प्रीति करते हैं, अभिमान करते हैं, अहंकार रखते हैं यह शरीर इन मित्रों द्वारा, इन बन्धुओं द्वारा, जिनके बीच रहकर प्रीति करते हैं ये इसमें आग लगाकर जला देंगे, घर में रखना पसंद न करेंगे। एक चैतन्यज्योति भगवान जब तक इस शरीर में बसा

हुआ है तब तक ही लोग आदर किया करते हैं इस आत्मा के निकल जाने पर फिर इस शरीर का कोई आदर नहीं करता। अभी थोड़े ही दिनों बाद वह दिन आयगा जबकि यहाँ से मरण करके जाना होगा। यहाँ कोई दावे के साथ कह सकता है क्या कि हम तो कोई 100 वर्ष तक जिन्दा ही रहेंगे?...अरे एक पल का भी भरोसा नहीं। इससे अपना एक निर्णय बना लीजिए कि यहाँ मेरा कहीं कुछ नहीं है। देह भी मेरा नहीं है, मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ। ऐसे इस भेदविज्ञान की निरन्तर भावना कीजिए अनवच्छिन्न धारा से, रुके नहीं बीच में, और तब तक करें जब तक कि यह ज्ञान परतत्त्वों से च्युत होकर अपने ही ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाय।

कलश 131

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥131॥

1041- भेदविज्ञान से ही सिद्धि की संभवता-

जितने भी जीव, भव्य अन्तरात्मा सिद्ध बने हैं वे इस भेदविज्ञान के बल से ही शुद्ध बने हैं, याने आत्मा और कर्मविपाक अर्थात् यह ज्ञान और कर्मप्रतिफलन इनमें भेद किया कि यह मैं नहीं हूँ, याने आत्मा और कर्म के एकत्व के आशय का छेदन कर दिया, मैं एक नहीं हूँ, मायने आत्मा और कर्म जो एकरूप बने यह मैं नहीं हूँ। कर्म कर्म हैं, आत्मा आत्मा है। तो जब यह आत्मा , यह अध्यवसान यह मिथ्याभाव दूर हुआ तो अब रागद्वेष भी उसके दूर होने लगे। किसमें राग करूँ? ये सदा मेरे से चिपके रह सकने वाले नहीं। मेरे राग और द्वेष का अभाव बनता है तो बस नहीं रहे कर्मों के आस्रव थे रागद्वेष, तो रागद्वेष जब दूर होंगे तो आस्रव न रहा। आस्रव न रहा तो कर्म भी न रहे। कर्म न रहेंगे तो शरीर कहाँ से मिलेगा, शरीर न मिलेगा तो संसार क्या फिर? फिर तो यहाँ से मुक्ति होगी, जिसमें सदैव अनाकुलता रहेगी।

1042- विपत्तियों का मूल शरीरात्मबुद्धि-

मोटे रूप में पहिचान हो तो यों कह लीजिए कि सारी विपत्तियों की जड़ है शरीर में आत्मा का अनुभव करना, यह मैं हूँ। जब शरीर को माना कि यह मैं हूँ तो दूसरों के शरीर को माना कि ये अपने हैं देखो है तो यह अन्तर? बाकी जितने मनुष्य दिख रहे ये सब मुझसे अन्य है, ये सब दूसरे हैं, ये सब गैर हैं। मगर इस अज्ञानी आत्मा ने इस नाते से गैर माना कि यह जो शरीर है सो मैं हूँ और यह जो शरीर है सो यह गैर है, आत्मस्वरूप का बोध करके इसको गैर नहीं माना, और उनमें भी जो नातेदार हैं, जिनसे नातेदारी है, जिनसे कुटुम्ब परिजन का सम्बंध है उन्हें कहते हैं कि यह मेरा है बाकी ये सब गैर हैं। उपयोग तो रहा इसमें कि हमारी नातेदारी है। नातेदारी का अर्थ क्या है? ना मायने नहीं, ते मायने तुम्हारे, दारी मायने संबंध,

याने तुम्हारे संबंधी नहीं, ऐसा तो कह रहा है यह नातेदारी शब्द, और यह मानता है अपना संबंधी, उनसे अपना लगाव बना रहा कि इनसे हमारी नातेदारी है, उन्हें माना अपना, बाकी को नाता गैर, फिर जब शरीर को माना कि यह मैं हूँ सो शरीर की उत्पत्ति के जो निमित्त है पिता माता, उनको माना कि ये मेरे माता पिता है, इस शरीर के साथ उस उदर से तो शरीर और हुए उसे कहते हैं भाई बहिन। देखो शरीर का नाता है जितना यह संबंध माना जाता है सबमें, जहाँ भी नाता मिलेगा। इस शरीर को उत्पन्न करने वाले पिता के साथ जो उत्पन्न हुए हैं वे हैं चाचा, बुवा...इस शरीर को रमाने वाला जो शरीर है वह कहलाता है स्त्री अथवा पति। सारे सम्बन्ध शरीर के नाते से हैं। यहाँ इस आत्मा के नाते से कोई संबंध नहीं।

1043- भ्रम के आधार पर देह राग आदि का जीवन-

जब हमने शरीर का सम्बंध माना कियह मैं हूँ तो सारे भ्रम बढ़ गए। और यह शरीर का नाता छोड़ दिया जाय भीतर से तो ये सारे विकल्प बिखर जायेंगे। एक जंगल में स्याल था और उसकी स्यालनी। तो स्यालिनी के गर्भ था, बच्चे होने को थे तो उसने कहा कि कौनसी जगह में बच्चे पैदा होने चाहिए? तो एक शेर की गुफा थी तो उसी में वह ले गया। उस समय वहाँ शेर था नहीं। स्यालिनी बोली इस शेर की गुफा में बच्चे कैसे रक्षित रह सकेंगे ? तो स्याल ने कहा कि देखो तुम कुछ चिन्ता न करो। हम सब काम बना लेंगे। तुम एक काम यह करना कि जब शेर यहाँ आवे तो बच्चों को रुला देना हम ऊपर से पूछेंगे कि ये बच्चे क्यों रोते हैं? तो तुम यही कहना कि ये बच्चे शेर का मांस खाने को माँगते हैं, बस इतना भर बोल देना, बाकी काम हम सब बना लेंगे।...ठीक है। स्यालिनी ने उस गुफा में बच्चों को जन्म दिया। जब शेर आया तो नीचे से स्यालिनी ने बच्चों को रुला दिया। ऊपर से स्याल ने पूछा ये बच्चे क्यों रोते हैं? तो स्यालिनी बोली ये बच्चे शेर का मांस खाने को माँगते हैं। तो यह बात सुनकर शेर काँप गया, सोचा- अरे मेरा माँस खाने को बच्चे माँगते तो मालूम होता कि यह जो गुफा के ऊपर बैठा है वह मेरे से भी बलवान है, यह सोचकर डरकर वह भग गया। इसी प्रकार दूसरा शेर आया वह भी डरकर भग गया। इसी प्रकार से अनेकों शेर आये और डरकर भाग जायें। एक बार सभी शेरों ने मिलकर सलाह किया कि देखो अपनी तो गुफा है और कैसा इस बादशाह का अधिकार हो गया है। इसे भगाने का कोई उपाय करना चाहिए। तो उपाय समझ में आ गया। सलाह हुई कि उसको किसी तरह से पकड़कर मार दिया जाय। अब मार भी कैसे सकें? शिखर काफी ऊँची थी। सलाह हुई अपन सब एक पर एक चढ़कर उसके पास तक पहुँच लेंगे और उसे पकड़कर मार देंगे। पर एक पर एक चढ़े कैसे? सलाह हुई कि अपन में से जो लँगड़ा शेर है वह ऊपर तो चढ़ नहीं सकता, वह तो रहे नीचे और बाकी शेर एक की पीठ पर एक चढ़चढ़कर उसके पास पहुँचकर पकड़ लेगा,...ठीक है। सो लँगड़ा शेर तो नीचे खड़ा हुआ और उसके ऊपर एक पर एक चढ़ते गये, जब स्याल के पास पहुँचने ही वाले थे कि स्यालिनी ने अपने बच्चों को रुला दिया। ऊपर से स्याल ने पूछा ये बच्चे क्यों रोते हैं? तो स्यालिनी बोली ये बच्चे लंगड़े शेर का माँस खाना चाहते हैं। अब यह बात सुनकर लँगड़ा शेर डरा और नीचे से

खिसका तो बाकी शेर भदाभद नीचे गिरे और भगे। तो जैसे लंगड़े शेर के निकलने से शेष शेर दूर हो गए, गिर गए ऐसे ही इस लंगड़े भ्रम के दूर होने से रागद्वेष कर्मबन्धन जन्म मरण के ये सारे संकट दूर हो जाते हैं। यह हम आपका भ्रम भी तो लँगड़ा है, इसके पाये नहीं जम रहे, क्योंकि जैसे दर्पण में आया हुआ जो फोटो है वह फोटो लँगड़ा है। वह दर्पण की चीज नहीं है। वहाँ जम नहीं सकता। वह जब तक सामने चीज है तब तक वहाँ प्रतिबिम्ब है। सामने चीज न रहे तो प्रतिबिम्ब भी न रहे, ऐसे ही ये विभाव ये सब लंगड़े भ्रम हैं। यह भ्रम समाप्त होवे तो सारे संकट भी समाप्त हो सकते हैं। तो यह भ्रम समाप्त कैसे हो? बस भेदविज्ञान से। भेदविज्ञान किया जाय तो सारी सिद्धि बनेगी।

1044- सिद्ध होने का मूल उपाय भेदविज्ञान-

जो-जो भी सिद्ध हुए तीर्थंकर, श्रीराम, हनुमान, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदिक, उन्होंने यह ही उपाय किया था कि आत्मस्वभाव और यह कर्मविपाक इन दोनों में अन्तर करना और स्वभाव की ओर अभिमुख होना, इन विपाकों से उपेक्षा करना, ऐसा भेदविज्ञान जब किया तो प्रधानता से उपेक्षा हुई और शुद्ध आत्मतत्त्व की रुचि प्रगट हुई। यह ही हितरूप है, यह ही आनन्दमय है। उसमें हितरूपता का विश्वास हो, यह ही कहलाया शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि। जहाँ अपने उपयोग में ऐसा सहज शुद्ध अंतस्तत्त्व आया कि इसमें से आस्रव दूर हो गए, सम्बर हो गया, निर्जरा हो रही, कर्मक्षय हो जायगा। तो सिद्ध होने का मूल उपाय तो भेदविज्ञान है। तो जितने भी अब तक सिद्ध हुए वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए। और, जितने अभी तक बंधे हुए पड़े हैं ये चारों गति के जीव जो भी बंधे हैं वे सब इस भेदविज्ञान के अभाव में ही बँधे हुए हैं- क्योंकि कर्म में स्नेह करने की प्रीति रही तो कर्म का आना बराबर जारी रहा। उसका विपाक आता, सो उसका फल चारों गतियों में भ्रमण होता है। तो यह भ्रमण दूर हो सकता है भेदविज्ञान से, इसलिए भेदविज्ञान के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए।

कलश 132

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-

द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।

बिभ्रत्तेषं परमममलालोकमम्लानमेकं

ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥132॥

1045-भेदज्ञान के उच्छलन से शाश्वतोद्योत ज्ञान का अभ्युदय-

मैं सहज आत्मा क्या हूँ और बाह्य तत्त्व क्या है, इसका जब भेदविज्ञान होता है तब शुद्धात्मा का उपलम्भ होता है कैसा? मैं एक चैतन्य..., प्रकाशमात्र, केवल ज्ञानस्वरूप और कर्म जड़ हैं, देह जड़ है, कर्म का प्रतिफलन अशुद्ध उपयोग में अबुद्धिपूर्वक अन्धकारमय ज्ञेयाकार अवस्थित है, लेकिन वह औपाधिक है अतएव पर है, इन सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र मैं हूँ, ऐसी भेदविज्ञान की जब तरंग उठी, उमंग हुई तो उससे शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति हुई, यह भेदविज्ञान का फल ही है कि परभाव की उपेक्षा होना और निजभाव में रति होना, और जब शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हुई, अपने आपमें अपने में कि मैं यह ज्ञानमात्र तत्त्व हूँ, मेरा किसी भी अणु से रंच भी संबंध नहीं, तब मेरे रागसमूह सब दूर हो गए, अब किसी भी अन्य पदार्थ में इष्टपने की बुद्धि नहीं हो रही, तो रागसमूह के प्रलय होने से क्या हो गया? कर्मों का सम्बर। अब नवीन कर्म नहीं आ रहे। जो जिस पदवी में है उसके अनुसार नाना प्रकृतियाँ नहीं बँध रही हैं, और ऐसा कारण है कि निर्मल परम संतोष उत्पन्न होता है, उस समय में ऐसा ज्ञान प्रकट होता है अर्थात् यह ज्ञानरूप इतना प्रकाश के अनुभवन में आता है कि इस जीव को पूर्ण संतोष हो जाता है। तो परम संतोष को उत्पन्न करता हुआ निर्मल एक ज्ञान ज्ञान में उदित होता है और निरन्तर वही मान प्रकाशित रहता है। ज्ञानी भावना भाते हैं कि हे प्रभो मैं सिद्ध भगवान होऊँ तो सिद्ध भगवान के मायने क्या है? सिद्ध कोई अलग चीज नहीं है। मेरा जो आत्मा है, जिस पर कर्मों का आवरण है, रागद्वेष का आवरण है, ऐसा जो मेरा अंतस्तत्त्व है, भगवान आत्मा है, तो इस पर से यह आवरण हट जाय, शरीर का संबंध छूट जाय, रागद्वेष विभाव रंच भी न आये ऐसी हमारी स्थिति हो, याने मैं खालिस अकेला रह जाऊँ। जो मैं स्वयं सहज हूँ ऐसा रह जाऊँ बस ऐसी स्थिति होने का नाम है सिद्ध भगवान होना। तो जब हूँ मैं, आत्मा हूँ ऐसा ही सहज स्वरूप में व्यक्त हो गया तो उसके बाद फिर मुझमें विभावों की तरंग न होगी। फिर आनन्द में भंग न होगा। वह आनन्द सदा रहेगा, संसार के संकट सदा के लिए छूट जायेंगे। ऐसा एक अपने आपमें अपने स्वभाव में अनन्त बल प्रकट कर लिया प्रभु ने इसलिए सर्वोत्कृष्ट अवस्था है तो सिद्ध प्रभु की अवस्था है। सो पहले बताया ही गया था कि सिद्ध भगवन्त भेदविज्ञान के प्रताप से हुए।

1046- आत्मार्थी पुरुष का आत्महितार्थ पौरुष-

हम आप इस जीवन में क्या करते हैं? बाहर में तो कुछ करते काम है नहीं। किस चीज को बनाऊँ, किसको सुधारूँ, किसको बिगाडूँ, किसमें राग, किसमें विरोध। बाहर में क्या करूँ जिससे मेरा उद्धार हो? इसका उत्तर बाहर में तो नहीं रखा है, क्योंकि बाहर के सब पदार्थों का प्रसंग तो जीव को आकुलता का ही साधन बनाता है। गृहस्थ हैं, करना सब पड़ता है, सोचना भी पड़ता है, तृष्णा भी आती है, भावों में कमी आती है, परिस्थिति है। अगर अंतरंग से उन परभावों में मेरेपन का भाव न रहे और यही दृष्टि में रहे कि यह मैं आत्मा समस्त परद्रव्यों से निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। यह मैं ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप में मग्न होऊँ याने ज्ञान में मात्र ज्ञानस्वरूप ही रहे, बस यह ही मेरे उद्धार का उपाय है जैसे कि हमें ज्ञान में सारे पदार्थ ज्ञात हैं,

भीत, ईट, पत्थर ये सब चीजें, पशु पक्षी ये सब ज्ञान में आते हैं, तो ये सब ज्ञान में आयें, शरीर कर्म जैसे ये ज्ञान में आ रहे हैं ना, ऐसे ही मेरे ज्ञान में, मेरे आत्मा का सहज ज्ञानस्वरूप आ जाय, बस इसी के मायने तो सम्यक्त्व है, इसी के मायने मोक्षमार्ग है, अब इस ज्ञानस्वरूप में ही ज्ञान मग्न हो सके ऐसा उपाय साक्षात् तो ज्ञान ही है, ज्ञान की ही क्रिया से हम अपने ज्ञान में मग्न हो सकते हैं, अगर ऐसा बन नहीं पा रहे हैं, स्थिति ऐसी है ऐसी स्थिति में हम देवपूजा, गुरुपास्ति, आदि षट्कर्म करते हैं, क्योंकि इनमें पात्रता तो रहती, उस गुणविकास का गुणगान तो रहता, याने आत्मस्वरूप को जो शुद्ध विकास है वही कहलाता है अरहंत और सिद्ध, उनका चित्त में निवास रहता। मैं मेरा ज्ञानस्वरूप में मग्न रहे, ऐसी स्थिति की पात्रता हम षट् कर्तव्यों द्वारा बनाये रहते हैं, मगर सब स्थितियों में प्रतीति यह रहना चाहिए कि शुभाशुभ भावों से निराला इस कर्म के प्रभाव से निराला, देहादिक सर्व जग से निराला यह मैं ज्ञान एक ज्ञानमात्र, जाननमात्र हूँ। उस ज्ञान के उच्छलनमात्रमें आत्मतत्त्व हूँ, उस आत्मा का किसी भी अन्य आत्मा से रंच भी सम्बंध नहीं, ऐसी एक भीतर अपनी भावना जगह और उसी की ही धुन रहे तो देखिये उस अपने आपके सही कर्तव्य से बहुत ही जल्दी निकट ही काल में कुछ ही भव में वह स्थिति आयगी कि जिसका हम गुणगान करते है। “अरि मित्र महल मसान कंचन काँच निन्दन थुति करन” सबमें मित्रता का परिणाम हो तो धर्मलाभ के लिए सभी सुगमतायें प्राप्त होंगी।

1047- ज्ञानमात्र आत्मा में विकल्प तरंगों के उदय पर आश्चर्य-

देखिये भीतर यह ज्ञानमात्र आत्मा कैसा तरंग उठाये है। रागद्वेष की कल्लोल में कैसी लहर उठा करती है कि वह रंच मात्र भी चैन नहीं पाता। आराम तो उस स्थिति का है जहाँ रागद्वेष की कल्लोल जरा भी न रहे ऐसी स्थिति होती शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि में। बाकी बाहरी पदार्थों का आश्रय करने से, उपयोग करने से जो काम हो रहे हैं वे संसार के ही तो काम होते हैं। अगर संसार का ही काम करते रहना है तो बाहरी पदार्थों में दृष्टि खपाना चाहिए, क्योंकि पदार्थ का लगाव रखने से संसार बढ़ता है। जान लो क्या विधि है, संसार बढ़ने की विधि है पर पदार्थ का लगाव। और, मोक्ष पाने की विधि है अपने निज अंतस्तत्त्व में अपने उपयोग को स्थिर करना। अब इसका मार्ग- जिस मार्ग पर अच्छा चले तो भलाई करने वाला हो, सो मात्र अपने आपको सम्पर्क है। बाहरी पदार्थों का सम्पर्क यह हमारे आत्मा की भलाई का कारण नहीं है। तो मूल में बात यह आयी कि भेदविज्ञान करना। भेदविज्ञान के उच्छलन से शुद्धतत्त्व की प्राप्ति होती है। और, शुद्धतत्त्व की प्राप्ति से विकार दूर होता है। विकार ही तो विपत्ति है। विपत्ति और क्या है? हम आप सब बैठे हैं, एक-एक सब आदमी हैं। सब जुदे-जुदे देह हैं। इनका अभी यह बाह्य आचार है। जहाँ देह है वही आप हैं। यहाँ भी तो आप अकेले ही तो हैं, अपने आपमें केवल आप केवल हैं, दूसरा कोई नहीं है, बस यही ही अकेला अपने देह में विराजा हुआ कल्पनायें करके एक जाल रचता है। बाहर में यह कुछ नहीं करता। जो हो रहा है जिस विधि से बन रहा है, वह चल रहा है, मगर अपने आपकी करतूत क्या है अन्दर में, कि अपनी ही जगह बैठे-

बैठे एक विकार करके, विकल्प करके उपयोग को यहाँ वहाँ चलित करके अपने आपमें क्लेश सह रहा है। वास्तविक बात तो घट रही है, यहाँ यह घट रही है, कोई दूसरा दुःखी करने वाला नहीं। कैसे कोई दुःखी कर सकता? वह अपनी चेष्टा करेगा। पर दुःखी होंगे हम, तो अपने आपमें अपनी कल्पनायें बनाकर दुःखी होंगे, दूसरा कोई दुःखी नहीं किया करता? आप कहेंगे- वाह अगर दूसरे ने लाठी मार दी जोर से तो देखो दूसरे ने दुःखी किया, तो यह बतलावो कि सुकौशल मुनि, सुकुमाल मुनि, इनको शेर ने भखा, स्यालिनी ने खाया, पर इन्होंने तो ऐसा अनुभव नहीं किया कि इसने मुझे दुःखी किया। यहाँ दुःख का कारण यह है कि हम अपने भीतर कल्पनायें पूरते रहते हैं यहाँ उसने इस शरीर को माना मैं और शरीर पर चली लाठी, सो यह भीतर कल्पनायें करता है, इसने मुझे मारा। यद्यपि वर्तमान में ऐसी कमजोरी है कि यह अपने को भूल जायगा, देह को आपा मानेगा, दुःखी होगा मगर सिद्धान्त तो न बन जायगा ऐसा कि कोई इस शरीर पर लाठी प्रहार करे तो वह इसको दुःखी करने वाला कहलायेगा। भले ही कोई मोही अज्ञानी शरीर में मैं की कल्पना करने वाला अपने को दुःखी मानता है, वह उसकी एक बलिष्ठ विशिष्ट अपराध की बात है, पर यह सिद्धान्त न बन पायगा कि कोई दूसरा जीव किसी दूसरे को दुःखी कर सकता।

1048- निमित्तनैमित्तिकता का सिद्धान्त-

यह कर्म का उदय तो जीवविकार में निमित्त कहलाता है, मगर दूसरा जीव हमारे दुःख के लिए निमित्त भी नहीं कहलाता। यह कहलाता है आश्रयभूत कारण, आश्रयभूत कारण और निमित्त में अन्तर है। निमित्त के बारे में तो सिद्धान्त बना करता है, जैसे क्रोध प्रकृति का उदय होने पर क्रोध कषाय जगती है। उस क्रोध प्रकृति का उदय न हो तो क्रोध कषाय नहीं जगती, इसका तो बनेगा सिद्धान्त, मगर आश्रयभूत कारण के बारे में सिद्धान्त न बनेगा कि नौकर या अमुक पुरुष सामने आये तो मुझे दुःख होता, यह सामने नहीं आता तो दुःख नहीं होता, ऐसा जगत के जीवों के प्रति सिद्धान्त तो न बन जायगा। निमित्त कारण में तो सिद्धान्त बनता है, पर आश्रयभूत कारण में सिद्धान्त नहीं बनता। हमने मान लिया कि यह विरोधी है तो हम इसमें दुःख मानते हैं। तो वह हमारी कल्पना की बात रही। जगत में प्रत्येक जीव किसी अन्य जीव में किसी प्रकार का कष्ट पहुँचा ही नहीं सकता। निमित्त है कर्मोदय और अशुद्ध है उपादान। यहाँ ऐसी वैसी कल्पनायें बनाते हैं और दुःखी होते हैं।

1049- स्वरूपानुरूप दृष्टि करने का अनुरोध-

जब ऐसा जगत का रूप है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है और अपने अपने स्वरूप में है, किसी अन्य के प्रदेश में नहीं है तो यह एक अपने आपमें ऐसा ही मानकर क्यों न रह जाय कि मैं मुझमें हूँ, मैं मेरे से बाहर नहीं, मेरे से बाहर मेरा कुछ नहीं, पूरा यह रचित यह आत्मतत्त्व में अपने आपमें स्वयं भरा पूरा आनन्दमय यह स्वयं हूँ, ऐसा अपने आपमें निर्णय करके यहाँ ही ध्यान रखना, यहाँ ही दृष्टि और आलम्बन हो बस यह ही एक अपने उद्धार की बात है, ऐसा होने के लिए हमें स्वाध्याय चाहिए, सत्संग चाहिए, दृढ़ता चाहिए, ये सभी

बातें उपयोगी हैं। और इसके लिए कुछ ही समय नियतन हो कि मुझे इतने दिन ही करना। यह काम तो जीवन भर करना और एक भव नहीं, जितने भव संसार में शेष हैं, सबमें यह ही काम करना। भला अनादि काल से जो वासनायें बनती है उन सारी वासनाओं को, उस सारे दंद फंद को नष्ट करने के लिए हमें कई भवों में भी पुरुषार्थ करना पड़े तो उसमें ऊब न आयगी। क्योंकि चख तो रहा मिश्री ना? अपने स्वभाव का अनुभव हो और उसकी प्रतीति हो तो रहा ना अपने में सब कुछ, अब तकलीफ क्यों होगी ज्ञानी पुरुष को? किसी भी स्थिति में हो, नरक में भी ज्ञानी नारकी हो सकता है। उसे ज्ञान हो गया, सम्यक्त्व हो गया, 7 वें नरक तक के वासियों को सम्यक्त्व हो जाता है। जहाँ सम्यक्त्व हुआ और अपने सहज ज्ञानस्वभाव का निर्णय बना, तो मरने मारने जैसी गतिस्थितियों में भी रहकर वे भीतर प्रसन्न रहा करते हैं, क्योंकि उसे वह मूल मिल गया जो आनन्दमय है, मगर परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि ये सब बातें गुजर रही हैं। ऐसे ही हम अपने आपके अन्तः में, ज्ञानस्वरूप में यह अनुभव करें कि यह मैं हूँ, तो प्रथम हुआ भेदविज्ञान। उस भेदविज्ञान के उच्छलन से हुई अपने शुद्ध आत्मा की प्राप्ति याने खालिस आत्मा, देह से निराला एक यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा, उस ज्ञानमात्र आत्मा की प्राप्ति हुई और रागसमूह का प्रलय हुआ, कर्मों का सम्बर हुआ, निर्मल और परम संतोष को धारण यह कर रहा, शुद्ध ज्ञानप्रकाश जगमगाने लगा। स्वानुभव में जो आनन्द आता है वही परम संतोष है, याने ज्ञान में और कुछ न आया हो, ज्ञानस्वरूप ही समाया हो, जिससे कि एक साधारण स्थिति बन जाती है, निर्विकल्प स्थिति ऐसे ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व में अपने निवासी की स्थिति बने तो वहाँ परमसंतोष और परम आनन्द प्रकट होता है। तो ऐसे आनन्द को धारण करते हुए ज्ञान बस अब निरन्तर उदित रहता है।

1050- सर्वोत्कृष्ट उपार्जन ज्ञानानुभव-

सबसे ऊँची कमाई अपने आपके स्वरूप में, अपने आपका बोध होना है,। और यह चीज बनती है तब जबकि भीतर शुद्धता हो, किसी प्रकार का पक्ष न हो, मुझे आत्महित करना है केवल यह ही एक शुद्ध भावना हो और कभी पार्टी आदि का कोई प्रसंग चित्त में न आवे, ऐसी स्थिति बने तो स्वानुभव का पात्र बनता है और जिसके स्वानुभव है वह नियम से मोक्ष जायगा। भले ही कोई ऐसा पूर्वकृत पाप का उदय आये कि सब कुछ बाह्य चीजें छूट जायें। तो यह निश्चित है कि जिसके एक बार सम्यक्त्व हुआ है वह नियम से मोक्ष जायगा। मुक्त हो, सब झंझटों से अलग हो फिर फिर उसे किसी भी प्रकार की अशान्ति न रहेगी। तो ऐसे निर्मल आलोकमय परम संतोष को धारण करते हुए अब यहाँ ज्ञान प्रकट होता है सो यह शाश्वत उदित होता हुआ ज्ञान प्रकट होता है। आऊँ उतरूँ रमलूँ निज में। मैं बहुत दूर तक चला गया विकल्पों द्वारा, कहाँ कहाँ उपयोग भटकता रहा, अब वापिस आऊँ, मायने उनमें मैं न भटकूँ। वह भटकना छोड़कर मैं अपने आपके स्वरूप के अन्दर आऊँ मायने अपने ज्ञान में अपने को वासित कर लूँ, रम जाऊँ और अपने आपमें रमण कर लूँ, वहीं रम जाऊँ, काम यह करना सो निज की निज में दुविधा ही क्या? ज्ञानी ज्ञान कर रहा है, ज्ञान

में ज्ञान कर रहा है, उसमें इसको कौनसा विघ्न है? बस ऐसी बात जहाँ हुई कि निज “अनुभवरस से सहज तृप्त” अपने आपके अंतस्तत्त्व का अनुभव हुआ, मैं अनुभव रस से सहज तृप्त हूँ, ऐसा यह मैं सहज आनन्द स्वरूप वाला परमात्मतत्त्व हूँ। अपनी ऐसी दृष्टि बने कि जो दर्शनज्ञानस्वरूपी है, जिसका स्वरूप जानन देखन प्रतिभास है, यह अन्य पदार्थ में नहीं मिल सकता। यह मैं स्वतंत्र हूँ। ऐसी अपने आपके विषय में प्रतीति रहे, यह है एक अंतस्तत्त्व में तत्त्व का मिलना, जहाँ कर्मों का क्षय होता, कर्मों का सम्बर होता। इस प्रकार यह सम्बर अधिकार पूर्ण हो रहा है। तो यह एक नाटक के रूप में इसकी टीका की गई है। यह सब देखा जा रहा है कि इस उपयोग भूमि पर जीव अजीव अपना भेष बनाकर आये थे। जब उनका सही स्वरूप पहिचान लिया तो वह अपना भेष छोड़कर निकल गया। ये कर्म पुण्य पाप के रूप में आये थे। जब इनका भेद जान लिया तब यह भी अपना भेष छोड़कर निकल गया। आस्रवतत्त्व इस उपयोग भूमि पर आया था याने जानकारी में आ रहा था तो उसकी असली लीला की जानकारी हुई तो निकलना ही चाहिये, तो आस्रव भी निकल गया। तो क्या सम्बर को भी यों ही निकलना चाहिए? यहाँ निकलने की बात नहीं कही जा रही है। याने ज्ञान में यह कौनसा तत्त्व आया बस यह ही बात है यहां, याने यहाँ तक सम्बर तत्त्व का विचार था और अब सम्बर तत्त्व यहाँ से निकला मायने उसका विचार हो चुका अथवा सम्बर तत्त्व भी पर्याय है सो शुद्धोत्सोपलम्भ होने पर संवर हो ही रहा है, किन्तु उपयोग में शुद्धात्मा है, संवर नहीं, यों संवर निष्कान्त हुआ। अब निर्जरा तत्त्व का विचार चलेगा इसलिए भी कहा है कि यह सम्बर तत्त्व निष्कान्त हुआ।

अथनिर्जराधिकार

कलश 133

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः
 कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्त्रिरुन्धन् स्थितः ।
 प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
 ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्च्छति ॥133॥

1051- उपयोग मंच पर निर्जरातत्त्व का प्रवेश-

जैसे नाटक देखना है तो अपने ज्ञान में आया, इसी तरह तो देखना जानना कहलाता है। तो जैसे बाहर का नाटक अपने उपयोग में जाना इसी तरह अन्दर का नाटक अपने उपयोग से जाना जा रहा है, और यह अन्दर का नाटक जो चल रहा है उसमें यह पूछा जाय कि नाटक होता है तो किसी आधार पर तो होता है।

जमीन हो, चबूतरा हो, मंच हो...। तो यहाँ के नाटक का मंच कौन है? जहाँ कि यह परखा जा रहा है? वह मंच है यही उपयोग जहाँ नाटक हो रहा है, वही पहिचान करने वाला बन रहा है तो इस तरह जीव अजीव, पुण्य पाप कर्मभेष, आस्रव, सम्वर, इन सबकी जानकारी हुई और अब इस उपयोग भूमि पर, मंच पर निर्जरातत्त्व का प्रवेश होता है। अर्थात् निर्जरा के बारे में तथ्य की जानकारी की जानी है। जब इसका मूल ज्ञान में होता है तो यह सब भेष छूट जाता करता है, निर्जरा का प्रवेश कब हुआ? किस बल पर हुआ, वह है सम्वर का बल। वास्तविक निर्जरा तो जिस बल पर सम्वर होता है उसी बल पर चलती है, और वह है एक शुद्ध स्वरूप का आश्रय। इस सम्वर की बात अभी-अभी निकली है। जैसे सम्वर बना कि रागादिक आस्रव का निरोध करके इसने अपनी धुरा धारण की थी, एक अतुल सामर्थ्य है, जिसमें एक उत्कृष्ट सम्वर हुआ, जिसने की आगामी समस्त कर्मों को दूर से ही रोक दिया।

1052- संवरपूर्वक निर्जरा का महत्त्व-

सम्वर मायने आते हुए को रोकना नहीं है, किन्तु आना ही नहीं, इसका नाम है सम्वर। कर्मों में कर्मत्व आ रहा हो और उसे रोके, सम्वर की यह बात नहीं है, किन्तु कर्मों में, कार्माण वर्गणा में कर्मत्व आया ही नहीं। जिन-जिन प्रकृतियों वाला कर्मत्व नहीं आया उन उनका सम्वर कहलाता है। जब कभी यह बात कही जाती कि आस्रव के निरोध को सम्वर कहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि आने को रोकना। आना ही नहीं, तो सम्वर है, कोई ऐसी मुठभेड़ वहाँ नहीं चलती कि कर्म यहाँ आ रहे और रोके जा रहे, इस तरह की मुठभेड़ नहीं है, किन्तु उन कार्माणवर्गणाओं में उस-उस प्रकृतिरूप से कर्मत्व आता ही नहीं यह ही अर्थ है दूर से रोक दिया इस शब्द का। कहीं मुठभेड़ करके रोकने की बात नहीं है। तो सम्वर तत्त्व ने रागादिक आस्रव रोके और आगामी कर्म रोके। एक ऐसी प्रतिष्ठा की। तो वह किस बल पर? शुद्ध उपयोग के बल पर। उपयोग ज्ञान के किस स्वभाव से परिणमे कि वहाँ अनर्थ बने और किस स्वभाव से परिणमे कि वहाँ अनर्थ न बने। यह सब एक ज्ञान की कला पर ही सब निर्भर है। मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, तो इस ज्ञान की कला पर ही सर्व कुछ निर्भर है। यह ज्ञान जब कर्मस्वभावरूप से परिणमता है तब तो आस्रव होता। जब यह ज्ञान ज्ञानस्वभाव से परिणमता तो आस्रव का निरोध होता।

1053- परिणति की अन्यनिरपेक्षता का तथ्य-

यद्यपि आस्रव का निमित्त उदय में आया हुआ प्रत्यय याने उदयागत कर्म है, लेकिन कर्मों में नवीन कर्मों में आने का निमित्तपना आये, उसका निमित्त यह रागभाव है याने उदय में आये कर्म दो बातों के कारणभूत बने, बने निमित्तकारणमात्र। कौनसी वे दो बातें हैं (1) रागादिक भाव आये और (2) नवीन कर्म आये, मगर नवीन कर्मों के आने में द्रव्यप्रत्यय को निमित्त बनने का निमित्त कारण रागभाव है याने प्रकृति के उदय का कार्य ही नवीन कर्म प्रकृति के आस्रव के निमित्तभूत इसी उदयागत द्रव्यप्रत्यय के निमित्तत्व का निमित्त कारण बन जाता है। यह सब निमित्त कारण की बात है। उपादान कारण किसे कहते हैं? जिसमें जो परिणाम है सो

उसका वह उपादान है। और उपादान दृष्टि से कोई भी पदार्थ किसी दूसरे का करने वाला नहीं है, मगर विकार की स्थिति तब ही बनती है जब अनुकूल निमित्त का सान्निध्य हो और उस समय भी परिणाम तो यह अपनी ही परिणति से। इससे और बड़ा कौनसा उदाहरण होगा जहाँ स्वामी समंतभद्राचार्य ने यह बताया कि अनात्मार्थ बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्। ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते। उदाहरण में कहते हैं कि शिल्पी के हाथ से स्पर्श होने के बाद वे ध्वनि करते हुए मृदंग क्या ध्वनिरूप परिणति में किसी की उपेक्षा कर रहे हैं? निमित्तसन्निधान में उपादान ने अपना प्रभाव उत्पन्न किया। निमित्त सन्निधान बिना उपादान अपना प्रभाव नहीं बना पाता, तिस पर भी उपादान अपने विकाररूप परिणाम रहा, मिल रहा सान्निध्य, परिणाम रहा उपादान, पर उस परिणति में, मात्र उस क्रियापरिणति में तो किसी को भी अपेक्षा नहीं है। दूसरी बात, इसके साथ चिपककर दो मिलकर एक काम कर दें, ऐसा नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपना एक ही काम कर पाता है। तो जब जीव में राग हुआ, वहाँ अशुद्ध निश्चय से देखें तो केवल वही-वही दिखा, राग हुआ, रागी हुआ, रागपरिणत ही जीव है, पर होता जिस विधि से वह बात बनी हुई है। तो कर्मस्वभाव से ज्ञान के परिणामों को निमित्त पाकर कर्म का आस्रव हुआ। फिर कर्म का सम्वर कैसे होता? ज्ञान स्वभाव से ज्ञान परिणामें तो सम्वर हो जाता है। तो इस प्रकार सम्वर ने अपना धुराधारण किया और समस्त आगामी कर्मों का निरोध किया। अब इस समय जो पहले बाँधे हुए कर्म हैं उनको जलाने के लिए निर्जरा का उदय होता है, जिससे कि आवृत हुई ज्ञानज्योति याने जिस पर आवरण पड़ा था ऐसी ज्ञानज्योति रागादिक भावों से मूर्छा को प्राप्त नहीं होती। ज्ञानज्योति पर आवरण साक्षात् तो विभाव का है और उस विभाव का निमित्त कारण कर्मविपाक है। तो कर्मविपाक का यह आवरण जब तक है तब तक यह ज्ञानज्योति आवृत है, हुआ वह अपने आपकी एक सामर्थ्य से जैसा जो कुछ बना हुआ है मगर जब ज्ञानज्योति कमजोर है, ज्ञानज्योति जब अपने आपमें स्वरूप को निहारने में असमर्थ है तो यह जीव रागादिक से मूर्छित हो जाता है, रागविभाव में लग जाता है, अपने स्वभाव को भूल जाता है और इस तरह की जन्ममरण की परम्परा बढ़ाता है।

1054- एक परिणाम होने पर भी शक्तिभेद से विभिन्न कार्यों का निमित्तत्व-

अब यहाँ निर्जरा का प्रवेश हो रहा सम्वर का एक बल पाया, उसी शुद्धोपयोग का जहाँ जितना आंशिक बल है, निर्मलता है, वीतरागता है, जितने अंश में राग नहीं है उतने अंश से सम्वर है। परिणाम यद्यपि एक कालमें एक होता, मगर उस परिणाम की रचना कैसी है कि उसमें कुछ रागभाव है और कुछ राग का अभाव है, ऐसी स्थिति का वह राग है। तो जितने अंश में राग नहीं है उतने अंश में बंधन है। यह राग आग इस जीव को जला रही है, इस आग के बुझाने का उपाय, इस राग को दूर करने का एक ज्ञान का ज्ञानस्वभाव से परिणाम होने की स्थिति में जो एक सम्वरभाव प्रकट होता है वह समतामृत उस राग आग का शमन कर देता है। ऐसी स्थिति कब प्राप्त हो, ऐसी स्थिति अन्तः भावना करना चाहिए, जिसके प्रताप से किसी

परिस्थिति में कदाचित् भोगोपभोग का एक संयोग भी बना हुआ हो, तो भी भीतर जो स्वभाव का आश्रय है, प्रतीति है उसके बल पर वह दो टूकपना चल ही रहा है, वहाँ निर्जरा चल ही रही है।

1055- सम्यक्ज्ञानप्रकाश में भ्रम का अनवसर-

जैसे डंठल से फल टूटकर गिर जाय तो वह फल उस डंठल में चाहे कितना ही जबरदस्ती करके चिपकावे, पर वह उस डंठल में बँध नहीं सकता, इसी प्रकार ये विभाव एक जीव भाव के डंठल में बंधे थे पहिले हमारे भ्रम से और जब अन्तः भेदविज्ञान हुआ और ये अलग हुए, ज्ञान में आया कि ये विभाव तो मेरे स्वरूप ही नहीं, मैं तो एक चैतन्यमात्र हूँ, तो ऐसा ज्ञान जग जाने पर क्या फिर वे विभाव इस जीवभाव में बँध जायेंगे? याने यह ज्ञानी फिर क्या यह जान सकेगा कि यह मैं हूँ? जब भ्रम खतम हो जाता है तब भ्रम का व्यवहार, भ्रम वाली बात कैसे मन में बने? जैसे दूर से रस्सी को साँप जान लिया, भ्रम हुआ और उस भ्रम में घबड़ा गये, अधीर हो गए, पर कोई उपाय बने, कोई साहस बने, कोई नजदीक पहुंचे और वहाँ समझ बने कि यह तो कोरी रस्सी है, रस्सी को उठाकर देख लिया कि यह रस्सी है, अब वह भ्रम का व्यवहार कैसे बना सकेगा? कैसे यह मान सकेगा कि यह साँप है ! क्या यह मान पाता है?...नहीं। तो इसी प्रकार जब आत्मस्वभाव का अनुभव हुआ चूँकि विभाव का भेदन कर दिया, ठीक सही समझ गए कि ये विभाव आकुलता के लिए हैं, ये विभाव मेरे स्वरूप नहीं, तो अब ये जीव के स्वरूप में कैसे बन जायेंगे? जान लिया सो जान लिया, बस जान लिया इससे अधिक और कोई मतलब न रहे तो उसकी जो अपनी अंतरंग समृद्धि है वह उड़िल उड़िल कर प्रकट हो जाता है। बस जान लिया।

1056- ज्ञाता द्रष्टा रहने में अलौकिक समृद्धिलाभ-

एक कथानक है कि कोई सेठ आया मुनिराज के पास। तो मुनिराज ने पूछा कहो भाई तुम्हारा देवदर्शन का नियम है कि नहीं? तो सेठ बोला- महाराज हमारे नियम नहीं है देवदर्शन का हमारा घर मंदिर से बहुत दूर पड़ता है, हमसे यह नियम न निभेगा। तो फिर मुनिराज बोले- अच्छा तुम्हारे घर के सामने क्या है?...कुम्हार का घर।...तुमको सबसे पहले अपने घर से कौनसी चीज दिखती?...महाराज जी मुझे खाट से उठते ही सबसे पहले कुम्हार के द्वार पर बँधे हुए झोंटे का चाँद दिखता है।...अच्छा तो उसी का नियम ले लो। उसे देखकर खाना पीना लिया करना।...हाँ महाराज यह नियम तो चल जायगा, इसका मैं नियम लेता हूँ। अब वह सेठ अपना प्रतिदिन नियम निभाता रहा। एक दिन हुआ क्या कि वह कुम्हार अपने झोंटे को और दिनों से एक घंटा पहले ही लेकर खान में चला जाता। सेठ ने देखना चाहा झोंटे का चाँद तो वह दिखा नहीं। पता लगाकर सेठ उस खान की ओरचला। वहाँ उस झोंटे के चाँद को देखा उसी समय घटना घटी कि कुम्हार को मिट्टी खोदते हुए में एक असर्फियों से भरा घड़ा मिल गया। उसने खड़े होकर देखा कि कोई देख तो नहीं रहा। यदि कोई देख लेगा तो सरकार से शिकायत करके छिनवा देगा..., यह सोचकर जब खड़ा हुआ, देखने को तो वह सेठ दिख गया। कुम्हार ने समझ लिया कि सेठ ने असर्फियों से भरा हंडा देख

लिया, यह सरकार से शिकायत करके छिनवा देगा, सो सेठजी को आवाज दिया...अरे सेठजी जरा बात तो सुनो..., तो सेठ बोला बस देख लिया।...अरे सुनो तो सही,...बस बस देख लिया। यहाँ ध्यान देना कि सेठ का कहने का प्रयोजन था कि मैंने झोंटे का चाँद देख लिया, पर कुम्हार ने समझा कि असर्फियों का हंडा देख लिया। खैर सेठ तो अपने घर पहुंचा। थोड़ी ही देर में वह कुम्हार आधी असर्फियां लेकर सेठ के घर पहुंचा और लीजिए सेठजी यह असर्फियाँ। इनकी चर्चा किसी से न करना...। वहाँ सेठ ने सोचा देखो झोंटे के चाँद के दर्शन का नियम लेने का यह चमत्कार देखने को मिला, यदि देवदर्शन का नियम लिया जाय तो उसका न जाने कितना बड़ा चमत्कार देखने को मिल जाय सो यह भी नियम लिया यह तो लौकिक बात हैं। यह तो कोई वास्तविक फल की बात नहीं। यदि अन्दर में अन्तस्तत्त्व को अगर जान लिया और बाह्य वस्तुओं के प्रति केवल इतनी ही बात चले कि बस जान लिया, जो कुछ है पुद्गल, जीव, जो कुछ भी स्वरूप है, बस जान लिया, देख लिया, इतनी ही बात तक रहे कोई और इससे आगे न बढ़े, राग और द्वेष की तरंग में न बढ़े तो उस जीव को अपने आपके भीतर की समृद्धि मायने निर्मलता, आनन्द, ज्ञानप्रकाश, प्रतिभास, ज्ञान का विलास, ज्ञान के ही सब नाम समझ लीजिए परम समृद्धि का लाभ होगा। आनन्दक्या? वही ज्ञानविकास की बात। और शक्ति क्या? अनन्त शक्ति, सब की बात उस ज्ञान के वैराग्य के विकास में है, तो यह समृद्धि उसके उत्पन्न होती है। कहीं रागद्वेष की भावना न बसायें और मात्र जाननहार रहें तो यह समृद्धि उसको उत्पन्न होती है।

कलश 134

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।

यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥134॥

1057- ज्ञान और वैराग्य के बल से कर्मबन्ध का दूरीकरण-

ज्ञानी जीव कर्म को भोगता हुआ भी कर्म से बँधता नहीं है यह सब किसका सामर्थ्य है? ज्ञान और वैराग्य का। ज्ञानी जीव ने अन्दर में स्वभाव और विभाव का भेद परख डाला, निर्णीत कर लिया, उसके फल में विभावों से उपेक्षा कर स्वभाव में लगा, उसके निर्णय में विभाव हेय, स्वभाव उपादेय बना क्योंकि हेय, उपादेय और उपेक्षा ये तीन प्रकार की बातें आने को ज्ञान का फल कहते हैं। तो तब जाना, स्वभाव विभाव का परिचय किया तो फल क्या रहा कि विभाव तो हेय बन गए और स्वभाव एक उपादेय बन गया। विभावों से हटकर स्वभाव में लगे, ऐसी अलौकिक शक्ति ज्ञानी के प्रकट हुई। भेदविज्ञान का मूल में बल पाया जिसके सम्यक् प्रकाश पाया सो ही कहते हैं कि यह सब ज्ञान और वैराग्य का सामर्थ्य है, ज्ञान मायने मामूली जानकारी नहीं, किन्तु मात्र ज्ञान, जहाँ केवल जाननमात्र हो उसके साथ अन्य कोई विभावों का स्पर्श न हो

ऐसा जो ज्ञानमात्र है, इसका ही सामर्थ्य है कि कोई अन्तरात्मा ज्ञानी पुरुष कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता। देखिये- स्थूल तथा तो यों दिखेगा कि यह भोगोपभोग में लगा हुआ भी कर्मों से नहीं बँधता और सूक्ष्मतया भी यह दिखेगा कि कर्मविपाक का जो प्रतिफलन है उस ही को तो यह भोग रहा, अनुभव रहा, उसको अनुभवता हुआ यह कर्मों से नहीं बँधता और उसमें भी अन्तः दृष्टि पर चलते हैं तो यह बात बनती है कि उस काल में चारित्रमोहाक्रान्त का ज्ञानस्वभाव से च्युत होकर थोड़ा भी जो अन्य रूप से परिणम रहा है ज्ञान (ज्ञान प्रतीति वाले जीव की बात कही जा रही है) तो ऐसा ज्ञानविकल्प जानने पर भी वह कर्मों से नहीं बँध रहा। क्या सभी कर्मों से नहीं बँध रहा? ऐसी बात तो नहीं, मगर यहाँ बुद्धिपूर्वक कर्मबन्ध नहीं हो रहा है। अध्यात्मशास्त्र में सर्वत्र यह ही अर्थ लेना होता है कि बुद्धिपूर्वक रागद्वेष नहीं हैं, यह तो कहलाता है रागद्वेष का अभाव। और, बुद्धिपूर्वक आस्रव नहीं है, यही कहलाता है आस्रव का अभाव। और, यह सब होता है ज्ञान और वैराग्य के बल पर। फिर तो अबुद्धिपूर्वक आस्रव ही रह जाता है और अबुद्धिपूर्वक जो रागद्वेष रह जाते हैं वे स्वभावाश्रय के बल से दूर हो जाते हैं। इसके सिवाय अन्य कोई उपाय अबुद्धिपूर्वक आस्रव को मेटने का नहीं है।

1058- श्रावक मुनि सभी ज्ञानियों के बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक सभी विकारों के निर्जरण का उपाय स्वभावाश्रय-

स्वभावाश्रय के उपाय से बुद्धिपूर्वक रागद्वेष दूर हुआ, वही उपाय अबुद्धिपूर्वक रागद्वेष को दूर करने का है, पर उसका अभ्यास, साधना, समाधि ये चाहिए, याने अपने शुद्धस्वभाव का आश्रय, यह ही बुद्धिपूर्वक आस्रव को दूर कर रहा और यही अबुद्धिपूर्वक आस्रव को दूर करेगा। उपाय वह एक ही है, और इतना ही क्यों? चाहे वह गृहस्थ हो, मुनि हो, श्रेणी के मुनि हों, जिन-जिन के सम्वर निर्जरा चल रही, जितनी जहाँ-जहाँ चल रही, उस सम्वर निर्जरा का उपाय, साधना अन्तः वीतरागता है। जितने अंश में नहीं है राग, शुद्ध ज्ञान चल रहा है बस वही है गृहस्थ को भी सम्वर का कारण और मुनियों को भी सम्वर का कारण। अब यों समझ लीजिए कि कोई अमीर है तो उसने मानो भरपेट पेड़े खाये और किसी गरीब ने छटाक आधी छटाक ही पेड़ा लेकर खाया, मगर पेड़े के स्वाद को यह भी जान गया, वह भी जान गया। शुद्धोपयोग के प्रसाद से, शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रसाद से यह सम्वर और निर्जरा की बात चलती है, पर जितने-जितने अंश में निर्मलता है, शुद्धि है उसके अनुसार सम्वर और निर्जरा की बात होती है। उसका सामर्थ्य मिला कहाँ से? ज्ञान और वैराग्य से। तो ज्ञान और वैराग्य में ही यह सामर्थ्य है कि कोई पुरुष कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से बँधता नहीं है। मंत्रवादी पुरुष, मंत्रसाधक पुरुष उस विष को खाकर भी नहीं मरता जिस विष को खाकर दूसरा असाधक मर जाता है उसी प्रकार उपभोग को भोगकर भी, उपभोग का भोगना होता है परिस्थिति में, मगर जहाँ ज्ञान और वैराग्य है मूल में, तो वह वहाँ बँधता नहीं है। वह अपने आपमें स्वातंत्र्य और स्वभाव का बराबर अनुभव करता हुआ ही चल रहा है। जहाँ वैराग्य होता है वहाँ कोई चीज भी लद जाय तो भी

वैराग्य के बल से उसका लदान नहीं कहलाता। तो हम आपको शरण है, साधक है, मित्र है तो वह है ज्ञान और वैराग्य। जहाँ ज्ञान है वास्तव में, गप्पों वाले ज्ञान की बात नहीं कह रहे, जहाँ वस्तुतः स्वभाव विभाव का भेद करके एक स्वभाव का उपयोग बने, ऐसा जहाँ ज्ञान है वहाँ वैराग्य भी है। वैराग्य के साथ ज्ञान भी है। हाँ अब इतनी बात अवश्य है कि किसी के कम विरक्ति है किसी के अधिक विरक्ति है, वह सब जैसे-जैसे साधना और अभ्यास बढ़ता है उस वैराग्य का अभ्युदय बढ़ता चला जाता है, पर कर्मों से न बँधे उसका उपाय ज्ञान और वैराग्य ही है, और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

कलश 135

नाश्रुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।

ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥135॥

1059- सम्यग्दृष्टि की ज्ञान व वैराग्य की शक्ति तथा उसका प्रभाव-

जिस आत्मा ने अपने ही ज्ञान द्वारा अपने ही सहज ज्ञानस्वरूप को पहिचाना और उसमें ही यही मैं हूँ, ऐसा अनुभव किया, दृढ़ज्ञान किया और इस प्रकार की दृष्टि बनाकर अलौकिक आनन्द प्राप्त किया उसकी दृष्टि, धुनि, प्रतीति लगन इस आत्मतत्त्व की ओर ही होगी। भले ही परिस्थितिवश बाह्यविषयसेवन हों तो भी वह विषयसेवन की ओरबुद्धि वाला नहीं है, किन्तु उसकी बुद्धि, प्रतीति केवल एक अन्तस्तत्त्व की ओरहै। बस यह काम जिसने किया उसे फिर कहीं बन्धन नहीं है। समझ तो लिया उसने ही यह है निर्बन्ध का मार्ग, यह है अपने आनन्दविकास का मार्ग। तो जिस पुरुष ने ऐसा अन्तस्तत्त्व का ज्ञान किया है वह पुरुष विषयसेवन होने पर भी पञ्चेन्द्रिय के विषयसेवन का फलरूप संसारबन्ध प्राप्त नहीं कर पाता। तो ज्ञान और वैराग्य का ही वह बल है कि बाह्य विषयों का सेवन करते हुए भी वह सेवता नहीं है, ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे। एक सेठ की किसी फर्म में कोई मुनीम है, तो करोड़ों का काम है उस सेठ के और मुनीम केवल थोड़ासा वेतन पाता है, परन्तु सब प्रकार कामों में व्यस्त वह मुनीम दिखाई देता है, सेठ तो अपने घर में पड़ा रहता, मोटर में बैठकर इधर-उधर घूमता रहता। और, वह मुनीम इस प्रकार का बोलचाल भी करता कि हमारा तुम पर इतना गया, तुम्हारा हम पर इतना रहा, कहता सब कुछ उस सेठ की सम्पत्ति के बारे में, उस सम्पत्ति की रक्षा भी वह मुनीम करता, उसे मेरी मेरी भी कहता, पर उसके हृदय से तो पूछो, उस संपत्ति में उसे रंच भी आसक्ति नहीं, वहाँ मोह नहीं। सब कुछ करते हुए भी उसका फल मुनीम नहीं पा रहा। वह तो अपनी जो कमायी है, जो सेवा है, उसका जो श्रम होता है वह उतना ही पा रहा है। ऐसे अनेक उदाहरण ले लो। जब किसी ओरचित्त नहीं रहता है और किसी कारण जबरदस्ती करना पड़ता है तो उसका फल कहाँ प्राप्त होगा? जहाँ धुन है, जहाँ लगन है, उसका जो फल प्राप्त हो सकता सो ही मिलता है। अन्तस्तत्त्व की ओर जो लगता है

सो उसका फल है शान्ति, निर्भार अनुभव करना, सो वह उसको प्राप्ति होता है। जहाँ धुन नहीं है, जहाँ चित्त नहीं है उसका फल कैसे प्राप्त होगा? प्रवर्तन हो रहा है और कुछ उसका प्रभाव भी चलता है, मगर आसक्ति नहीं तो वह फल भी नहीं कहलाता। अच्छा और भी देखो- जैसे किसी लड़की का विवाह हुआ, मानो अब वह 40-50 वर्ष की हो चुकी। कई बच्चे भी हो गए, पोते भी हो गए, मगर जब भी वह मायके आती है और मायके से जब वह जाती है तो रोकर जाती है। अब बताओ, उसका वह रोना क्या हृदय से है? क्या उसको जाने में कष्ट है? अरे कष्ट कहाँ। कदाचित् देर हो जाय लिवाने आने में तो झट वह अपने बेटों को खबर कर देती कि लिवे ले जावो, मगर विदा होते समय वह रोकर जाती है। यों कितनी ही घटनायें ऐसी हैं कि जहाँ धुन है, जहाँ लगन है उसका फल तो उसे मिल रहा, बाकी परिस्थितिवश जो कुछ और किया जाना पड़ता है उसका फल, आसक्ति, अनुराग, मोह, राग, विरोध यह बातें नहीं उत्पन्न हो पाती हैं।

1060- अन्तस्तत्त्व का ही संस्कार बनाने का अनुरोध-

यह ज्ञानी पुरुष अपने अन्तस्तत्त्व की रुचि करके अपने में ऐसा आनन्द पा चुका कि उसकी निर्वाध स्थिति हुई कि मेरा सर्वस्व तो यह आत्मतत्त्व ही है, कारण ही एक है। ऐसे आत्मा की अनुभूति तब ही तो बनती है जब एक आत्महित का ही नाता हो, दूसरा कोई नाता नहीं। दूसरा कोई प्रकार का पक्ष विकल्प आदिक चित्त में नहीं होता, तो उस स्वानुभूति की वहाँ पात्रता होती है। कोई प्रकार का शल्य मोह वे सब जहाँ नहीं होते वहाँ स्वानुभूति की पात्रता है। हम आप सबका कर्तव्य है कि वर्तमान जो परिस्थिति है, वर्तमान में जो संग प्रसंग है यह सदा न रहेगा, मगर भीतर में जो संस्कार बसाया है वह आगे साथ जायगा, इस कारण वर्तमान के चेतन अचेतन के संग प्रसंग को महत्त्व न देकर उसके कारण अपने में कोई ममता न उत्पन्न करके एक अपने आपके अंतःस्वरूप का ही हम संस्कार बनावें, एक ही नाता है कि मैं हूँ और मुझे अपने आपमें जो शान्ति, आनन्द बसा है, समृद्धि है बस उसको प्राप्त करना है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

1061- लोकपरिचयामृत का पान-

देखिये- 5 पदार्थों का परिचय एक अमृत पान का काम करता है। (1) लोकपरिचय, (2) कालपरिचय, (3) जीवदशापरिचय, (4) मुक्तिदशापरिचय और (5) आत्मस्वभावपरिचय। जहाँ यह ज्ञान में आया कि यह सारा लोक इतना महान् है, 343 घनराजू प्रमाण है, कुछ हद है क्या? एक राजू में असंख्याते द्वीप समुद्र समा गए, जम्बूद्वीप एक लाख योजना का है, उससे दूना एक तरफ लवण समुद्र, उससे दूना एक तरफ द्वीप, इस तरह एक तरफ दूने-दूने चले गए ऐसे असंख्याते द्वीप समुद्र हैं। वे कहने मात्र के नहीं। जब उनकी गणना बतायी गई तो उससे जान गये कि कितने असंख्यात है, इतने द्वीप समुद्र कि ये सब एक राजू के अन्दर ही समा गये फिर भी कुछ हिस्सा बचा है, और यहाँ है एक फैलाव रूप में, फिर तो घनरूप बहुत बड़ा, ऐसा 343 घनराजू प्रमाण यह लोक है। इस क्षेत्र के अन्दर जहाँ हम बस रहे हैं, एक छोटी सी जगह, यह हमारे

लिये क्या महत्त्व रखती है? इसमें ही क्या चिपके रहना। एक परिचित क्षेत्र से ममता त्यागने की उमंग आती है लोक के विस्तार को निरख करके। यहाँ थोड़े से क्षेत्र में ममता करके अपना तो जीवन पूरा गमाया। तो यह लोकपरिचय का अमृतपान है।

1062- कालपरिचयामृत का पान-

काल के समय कितने हैं अनादि से अनन्त काल तक, अनादि मायने जिसकी कुछ आदि नहीं, अनन्त मायने जिसका कोई अन्त ही नहीं, तो कितना बड़ा काल कहलाया, जिसकी कोई सीमा नहीं, तो इतने विशाल काल के पीछे हम आपका यह 100-50 वर्ष का जीवन कुछ गिनती भी रखता है क्या? अरे लोक को तो अंदाज लगाया जा सकता कि यह जम्बू द्वीप एक बिन्दु बराबर है, मगर हजार सागर को भी इस काल के सामने यह नहीं कह सकते कि यह बिन्दु बराबर है, इतना महान काल व्यतीत हो गया। इसके भीतर जो 100-50 वर्ष का समय मिला उस काल में जो कुछ अपने पर घटना, संग प्रसंग जो कुछ भी बात है उनको कुछ सोचना,, उनमें ममता होना यह सब किसलिए है? उसका तो कुछ अर्थ ही नहीं रहा, इस काल के अन्दर यह 100-50 वर्ष का समय कुछ गिनती का नहीं। तो इतने बड़े काल के विस्तार का जो परिचय प्राप्त करता है, उसको ममत्व के परिहार में बड़ा सहयोग मिलता है।

1063- जीवदशापरिचयामृत तथा मुक्तदशापरिचयामृत का पान-

तीसरा अमृत है जीवदशापरिचय, इसमें जीव की दशाओं का परिचय होता है। नरक में, निगोद में, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदिक एकेन्द्रिय में दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय में, नारकी देव मनुष्य और पशु पक्षी आदिक में सबमें कैसी-कैसी दशायें चल रही हैं। चल रही हैं अज्ञानवश, भ्रमवश, कर्म के उदयकाल में उस उस प्रकार से सब परिणमन चलता है, हुआ है, मगर यह तो ध्यान में दें कि इतनी तरह की जो जीव की दशायें होती हैं वे सब अज्ञान के होने पर होती है। और, एक अपने आपके सहज स्वरूप का ज्ञान हो जावे तो वे सारी की सारी दशायें दूर हो जाया करती हैं। चौथा अमृत है मुक्तिदशापरिचय जहाँ केवल स्वभाव ही स्वभाव व्यक्त है, केवल चैतन्यमात्र तत्त्व व्यक्त है वह ज्ञानपुञ्ज, वह ज्ञानज्योति शरीर से रहित, कर्मों से रहित, विभावों से दूर, अधीरताओं से दूर छूटपुट ज्ञानों से विविक्त एक केवलज्ञान दशा वह मुक्त दशा है, जो कल्याणमय है। उससे पहले ये सारी दशायें जो संसारी जीवों के भटकने की हो रही हैं वे सब दशायें केवल एक दुःखमय हैं, सब कष्टमय दशायें हैं। तो ऐसी दशायें क्यों होती हैं? इसलिए कि हम अपने को सम्हाल नहीं सके, अपनी ज्ञानज्योति का अनुभव नहीं कर सके कि यह मैं हूँ। ज्ञान न जगे, भ्रम जगे शरीर में आत्मबुद्धि रहे तो ऐसी ऐसी जीवनदशाओं में यह जीव गया और जायगा। तो अनेक जीवदशा का परिचय होने से विषयों में अनुराग का, शरीर में अनुराग का त्याग होता है। अरे कितने शरीर पाये, किस किससे मोह किया...तो शरीर में अनुराग, शरीर में आत्मबुद्धि इनका त्याग करने में सहयोग मिलता है जीवदशा का परिचय होने से। जिसके जो कला प्रकट हुई है वह हर जगह से अपनी

ही चीज प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इस तत्त्वज्ञानी के वह एक दर्शन की कला उत्पन्न हुई है, तो कुछ भी स्थिति हो, वहाँ भी स्वानुभव या आत्मस्वरूप की बात का ही दर्शन करेगा।

1064- आत्मस्वभावपरिचयामृत का पान-

5 वाँ अमृत है आत्मस्वभाव का परिचय- मैं क्या हूँ, इसका सही परिचय हो, बस उसी के अनुरूप उसका फल उसे मिलने लगता। जैसे कोई मानता है कि अमुक आदमी हूँ, अमुक परिवार का हूँ, अमुक जगह का हूँ आदिक रूप से जो मानता है वह वैसी चेष्टायें करता है। जैसे किसी ने मान लिया कि मैं अमुक का बाप हूँ तो वह अपनी उस अनुरूप चेष्टा करेगा, उसके पालन पोषण की व्यवस्था करेगा, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है उसके अनुकूल ही तो उसकी वृत्ति होती है। जिसने माना कि मैं इन सबसे निराला हूँ, केवल ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूँ तो उसके भीतर क्या परिणमन चलेगा? एक ज्ञान विकास, एक जाननमात्र। यह ही तो विकास चलेगा तो अपने आपको मैं क्या मानता हूँ, बस इस मान्यता पर उसको चेष्टायें होती हैं। लेकिन लोग अंदाज भी तो करते हैं कि यह क्या चेष्टा करेगा, क्या बोलेगा, किस तरह बोलेगा, यह सब अंदाज होता है इस श्रद्धा को पाकर कि इसकी ऐसी श्रद्धा है तो बोलेगा तो यों बोलेगा 'श्रद्धा के अनुरूप प्रवृत्ति होती है ना? तो अपने को अगर परम आनन्द प्राप्त करना है तो उसके लिए अपने अंतस्तत्त्व की श्रद्धा जगानी होगी कि यह मैं अंतस्तत्त्व यह हूँ, अन्य कुछ मैं नहीं हूँ। ऐसा जिसने भान किया, परिचय किया, वह पुरुष विषयों का सेवन होने पर भी विषयसेवन का फल याने संसार परम्परा यह नहीं बनाता। यह सब ज्ञान और वैराग्य के बल से ही बात होती है।

कलश 136

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥136॥

1065- सम्यग्दृष्टि के सहज स्वरूप के प्रकाश का प्रभाव-

सम्यग्दृष्टि मायने सही सही दृष्टि वाला अपने आपके बारे में अपना जैसा सहज स्वरूप है अपने सत्त्व के ही कारण स्वयंनिरपेक्ष जो कुछ इसका स्वरूप है उसमें उसका अनुभव हो, उसका उस ही में प्रत्यय हो, ऐसी जिसकी दृष्टि बनी उसे कहते हैं सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि जीव में ज्ञान और वैराग्य की शक्ति स्वयं हो जाती है। ज्ञानशक्ति क्या? जब ज्ञान में ज्ञानस्वरूप को जाना, स्वरूप में ज्ञान उपयुक्त हुआ वह एक इतना महान बल

है कि जिससे धीरता, गम्भीरता स्वयं ही प्रकट होती है। धीर कहते किसे हैं? लोग तो यह बतलाते हैं कि कोई विपत्ति आये उसमें घबड़ाये नहीं उसे कहते हैं धीर, पर धीर का यह सही अर्थ ही नहीं है। जो भाव बुद्धि को देवे याने जिसमें बुद्धि व्यवस्थित रहे ऐसी स्थिति वाले को कहते हैं धीर। चूँकि घबड़ाहट में बुद्धि व्यवस्थित नहीं रहती है इस कारण से उसका अर्थ यह कर दिया गया कि घबड़ाये नहीं सो धीर, पर धीर का अर्थ है जहाँ बुद्धि व्यवस्थित रहे सो धीर। तो सम्यग्दृष्टि जीव जिसने अपने आपमें अपने सहज स्वरूप का प्रकाश पाया उसने सर्वस्व पाया। और उसे कोई कठिनाई नहीं, अंधकार नहीं। क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए ऐसी कोई दुविधा नहीं, उसे तो मिल गया अपना शरण, परम शरण। इसी को कहते हैं परमपिता। पिता नाम पैदा करने वाले का नहीं है। पैदा करने वाले के नाते से तो उसका नाम जनक है, पिता नहीं है। पिता उसे कहते जो रक्षा करे। तो मेरा परम पिता कौन? उत्कृष्ट रक्षक कौन? मेरा यही अंतस्तत्व, यह ही मेरा उत्कृष्ट रक्षक है। तो इसका शरण जिसने पाया यह दृष्टि यह अनुभव जिसने पाया वह उस ही ओर का तो पौरुष करता और इस पौरुष में, इस आत्ममग्नता में स्वयं ऐसी बात होती है बाहर कि कर्म निर्जरा को प्राप्त हो जायें। जब कर्म खिरे तो देह भी कभी सदा के लिए गमाना होगा तो सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी।

1066- धर्मपालन व धर्मपालन कीपात्रता के लिये बाह्य साधन-

परम श्रेय का मूल है अपने आपके सहज स्वभाव की दृष्टि, अनुभूति, प्रतीति उसका आलम्बन एक ही कात करने को पड़ा है धर्म के लिए। धर्म अनेक जगह नहीं है। धर्म केवल निज सहज भाव में है, इसका आश्रय करना इसी को कहते हैं धर्मपालन। धर्म मायने वस्तु का स्वरूप, पालन मायने उस स्वरूप का आश्रय, यह ही है धर्मपालन। मगर स्थिति हम आप सब लोगों की विचित्र है, फिर भी अपने लक्ष्य से गिर जाते हैं कभी बाहरी पाप व्यसन आदिक भावों में लगना पड़ता है। ऐसी स्थितियाँ होती है तो उनको टालने के लिए उन खोटी स्थितियों का तुरन्त निवारण करने के लिए आपके पास क्या साधन है? बस यही शुभोपयोग व्यवहार धर्म व्रत, तप, संयम आदिक। सो उन सब अशुद्ध भावों को टालने के लिए यह आपका एक तुरन्त साधन है, फिर उस साधन में रहते हुए स्थिति तो सुरक्षित तो हो गई कि पाप और व्यसन इसके नहीं रहे और ऐसी सुरक्षित दशा में रहकर फिर भीतर आइये और अपने उसी सहज स्वरूप में दृष्टि कीजिए। जैसे युद्धस्थल में लड़ने वाले योद्धावों को शस्त्र और ढाल इन दो से सज्जित देखा होगा, क्योंकि ढाल तो काम आती है शत्रु का वार रोकने के लिए और तलवार काम आती है शत्रु का संहार करने के लिए, इसी तरह शुभोपयोग तो ढाल का काम करता है अशुभोपयोग का आक्रमण हो तो वह हामी न हो सके, वहाँ इसका उपयोग विचलित न हो सके इसने तो किया ढाल का काम, अब ढाल से सुरक्षित दशा में प्रहार करे तो विभाव और कर्मों का प्रक्षय हो जायगा। सम्यग्दृष्टि जीव ने जब अन्तर्दृष्टि से ज्ञानलाभ लिया तो उस ज्ञानलाभ के होने पर भी जो परिस्थितियाँ आती हैं विरुद्ध विचित्र, उनमें वह इस प्रकार की प्रवृत्ति करता है जिसे चरणानुयोग मेंबताया

गया है, वह प्रवृत्ति उससे बनती है। वह सुरक्षा के लिए है, और उस सुरक्षित स्थिति में हम अपने आपके स्वभाव के आलम्बन का अपना निजी काम करें। ज्ञानशक्ति सम्यग्दृष्टि में उत्पन्न हुई जान गए और वैराग्यशक्ति भी हुई। वैराग्यशक्ति किस परिचय से हुई। बाहरी वस्तुओं के वैराग्य की बात अभी नहीं कह रहे, वह भी एक वैराग्य है जो घर, मकान, परिवार, परिजन, मित्रजन आदिक विषम संग प्रसंग, इनसे विरक्त रहे वह भी वैराग्य है, किन्तु जब तक यह अन्तः वैराग्य न बनेगा तब तक यह बाहरी उपयोग इसको प्रतिष्ठित न रख पायगा।

1067- अंतः वैराग्य का विधान-

अंतः वैराग्य क्या? जिसको यही बताया है कि ये कर्मोदयविपाकप्रभवा भावा न ते मम स्वभावा अर्थात् कर्मों के उदय से होने वाले जो भाव हैं वे मेरे स्वभाव नहीं हैं। लो विभाव से ही तो वैराग्य करना था, विभाव से ही तो उपेक्षा करना था। तो जब तक विभावों कि विषय में यह निर्णय न बने कि ये मेरे स्वरूप नहीं, ये मेरे स्वभाव नहीं तब तक उनसे वास्तविक विरक्ति कैसे बन सकेगी? देखना, जगत में निमित्तनैमित्तिकभावों का उल्लंघन नहीं है और वस्तुस्वातंत्र्य में कलंक नहीं है। दोनों ही बातें सहज आपको सर्वत्र दिखेगी। कर्म का उदय हुआ, विपाक हुआ, कर्म का विपाक हुआ, मगर वहाँ एक ऐसा ज्ञेयरूप जो विपाक हुआ, जो प्रतिफलन हुआ उतने तक तो अनिवारित है प्रतिफलन, अब जैसा-जैसा इसका संयोग है, उपादान है, जैसी-जैसी जब स्थिति होती है वह उस विपाक में, प्रतिफलन में आता है, उसे अपना सर्वस्व मानता है और अनुरूप फिर इसकी चेष्टायें होने लगती हैं। जहाँ यह ज्ञान किया कि ये परभाव हैं, परप्रतिबिम्ब हैं, पर का प्रतिफलन है, इससे मेरा क्या मतलब है। मैं तो अपने में टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक स्वभावमात्र हूँ। ऐसा ज्ञान होते ही विभावों से विरक्ति हो जाती है। देखिये- परभाव समझने के लिए यह निमित्त नैमित्तिक भावों का सही परिचय बहुत सहयोग देता है। तो जब जाना कि यह परभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं तो उससे विरक्ति हो गई, क्यों लूँ, इसे क्यों अपनाऊँ, इसका द्रष्टा रहूँ, उदय है, इसका प्रतिफलन है, हो रहा है, मेरा स्वरूप नहीं है। तो ऐसे अन्तःवैराग्य की शक्ति इस सम्यग्दृष्टि के अपने आप आयी हुई है।

1068- बुद्धिपूर्वक आश्रय के प्रभाव का तात्पर्य-

चारित्र मोह के उदय से किसी पद तक ज्ञानी के भी मोक्ष होता है और यह बाह्य प्रसंगों में, बाह्य पदार्थों में अपना उपयोग देता है, उनका आश्रय बनाता है, यह कहलाता है उपचरित कारण। कर्मोदय के सिवाय बाकी जितनी ये बाहरी बातें हैं ये सब कहलाती हैं उपचरित कारण याने क्रोधादिक भावों के साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है इन बाहरी पदार्थों का, किन्तु एक आश्रय वाला सम्बन्ध है याने यह जीव इन बाहरी साधनों में उपयोग जुटाये तो बुद्धिपूर्वक रागादिक विकार हुए। यह घटना बनती है। न उसमें उपयोग जुटाये, एक स्व की ओरदृष्टि ले, न इसका विकल्प हो तो कर्मों के उदय तो अपनी स्थिति पर बराबर चल रहे हैं, उनकी स्थिति हो रही और उस स्थिति में अबुद्धिपूर्वक जो कुछ बात हो रही वह मलिनता होती है, पर

बुद्धिपूर्वक विकार तब होता जब हम किसी बाहरी संग प्रसंग में अपना उपयोग फंसाते हैं, तो ऐसे ज्ञान और वैराग्य की शक्ति सम्यग्दृष्टि जनों में नियत है, सो यह अब क्या करता है? समस्त रागयोगों से विराम लेता है और अपने आपके स्वरूप में ठहरता है। कुछ प्रयोजन तो होना चाहिए भेदविज्ञान का। चावलों को बीनने का, साफ करने का कुछ प्रयोजन तो होना चाहिए, कूड़ा करकट हटावें, अकेला चावल रहने दें, भात बनायेंगे, खायेंगे, यों कुछ प्रयोजन तो है चावल बीनने का। तो यहाँ क्या प्रयोजन है? विभावों को जाना कि ये परभाव हैं और अपने सहज स्वरूप को जाना कि यह स्वभाव है, ऐसे ज्ञान का प्रयोजन यह है कि उस रागयोग से, उस विभाव से विरक्ति करें, विराम लें, मुख मोड़े और अपने आपके स्वरूप में ठहर जायें, यह बात कैसे बनेगी? जब स्व और पर का भेद जान लिया तब ही तो बनेगी ना?

1069- स्वभाव विभाव के भेदविज्ञान से पहिले जीव का कर्तृत्व व भोक्तृत्व-

जब तक भेद न जानते थे तब तक यह जीव कर्ता था, उनको अपनाता था। अपनाते का नाम कर्ता, अभिप्राय में जहाँ करना बसा हुआ है वह कर्ता। तो यह जब तक अज्ञान भाव है, विभाव में और स्वभाव में अन्तर न जान पाया था तब तक उछल उछलकर विभावरूप बन रहे थे, जैसे किसी किसान को हल जोतते हुए में साँप ने काट लिया तो वह किसान विष चढ़ जाने से कुछ साँप सा बनकर बकने लगता, जो चाहे बात करता है। किसान अपने बैल को पीटता है और यह कहता कि तूने मेरे ऊपर पैर क्यों रख दिया...। उस साँप का विष किसान में ऐसा व्याप गया कि उसका दिमाग, उसकी बुद्धि कुछ इस ढंग से चलने लगी कि वह अपने को साँप जैसा अनुभव करने लगा। वह किसान उस बैल को बुरी तरह से पीट रहा था और यह बक रहा था कि तूने मेरे ऊपर पैर क्यों धर दिया। तो वहाँ किसी ने आकर समझाया- “अरे भाई क्यों इतना पीट रहे बैल को? यदि वह मर गया तो फिर किससे जोतोगे? क्या कमाओगे? कैसे बच्चों को पालन पोषण करोगे? तब उसकी अक्ल कुछ ठिकाने हुई, बात समझ में आ गई। तो दृष्टान्त यह कह रहे हैं कि जैसे विष चढ़े में वह अपने को साँप जैसा अनुभव करता हुआ अटपट बालता है ऐसे ही समझिये कि मिथ्यात्व का विष जब चढ़ा है तो विभाव रूप बनकर विभाव की बोली में बोलता है बस यों यह है, भोक्ता है, उमंग ला-लाकर उचकता फिरता है, जब यह भेद डाला कि ये सब विभावभाव परभाव हैं, मेरे स्वरूपकी चीज नहीं हैं, परिणमन तो मेरे में है, मेरी परिणति है, पर मेरे स्वरूप से स्वभाव से विकारभाव परिणमते नहीं, ये नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं, इनसे मेरा क्या सम्बंध? देखिये- निमित्तनैमित्तिक भावों का सही परिचय आपको एक स्वानुभव की स्थिति बनाने के लिए, स्वभाव का परिचय बनाने के लिए बहुत मददगार है, पर इसमें इतनी सावधानी निरन्तर रहे कि निमित्तनैमित्तिकभाव में परस्परकर्ताकर्मभाव अंशमात्र भी नहीं है। होता क्या है कि सम्पर्कज भाव, एक वातावरण इस तरह का एक विपाकसन्निधान है कि उस काल में यह जीव, यह अशुद्ध उपादान अपनी कला से विभावरूप अपना प्रभाव बना लेता है। वह प्रभाव दूसरे पदार्थ का नहीं, निमित्त का प्रभाव नहीं। यद्यपि यह प्रभाव निमित्त का नहीं, अशुद्धात्मा का है, मगर उसकी रचना की

विधि यह ही है कि ऐसे उदय काल में जीव अपने में चूँकि स्वयं अशुद्ध उपादान है सो अपने में अपना प्रभाव प्रकट कर लेता है।

1070- भेदविज्ञान व स्वरूपविज्ञान का प्रयोजन-

विकाररूप तो हुआ यह जीव ऐसा, मगर ये सब बातें बनी तो ये औदयिक हैं, परभाव है, मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा जानने पर यह विभाव से हट गया और अपने स्वरूप में ठहर गया। यह सब बना क्या, कैसे बना? और उसमें बात प्रयोजन की क्या है? कैसा अपना अस्तित्व रख रहा वह? कर क्या रहा? कर कुछ नहीं रहा, जो अपनी वास्तविकता है उस वस्तुत्व को वह उत्पन्न कर रहा, रख रहा, करता आ रहा, यों कह लीजिए जान रहा। जब और गहरी स्थिति होती है तो किस लिए जान रहा? भेदविज्ञान तो इसलिए किया गया कि ज्ञानी परभाव से हटे और स्वभाव में लगे। अच्छा अब स्वभाव का ही मात्र जानन किसलिए चल रहा, इसका क्या प्रयोजन? वह ज्ञान ज्ञान के लिए ही चल रहा है। ज्ञान से ज्ञान के लिए ज्ञान में ज्ञान का ज्ञानरूप परिणमन चल रहा है वहाँ दूसरा कोई प्रयोजन नहीं, तो प्रथम उपाय की बात क्या रही कि बाहर के पदार्थों में थोड़ा सा अध्ययन बने कि ये अनित्य हैं, मिट जाने वाले हैं, अशरण हैं, ये मेरे को सदा साथी नहीं हैं, यों थोड़ा सा साधारण ज्ञान बाहरी पदार्थों के बारे में हो जाय तो इससे कुछ धर्म करने की या अपने उद्धार की एक वाञ्छा उत्पन्न होती है? जिन जिन के अपने उद्धार की एक वाञ्छा उत्पन्न हुई है जिन जिनके ऐसी बात हुई है वह प्रायः इस विधि से हुई है कि पहले इन बाहरी संग प्रसंग के बारे में कुछ व्यवहारिक बोध रखा था जैसा कि सभी जानते हैं। देहाती जन भी बोलते हैं कि क्या रखा है यहाँ? सब छूट जायगा, यह मेरा देह भी न रहेगा, तो ऐसी बातें जरा भावनापूर्वक हों तो मन में यह बात आयगी कि फिर अपने को करना क्या है? जब ये सब छूट जायेंगे तब अपने को करना क्या है? यह सब कुछ थोड़ी मन में ज्ञात होगा, कुछ सत्संग की भावना होगी, स्वाध्याय की बात होगी, जो महान ज्ञानीजन हैं उनके पास बैठने की भावना होगी, चर्चा करेंगे जिज्ञासापूर्वक, कुछ ज्ञान होगा। अभ्यास चलते-चलते यहाँ पर भेदविज्ञान की बात अन्त में आयगी। देखो जानने की बात तो जरा सी है, अपने सहज स्वरूप को जानें और उसमें मग्न हों, मगर जिसे करना है हित, उसे ही तो कठिन पड़ता। गुरुजी एक घटना सुनाते थे टीकमगढ़ की। वहाँ कोई मल्ल बड़ा पहलवान आया था दंगल में लड़ने के वास्ते, तो उससे लड़ने को किसी की भी हिम्मत न पड़ी। सबसे अन्त में एक बड़ा दुबला-पतला कमजोर आदमी उससे लड़ने के लिए तैयार हो गया, उसने कहा हम लड़ेंगे इससे।...अरे तुम कैसे लड़सकते? तुम तो इसके सामने कुछ भी नहीं हो, तो वह पुरुष बोला- हम तो लड़ेंगे इससे, पर एक शर्त है हमारी कि जब हम और ये दोनों लड़ने लगे तो हमारे छूते ही यह जमीन पर गिर जावे।...अरे जो कठिन काम है, उसके ही तो करने की बात कही जा रही, जो कठिन काम है उसको करने के लिए ही तो सारी शक्ति, पौरुष की सम्हाल की बात कही जा रही। यों ही समझो कि बात कहने को तो थोड़ी है कि अपने स्वभाव में लगे, पर यह ही तो कठिन काम दिख रहा है।

1071- आत्मपरिचय में सर्वतोमुखी बोध का सहयोग-

अध्यात्म ज्ञान के काम को करने के लिए इससे सम्बंधित बाहरी ज्ञान करना आवश्यक है तभी तो स्पष्ट विकास होता है। कुछ करणानुयोग से समझें, कुछ दर्शनशास्त्र से समझें, कुछ युक्तियों से समझें, कुछ अनुभव से समझें तो उसका एक स्पष्ट बोध होता है। तो ये परभाव हैं, मेरे स्वरूप नहीं है, ऐसी जानकारी के लिए कुछ हमें युक्तियाँ भी चाहिए। कुछ हमें आर्ष अनुसार जो करणानुयोग का वर्णन है उसका भी थोड़ा परिचय चाहिए। देखिये- स्पष्टता के बोध के लिए तो थोड़ा ख्याल में आता है, सभी दर्शनों में थोड़ा प्रभाव बन ही जाता। जैसे एक ब्रह्म का स्वरूप कहा, जिसे ब्रह्मवादी कहते अपरिणामी है, ब्रह्म है, सर्वगत है, ऐसा कोई अगर अपना विकल्प बनाये, जानकारी बनाये तो उस पर प्रभाव तो पड़ता ही है, लो बाहर के विकल्प हट गए, मगर एक ऐसा स्पष्ट विशुद्ध मार्ग नहीं मिल पाता कि उस मार्ग से चलकर उसमें फिट हो जाय। तो इसी तरह सम्बंधित विविध परिचय होने से बहुत स्पष्टता होती है और निःशंक अपने आपके स्वरूप में वह प्रवेश कर पाता है। यह ही सब जब जाना इस ज्ञानी पुरुष ने तो क्या किया कि स्व को तो प्राप्त किया और पर से छुटकारा किया अपने उपयोग द्वारा और बाकी तो वश की नहीं, वह तो स्वयं होगा, पर उपयोग ने जब जाना कि ये विभाव मेरे स्वरूप नहीं तो विभावों से छुटकारा ही किया उपयोग द्वारा ज्ञान ज्ञान में। जब अपने स्वभाव की ओरचल रहा और अपने स्वरूप में अपने ज्ञान को लगाया, इस उपाय से करना क्या चाहता? यही कि जो अपना सही वस्तुत्व है उसका एक कलन करना चाहता। वही स्थिति रह जाय। वही बात रहे जो सही है उसका ज्ञानी एक उद्यम कर रहा केवल एक पौरुष के लिए, सो कुछ आगे बढ़ने पर पर से विराम पाता है और अपने आपमें लीन होता।

1072- सर्वतामुखी परिज्ञान का प्रभाव-

ऐसी एक कथा है वेदान्त की जगदीश टीका में कि एक पुरुष किसी संन्यासी के पास पहुँचा, कहा महाराज हमें आत्मज्ञान दीजिए, हमारे कल्याण की कुछ बात बतलाइये। तो संन्यासी ने कहा- ब्रह्मास्मि...और अधिक कुछ न बोला, इसका अर्थ है कि मैं ब्रह्म हूँ...अब कुछ और बात बताइये...ब्रह्मास्मि, यों ही तीन चार बार कहा पर 'ब्रह्मास्मि' यही उत्तर मिला। फिर कहा तो संन्यासी बोला- देखो अधिक जानकारी करना हो तो अमुक गाँव में अमुक पंडित रहता है, उसके पास जाकर सीखो। पहुँचा वह पुरुष उस पंडित के पास और बोला- गुरुजी हमें आप आत्मज्ञान की बात बतलाओ। हम आपके पास रहकर आत्मज्ञान की बात सीखना चाहते हैं तो वह पंडित बोला अच्छा देखते हैं कोई तुम्हारे करने लायक काम। यदि कुछ काम करते रहोगे, तो हमें पढ़ाने में कोई आपत्ति नहीं। काम समझ में आ गया और कहा देखो हमारे घर में कोई 8-10 गायें हैं सो उनका गोबरउठाया करो, उनके नीचे की सफाई किया करो और हमारे पास आत्मविद्या भी सीखो।...ठीक है गुरुजी। अब वह पुरुष काफी दिनों तक यही काम करता रहा और विद्या सीखता रहा। धीरे-धीरे 12 वर्ष व्यतीत हो गए। सब प्रकार की विद्या सीख ली, और अन्त में विदा होते समय कहा- अब आप

निष्कर्ष रूप में, अंतिम शिक्षा दे दीजिये। वह पंडित बोला- ब्रह्मास्मि। तो वह पुरुष बोला- अरे महाराज, इतनी सी बात तो हमें 12 वर्ष पहले एक संन्यासी ने भी बतायी थी, इतनी सी बात के लिए क्या हमने 12 वर्ष तक गोबर व्यर्थ में ही उठाया? तो गुरु बोला- अब तुम स्वयं इस बात को समझ लो कि 12 वर्ष पहले तुमने क्या सीखा था और अब क्या सीख गए हो? उस ब्रह्मास्मि का मर्म 12 वर्ष पहले तुमने न पाया था और अब पा गए हो। बात समझ में आ गई और नमस्कार करके चल दिया? तो हम जब आत्मज्ञान की दिशा में बढ़े तो सर्वप्रकार के परिचय से हमें अपने आपमें उमंग उत्पन्न होती है स्वभाव की ओर बढ़ने की, चारित्र्य बढ़ता है और उनसे उमंग होती है कि मैं भी ऐसा ही करूँ, स्वभाव की ओर ही रमूँ। जब करणानुयोग की बात पढ़ें, तो वहाँ एक विशेष जानकारी बढ़ती है, आचार्य महाराज के प्रति बहुत श्रद्धा होती है। उसका एक प्रभाव विशेष होता है। दूसरी बात का विकल्प न होने से जो स्थिति बनी उसका प्रभाव और साथ ही अपने आपको स्वभावदृष्टि करने की बीच में उमंग बनती, तो उसका एक वेग होता है, वहाँ भी एक अपने को काम रहता है। द्रव्यानुयोग की चर्चा में द्रव्य गुण पर्याय, गुण की दशा, गुण, द्रव्य का स्वभाव, जानते चलते आखिर सबको उस द्रव्य में अंतःप्रलीन करके निरखने की जो एक कला बनती है वह भाव की कला है। तो एक स्वभाव दृष्टि करने के लिए हमें कोई अपनी बात कसर की न रखना चाहिए। आप कोई दूकान का काम करते हैं तो यहाँ वहाँ की अनेक बातें अपने को सुरक्षित रखने के लिए करते हैं। ग्राहकों से, सरकार से, घर के लोगों से, नाते रिश्तेदारों से सभी प्रकार से बात करके अपना एक काम बनाते हैं, जब कोई एक स्थिति होती है, तो ऐसे ही स्वभाव के उन्मुख होने में उसका अनुभव पाने में तो एक ही स्थिति होती है, उसके निकट करने में, उसके बनाने में, पौरुष में, स्वाध्याय, सत्संग, पूजा, और और भी बातें ये जीवन में जैसे श्रावकाचार में बतायी गई हैं, श्रावकों के आचार में, मुनियों के आचार में बतायी गई है, उस प्रकार ज्ञानी आचरण करता है।

1073- शुभोपयोग में प्रवृत्त भव्यों को शुभोपयोग से हटकर शुद्धोपयोग में आने का उपदेश-

मुनिजनश्रावकजन व्रत तप आदि में एक अपनी प्रवृत्ति रखते हैं तब उनको कोई डाट लगायी गई। वे शुभोपयोग में ही मस्त रहते हैं, उसमें ही अपनी इतिश्री समझते हों तो उनको कहा जाता है- अरे यहाँ से हटो, और अपने आपके अन्तः स्वरूप में आवो। शुभोपयोग से हटकर अन्तःस्वरूप में आवो। और, शुभोपयोग में जो आया ही नहीं, पहले से ही हटा सा है उसके लिए कैसे कहा जाय कि तू शुभोपयोग से हट और शुद्धोपयोग में आ। जितना भी वर्णन है वह ऐसा ही विशुद्ध आचरण करने वाले के लिए एक तरहकी समझ बतायी कि इनमें आसक्त मत हो। इनमें कुछ धरा नहीं, ये तो बाहरी विषयकषाय दुर्भाव हैं, ये उत्पन्न न हों। जब मन, वचन, काय की क्रियायें करनी ही पड़ती हैं तो खोटी क्रियायें न हों और ऐसी क्रियायें हों कि जिससे आपको स्वभावदृष्टि की पात्रता रहे। वे क्रियायें की जा रही है, वे प्रवृत्तियाँ बन रही हैं, पर उन प्रवृत्तियों को ही जो अपना सर्वस्व मान लेते हैं बस उनको समझाने के लिए कहा कि तू इन्हें अपना सर्वस्व

मत समझ। तू अपने में अपना काम कर ले। इस प्रकार यह जीव विभावों से हटकर अपने आपके स्वरूप में ठहरता है, काम दो हैं याएक? किसी अन्य तरह से विचारों तो दो मालूम होते हैं पर वहाँ काम केवल एक है। जो अपने स्वरूप में लगा वही तो विभाव से हटा। विभावों से बिल्कुल हट गया तो वही तो अपने स्वरूप में लग गया। तो दो स्थितियाँ हैं- विभावों से हटना और स्वरूप में लगना। सूक्ष्मदृष्टि से विचारो- देखो यह अंगुली है ना? इसे टेढ़ी किया है तो सीधी से तो हट गई और टेढ़ी में आ गई तो ये दो बातें हैं क्या? सीधा से हटना बन जाय और टेढ़ी न हो पाय, ऐसा हो सकता क्या? अरे यह तो एक ही बात है। सीधी का हटना और टेढ़ी का होना यह तो एक ही काम है। तो ऐसे ही समझो कि इन विभावों का हटना और स्वभाव में आना यह एक ही काम है। किसी स्थिति का हटाव और किसी स्थिति की उमंग इनमें तो पूर्वापर बन जायगा मगर वास्तविक हटाव, वास्तविक लगान की जो एक वृत्ति है उसमें यह न होगा कि पहले यह होगा पीछे यह। इस तरह विभाव स्वभाव काभेद करके विभावों से तो विरक्त होना है और अपने स्वभाव में लीन होना है।

कलश 137

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तनोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्करिक्ताः ॥137॥

1074- सम्यक् पाने के उपाय में प्रथम पौरुष-

सम्यग्दृष्टि किसे कहते हैं? जो अपने सहज चैतन्य स्वरूप को जाने और ऐसी श्रद्धा रखे कि यह ही मेरे आत्मा का स्वरूप है, यह ही मैं हूँ। निज सहज चैतन्य स्वभाव में मैं का जो अनुभव कर चुका, सहज एक मैं की जिसमें प्रतीति है वह होता है सम्यग्दृष्टि। तो ऐसे आत्मतत्त्व को जानता कौन है? मैं चित्रकाशमात्र हूँ, ऐसा उपयोग में आ जाय, ऐसी प्रतीति में रहे, ऐसी स्थिति बनती कब है? तो एकदम स्पष्ट बात है कि यह जो नहीं हो रहा था वह किस वजह से नहीं हो रहा था? आत्मा के सहज स्वरूप का बोध, श्रद्धान, अनुभव आदिक नहीं हो रहे थे, किस कारण नहीं हो रहे थे, आत्मा में जो विभाव हुए, रागादिक विकार हुए उन रागादिक विकारों में इसने अहं का बोध किया, यह मैं हूँ, मैं हंसता हूँ, मैं करता हूँ, मैं कराता हूँ, मैं रोता हूँ...आदिक रूप से विभावों के रूप में रंगकर यह अपने भगवान अंतस्तत्त्व का बड़ा तिरस्कार करता था सो यह सहज अंतस्तत्त्व ढका हुआ था, याने अपने उपयोग में न आ रहा था, तब क्या करना था, क्या करना चाहिए कि उस विभाव से उपेक्षा हो, कि यह मेरी वस्तु नहीं, मेरा स्वभाव नहीं, कैसे उपेक्षा हो? तो इसके

लिये दो तीन गाथायें में जो ऊपर आयी हैं उनके अनुसार यह समझना कि ये विभाव परभाव हैं, मेरे स्वभाव नहीं। बस इतना निर्णय होते ही विभावों से उपेक्षा हो जायगी।

1075- उदाहरणपूर्वक भ्रम में व्याकुलता और निर्भ्रम होने पर निराकुलता का वर्णन-

जैसे जब कभी किसी बालक में यह भ्रम बन गया कि यह मेरा बालक है तो उस अनुरूप इसका विकल्प बनता है, जब कोई बालक नाली में गिर गया और इस देखने वाले मोही को यह भ्रम हो गया कि ओह मेरा बच्चा गिर गया तो उसको व्यग्रता, व्याकुलता बहुत बनती है और थोड़े समय बाद परख करके जब जाना कि यह मेरा बच्चा नहीं, तो उसके हृदय को तो देखो कैसा वह अपने मौज की ओर आ जाता है, यह एक मोह की ही तो बात है। जैसे राजवार्तिक में दृष्टान्त दिया है कि एक बालक को किसी हस्ती ने सूंड से पकड़ लिया और उसे मरोड़कर बड़ी दूर फेंक दिया, अब उस देखने वाले को यह भ्रम हो गया कि यह मेरा बालक है जिसे हाथी ने पटका, उसी उम्र का था, वैसे ही रंग का था, वैसे ही डीलडौल का था। तो उस घटना को देखकर वह मूर्छित होकर गिर पड़ा। लोग इकट्ठे हो गए, कुछ पानी के छींट वगैरह डालकर उसको सचेत करने का उपचार करने लगे। किसी बुद्धिमान पुरुष ने उनके मूर्छित होने का कारण समझ लिया, इसी बीच उस मूर्छित हुए पुरुष के बालक को उसके घर से बुलवा लिया। कुछ देर बाद उस पुरुष की आँखें खुलीं, अपना बालक अपने नेत्रों के सामने दिखा तो समझ गया- अरे वह तो मेरा कोरा भ्रम था, वह मेरा पुत्र न था। तो ऐसे ही समझो कि यह जीव इन विभावों में रचपच रहा है और उन्हें यह अपना मान रहा है, यह जीव भी इन विभावोंरूप बनकर कुछ से कुछ चेष्टा करता, चिन्तन करता, बोलता। यही कारण है कि वह अपने इस चैतन्य महाप्रभु के दर्शन नहीं कर पाता। तो पहला काम है कि इन विभावों से उपेक्षा होना। देखिये- यद्यपि परस्पर साध्यसाधकता है। कुछ स्वभाव की परख हो तो जाने कि ये विभाव परभाव हैं। इन विभावों की ओरसे वैराग्य हो तो स्वभाव की ओर उन्मुखता बने। इससे पहले क्या करना, पीछे क्या करना, यह कुछ छोट न करना होगा। कल्याणार्थी को अपने आप जिस प्रकार जो पीछे होना होगा, हो जायगा।

1076- विभावों से उपेक्षा पाने के लिये विभावों की परभावता का परिचय-

इन विभावों को परभाव जानें, कैसे जानें कि ये कर्मों के उदयविपाक से उत्पन्न हुए हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वभाव हूँ। यह तथ्य एक गाथा में बताया, बाद की गाथा में भिन्न-भिन्न करके कहा कि रागप्रकृति नाम का पुद्गल कर्म है। उसके उदयविपाक से उत्पन्न हुए ये रागभाव हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं। देखिये- निमित्तनैमित्तिकभाव की बात जहाँ कहीं भी आये यह समझना कि निमित्तभूत परद्रव्य उपादान की परिणति को नहीं करता। और वह तो मात्र अपने प्रदेश में ही अपना कार्य कर पाता है। प्रत्येक पदार्थ जितने में व्यापक होते है, जितने प्रदेश में है, सभी पदार्थ अपने प्रदेश में ही अपनी कृति कर पाते हैं। अपने प्रदेश से बाहर उनका न द्रव्य, न क्षेत्र, न काल, न भाव, कुछ भी नहीं होता है। भले ही ऐसा दिख रहा है कि यह सूर्य का प्रकाश तो है, मगर विचारो जरा, सूर्य कितना बड़ा है पहले यह निर्णय बनावें।

तो कहेंगे कि कुछ कम दो हजार कोश का है, तो बस वह जितना है सूर्य का सब कुछ उतने में ही है। उतने से बाहर नहीं है। फिर यह प्रकाश होता कैसे? बस यह ही निमित्तनैमित्तिकभाव का रहस्य है। उसका सन्निधान पाकर ये पदार्थ अपने आपमें भी तो ऐसी ही योग्यता रखते हैं कि प्रकाशस्वरूप बन जाय, तो उसका सन्निधान पाकर ये ही पदार्थ अपनी अंधकार अवस्था को छोड़कर प्रकाशरूप में आये। ऐसी बात न हो तो कोई इसका कारण तो बताये कि काँच पर क्यों अधिक चमक होती है? दरी पर, भौट पर चमक कम क्यों होती है? यदि सूर्य का ही प्रकाश यहाँ उतरता है तो वह तो समान होना चाहिये, पर बात हुई क्या कि काँच में उस प्रकार की योग्यता है दर्पण में उस प्रकार की प्रकृति है कि सूर्य का सन्निधान पाकर वह इस प्रकार अपने में चमक बनाये और उस दरी आदिक में भिन्न तरह की प्रकृति है। तो रागनामक जो प्रकृति है वह जीव में ज्ञानविकल्परूप रागविकार को नहीं करता, किन्तु वह तो एक वातावरण है केवल, और उस वातावरण में वे अशुद्ध उपादान जीव अपने में स्वयं अपना राग विकाररूप प्रभाव बना लेते हैं। तो अब जब इस तरह से समझा इस ज्ञानी ने कि ये तो परभाव हैं, जैसे दर्पण में फोटो है तो कहते हैं कि यह पर का फोटो है, परभाव है, वहाँ यह अर्थ लेना कि पर का निमित्त पाकर खुद में होने वाला परिणमन है। परभाव का अर्थ पर की परिणति नहीं। पर की परिणति उस पर में ही है, मगर पर का सन्निधान पाकर इस स्व ने अपने आपमें उस प्रकार का विकल्प किया है तो वे परभाव है, ये मेरे स्वभाव नहीं है।

1077- विभावोपेक्षा, स्वभावोन्मुखता, निरास्रवता, स्ववस्तुत्वप्रसिद्धि का दिग्दर्शन-

जब सम्यग्दृष्टि ने सामान्य रूप से जाना कि विकार मेरा स्वरूप नहीं, विशेष रूप से जाना कि ये राग, ये द्वेष, ये क्रोधादिक कषायें मेरे स्वरूप नहीं, तो समस्त परभावों से अलग बन गया, उपयोगतः अलग बन गया, ज्ञान में, उपयोग में, श्रद्धा में, प्रतीति में जब से सम्यक्त्व है तब ही से विभाव से वह अलग हुआ है और वह समझ रहा है कि यह टंकोत्कीर्णवत् निश्चल नामक स्वभावमात्र मैं यह अंतस्तत्त्व हूँ। इस प्रकार तत्त्व को जान रहा यह ज्ञानी और वहाँ स्वभाव का ग्रहण हो रहा, परभाव का परित्याग हो रहा है। विकार पूर्णतया आत्मप्रदेश से कुछ बाहर हो रहा यह नहीं कह रहे। अभी तो करणानुयोग से बतला रहे हैं कि चारित्र मोह का उदय है और प्रतिफलन है और उसके अनुरूप वहाँ विकार भी है, वह अबुद्धिपूर्वक विकार है। बुद्धि तो लग रही है आत्मस्वरूप में, सो जब ज्ञानोपयोग इस अंतस्तत्त्व में लग रहा है तो वहाँ उपयोग में भी वह सबसे निराला है और श्रद्धा में भी वह सबसे निराला है और पुरुषार्थ बन गया है बुद्धिपूर्वक। और, बुद्धिपूर्वक जो अंतस्तत्त्व में लगे यह ही प्रयत्न बुद्धिपूर्वक आस्रव को तत्काल दूर करता है और अबुद्धिपूर्वक आस्रव को भी दूर करने का उपाय यह ही अंतः का आश्रय है। पर वहाँ बुद्धिपूर्वक कुछ नहीं हो रहा, ऐसा ही सहज निमित्तनैमित्तिक योग है कि यह आत्मा अपने स्वभाव का आश्रय करे तो वहाँ वे कर्म स्वयं अपने कर्मत्व अवस्था का परित्याग कर देते हैं तो इस प्रकार अपने वस्तुत्व को हमने अपने ज्ञान में प्रसिद्ध किया और

कर्मोदयविपाकप्रभव समस्त भावों का परित्याग किया। ऐसी स्थिति होने से यह सम्यग्दृष्टि ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है।

1078- ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व की चर्चा सुनकर श्रोताओं की तथ्यबोध में विचलितता का अवसर और उस विचलितता का परिहार-

ज्ञान ज्ञानप्रकाश ही ज्ञान में हो रहा है, ऐसी बात सुनकर देखिये किसी के विचलित होने के अनेक अवसर हो जाया करते हैं। कोई पुरुष इस ज्ञानमात्र तत्त्व चर्चा सुनकर और यही एक सर्वस्व है, इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं यह बात आ रही है ना, अपनी ओरमात्र उपयोग चल रहा है सो, सुनने वाले लोग कोई कैसी ही उड़कर बात कह सकता। उपदेश में जो कहा जा रहा था वह तो उसकी दृष्टि में न रहे और एक ही ध्यान में रहे, बस सब कुछ ज्ञानमात्र है, ऐसा सुनकर भी तो एक विश्वास बनता कि जगत में जो कुछ है वह सब विज्ञानमात्र है। अच्छा, जो और कुछ दिख रहा है तो आखिर वह समाधिस्थ तो था नहीं, बात तो सब सामने दिख रही थी और जो यह कुछ बाहर दिख रहा सो यह भी विज्ञानमात्र है। अन्य जुदा समझ में नहीं आ रहा। अरे दृश्यमान यह सब विज्ञानमात्र है प्रतिभासमान होने से। जो जो प्रतिभासमान होते हैं वे सब विज्ञानमात्र हैं। हेतु भी एक पकड़ लिया गया। अब दृष्टि में आ गया कि वह सब विज्ञानमात्र है, अब देखिये फुंसे में फुंसे कितने फूटा करते हैं। ज्ञानमात्र की एकान्तिक निगाह में यह समझा कोई कि यह सारा जगत विज्ञानमात्र है। जैन लोग जो कहते हैं कि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल सो ये कुछ नहीं, ऐसा दृष्टि में आया विज्ञानवाद में और थोड़ा और सोचें कि यह प्रतिभास तो हो रहा, जानना तो हो रहा मगर यहाँ एकता नहीं है, क्षण क्षण विध्वंसी है। तो वहाँ एक जो प्रतिभास है वही एक पूरा पदार्थ है यों समझ डाला और इसका नाम रखा ज्ञानक्षण। बस ज्ञानक्षण यह ही पूर्ण पदार्थ है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। चलो विज्ञानाद्वैत से आये उस ज्ञानक्षण पर। उस ज्ञानक्षण के लिए कुछ विचार चला कि यह कैसे पैदा हुआ? कहाँ से पैदा हुआ, कब तक रहेगा, जो काम बन रहा है वह कैसे बनेगा, इन सब बातों पर जब विचार चलता है तो सब ज्ञानक्षण निरन्वय जंचे। निरंशवाद ने यही समझा कि यह ज्ञानक्षण है, स्वयं हुआ है, स्वयं नष्ट हुआ है इसके आगे कोई सम्बंध नहीं है, इस तरह की धारा चलती है और इस तरह होते हैं सौत्रान्तिक, माध्यमिक आदिकाये क्षणिकवाद के चार समुदाय बन गए। यह नहीं जाना कि सहज स्वरूप को ज्ञानमात्र कहा जा रहा है सो जब ज्ञान में ज्ञानस्वरूप समाया हुआ है तब तो यह बोलता ही नहीं है, वहाँ तो अनुभव ही है, यह अनुभव ले रहा है, अनुभव के बाद जब वह अपने को समझाता दूसरे को कहना पड रहा अन्तर्जल्प से, बहिर्जल्प से तो वह कहता है कि बस तत्त्व ज्ञानमात्र है।

1079- सम्यग्दृष्टि के भ्रम से आत्मसिद्धि की असंभवता-

ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को जो जानता है वह ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न होता है बात तो आयी अन्तर में प्रयोग की। प्रयोगात्मक स्व वस्तुत्व का परिचय जिसे होता है सो सम्यग्दृष्टि है। मात्र वचनात्मक परिचय से

सम्यग्दृष्टि नहीं है, लेकिन बात तो सभी की सुनना है, और मैं सम्यग्दृष्टि हूँ ऐसा सुनने कहने कहलाने की एक लालसा भी बनी हुई है, इसमें अपनी प्रशंसा भी मानी जाती है, तो यह किञ्चित्किसी अनुरूप कह-सुनकर जो ऐसा अपने मन में सोच लेता है कि यह मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, उसके कभी भी बँध नहीं हो सकता। ऐसा एक अपने आपके बारे में निर्णय बनाकर इस तरह चलने लगा कि ऊँचा मुख उठाये, पुलकित हो औरों को तुच्छ देख रहा, इस प्रकार एक अपनी मुद्रा निराली बनाकर वह कुछ भी आचरण करता है। उसको अपने विभावों में राग हुआ है, सो उस रागवश कुछ भी यह अपनी चेष्टायें करता है तो ऐसी चेष्टायें करे कोई तो करे और इस प्रकार से कोई समिति, तप, व्रत आदिक को जो बड़ी निष्ठा से पालता रहे, पाले, आलम्बन करे तो भी वह अब तक भी पापमय है। यह कुन्दकुन्दाचार्य कह रहे, अमृतचन्द्र सूरि टीका में कह रहे तो मुनि अवस्था में रहने वाले अमृतचन्द्राचार्य को यह अधिकार था कि अपने समकक्ष में जो मुनिजन हैं वे केवल इन बाह्य क्रियाओं में ही आसक्त न रहें, तो उनको ऐसी डाँट-डपट के साथ कहा जा रहा है कि ये समिति में तत्परता का आलम्बन करें तो करें, मगर ये अब तक भी पापमय हैं। पाप कहते किसे हैं? जो कल्याण से बचावे (बरकावे), उसका नाम पाप है। जो अच्छी बात से रक्षित रखे, बचावे, दूर रखे उसका नाम है पाप। याने कल्याण में न लगे, श्रेय में न लगे ऐसा जो कोई भाव है उसका नाम है पाप। पाप शब्द बहुत बढ़िया रखा है कि इस पाप के शब्दार्थ को जान लेवे और समझे तो कम से कम बुरा तो न माने। बुरा तो तब मानें जब कल्मष या कलुष आदिक शब्दों से कहें। पाप शब्द तो बड़ा सुहावना है। क्या इसी कारण बच्चे बाप को पापा कहने लगे। जो अच्छी बातों से, धर्म से, कल्याण से बचाकर रखे उसे कहते हैं पाप। तो वहाँ यह धर्म से बचा हुआ है, अलग पड़ा है, स्वभाव का परिचय नहीं तो संतोष कहाँ से करे, वास्तविक तृप्ति कहाँ आयी। आत्मसिद्धि का मार्ग उसे मिला नहीं है तो उससे यह अलग है, इसलिए अब तक भी यह पापरूप ही है।

1080- आत्मा और अनात्मा के बोध से रहित होने से जीव की पापमयता-

व्रतादिक को पालता हुआ भी कोई क्यों पापरूप है? इसको आत्मा और अनात्मा का बोध नहीं। आत्मा व अनात्मा के परिचय से यह अलग है, इसी कारण यह सम्यक्त्व से शून्य है। एक साथे सब सधे, एक अपने आत्मा के उस सहज स्वरूप को पहिचान लें, वहाँ ही दृष्टि का अभ्यास बनावें, वहाँ ही अनुभव अपना बनावें, मैं यह हूँ, सब काम बनेगा स्वयं जैसी बनना है वह सब निमित्तनेमित्तिक योग से स्वतः होता है। कर्म भी दूर होगा, विभाव भी दूर होंगे, पर अपने को कर्म पर दृष्टि देकर इसको मैं चूर दूँ, इसको मैं मसल दूँ...इस तरह इन कर्मों पर दृष्टि देकर तो यहाँ कर्म ही बढ़ेंगे, घटेंगे नहीं। विभावों पर दृष्टि देकर, ये राग बड़े दुःखदायी हैं, बड़े कष्टकारी हैं, यह कहने में कुछ हर्ज नहीं, मगर स्वभाव दृष्टि न जगे, स्वभावाश्रय न जगे, सहज स्वभाव की श्रद्धा नहीं हुई तो कोई उपाय नहीं है कि हम उस आस्रव से दूर हो सकें। जितने भी उपदेश हैं उन सब उपदेशों में इस ही स्वभावदृष्टि का प्रयोजन पड़ा हुआ है। जितने भी नय हैं उन सब नयों में इस ही स्वभाव

दृष्टि के पौरुष का प्रयोजन पड़ा हुआ है। जितना भी जो कुछ तत्त्वज्ञान है उन समस्त ज्ञानों में इस ही स्वभावदृष्टि करने के पौरुष का प्रयोजन पड़ा है। बस वह नहीं मिला जिसे यह सम्यक्त्व से रिक्त है। वहाँ आत्मा और अनात्मा का बोध नहीं है, इस कारण से वह अब तक भी पापमय है।

1081- अपनी कमी देखकर उसे दूर करने का अनुरोध-

देखो एक अपनी कमी की बात, कभी ऐसी बात सुनकर कि वह समिति का भी आलम्बन करे, तपश्चरण का भी आलम्बन करे तो भी पापमय है, ऐसा कहते सुनते उमंग आये और दोष में ही दृष्टि जाय, अपने आपके पापमय अविरतभाव का पछतावा न हो, कुछ दृष्टि न जगे तो वह उपासक नहीं है, क्यों ऐसी दृष्टि देना चाहिए? प्रयोजन क्या पड़ा है? क्यों अहंकार कर लिया? अपने आपके बारे में तो सोचना चाहिए कि मैं कितना विभावों में रमता हूँ, कितना इनको अपना रहा हूँ, कैसा खुद में अव्रत विष बना हुआ है। कैसे मैं इससे हटकर अपने में रहूँ, अपनी बात अधिक सोचना चाहिए और अपने को छोड़कर अपनी सुध छोड़कर बाहर में बहुत खोज करें- अमुक दृष्टि, अमुक त्यागी, अमुक यों यों और अपने आपकी कुछ भी बात न हो तो एक अपने लिए कोई प्रगति का मार्ग नहीं है। अपनी बात सबसे पहले सोचना चाहिए कि मैं किस स्थिति में पड़ा हूँ, और दुःखी हो रहा हूँ, मेरे में सम्यक्त्व है या नहीं है, मैं कितना अपनी सुध छोड़कर चल रहा हूँ, मैं दर्शन करने आता, पूजन में आता, स्वाध्याय में आता, इस प्रकार से अपने आपको कुछ न कुछ में जुटाये रहता, पर इतना होने पर भी स्वभाव के सुध की किसी क्षण विद्युत की ही तरह थोड़ी बहुत कभी चमक आ पाती है कि नहीं। अपने आपको सोचना है, और देखिये संसार को निरखकर हम क्या पार पायेंगे? हम अपने आपका शोधन करें, हम अपने आपको विभावों से उपेक्षित करें, स्वभाव से प्रीति करें, स्वभाव में रत हों, इसका अपना अभ्यास बने, उद्यम बने।

1082- सर्वतोमुखी ज्ञान से स्वभावदृष्टि का लाभ लेन देनका संदेश-

देखिये जिन्दगी कुछ नहीं रही और बहुत है, जब दिन के 24 घंटे नहीं गुजर पाते शान्ति में तब तो समझिये बहुत है जिन्दगी, जब एक ही दिन पहाड़ सा लग रहा तो कैसे कहेंगे कि जिन्दगी थोड़ी और, जिन्दगी बहुत है यह कैसे कहें? जब कल का भी पता नहीं कि अचानक क्या हो जाय तो यह भी कैसे कहें कि जिन्दगी बहुत है? कुछ भी हो, जब इतना जीवन का समय है और सारा समय एक स्वभावदृष्टि में लग जाय सो होता नहीं, तब तो अपना आराम स्वाध्याय में है, चारों अनुयोग हैं उनका कभी कोई अध्ययन, कभी कोई अध्ययन, उसके अनुरूप बात कही जा रही है तो एक प्रेरणा मिलती है। आप उल्टी बात भी मानो पढ़े तो भी स्वभावदृष्टि की प्रेरणा मिलती है। आप पाप की बात पढ़े- उसने ऐसे ऐसे मद्य, मांस वगैरह के सेवन किए, ऐसे ऐसे व्यसन किए, ऐसे ऐसे पाप किए, इस इस तरह से नरक गए, कदाचित् यह भी अध्ययन करें तो इसके बीच भी विरक्ति और स्वभाव के अनुरूप आश्रय के प्रसंग आते हैं, यों तो जैसे गेंद के खिलाडी बालक की लीला की बात है, जो बड़ा निष्णात् चतुर बालक है, वह गेंद खड़े खड़े खेल ले, जमीन में लेटकर

खेल ले, हाथ से खेल ले, पैर से खेल ले, वह एक लीला मात्र में ही गेंद का खेल खेल लेता है, इसी तरह जिस ज्ञानी को तत्त्वज्ञान जागृत हुआ है उसमें तो ये सब कलायें स्वयं आ गई हैं, किसी भी अनुयोग का वह अध्ययन करे, कोई भी शास्त्र पढ़ रहा हो, उसका तो ऐसा तत्त्व में वासित हृदय है कि वह स्वभावदृष्टि का अवसर उन सभी उपदेशों के अध्ययन से पा लेता है। अन्यथा चाहे चर्चा कर रहे हों स्वभावमात्र ज्ञानमात्र की, तो लग तो रहा काफी समय इसकी चर्चा में, पर सम्भव है कि वह एक केवल रूटीन सा बन जाय, और इस तरह बन जायगा कि कुछ वहाँ मिला ही नहीं, कोई नियम की बात नहीं कह रहे, यह कह रहे आपको किस प्रकार से अपना जीवन बिताना चाहिए जिस तरह से हमको सफलता में सुगमता हो, और यदि कुछ चरित्र देखा तो वहाँ से भी प्रेरणा मिली, कुछ कर्मसिद्धान्त देखा, दर्शनशास्त्र से भी कुछ जानकारी किया, समय तो बहुत है, रातदिन के 24 घंटे पड़े हैं, कम से कम प्रतिदिन 5-6 घंटे पढ़ना है, अध्ययन मनन करना है, तो सब तरह से अध्ययन करके जो अध्यात्मशास्त्र हैं उनको पढ़ा, तो एक ऐसा प्रयोग बनेगा जिससे फिर सहज सुगम एक बड़ा अवसर मिलता है कि हम अन्तस्तत्त्व के निकट पहुँचते हैं।

1083- सम्यग्दर्शन की श्रेयस्करता व सम्यक्त्वभ्रम की अश्रेयस्कता-

सम्यग्दर्शन का स्वरूप है बहुत ही श्रेयस्कर, वह जिन्हें मिलता है उनका कल्याण होता है। मगर कोई सम्यग्दर्शन तो पाये नहीं और मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरे कर्मों का बंध नहीं होता, इस तरह से अपना मुख फुलाये, खूब पुलकित हो होकर खूब उछल उछलकर हा हा हा हा करे, सब तरह से खूब बातें करे तो चूँकि उसके मन में यह बसा है कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ और अनुभव बनता नहीं, प्रतीति बनती नहीं, ऐसे जन बड़ेबड़े तप व्रत आदिक भी कर लें तो भी आत्मा और अनात्मा का बोध न होने के कारण सम्यक्त्वशून्य है। अपने आपको बड़ा सोच विचारकर ऐसा जीवन बनाना चाहिए जो अपने को लाभप्रद हो।

कलश 138

आसंसारत्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्तः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥138॥

1084-जगत के प्राणियों की अनादि से नित्यमत्तता-

जगत के ये प्राणी अनादिकाल से प्रत्येक परिस्थितियों में रागी होते हुए नित्य उन् मत्त रहे और सोते रहे। जिसमें सोते रहे वह इनका पद न था। रागी मायने मिथ्यादृष्टि, यहाँ रागी का अर्थ है अज्ञानी। प्रतीति में

अणुमात्र भी, लेशमात्र भी जिसके राग है अर्थात् जो अणुमात्र भी राग को आत्मस्वरूप मानता है ऐसा पुरुष चाहे समस्त आगम का भी पाठी हो तो भी वह अज्ञानी है क्योंकि उसको आत्मा और अनात्मा का बोध नहीं है। रागभाव तो अनात्मतत्त्व है आत्मा ज्ञायक स्वभाव है और यह मान रहा है रागविभाव को आत्मरूप। चाहे लेशमात्र भी जो व्यक्त राग हो उसमें ही वह मान रहा है आत्मत्व क्योंकि अज्ञानी है। तो ऐसा अज्ञानी जीव अनादिकाल से कैसा मस्त चला आया है। इसकी अनादि निगोद अवस्था थी। प्रत्येक जीव सर्वप्रथम निगोद में था। जो आज सिद्ध हुए हैं वे भी पहले निगोद में थे। वहाँ से विकास करके दो इन्द्रिय आदिक या अतिक्रम से जब वह मनुष्य हुआ और वहाँ साधना की तब शक्ति प्राप्त हुई। तो अनादिकाल तो निगोद में व्यतीत हुआ। देखिये- कितनी एक समस्या सी है कि कोई भी जीव जो सिद्ध हुआ है वह मनुष्यभव पाकर 8 वर्ष बाद सिद्ध हुआ है। अब देखो सिद्ध हो रहे अनादिकाल से और सब सिद्धि की ही तारीफ है कि मनुष्यभव पाकर 8 वर्ष बाद उन्होंने सिद्धि पायी। तो लगता है ऐसा कि भाई संसार तो पहले था और मुक्ति बाद में शुरू हुई। तब कोई भी सिद्ध ऐसा नहीं कि जो अनादि से सिद्ध हो। निगोद में था, मनुष्य पर्याय पायी। 8 वर्ष बाद सिद्धि दशा पायी। जब सिद्धों की यह ही बात है तो जल्दी सोचने में यों लगता है कि संसार पहले से है, मुक्ति बाद में बनी है, किन्तु ऐसा मानने पर यह संसार भी अनादि नहीं ठहर सकता। खूब ध्यान से देख लो, संसार तो अनादि से है और उसके 8 वर्ष बाद मोक्ष शुरू हुआ, तो जो 8 वर्ष बाद कहा उससे 8 वर्ष पहले ही संसार था, यह सिद्ध होता है, अनादि नहीं रहा। कैसी एक विचित्र समस्या है जो यों नहीं सुलझाई जा सकती, पर अनादि का पेट ही ऐसा है कि अनादि संसार में 8 वर्ष बाद मुक्त होते हुए भी सिद्ध भी अनादि से हैं, याने सिद्ध होने की परम्परा अनादि से है और संसार भी अनादि से है और 8 वर्ष बाद मुक्ति हुआ करती है, तो अब कहाँ ले जायेंगे, कहाँ एक सीमा बाँधेंगे कि यह संसार यहाँ से चला और मुक्ति यहाँ से चली? अनादि से संसार, अनादि से मुक्ति। सोपाय मुक्त होने पर भी उस मोक्ष में भी यह नहीं बतला सकते कि इस दिन से जीव का मोक्ष होना शुरू हुआ और ये सिद्ध सबसे पहले सिद्ध हुये थे। जगत की ऐसी ही व्यवस्था सब स्वतः चली आ रही है। तो अनादि काल से याने जब से संसार है तब से प्रत्येक पद में यह जीव रागी मत्त होता हुआ चला आ रहा है।

1085- अज्ञानी जीव की एकेन्द्रियभव में दुःस्थिति-

निगोद में “एक श्वास में अठदश बार, जन्म्यो मर्योसह्यो दुःख भार।” एक श्वास में 18 बार जन्म लिया, मरण किया श्वास कौनसा? नाड़ी एक बार उचकती है जितने समय में, करीब 1 मिनट में 72, 73 बार, उस हिसाब से एक सेकण्ड में करीब 23 बार जन्ममरण होता है निगोद जीव का, तो फिर यों ही समझिये कि एक ही व्यापार है- जन्मे मरे, और जन्ममरण के समान कोई संकट है क्या? सब निरखते हैं, मरते समय का तो संकट लोग खूब जानते हैं, पर जन्म के समय मरण से कम संकट नहीं होता। असल में जन्म तो वह कहलाता है कि दूसरे भव से आकर अगले भव की जो पहले समय में प्राप्ति है वह जन्म है,

और पेट से निकला 9 माह बाद, उसको जन्म नहीं कहते। वह तो जन्मा हुआ बच्चा पेट में था वह बाहर निकल आया। तो देखिये कि जिसके बाहर निकलने में ही कितना कष्ट और जन्म के समय यह जीव तैजस कार्माण शरीर को लिए हुए अकेला पहुंचता और वहाँ की आहार वर्णणायें जब शरीररूप बनती हैं तो जीव उनमें मिलेगा मायने शरीर के एक क्षेत्रावगाह में होगा, एक ऐसा बन्धन चलेगा तो इतनी बातों में कितनी कितनी गजब की बातें हुई होगी। कष्ट का अन्दाज करो और निगोद जीवों को एक सेकण्ड में 23 बार जन्ममरण का कष्ट भोगना पड़ता है। वहाँ से निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति हुए तो उनका भी कष्ट भोगा। फूलों को जैसे चाहे तोड़ा, फलो को जैसा चाहा काटा। भले ही गृहस्थों को बताया है कि बिना प्रयोजन वनस्पति का छेदन भेदन न करें। जितना प्रयोजन है सो करें। तो क्या प्रयोजन अनुसार छेदन भेदन करने में उस वनस्पति को कष्ट नहीं हुआ? पृथ्वी को खोदना, सुरंग लगाना, पानी को गरम करना, आग पर पानी डालना, हवा कर देना...ये सब बातें चलती कि नहीं चलती। कष्ट है। हवा को रोकना, रबड़ में भरना, पंखे से झेलना, तब ही तो आलोचना पाठ में कहते हैं- “पंखे से पवन विलोत्स्यौ” ये ये कष्ट सहे जीव ने, क्यों सहे कि विभावों में आत्मरूपता अंगीकार की इसने कि मैं (यह) हूँ, जो खुद है उसे तो भूल गया, जो सही स्वरूप है उसकी तो सुध नहीं। जो गुजर रहे विभाव हैं, विकार है उनमें माना कि मैं यह हूँ।

1086- अज्ञानी जीव की विकलत्रिक भव में दुःस्थिति-

चलो वहाँ से निकले दो इन्द्रिय हुए तो उनकी दशा देख लो- अभी चावलों में लट पड जायें तो कोई उनको आदर से उठाकर सम्मान से कहीं कोई रखता है क्या? या क्या करता है? प्रायः उठाया फेंका, लोग मसल देते हैं, सो अनेक प्रकार के कष्ट होते। पड़े हैं जीव नीचे, लोग अपने जूतों में नाल गड़ाकर और उसमें भी बहुत से कीले गड़ाकर जानबूझकर रौंदते हुए चले जाते हैं, तो कितना उस पद में कष्ट है, तीन इन्द्रिय जीव हुए- खटमल, जूँ, लीख, बिच्छू, पटार, कानखजूरा, चींटी, चींटा आदि इनकी भी कौन रक्षा करता है। बुरे बुरे तरिकों से इनकी मृत्यु होती है। देखिये इन इन्द्रियों की मोटी पहिचान। एक साँप को तो छोड़ दो, वह तो पञ्चेन्द्रिय जीव है, बाकी जिसके पैर नहीं हैं और पूरे लम्बे शरीर से सरकता रहता है वह दो इन्द्रिय जीव होगा। लट केंचुवा, जोंक ये दोइन्द्रिय जीव ही होंगे। जिनके चार से अधिक पैर हैं और उड़ते नहीं, चलते हैं ऐसे जीव आपको प्रायः तीन इन्द्रिय मिलेंगे- चींटा चींटी, कानखजूरा, बिच्छू आदिक। और, जिनके चार या अधिक पैर हैं और उड़ते हैं वे चार इन्द्रिय मिलेंगे- मक्खी, मच्छर वगैरह। प्रायः इस मोटी पहिचान से अंदाज जल्दी कर सकते हैं। और, पञ्चेन्द्रिय में तो अधिक बताने की जरूरत भी नहीं, आप सब जानते ही हैं पशु, पक्षी, मनुष्य आदिक तो तीन इन्द्रिय हुए तो वहाँ किसने रक्षा की? खटमलों को मारने के लिए लोग खाट पर गरम पानी डालते हैं, लाठी से पीटकर नीचे गिराते या जो जो कुछ भी करते ये क्रूर परिणाम वाले जीव। कोई लोग तो जलती आग में पकड़कर फेंक देते, या उस पर तेज गरम पानी डाल देते। उनके चित्त

में करुणा जरा भी नहीं। कैसे कैसे कठिन दुःखभोगे इस जीव ने। चार इन्द्रिय जीव हुए, मक्खी, मच्छर ततैयावगैरह बने, उनकी भी कौन रक्षा करता? लोग ततैयों के झुण्ड के झुण्ड को आग से फूंक देते हैं या मिट्टी का तेल डालकर मार डालते, कौन उन पर रहम करता। तो हर तरह से कष्ट ही कष्ट भोगा इस जीव ने। अज्ञान से मोह से विभावों में आत्मत्व स्वीकार किया इस जीव ने, ऐसा ही बंध, ऐसा ही उदय, ऐसी ही स्थिति ये सारी बातें यों चली आयीं। यह जीव बड़ा दुःखी रहा।

1087- अज्ञानी जीव की पञ्चेन्द्रिय पद में भी दुःस्थिति-

पञ्चेन्द्रिय के दुःख देखो इनमें शारीरिक दुःख तो जो हैं सो है ही, पर मानसिक दुःख और भी विचित्र हैं। भीतर यह मान कषाय का जो दुःख लगा है वह भी बड़ा भयंकर दुःख है। कभी किसी बच्चे को आप जमीन में लिटा दें या बैठा दें तो वह झट रोने लगता है। क्यों रोने लगता? अरे वह ऐसा अपमान अनुभव करता कि मैं इतना ऊँचे चढ़ा था और मुझे नीचे पटक दिया। तो यह मानसिक दुःख बड़ा कठिन होता है। सहारनपुर का एक किस्सा है। एक कोई छोटा बालक था बजाज का और उसके घर के सामने एक जम्बूप्रसाद नाम के रईस का मकान था। उनके घर एक हाथी भी था। तो वह छोटा बालक अपने पिता से यह हठ कर गया कि मुझे हाथी चाहिए। खैर महावत से कहकर हाथी उस बजाज के द्वार पर खड़ा कर दिया गया और उस बालक से कहा उसके पिता ने लो बेटा यह है हाथी। तो वह बालक फिर रोने लगा। पिता बोला अरे अब क्यों रोता है? तो बालक बोला इसे खरीद दो। अब उस हाथी को बजाज के बाड़े में खड़ा कर दिया गया, और पिता ने कहा लो बेटा खरीद दिया। बालक फिर रोने लगा। पिता ने पूछा अब क्यों रोता है, तो बालक बोला अब इस हाथी को हमारीजेब में धर दो। अब भला बतलाओ यह काम कौन कर सकता? तो जो काम असंभव है उसकी हठ में तो दुःख ही होता है तो प्रत्येक मोही का यह ही हाल तो हो रहा है। हम किसी परपदार्थ का सुधार बिगाड़ परिणति कर पाते हैं क्या? नहीं कर पाते, मगर इसकी हठ है कि ऐसा कर दो, तो उस बालक की तरह की ही तो यह हठ रही। अशक्य बात की भी हठ, अनहोनी बात की भी हठ होती है ना? और हठ बनी है तो ऐसा इन विभावों में आत्मरूपता अंगीकार करके जीव रागी हुआ कष्ट पा रहा है।

1088- अपद से हटकर स्वपद में आने का अनुरोध-

अनादिकाल से जिस पद में, जिस स्थिति में जिन भावों में ये अज्ञानी रम रहे, सो उनके प्रति आचार्य कहते हैं कि वह अपद है, तेरे रमने का स्थान नहीं है, सो हे अंधजनो ! उन रागी मोही जीवों को सम्बोध रहे हैं, जब एक विशेष प्रीति उमड़ती है समस्त जगत के जीवों पर तो किन्हीं भी शब्दों से सम्बोधन कर लो, जब अपना स्वरूप ही नहीं दिख रहा तो अन्ध ही कहेंगे, अरे चेतो, समझो, आवो अपने ज्ञान में, देख तेरा वह पद नहीं है, वहाँ मत रमो, वहाँ आराम नहीं। परपदार्थों की ओर योगदान देना इसमें आराम नहीं, वह अपद है। आवो, इधर से आवो, इस रास्ते से आवो, याने तत्त्वज्ञान, भेदविज्ञान, उस प्रकार की बुद्धि बनाकर रास्ता

निकाल लो अपने आपके घर में आने का। वहाँ से चलो, इस रास्ते आवो, तेरा पद यह है, यह है, कुछ लक्ष्य देकर संकेत से कहा जा रहा है कि वह तेरा पद नहीं, पर पदार्थों में रमना, ऐसे विभाव बनाना यह तेरा पद नहीं। तेरा पद तो यह है, जहाँ यह चैतन्यधातु विद्यमान है।

1089- चैतन्य धातु का रहस्य-

इस चैतन्य को धातु क्यों कह रहे? यों कहते कि जैसे धातु के कितने ही बर्तन बनाते जावो, कितना ही कुछ उसमें से बनाते चले जावो तो बनते चले जायेंगे। ऐसे ही इस चेतन में तरंग परिणतियाँ कितनी ही निकलती चली जावें, यह चेतन है, धातुरूप ही है। एक श्लोक है अन्य दर्शन में- “पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।” देखिये- इदं और अदः, इन दोनों के अर्थ तो एक ही कहलाते यह, यह, मगर यह कहने में भी थोड़ा अन्तर है। यह, यह। जैसे पास में दो व्यक्ति बैठे हों, एक जरा और पास है, एक उसके पास में बैठा है तो उनको भी तो कहते हैं ये और ये, मगर इन दोनों “ये” में कुछ अन्तर है कि नहीं? एक कुछ निकट है, एक कुछ दूर है, ऐसा इदं और अदः इन दो शब्दों में अदः निकट है, इदं उसके निकट है, पूर्णमिदं पूर्णमिदं यह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पहिले एक पिण्डरूप दिखा मान लो, फिर एक अपने आपके एक सहज स्वभावरूप दिखा। समक्ष दोनों ही हैं। यह श्लोक तो है अन्य दर्शन का, पर इसमें क्या रहस्य है, वह जैन सिद्धान्त के अनुसार सब कह रहे हैं। पूर्णात्, पूर्ण उदच्यते इस पूर्ण से पूर्ण निकल रहा है, यह आत्मा परिपूर्ण है और इसमें जो पर्याय प्रकट होती है वह परिपूर्ण है। पहले ही समय में जो भी पर्याय है वह पूर्ण है। कभी पर्याय यों नहीं बना करती कि अभी अधूरी बनी, अभी आधी मिटी। पर्याय एक परिपूर्ण पदार्थ का परिणमन है और उसकी अविनाभावी एक समय की जो पर्याय है वह परिपूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण निकलती है, और पूर्ण से पूर्ण कितनी ही निकलती चली जायें, उन पूर्णों को ग्रहण करके, ज्ञान में ग्रहण करके कहीं रख भी दें तो भी वहाँ पूर्ण ही शेष रहता है। यह आत्मा पूर्ण है, इस पूर्ण आत्मा से पर्याय प्रतिसमय पूर्ण ही निकलती है, विकार पर्याय है वह भी पूरी है, स्वभावपर्याय है वह भी पूरी है, पूरी के मायने ऐसा नहीं कि बनने में आधी बन पायी आधी नहीं बन पायी। प्रतिसमय में जो भी पर्याय है वह अपने में पूर्ण हैं। भले ही यह भेद है कि हम अपने उपयोग में एक समय की पर्याय को ज्ञेय कर नहीं सकते, क्योंकि छद्मस्थ हैं। जयधवल में इस प्रकरण में बताया है कि किस तत्त्व का कितना समय, किस तत्त्व का कितना समय है और उपयोग द्वारा कोई पदार्थ ज्ञान में आता है तो वह असंख्यात समय के उपयोग में ज्ञेय हो पाता है। यह तो है एक छद्मस्थ जीव की बात। और इसी का ही लक्ष्य करके फिर बोद्धों में यह बात निकली है कि देखो जिस समय में पर्याय हुई उस समय में तो यह जीव उसे ज्ञात ही नहीं कर पाया, क्योंकि असंख्यात समय के उपयोग में निर्धारण कर पाता यह जीव, तो जो वास्तविक प्रत्यक्ष है वह निर्विकल्प है, दर्शन मात्र है, क्षणिकवाद प्रत्यक्ष को दर्शन कहता है और उसके बाद जो समझा वह सब विकल्प है, और विकल्प कल्पना है और कल्पना से जो जाना जाता है, वह जो कुछ भी जीवों को ज्ञान में

आता है वह सब कल्पनारोपित है, ऐसा क्षणिकवाद में एक सिद्धान्त बना है। नहीं फबता तो युक्ति से तो जानते। अगर एक समय में पूर्ण नहीं तो दो समय में मिलकर भी पूर्ण नहीं हो सकता, तीन चार असंख्यात समयों में भी नहीं हो सकता। तो प्रतिसमय में अपने आपमें अपने आप परिपूर्ण है, वहाँ अधूरापन नहीं तो ऐसे पूर्ण से पूर्ण निकलते चले जा रहे हैं, फिर भी यह पूर्ण ही शेष रहता है। यह ही तो है चैतन्य धातु का रहस्य।

1090- चैतन्यधातुधाम में आने का आह्वान-

जहाँ यह चैतन्यधातु है मूल बीज चैतन्यस्वरूप सहजभाव, आचार्य कहते हैं कि यहाँ आओ, यह है तेरा पद। तू अपने स्वरूप को भूलकर त्यागकर बाहर-बाहर उपयोग भ्रमा रहा तो तू पर घर मेंजा रहा। “पर घर फिरत बहुत दिन बीते” ये बाहर के जितने पदार्थ हैं उन पर दृष्टि देना और पर का आश्रय करके अपने में नाना कल्पनायें बनाना यह फिरना ही तो है। अपने आप पर दया भाव करके सोचना है। प्रथम तो पर का आश्रय करके, पर का लक्ष्य करके जो विकल्प किया जाता, जो कल्पनायें बनती, ये सब अकल्याणरूप है और परपदार्थों में तीव्र इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनाना, यह मेरा है, यह गैर है, इस प्रकार की वहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनाये तो आप समझो कि ऐसी भावना वासना के रहते हुए इस जीव को स्वानुभव की पात्रता भी है क्या? मैं आत्मा हूँ। केवल आत्मा का ही नाता रखना है, मुझे श्रेय, कल्याण, आनन्द चाहिए। मैं अब भटकना नहीं चाहता। देखिये- यह बात भी विकल्प के समय की है। जब देख लिया तो बस देख लिया। अब कुछ करना है क्या? नहीं नहीं देख, लिया, देखने के लिए देख लिया, बस यही प्रयोजन हो, यही कार्य हो, यह तो बहुत अन्तः समाधि वाली बात है। आइये इस रास्ते से, यह है तेरा धाम, जहाँ यह चैतन्यधातु विराजमान है। जो शुद्ध है याने निर्ष्पीत हो गये हैं गुण पर्याय जहाँ ऐसा अखण्ड है, गुण और पर्याय का जहाँ भेद नहीं, बुद्धि में भेद नहीं। यद्यपि पर्याय बिना द्रव्य होता नहीं और गुण भी हैं तो भेददृष्टि में हैं, लेकिन जब उस स्वभाव को, सहज चैतन्यस्वरूप को, अखण्ड तत्त्व को हम उपयोग में लेते हैं तो वहाँ क्या है? न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है। अरे तो फिर चौथी क्या है? चौथी चीज है अर्थ। तीन बातें तो बड़ी प्रसिद्ध हैं- द्रव्य, गुण, पर्याय, पर द्रव्य भी भेद की बात, गुण भी भेद, पर्याय भी भेद। तब ही बताया है- द्रव्यगुणपञ्जयत्थो अत्थो अत्थित्तिणिव्वत्तो।.....प्रवचनसार में बताया है- द्रव्य गुण पर्याय में जो स्थित है वह अर्थ स्व अस्तित्व से रचा हुआ है।

1091- स्वरसभर चैतन्यधातु का स्थायित्व-

अन्तस्तत्त्व शुद्ध है याने इन सब भेद कल्पनाओं से अतीत है और अपने ही रसभार से ये स्थायी भावपने को प्राप्त होते हैं, यह भी तो स्थायी है। इसका जो स्वरस है, चैतन्यतत्त्व का जो अपने आपमें एक रस है, प्राण है, स्वरूप है वह तन्मय है। पूर्ण है, इस सहजकला के कारण यह स्थायीभावपने को प्राप्त होता है, सदा रहता है, एक स्थायीरस के अनुभवपूर्वक यह चैतन्यधातु विराजमान रहता है। तात्पर्य इतना है कि पर

से हटें अपने आपमें लगे, अपने आपमें ही छॉट कीजिये, पर्याय में नहीं लगना, देह में नहीं लगना, किन्तु अभेद विधि से अपने आप जैसा अखण्ड स्वरूप को निरखा उसमें यह अनुभव करना है कि यह मैं हूँ, इसके अतिरिक्त जितने भी विभाव भाव हैं वे मैं नहीं हूँ। तब ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि मैं सेठ हूँ, पंडित हूँ, धनी हूँ, त्यागीहूँ, आदिक जो जो कुछ भी अपने आपमें बुद्धियाँ लगायी जा रही है, वह सब ऐसी श्रद्धा में है तो अज्ञानभाव है। जैसे कोल्हू में पिलकर भी मुनिराज उस शत्रु पर समभाव रखते, उसे शत्रु नहीं समझते फिर भी संभव है कि ये मुनि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि रह सकते हैं। अरे इतना तपश्चरण किया फिर भी बात क्या हुई? तो बात यह हुई कि अपने को माना एक पर्यायरूप में- मैं मुनि हूँ, मुनि अवस्था है। मगर श्रद्धा में यह माना कि मैं मुनि हूँ तो क्या मानना चाहिए था मैं सहज चैतन्यस्वरूप हूँ। इस पर तो टिक नहीं पाये और एक बाहरी भेष में, पद में मैं मुनि हूँ, मुझको बैर न करना चाहिए नहीं तो मुक्ति न मिलेगी, यों कितनी ही बातें विचारते जावो जब एक मूल भूमि गलत है, जब एक पर्याय में आत्मबुद्धि की हुई है तो कितनी भी बात होती जायें, ऐसा ही कहा जाता है रागी, मोही तो ऐसे जीव अब तक जिस स्थिति में रहे हैं, घूमें हैं, वह परपद है नहीं, स्वपद वहाँ से हटें और अपने पद में आयें।

कलश 139

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।

अपदान्येव भासन्ते पादान्यन्यानि यत्पुरः ॥139॥

1092- जीव के अपदभाव व पद का वर्णन-

इससे पहले यह बतलाया था कि इस जीव के लिए कुछ दशायें तो अपद हैं और कोई दशा पदरूप है, याने जीव की स्वाभाविक बात नहीं हैं कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं। और, कुछ स्थितियाँ ऐसी है कि जो जीव की स्वाभाविक बात है। जैसे थोड़ा उदाहरण में लो- गति, इन्द्रिय, काय, योग आदिक ये जीव के अपद हैं, जीव के स्वरूप की चीज नहीं, स्वाभाविक स्थितियाँ नहीं, और जैसे केवलज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति ये जीव के पद हैं मायने सही बातें हैं स्वाभाविक निर्दोष जिसमें यह सदा रहेगा। परमार्थतः तो सहज ज्ञानस्वभाव ही पद है। कोई स्थान होता है पदरूप, और कुछ स्थान होते हैं अपदरूप। अपदरूप की मुख्य पहिचान है कि जो आत्मा के स्वभावरूप से न हो सो अपद, न रहे सो अपद, और जो आत्मा के स्वभावरूप हो सो पद, जो शाश्वत सदा रहे सो पद, ऐसे इस अपद और पद दो प्रकार की दशाओं में से जीव के सही पद में रमने में श्रेय है, अपद में रमने में नहीं। रागद्वेष कषाय ये सब अपद कहलाते हैं याने इस जीव के पद लायक नहीं हैं ये विकार, इस जीव के कुल के लायक नहीं है ये ऊधम।

1093- उदाहरणपूर्वक चैतन्य कुल की उन्नति का चिन्तन-

जैसे यहाँ कोई बालक बिगड़ा हुआ दिख जाय तो उसे समझाते हैं कि अरे यह तेरे कुल के लायक बात नहीं है, तेरे कुल में तो बड़े-बड़े पुरुष हुए और बड़े-बड़े श्रेष्ठ आचरण वाले हुए। यह काम तेरे कुल के लायक नहीं है और कोई अच्छा चलता हो तो कहते- हाँ तुम बहुत अच्छे चल रहे, तुम तो अपने कुल की शोभा बढ़ा रहे। तो यहाँ जीव का कुल क्या है? चेतन, जो इस चैतन्य कुल के अनुरूप दशा हो वह तो है कुल की बात, शोभा बढ़ाने की बात, कुल के अनुसार चलने की बात, और जो चैतन्य स्वरूप से विपरीत हो, विपरीत के मायने पूर्ण विपरीत नहीं, पुद्गल आदिक जैसी बात नहीं, वह तो चैतन्यस्वरूप से ही सम्बंधित है, मगर विकृत अवस्था बने तो, वह कहलाता है अपद याने यह तेरे कुल के लायक बान नहीं है। हे जीव तेरा जो एक पवित्र चैतन्य कुल है, वह सदा रहता है। कुल उसी को कहते हैं जो चले। जैसे कोई बच्चा हुआ, फिर और होंगे, फिर और होंगे तो कहते हैं लोग कि तुम्हारा कुल चल रहा, और तो क्या, कुल चलाने के लिए बच्चा न हो तो किसी को गोद भी ले लेते हैं क्योंकि कुल चलाना है उन्हें। अब देखो- बच्चे जिसके हो गए हैं तो उनका कुल चल रहा, ठीक है, करना पड़ेगी, व्यवस्था है। मगर है नहीं कोई और कुल चलाने की इच्छा है सो गोद लेता है। अब इन दोनों में अन्तर देखो याने ममता वहाँ भी है, यहाँ भी हो रही, मगर गोद वाली ममता बहुत गहरी हो गई। अरे जब एक अवसर मिल रहा कि हमारा कोई नहीं है तो यह भी तो बड़ी अच्छी बात है, हम स्वतंत्र रहेंगे, स्वाधीन रहेंगे, चिन्ता में न आयेंगे और अपने परमार्थ कुल में बढ़ते रहेंगे, धर्मसाधना करेंगे ऐसा तो सुन्दर अवसर मिलता मगर वहाँ कुल कैसे चलेगा सो दूसरे को लाकर गोद रखा या और कुछ रखा तो उसने अपनी एक बाधा ही बढ़ा ली मायने अवसर का लाभ न ले पाया।

1094- कल्पित कुल की कक्षायें-

रही एक बात की कुल चलेगा कैसे? तो यह कुल कोई कुल नहीं है, यह ही तो मूढ़ता है, जो इस घर में हो रही, कुल चल रहा, यह कुल मिला, यह ही तो बड़ी अटक है, काहे का कुल? यहाँ के मरे न जाने कहाँ के कहाँ पैदा होंगे, फिर काहे का कुल? यहाँ के मरे किसी और जगह पैदा हुए तो निज चैतन्यकुल तो नहीं छूटा, वह स्वरूप तो रहता ही है, तो जो चैतन्यकुल है उसकी शोभा बढ़ाने की बात सोचें, यहाँ के सांसारिक कुल की शोभा बढ़ाने की आसक्ति न करें। तो जो इस चैतन्य कुल के अनुरूप बात हो वह तो है पद और उसके खिलाफ जो बात है वह है अपद। अच्छा जीव की एक प्रकृति है लगाव की। लगाव लगाना। अपद में लगाव लगे तो उसका स्वाद क्या आयगा? जैसे कई लोग दूसरे को गोद लेकर फिर यहाँ वहाँ रोने लगते- अरे बड़ा हैरान किया इसने, हमें मारा पीटा है...तो यह भी उसे स्वाद मिला और जिसके यहाँ कोई अच्छा निकल गया तो कहते हैं कि गोद तो लिया मगर बड़ा अच्छा निकला, आज्ञाकारी निकला। तो यह भी एक स्वाद लिया। जो लोग विषयों में प्रवृत्ति करते हैं तो बताओ उनको उन विषयों में स्वाद आया कि नहीं?

आया, और कोई सर्व प्रकार के विकल्प त्याग कर केवल एक सहज चैतन्यस्वरूप में अपनी मग्नता बनाये तो उसको भी स्वाद आता कि नहीं? उसे भी आता है।

1095- स्वपद की स्वाद्यता-

भैया, स्वाद अनेक प्रकार के हैं। उनमें यह निर्णय कर लें कि हमको कौनसा स्वाद लेना चाहिए। तो यही बात इस छंद में बतला रहे कि एक उसका ही स्वाद लीजिए कि जिसमें विपत्ति का स्थान नहीं और जिसमें विपत्ति आये वह स्वाद लिया जाय तो वह कैसे लिया जाय? वह तो दुःख के लिए ही है। जैसे देखा होगा कि कभी कभी घर में कोई छोटा बच्चा बिगड़ जाता है कि मुझे तो अमुक चीज खाना है तो माँ के सामने वह बहुत रोता है। उसकी माँ उसे मार भी देती है और खाने की चीज भी देती है। अब वह बालक रोता भी जाता है और उस चीज को खाता भी जाता है तो बताओ उसका वह स्वाद किस काम का है? कोई विपत्ति भी भोगता जाय और उसका स्वाद भी लेता जाय तो वह स्वाद किस काम का? किसी को भोजन करा रहे और बीच बीच में उसे गाली भी देते जा रहे, उसे डाटते भी जा रहे, वह स्वाद भी लेता जा रहा तो वह कहता है कि ऐसा स्वाद भी किस काम का? तो स्वाद तो वही ठीक है जहाँ कोई विपत्ति नहीं, और जहाँ कोई विपत्ति हो वहाँ कोई स्वाद नहीं कहलाता। तो एक उसका ही स्वाद लेना चाहिए, वही एक पद स्वाद लिए जाने योग्य है, जो विपत्ति का स्थान नहीं है, जहाँ विपत्तियाँ नहीं आती और जिनके समक्ष अन्य जितने भी पद हैं वे सब अपदरूप प्रतिभास होते हैं। तो अब एक बहुत संक्षेप में यह कहें कि जब स्वाद लेते हैं एक तरह का ऊँचा स्वाद तो ऊँचा स्वाद तो किसी एक का ही होगा। वह एक ज्ञान है। वह है ज्ञानमय भाव। एक ज्ञान का ही स्वाद लें, यह ही आत्मा का पद है, इसमें किसी तरह की आपत्ति नहीं है, और, उस पद से बाहर और जितने पद हैं वे सब आपत्तिरूप हैं, रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ इनमें जीव बस रहा, उमंग ले रहा तो ये सब विपत्तियों के घर हैं, और एक विशुद्ध आत्मा का ज्ञानस्वभाव का जो स्वरूप है उसमें मग्न हों, वहाँ विपत्ति का कोई स्थान नहीं।

1096- स्वानुभव बिना स्वस्थिरता की दशा मिलने की असंभवता-

देखो स्व को जानते हैं, समझते हैं और फिर भी उसमें स्थिर नहीं हो पाते, या कुछ वैसा स्वाद नहीं ले पाते, इसमें मुख्य कारण है प्रमाद। स्वाध्याय में अधिक समय गुजरे, सत्संग में समय जाय, तो एक प्रेरणा मिलेगी इस ही ज्ञानभाव के स्वाद के लिये। या सामर्थ्य है तो निर्जन स्थानों में रहें, वहाँ और भी भला है, पर इतनी बात नहीं है चित्त में, योग्यता नहीं है, नहीं कर पाते हैं और रहना ही पड़ता है घर में, शहर में, समाज में तो दो बातें तो न भूलना चाहिए- (1) स्वाध्याय करना और (2) सत्संग करना। सत्संग वही कहलाता है जहाँ आत्महितेच्छु सत्पुरुष हों, सही पुरुष हों जो संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हों। भैया, संसार, शरीर, भोगों से विरक्ति वहाँ ही मिलेगी जहाँ सारभूत जो अपना ज्ञानपद है वह अनुभव में आ गया हो। जैसे किसी भिखारी को जो कि अपने झोले में 7-8 दिन की बासी सड़ी रोटियाँ रखें हो, उससे कोई कहे कि अरे

तू बासी रोटियों को फेंक दे, मैं तुझे 7-8 दिन के लिये ताजी पूड़ियाँ देता हूँ...तो वह उन्हें फेंकता नहीं है, क्योंकि उसके मन में यह शंका है कि कहीं ऐसा न हो कि पूड़ियाँ न मिले और रोटियाँ फेंक दूँ तो दोनों ओर से निपट गये। यदि ताजी पूड़ियाँ उसके झोले में लाकर रख दी जावें तो उसे उन बासी रोटियों के फेंकने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती। ऐसे ही सब लोग कहते हैं कि देखो विषयों का त्याग करो, विषय कषायों का परिहार करो, इनमें बड़ी आपत्ति आती। तो यह विषय कषायों का भिखारी लोभी उन विषय कषायों को कैसे छोड़ेगा? नहीं छोड़ सकता। और, उसे यह अन्दर का भगवान आत्मा, एक ज्ञानानुभव को ज्ञानदृष्टि को, ज्ञानस्वरूप के अंतस्तत्त्व को सौंप दें उपयोग के लिये कि यह है पद तेरा, यह है ज्ञानभाव, तू इस ज्ञानभाव में मग्न रह, और उस ज्ञानभाव का, सहज स्वरूप का अनुभव पा ले और उसके अलौकिक आनन्द का अनुभव भी पा ले तो विषय कषायों को छोड़ने में उसे हिचकिचाहट नहीं रहती। प्रत्येक काम जिस विधि से होने चाहिये उसी विधि से ही बनता है। तो एक उस ज्ञानभाव का ही स्वाद लीजिये जिसमें विपत्ति को स्थान नहीं और जिसके आगे अन्य सब दशायें अपदरूप हैं याने ठहरने वाली नहीं, ठहर सकती नहीं, इसी के समर्थन में कहते हैं।

कलश 140

एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥140॥

1097- समस्त ज्ञानरश्मियों को एकता में लाने का ज्ञानोद्योग-

यह आत्मा ज्ञान को एकता में लाता है, एक रूप करता है। अभी देखो ज्ञान कैसा स्वच्छंद फिर रहा है, यह ज्ञान कैसा उठ-उठकर यहाँ वहाँ कहीं जा रहा है। जैसे कोई नल की धार अंगुली लगा देने से किसी तरह आवरण होने से छितर बितर हो जाय तो वह जल की धार इधर उधर दूर भागती है, वह एक रूप में नहीं रहती है, ऐसे ही इस ज्ञान में अज्ञानमय रागद्वेष की के हाथ अंगुलियों का आवरण होने से यह तितर बितर हो रहा। इस ज्ञान की विशुद्ध सही मोटी धार नहीं बन रही, यहाँ भागता, वहाँ भागता, इसे सोचता, उसे सोचता, लेकिन जो विवेकी आत्मा है वह अपने में एक ऐसा उपाय बनाता है कि उसका ज्ञान एक दूसरे में एकता को प्राप्त होता है। वह विधि क्या है, किस तरह कर रहा है? उसने तत्त्वज्ञान किया, वस्तुस्वरूप का निर्णय किया, सो एकज्ञानभाव से भरपूर एक महान स्वाद को प्राप्त हुआ। वह स्वाद है ज्ञायकभाव निर्भरसाम्यरस का।

1098- सर्व शब्दों की विशेषणरूपता-

देखिये कहना तो पड़ेगा कुछ न कुछ, मगर कोई शब्द ऐसा नहीं है जो शब्द विशेष्य बन जाय याने गुण की तारीफ तो न करे और केवल पदार्थ का नामहीरहे। देखो विशेष्य के शुद्ध नाम को कहते हैं नामवाचक संज्ञा, मगर जितने भी शब्द हैं वे सब विशेषण ही विशेषण हैं। विशुद्ध नाम का शब्द एक भी नहीं मिल रहा। लेकिन उन विशेषणों से ही अपना काम चलाते हैं? कौनसा आप शब्द कहेंगे? कहा कि चौकी ले आवो तो चौकी के मायने क्या? जिसमें चार कोने हों सो चौकी, चटाई ले आवो चट आई लो चटाई, दरी- देर अरई सो दरी, याने जिसके लाने, घरी करने आदि में देर लगे, कमंडल के मायने पानी, मंड मायने शोभा, याने पानी जिसमें शोभित होवे, सो कमण्डल, कं मण्डते यत्र सः कमण्डलुः यों आप कितनी ही चीजों के नाम लेते जावो, हर नाम उस चीज की विशेषता बताने वाला ही होगा, भले ही उस शब्द का अर्थ भी हम आप आसानी से न निकाल सकें फिर भी वह नाम उस चीज की कुछ न कुछ विशेषता बताने वाला तो होगा। जैसे कहा पतेली, तो आप लोग जानते ही होंगे- जिसमें साग भाजी वगैरह चीजें पतित की जायें सो पतेली। उस पतेली के अन्दर कोई धीरे से थोड़े ही कोई चीज डालता, वह तो उसमें उस चीज को पटक सा देता। तो जिसमें साग भाजी आदिक चीज पतित की जावें सो पतेली। जैसे कहा लोटा- तो जिसके नीचे पेंदी न हो, जो नीचे जमीन में लोटता फिरे सो लोटा, गड़ई, जिसमें नीचे पेंदी हो, जो जमीन में गड़कर रह जाय, इधर उधर लोटती न फिरे सो गड़ई। अब बताओ कौनसा ऐसा शब्द है जो शुद्ध नाम वाला हो? आत्मा के बारे में भी कोई नाम नहीं मिलता, बस बोलो मत, अगर आत्मा की बात समझता है, जानता है तो बोलो मत। तुम बोलोगे तो कोई खण्ड की बात ही कर बोलोगे, क्योंकि दुनिया में कोई शब्द ही नहीं ऐसा जो उस अखण्ड का सीधा ज्ञान करा सके।

1099- आत्मा शब्द की विशेषणरूपता-

जैसे बोला आत्मा। तो यह आत्मा नाम ही नहीं हैं, वह तो एक विशेषण है- अतति सततं गच्छति इति आत्मा याने जो निरन्तर जानता रहे। अत् धातु के दोनों अर्थ हैं, चलना और जानना। प्रायः करके जाने के जितने शब्द हैं उन शब्दों के करीब जानने के अर्थ भी होते हैं। जो निरन्तर चले सो आत्मा। केवल एक प्रत्यय का भेद है, इसी अत् से आदित्य बना, जिसका अर्थ है सूर्य। वह निरन्तर चलता ही रहता है और यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। सो रहा है वहाँ भी जान रहा। कुछ भी जान रहा, कैसा ही जान रहा, अच्छा भी जान रहा, बेहोश हो वहाँ भी जान रहा। उसकी जानकारी हम क्या बतावें? होश में है वह भी जान रहा, निगोद में है वह भी जान रहा। तो जो निरन्तर जाने सो आत्मा। नाम क्या मिलेगा? एक नाम धरा ज्ञायक, सोचा तो है बहुत कि इसका भाव एक अखण्ड ज्ञानस्वरूप में लग जाय औरलगतता ही है, बोलते ही हैं, मगर ज्ञायक का अर्थ तो है जानने वाला, यह ही अर्थ है। तो वह एक ज्ञानगुण की ही बात तो उसने ली पर काम कैसे बनाये? कोई शुद्ध नाम तो मिलता नहीं। जितने नाम मिलते हैं वे सब विशेषण के नाम मिलते हैं। तो

भाई उनमें भी छॉट करो। कौनसा विशेषण वाला नाम ऐसा है कि जिसमें हम अखण्डत्व की समझ बनायें सो आसानी रहे? वह शब्द तो है ज्ञायक।

1100- विविध भावों के आश्रय में विडरूपता-

एक ज्ञायक भाव करके भरा पूरा महास्वाद है उसको प्राप्त करता है यह जीव। हाँ क्या करने के लिये बात समझा रहे हैं कि उस समग्र ज्ञान की एकता को प्राप्त करना है, मायने ज्ञान तितर बितर बिछुड़ा फिरा, जैसे कहीं किसी पदार्थ का ज्ञान है, इसका ज्ञान है, उसका ज्ञान है, कुछ को छोड़ दिया, ऐसा छोड़ छोड़कर कहीं-कहीं जो ज्ञान चलता है, चलता है ना मोही जीवों के, रागियों के। तो कहते हैं कि ऐसे उस ज्ञान की एक बिछुड़ीतीअहित स्थिति को समाप्त करते हुए एकता को प्राप्त करायें, उस ज्ञान में सारा लोकालोक प्रतिभास हो जाय, कुछ बात नहीं, मगर सारे लोकालोक को जानने पर कहीं गैप तो नहीं होता। इसे जाने, इसे न जाने, छितर बितर होवे। परिपूर्ण लोक अलोक को भी जाना, वहाँ भी एकता की बात नहीं टूटी। यह कह रहे हैं परिणति की बात। यह स्वभाव के अनुरूप है इसलिये वहाँ बात घटित होती है। अब स्वभाव में चलें, उसमें एकता को प्राप्त कराते हैं, यह मुनिजन भी कर लेते हैं, और प्रभु कर चुके हैं, और सभी तो करते हैं, मगर जिनके ज्ञान है, प्रकाश है उनकी बात कही जा रही है। स्वभाव कहीं अनेक नहीं हो जाते। सहज स्वभावज्ञान विविध नहीं हो पाते, मगर जिसे पता ही नहीं है उसके लिए तो विविध है। जैसे कि एक जीव दूसरे पदार्थ का कर्ता नहीं है। कहते हैं कि अज्ञानी जीव पुद्गल कर्म को करने वाला है। कैसे कर लेगा अज्ञानी पुद्गलकर्म को उत्पन्न? जब दो वस्तुयें न्यारी-न्यारी हैं तो चाहे अज्ञानी हो, मगर वह किसी दूसरे द्रव्य को कर तो नहीं सकता। लेकिन उसमें करने का विकल्प है। मैं इसे करूँगा, मैंने इसे किया, ऐसा करने के विकल्प का वह अपना परिणमन बना रहा। तो ऐसा परिणमने वाले को कर्ता बताया है। अज्ञानी जीव कर्ता है। वस्तु सिद्धान्त से तो प्रत्येक पदार्थ अपने में अपना परिणमन करते हैं, मगर निमित्तनैमित्तिक भाव चल रहा है। जैसे हाथ से झट चीज उठाया, यहाँ रख दी, वहाँ हाथ में हाथ का काम हुआ, चीज में चीज का काम हुआ, मगर यहाँ सम्बन्ध में है ना, इसका निमित्त पाया और ऐसी स्थिति में चूँकि हाथ भी चला और उसी बन्धन में पुस्तक है तो पुस्तक भी चली, तो हाथ चलने का निमित्त पाकर पुस्तक चली। निमित्तनैमित्तिक भाव से यह बात सही है मगर वस्तुत्व से देखें तो पुस्तक में पुस्तक की बात है, हाथ में हाथ की बात है।

1101- प्रतिपक्षनय का विरोध न करके विवक्षितनय की मुख्यता से जानने में अनापत्ति-

सर्वत्र यह बात जानना कि एक ही कुञ्जी है, प्रतिपक्षनय को मना करके कि यह झूठ है, फिर अपने विवक्षित नयकी बात रखना, यह जैन शासन के विरुद्ध है। इसको कहते हैं एकान्त। और, जिन्होंने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया है वे जान लेंगे कि यह एकान्त किस सम्प्रदाय से मिलता है यह किस दर्शन से मिलता है। यह परख भी हो जायगी। तो जैन शासन यह कहता कि प्रतिपक्षनय का विरोध न करें और विवक्षितनय की बात रखें, प्रयोजनवश यह तो चलता है, किन्तु प्रतिपक्षनय को मना करके कि यह असत्य है, झूठ है, एक

नय को ही कहा जाय तो वह जैन शासन से विरुद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए- जैसे जीव कहा तो जीव नित्य है। भाई इसमें कोई संदेह तो नहीं। जीव नित्य है, सदा रहता है, मिटता नहीं है। वस्तु है, सत् है, लेकिन उसमें एक यह भी तो विशेषता है कि वह जीव वस्तु या कोई भी सत् निरन्तर परिणमता रहता है, उसमें अवस्थायें बनती रहती हैं। जरा देख लो मना करके कि भाई क्या जीव में, क्या सत् में परिणमन होता ही नहीं? क्या उसमें कोई अवस्था होती ही नहीं, दशा होती ही नहीं। अच्छा ऐसा पर्याय निषेध स्वीकार करके फिर बोला कि जीव नित्य है, यह किस दर्शन की बात बन गई? इसे वेदान्त कहो, ब्रह्मद्वैतवाद कहो, बात वही कही जा रही थी पहले, मगर प्रतिपक्षनय की बात स्वीकार करके कहा जा रहा था वह जैनशासन का कथन था। अब इस समय प्रतिपक्षनय को झूठा करके कहा जा रहा है तो ब्रह्मद्वैतवाद आ गया। ऐसे ही आप सर्वत्र यह बात जान जायेंगे कि प्रतिपक्षनय को झूठा करके विवक्षितनय का एकान्त रखे तो इसमें किस सम्प्रदाय की बात आ जाती है। अब सब जगह यह बात घटित हो जायगी। ऐसे ही जीव के बारे में देखिये, पर्याय दृष्टि से अनित्य है, और द्रव्यदृष्टि से नित्य है, अब वहाँ कोई यह निर्णय रखे कि द्रव्य कहाँ रखा है, कहाँ दिखता है? द्रव्य की बात झूठ, सिर्फ यह बात सत्य की क्षण-क्षण में नया-नया बनता है, लो यह क्षणिकवाद का मत आ गया। कोई यों कहे कि कहाँ तुमने पर्याय की बात रखी, पर्याय कोई चीज भी होती है, अवस्था दशाकहीं हुआ भी करती है। वह जीव नित्य है। तो अर्थ क्या बन गया? अपरिणामी। परिणाम नहीं माना। अपरिणामी नित्य माना जिसे कहते हैं कूटस्थ नित्य तो कौनसा सिद्धान्त बन गया? ब्रह्मा द्वैत। अब एक ज्ञान से स्वभावदृष्टि से उस एकता पर जा रहे है, जा तो रहे हैं प्रयोजन से और उस उपयोग के समय कृपा करके दूसरा उपयोग न बनावें, पर्याय का उपयोग न बनावें, भेद का उपयोग न बनावें, एक अखण्ड ज्ञायक स्वभाव को लखना है। ऐसा ही तो मूढ़ बनाना होगा। बनाओ, चलो, काम तो बन गया। किसका बन गया? जिसके निर्णय में अज्ञान नहीं है, प्रकाश है, सही निर्णय है कि यह पर्यायदृष्टि से अनित्य है, इसमें प्रतिसमय परिणमन होता है। ऐसा सही ज्ञान करने वाला जीव ऐसा स्वस्थ है कि वह एक अखण्ड ज्ञानस्वभाव की मुख्यता से अपना उपयोग बढ़ाये तो वह ज्ञायकभाव अपने शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है। इस ज्ञायकस्वभाव के इस अखण्ड तत्त्व की मुख्यता से एकान्तपना ब्रह्मद्वैतवाद ने भी तो किया। तो क्या गलती है जो उसके अनुकूल प्रयोग नहीं बना पाते? उन्होंने पर्याय का विरोध किया। पर्याय होती ही नहीं है। वहाँ तो केवल एक अपरिणामी कूटस्थ नित्य माना गया है। ऐसे ज्ञायक स्वभाव को न निरखता हुआ यह जीव उसी महास्वाद को ले रहा, पर इस मोह के दूर होने पर यह जीव उस ज्ञान की एकता को प्राप्त करेगा।

1102-ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वाद के बल पर निर्जरा-

निर्जराधिकार में जिस बल पर निर्जरा होती है उस बल की बात कह रहे हैं। यह जो इतना सारा ज्ञान तितर बितर अपूर्ण नाना रूपों में जो चल रहा है, यह सामान्यरूप होकर अपनी एकता को प्राप्त करे, यह है वह पुरुषार्थ कि जिसके बल से कर्मों की निर्जरा होती है। सीधी बात क्या है? अपने ज्ञानस्वभाव को

सम्हालना, उसमें उपयोग देना, मग्न होना, और केवल एक दर्शनज्ञानसामान्यात्मक अंतस्तत्त्व मेरी दृष्टि में रहे, ऐसा अन्तः संयम बने तो उसके बल ये यह समझिये कि विभावों की तो उपयोग की तो जुदाई हो ही गई, पर शेष कर्म भी निर्जरा को प्राप्त होंगे। क्या किया इस भव्य आत्मा ने कि एक ज्ञायक भाव से निर्भर महान स्वाद लिया। स्वाद का भी फर्क देखो, जब बाहर दृष्टि जाती है और वहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि जागती है तब भीतर में क्या स्वाद लेता है? यह आकुलता, व्यग्रता का स्वाद लेता है और जब अपने अन्तः स्वरूप में आता है और केवल ज्ञानप्रकाशइसकी दृष्टि में रहता है तो वहाँ विकल्प नहीं, निराकुलता चलती है। तो जैसे व्यापारी लोग अपना नफा टोटा देखते हैं उसमें लाभ है, इसमें हानि है तो ऐसे ही प्रथम उपयोग की गति में नफा टोटा जैसी बात क्यों नहीं निरखी जाती? मैं अपने उपयोग को किस तरफ लगाऊँ कि मुझे व्यग्रता रहे और किस जगह लगाऊँ कि व्यग्रता न रहे? उपयोग कहीं बाहर नहीं लगता, यह तो यहीं विराजमान है, बाह्य पदार्थ उपयोग के विषय होते हैं और बाह्य विषय की ओर उपयोग करके कुछ तरंग उठती है उसे कहते हैं उपयोग बाहर गया। और अपना ही शुद्ध अंतस्तत्त्व इसकी बुद्धि में आये तो ऐसी स्थिति को कहते हैं कि उपयोग अपने अन्दर रहा। उपयोग कहीं बाहर दौड़कर नहीं जाता। किसी भी पदार्थ का गुणपर्याय कुछ भी उसके प्रदेशों से बाहर नहीं जाता। बाहर उसका कुछ आधार ही नहीं है, तो ऐसे ही यह उपयोग जब अपने ज्ञायकस्वभाव के चिन्तन में है, दृष्टि में है तो वहाँ एक महास्वाद को प्राप्त होता।

1103- ज्ञानी की द्वन्द्वमय स्वाद लेने में असहता-

जब जान लिया सबसे निराला एक ज्ञानप्रकाशमात्र यह मैं हूँ और उसका स्वाद जान लिया तो अब द्वन्द्वमय स्वाद को पाने के लिए यह अक्षम अथवा असह बन गया। तो जो पहले हो रहा था कि रागादिक विकार से जुटकर, उनमें आत्मारूप बनकर जो एक खोटा स्वाद लिया जा रहा था, अब उस स्वाद को यह नहीं ले सकता। सीधी बात यों कह लीजिए कि जैसे मोही पुरुष ज्ञानियों जैसा काम करने में असमर्थ हैं तो ज्ञानी पुरुष भी मोहियों जैसा काम करने में असमर्थ हो गए। वे कर ही नहीं पा सकते। जैसे सामने कोई चीज पड़ी थी, रस्सी पड़ी थी जान लिया कि यह साँप है तो भ्रम में जो घबड़ाहट चिन्ता आदि हो रहे थे, कदाचित् उसे कोई समझाये या वह कुछ थोड़ा निगरानी से देखे और धीरे-धीरे समझकर सही निर्णय बना ले व हाथ में रस्सी उठाकर एकदम समझ बना ले कि यह तो कोरी रस्सी है, कहां साँप है, मैं व्यर्थ ही भूला था, ऐसा प्रकाश जगने पर उससे अगर कहा जाय कि भाई तुम अभी 10 मिनट पहले जैसी घबड़ाहट कर रहे थे, छाती धड़का रहे थे, आँठ फड़फड़ा रहे थे, अंग कपकपा रहे थे जरा वैसी ही बात करके अब फिर दिखा दो, तो वह दिखा सकेगा क्या? नहीं दिखा सकता, तो जैसे अज्ञान अवस्था में ज्ञानी पुरुष ज्ञानियों जैसी उदारता नहीं बर्त सकता तो ज्ञान जग जाने पर ज्ञानी अज्ञानी जैसा स्वाद भी नहीं ले सकता। तो यह अन्तरात्मा इस द्वन्द्व वाले स्वाद को अब नहीं पाता याने उपयोग और क्रोधादिक आस्रव अथवा कहिये स्वभाव और रागादिक विकार इन दोनों के एक मेल में कहो, एक उपयोग में जो एकता की थी, उससे जो स्वाद

बना था, अब वह स्वाद यह नहीं ले सकता। उसे दो टूक कर दिया। यह मैं ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मा हूँ, ये रागादिक विकार औपाधिक हैं, परभाव हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, ऐसा दो टूक कर दिया तो अब घटना में रचकर दोनों के मेल में, अपने उपयोग में जो बात बन रही थी अब वह बात ही नहीं बन सकेगी। तो ऐसे द्वन्द्वमय स्वाद को यह नहीं ले सकता।

1104- ज्ञानी की स्व वस्तुवृत्ति की प्रसिद्धि-

जब ज्ञानी द्वन्द्वमय स्वाद को नहीं ले पाता तब अपने आपकी निगाह होने से जो ज्ञानी की चेष्टा होती, जो वस्तुव्यापार बनता उसका ही तो यह अनुभव कर रहा, मायने में मैं हूँ, मैं अन्य कुछ नहीं हूँ, मेरा सब कुछ मुझमें है, मेरा कुछ बाहर नहीं है, मैं स्वयं सहज आनन्दमय हूँ, चैतन्यमात्र हूँ, इसमें पर की क्या बात है? यह यह है, ऐसी दृष्टि रखता हुआ अपने वस्तुत्व को प्रसिद्ध कर रहा है यह ज्ञानी। जिसने अपने आत्मा का अपने आत्मा के द्वारा अपने में अनुभव परिणाम किया उसकी ऐसी वृत्ति बनी कि अब यह पहली जैसी चेष्टाओं में कुछ नहीं कर पाता, ऐसा विवश हो गया अर्थात् स्ववश हो गया कि अब यह अज्ञानमयी चेष्टाओं को करने में असमर्थ हुआ। उस समय विशेष का उदय दूर हुआ अर्थात् जो एक विशेष ज्ञान तरंग की लहर उठी हुई थी वह सब यहाँ शान्त हुई, क्योंकि अपने आत्मस्वभाव को निरखने में लगा ना? उस समय इन सारे ज्ञानों को एक सामान्यरूप बनाता हुआ अपने ज्ञान में एकता का अनुभव करता है।

1105- ज्ञान की पर्यायों के परिचय से अखण्ड ज्ञानसामान्य की प्रसिद्धि-

दूसरी बात समझने की बताते हैं, जैसे- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान, ऐसे 5 प्रकार हैं और उन 5 प्रकार के ज्ञानों के जुदे-जुदे भाव हैं, हैं वे, लेकिन जब ज्ञान सामान्य पर दृष्टि दी तो वहाँ फिर यह विशेष नहीं ठहरता। उपयोग है ना स्वभाव की ओर। जैसे सूर्य के नीचे बादल आये हैं तो यहाँ विकास कम है, जरा सा बादल हटे तो और प्रकाश बना, पूरे बादल हटे तो सारा प्रकाश बना। तो जैसे यहाँ प्रकाश में भेद पाये जाते हैं क्या ये भेद कोई उस वस्तु के स्वरूप हैं, क्या ये भेद उस सूर्य के प्रकाश के स्वरूप हैं? सूर्यप्रकाश तो एक प्रकाशमय है, यह भेद जो घटना में विराजमान है, इस भेद को देखकर टुकड़े न बनावें प्रकाश के, किन्तु सूर्य ऐसा अखण्ड प्रकाशमय है यहाँ दृष्टि डालना, ऐसे ही ये मति श्रुत आदिक ज्ञान के भेद पड़े हैं, इस भेद में ज्ञान स्वरूप के टुकड़े न बनाना कि वह ज्ञानस्वरूप यहाँ ऐसा ऐसा है। इन भेदों को निरखकर दृष्टि जानी चाहिये मूल में कि यह आत्मा मूल में तो एक ज्ञानस्वभावमात्र है, यों अपने इस निज ज्ञानस्वभाव पर उपयोग पहुँचते ही यह सारा ज्ञान एकत्व को प्राप्त होता है। सब प्रयोग की बात है। अनुभव में जहाँ केवल एक ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व है वहाँ इस जीव को स्वयं शरण मिल गया। यह ही एक रक्षक है, यह ही एक सर्वस्व है, बाहर में मेरा कुछ नहीं है। ऐसा दृष्टि का अभ्यास बने तो यह ही अभ्यास एक धीरता उत्पन्न करेगा। अपने आपमें अपने विकास को लायेगा। और, एक बाहर ही दृष्टि बनाये रहे तो यह ही तो है मेरा पुत्र, यह ही तो है मेरा घर, इसके लिए ही तो है मेरा तन, मन, धन, वचन यह ही तो है

मेरा सर्वस्व, ऐसा बाहर बाहर में चित्त रहे तो उसकाफल है आकुलता, कर्मबन्धन, संसार की परम्परा। तो सीधी बात यह आ गई कि एक अपने आपमें अगर देखें केवल एक आत्मा की बात, तो इस आत्मा में ज्ञान की विविध पर्यायें समय-समय पर बनती है। हाँ तो ज्ञान की जो अनेक समयों में पर्यायें बनती हैं उन पर्यायों में भेद की मुख्यता लाकर एक ऊर्ध्वतासामान्य की दृष्टि से निरखा जाय तो वह सब ज्ञानमात्र मालूम होता है, और ऐसे ऊर्ध्वतासामान्य की दृष्टि में इस जीव को अपने आपसे उस परमार्थ ब्रह्मत्व की उपलब्धि होती है।

1106- ऊर्ध्वतासामान्य के अनुभव का प्रभाव-

देखो एक चीज में दो बातें समझना- (1) ऊर्ध्वता विशेष और (2) ऊर्ध्वता सामान्य। जैसे एक मनुष्य है, वह शिशु-बालक, जवान, बूढ़ा उसकी ऐसी स्थितियाँ हुई, मगर उन सब स्थितियों में वह मनुष्य तो एक ही है। मनुष्य जुदे-जुदे न होंगे। जो ही मनुष्य की एक स्थिति बनी है सो उस समय उसके भेद की स्थिति को कहा है ऊर्ध्वताविशेष और उन सब भेद पर्यायों में रहने वाला जो एक पद है उसको कहते हैं ऊर्ध्वतासामान्य। तो ऐसे मनुष्यों में ये दो बातें समझ में आयी हैं ऐसे ही आत्मा में ज्ञानमुखेन भेद डालकर ज्ञान बनाना, अब यों ज्ञान बनाना, इस प्रकार बनाना, ज्ञान के जो ये भावना में भेद डाले गये मति श्रुत अवधि आदिक, तो इन भेदों के होने से आत्मा कहीं जुदा तो नहीं हो गया। इन सब भेदों में व्यापक जो एक ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूप को निरखना, लो यह कहलाता है ऊर्ध्वसामान्य। लोक में विशेष की बड़ी महिमा गायी जाती है जैसे यह साहब बड़े विशिष्ट पुरुष हैं इन्होंने बड़ा विशेष कार्य किया है, उसकी बड़ी विशेषता बतायी जाती है और उससे एक प्रभाव माना जाता है। तो लोक में तो विशेष का प्रभाव है, मगर कल्याणमार्ग में विशेष का महत्त्व नहीं दिया गया, किन्तु सामान्य का महत्त्व दिया। सो विशेष से हटकर वहाँ से उपयोग निकालकर एक इस सामान्य स्वभाव में उपयोग जमाया जाय। ध्यान करने के लिए योगीजन क्या काम करते हैं, निर्जन स्थान में ध्यान बनाते हैं, बहुत समय तक चिन्तन करते हैं तो चिन्तन में नाना बातें आ जायें मगर पौरुष उनका यह रहता कि इस विशेष से हटकर एक सामान्य स्वरूप में उपयोग ढूँढस इसी में जिसको जितनी सफलता मिली है उसकी वही एक समाधि बतायी गई है। परमसमाधि क्या? विशेष से हटकरसामान्य स्वरूप में मग्न हों, यह ही एक परम समाधि है। यह एक समाधि का बल है जिस बल से हम समस्त संकटों से छूटकर पूर्ण शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

कलश 141

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो

निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्त इव ।

यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्

वल्गात्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥141॥

1107- ज्ञान की निर्मल परिणतियों का उद्दाल-

इससे पहले कलश में बताया गया था कि यह भव्य अन्तरात्मा ज्ञानी अपनी वस्तु वृत्ति का अनुभव कर रहा है, याने अपने सही स्वरूप को परखकर उसमें मग्न होता हुआ अपने चारित्र को पुष्ट कर रहा है, तो अपनी विशेष वृत्ति का अनुभव करने वाला पुरुष प्रगति में क्या पाता है? देखिये उस समय जो ज्ञान है उस ज्ञान की व्यक्तियां याने परिणतियां निर्मल हो होकर स्वयं उछलती चलती रहती हैं? पर्याय बिना द्रव्य तो रहता नहीं और उस समय स्थिति आत्मा के आश्रय की है, सो स्वभाव-अनुरूपता और स्वभावमग्नता के उस काल में जहाँ एक परमसमाधि का रूप बना वहाँइस ज्ञान की व्यक्तियां, पर्यायें, परिणतियाँ निर्मल-निर्मल होकर स्वयं ही उठ रही हैं, ज्ञानमात्र, ज्ञानप्रकाश, केवल जाननहार यह एक स्थिति उठ रही। वे ज्ञान की परिणतियां, ज्ञाता मात्र रहने की परिणतियां यों उठ रही हैं कि उस समय चूंकि समस्त भावों से उसने पदार्थ को जाना या उनको अपने में निष्पित किया तो ऐसा जब सबको जाना, एक ज्ञानप्रकाशमात्र अनुभव में रहा तो उसका एक ऐसा रस है कि उस आनन्द से मानो एक रस होता हुआ, संवेग प्रवर्तता हुआ, अपने बल के साथ प्रकट होता हुआ यह उदित होता है। और वहाँ केवल ज्ञान ज्ञान की परिणतियां चलती हैं, मायने रागद्वेष के विकल्प से रहित ज्ञान की व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, जिसका यह अभिन्न रस है।

1108- एक ज्ञायकस्वरूप आत्मा के अनेकीभवन का विधान-

यह भगवान यद्यपि एक है, तथापि हुआ क्या? पहले क्या हो रहा था? वह एक भगवान अभिन्नरस होकर भी अनेक रूप हो रहा था। वेदान्त दर्शन में कहते हैं कि इस ब्रह्म ने जब यह संकल्प किया- एकोऽहं बहु स्याम् मैं एक हूँ बहुत बन जाऊँ, ऐसा संकल्प करके यह सारा जगत नानारूप बन गया। यह है उन वेदान्तियों का एक दर्शन। एकोऽहं बहु स्याम्। अब देखना ऐसा कि यह आत्मा एक होकर भी यह बहुतरूप अपने को अनुभव कर रहा ना इसीलिए नाना दुर्गतियों में जन्म मिल रहा, संसार में नाना अवस्थाओं में रह रहा। वहाँ तो यह दृष्टि है कि वह ब्रह्म एक है। जगत की रचना कैसे बनी कि उस ब्रह्म ने अपने में ऐसा संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। पता नहीं क्यों संकल्प किया, कोई उस ब्रह्म को कष्ट था क्या? वह आनन्द में नहीं था क्या? कोई कष्ट में था क्या, जिससे ब्रह्म ने कुछ बात बदली हो। मैं बहुत हो जाऊँ, अब यहाँ देखें तो द्रव्यार्थिकनय से यह एक स्वरूप है और पर्यायार्थिकनय से देखो तो यह समय समय में भिन्न-भिन्न पर्यायोंरूप है। चलो होने दो इसको ऐसा कि इसमें कुछ हानि नहीं। सभी पदार्थों में यह हो रहा, युक्ति भी पायी जा रही कि वह मूलतः एक रूप है द्रव्यस्वरूप से, मगर पर्यायें उसमें नाना हो रही हैं। मुझमें भी ऐसा हो जाय, कोई हर्ज की बात नहीं। यह द्रव्य की एक बात है स्वरूप है कि वह मूलतः एक है मगर प्रतिसमय में परिणमता रहता, इतने में कोई हानि न थी, लेकिन इस जीव को एक अनादि विभ्रम ऐसा सताये

हुए है कि वह इन पर्यायों से ही अपने को नानारूप मान लेता याने अपने मूल स्वरूप को ही उन नानारूपों में समझ लेता, बस किया सो इतना सा अपराध और दंड इतना बड़ा मिल रहा कि निगोद में, पेड़ पौधों में जन्म लेता, यही तो दुःख है, पेड़ों में जन्म लिया, पेड़ों का भव प्राप्त किया, शरीर मिला तो ये आत्मप्रदेश कितना फैल गए। बड़े मोटे पेड़ों में फैल गए, पत्तियों के रूप में फैल गए, बड़े-बड़े नसाजाल के रूप में फैल गए, फूल हुए तो कैसी कैसी उनकी पंखुडियाँ हैं, क्या क्या उनका ढंग बना, जो जो भव कर्मविपाकवश मिला, उस रूप फैल गए, तो यह दण्ड मिला इस आत्मा को। किस बात का दण्ड मिला कि इसने पर्याय में आत्मीयपन स्वीकार किया। इसीलिए इसको दुर्गतियों में घूमना पड़ा। यह आत्मा एकस्वरूप है, केवल ज्ञानमात्र है और निरन्तर पर्यायोंरूप परिणमता रहता, इसके आगे कोई बात न थी, लेकिन अनादि विभ्रम ऐसा चला कि जो पर्यायें मिलती हैं, मिलती हैं वे अनादि विभ्रम से, इसने उन परिणतियों को माना कि मैं यह हूँ, इसने अपने को नानारूप मान डाला। तो अपने को नानारूप जब कर दिया तब यह अपनी तरंगों से बौखलाता रहा और जब उसको सन्मार्ग मिला, सद्बुद्धि जगी तो इसने फिर अपने स्वरूप की सम्हाल की स्वरूप को भूलने का इतना खोटा परिणाम होता है।

1109- धुन के विषय की परीक्षा-

अब सोचिये आप कि जो निरन्तर यह दृष्टि बनी रहती है कि यह मेरा घर, यह मेरी दूकान, यह मेरा बच्चा, यह मेरी स्त्री, ये ही तो मेरे सब कुछ। और प्रयोग क्या चल रहा? घर घर में देखो, घर घर के मायने अपने उपयोग में इस बात की परीक्षा करो कि क्या बस रहा? कहाँ आसक्ति है? कहाँ चित्त लग रहा है? भैया, कहाँ चित्त लग रहा, इसकी परीक्षा यह है कि जिनके लिए यह अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकता है, बस वहाँ चित्त लग रहा है। जैसे ज्ञानी पुरुष इस अंतस्तत्त्व के प्रति सर्वस्व न्यौछावर करता है ऐसे ही मोही पुरुष अपने इस परिवार के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करता है। दोनों की भिन्न-भिन्न परिणतियां हैं जिसके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर हो समझो कि उसका चित्त उसमें है, उसके उपयोग में महत्त्व उसका है। क्या कभी यह उमंग जगी कि मैं अपने इस अंतस्तत्त्व में भगवान आत्मा की उपलब्धि के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दूँ।

1110- ज्ञानी के समग्र पुण्य के हवन का साहस-

पूजा के समय तो लोग प्रतिज्ञा कर लेते- अर्हन् ! पुराण ! पुरुषोत्तम ! पावनानि, वस्तुनि नूनमखिलान्ययमेक एव। अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि। हे भगवान, ये थाल, जल, चंदन, नैवेद्य, अक्षत, मंदिर, प्रतिमाजी आदिक बहुत सी चीजें यहाँ विराजमान हैं लेकिन इस अन्तरात्मा की दृष्टि में तो सब कुछ एक है, क्या सब कुछ? मायने जहाँ धुन है, जहाँ लगन है, जहाँ रुचि है बस वही वही दिखता है इसी के मायने है कि बस सब कुछ एक है। ज्ञानी की कहाँ लगन है? अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ निर्मल केवलज्ञानरूपी ज्वाला। केवलज्ञान पर्याय है औरकेवल ज्ञान जरा इन दोनों

को अलग अलग कर दो तो केवल का अर्थ है सिर्फ और ज्ञान के मायने ज्ञानस्वरूप। सो, इसके प्रति इसकी भक्ति में, इसका जो महत्त्व जाना गया उसके एवज में एकमन होकर मैं समग्रपुण्य को स्वाहा करता हूँ, सर्वस्व न्यौछावर करता हूँ। कोई कहे वाह 13-14 आने का द्रव्य सजा लिया, इतना न्यौछावर करते हुए इस पर इतनी ऐंठ कि मैं सारे पुण्य को स्वाहा करता हूँ... नहीं-नहीं, यह तो एक प्रसंग की बात है। जितनी भी पुण्य सामग्री है महल, मकान, धन वैभव आदिक इन सबको एकमन होकर इस निर्मल एक ज्ञान के लिए मैं सब कुछ न्यौछावर करता हूँ। फिर कोई बोल उठा कि बहुत चतुराई की बात कर रहे भगवान के सामने, जानते हैं ना कि वे सब चीजें पौद्गलिक हैं, साथ तो कुछ जाना है नहीं सो कह देते भगवान के सामने कि मैं इन सबको स्वाहा करता हूँ। कहते हैं कि हे प्रभु कुछ ऐसी सीमा नहीं, वह समग्र पुण्य वैभव जिन कर्मों के उदय से प्राप्त हुआ है इस समस्त पुण्य कर्म को मैं स्वाहा करता हूँ। कुछ उसमें प्रयोजन नहीं। मुझे तो निर्मल सहज ज्ञान से प्रयोजन है। यह निर्मल ज्ञान यह मेरे में रहे मेरे उपयोग में बसे मैं अन्य सबको स्वाहा करता हूँ। फिर कोई कह बैठा वाह वाह बड़ी कला खेल जाते कि ये कर्म पौद्गलिक हैं, उनसे मतलब क्या है इनसे कुछ आने का नहीं, सो कह लेते कि मैं इनको स्वाहा करता हूँ। तो कहते हैं कि इसकी भी मन में सीमा नहीं। जब मैं पुण्य कर्म पापकर्म किसी को नहीं चाहता तो फिर मैं उसके साधन को तो चाहूँगा ही क्या? मैं किसी भी प्रकार से कर्म को नहीं चाहता। तो पुण्य का साधन शुभोपयोग, पाप का साधन अशुभोपयोग इन समस्त शुभ अशुभ विभावों को भी मैं एकमन होकर स्वाहा करता हूँ। तो देखो यह अन्तरात्मा ज्ञानी इस एकत्व विभक्त अंतस्तत्त्व के प्रति कितना अनुरागी हुआ है कि वह सिवाय एक स्वभावाश्रय के और कुछ चाहता ही नहीं। भले ही नहीं बन पा रहा स्वभावाश्रय जब, तब ज्ञानी शुभोपयोग करता है और शुभोपयोग को अशुभोपयोग की तरह हेय मानकर भी नहीं करता, क्योंकि थोड़ा भी अनुराग न हो तो शुभोपयोग कैसे कर सकेगा? मगर प्रतीति में यह बात बसी है कि मैं समस्त विभावों से रहित जो मेरा एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है यह ही मात्र प्रकट हो जो कि सिद्ध अवस्था में होता है यह ही मात्र मेरे भीतर में एक अभिलाषा है, मैं इस समस्त को स्वाहा करता हूँ, जिसके लिए कुछ न्यौछावर किया जा सकता है समझो कि प्रेम उसका असल में वहाँ है।

1111- विपद्दाम से हटकर सहजसमृद्धिधाम में प्रवेश की अन्तर्भावना-

ज्ञानातिरिक्त अन्य पद में बाकी जो कुछ और अवस्थायें बनती हैं, परिणतियाँ होती हैं और उनमें किसी प्रयोजनवश अनुराग से लगता भी है मगर भीतर में वह समझता है कि यह भी मेरे लिए एक आपदा हो गई। जैसे एक कहावत है कि गले पड़े बजाय सरे। देखा होगा होली के दिनों में लोग किस तरह से हँसी मजाक के खेल खेलते हैं। तो एक जगह होली के दिनों में वैसी ही कुछ हँसी मजाक के खेल हो रहे थे तो एक ने एक को शर्मिन्दा करने के लिए उसके गले में ढोल पहना दिया, पर उसने क्या काम किया कि दो छोटी-छोटी लकड़ियाँ उठायी और उछल-उछलकर बजाना शुरू कर दिया। लो उसका शर्मिन्दा होना तो दूर रहा,

वह भी शोभा को प्राप्त हुआ तो ऐसे ही अपने लिए समझो गले पड़े बजाय सरे। जब अपने गले पड गये हैं ये कुटुम्ब परिवार धन वैभव आदिक के प्रसंग तथा शुभभाव के प्रसंग तो इनकी समुचित व्यवस्था बनाये रखने में ही आपकी शोभा है, पर अन्दर से यही भाव रहे कि यह मेरा करने का काम तो न था। मेरे करने का काम तो था अपने ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में मग्न होने का। यह तो सब झंझट है, परिस्थितिवश यह सब करना पड रहा है। हे प्रभो मेरे को कब वह क्षण प्राप्त हो जबकि मैं इन समस्त झंझटों से छुटकारा पाकर अपने आत्मस्वरूप में मग्न होऊँ।

1112- अन्तस्तत्त्व के अनुभवी पवित्र आत्मावों के ज्ञान की शुद्ध उछालें-

ज्ञानमात्र यह आत्मा जब अपनी ज्ञानमात्रता पर दृष्टि देता है, यह हूँ मैं केवल ज्ञानस्वरूप ज्ञान ही ज्ञान जिसका स्वरूप है मगर शेष बातें भी तो आ रही हैं ,आवे, वे मेरे स्वरूप नहीं है, वे सब ज्ञानातिरिक्त भाव हैं, परभाव हैं, औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं। मैं ही उनका निमित्त होऊँ, ऐसा वह भाव नहीं है। मैं स्वभाव मात्र हूँ, ऐसी अपने केवल ज्ञानस्वरूप की दृष्टि दी है, और ऐसी दृष्टि लगाकर उसमें उपयोग देने का अभ्यास करते-करते बाह्य विकल्प से हटकर जब कभी अनुभूति की है, ऐसे पुरुष की परिणति तो कभी रुक न जायगी। लोगों को परिणति दिखती है, जिसमें अदल-बदलरूप मालूम पड़े, वह यह था, अब यह हो गया, नारकी था, मनुष्य बन गया या बच्चा था जवान हो गया। जो कुछ दिखता है उसको लोग बोलते हैं कि अब यह परिणम गया, बदल गया, लेकिन परिणतिशून्य पदार्थ कभी नहीं होता। तो जब यह ज्ञान अपने ज्ञानमात्र स्वरूप पर दृष्टि रख रहा है तो उसकी जो परिणतियाँ हैं वे विशुद्ध ज्ञानमय निर्मल निर्मल हो होकर उछल रही है, ये ही उसकी निजी तरंगे हैं। कोई औपाधिक तरंगे थी कभी, तो अब उसकी निजी तरंगे उछल रही है। उन तरंगों के द्वारा ऐसी उछाल लेता रहता है यह ज्ञान, जैसे कि किसी अगाधसमुद्र में जहाँ ऐसी गम्भीरता पड़ी है कि धूल कीचड़ ऊपर नहीं आ सक रहे हैं और उसकी तरंग उठ रही है। तो जैसे वह तरंग विशुद्ध जलमय चल रही है ऐसे ही इस ज्ञान की यह ज्ञानतरंग निर्मल शुद्ध ज्ञानरूप चल रही है। यह बात बहुत स्पष्टता से ऊँचे के गुणस्थान में है, भगवंत में स्पष्ट है, फिर भी उपयोग के नाते से लगायें तो यहाँ भी यही बात आपको आंशिक मिल जायगी।

1113- अनुभूति व समाधि में अवस्थित अन्तरात्मावों के अबुद्धिपूर्वक कलुषतावों का आवेदन-

अनुभूति व समाधि में रहने वाले जिन अन्तरात्माओं के जो अबुद्धिपूर्वक कलुषता है इस पद में प्रमत्त अवस्था तक या आगे भी जो अबुद्धिपूर्वक कलुषता है वह गौण है, क्योंकि बुद्धि, मति जिस ओरलग रही, बुद्धि में न आये तो उसकी व्यग्रता तो नहीं है। जैसे कभी आँगन में सूखने के लिए मानो आपने नमक डाल दिया था। आप कमरे में बैठे थे। तब मान लो अचानक ही पानी बरसने लगा तो आप झट उसे उठाने के लिए दौड़े। उसे तो तुरन्त उठाना जरूरी ही था क्योंकि पानी के बूँद पड़ने पर वह नमक पिघल जाता। सो वहाँ आप इतना तेजी से दौड़े कि दरवाजे का चौखट आपके सिर में लग गया फिर भी आपको उसका कुछ

पता नहीं पड़ता। नमक उठा लाने के बाद जब हाथ से सिर को टटोल कर देखते और हाथ में खून लग जाता, ओह मेरे तो सिर में चोट आ गई, तो देखिये वहाँ उपयोग दूसरी जगह होने से आपको उस चोट का भी पता नहीं पड़ता, तो ऐसे ही ज्ञानी पुरुष को अपने आपके स्वरूप की ओर उपयोग हुआ, यह हूँ मैं ज्ञानमात्र, जहाँ कष्ट का काम नहीं, स्वरूप में अपने सहजस्वरूप की बात है, वहाँ ही उपयोग चल रहा है तो भले ही नियम से कुछ पदवी तक अबुद्धिपूर्वककषाय चल रही है और वह निरन्तर चल रही, एक क्षण को भी बंद नहीं हो रही, इतना सब कुछ होने पर भी चूँकि उसका उपयोग अपने इस शुद्ध आत्मस्वरूप में लगा है इस कारण वह तो यहाँ सुरक्षित है। इस तरह की दृष्टि द्वारा जिसने इस ज्ञानतत्त्व को पाया है बस वह समझता है उस ज्ञान का माहात्म्य। बस वही ज्ञानविलास मोक्ष का हेतु है, लेकिन जिसने नहीं जाना ऐसा, और मोक्ष के उद्देश्य से बाह्य सब कुछ कर रहा है, उसका क्या होगा यह बात इस काल में कही जा रही है।

कलश 142

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः

क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।

साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं

ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥142॥

1114- ज्ञानगुण के विकास बिना दुष्करतर क्रियाओं से केवल क्लेश लाभ-

प्रत्येक पुरुष साधु संन्यासीजन यदि वेबड़ी कठिन क्रियाओं द्वारा खेद पाते हैं तो पायें, वे स्वयं कष्ट पा रहे हैं, इसके लिए हम क्या समझायें? नहीं मिला स्वाध्याय, अच्छे विरक्त पुरुषों का संग अधिक नहीं मिला, नहीं मिला तत्त्वज्ञान तो वे स्वयं ही अपने आप इस दुष्कर मायने कठिन, हर एक से न किया जाय, ऐसी क्रियाओं को करके कष्ट पाते हैं तो क्या करें। देखिये वे दुष्करतर कर्म कौन है जिनकी बात यहाँ कही जा रही है? जैसे वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे आवास रहना, शीतकाल में नदी के तीर पर आवास रहना, गर्मी के समय में पर्वतों पर आवास बना हुआ है, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, कठिन उपवास आदिक कोई कठिन क्रियायें चल रही हैं तो ऐसी क्रियायें ये मोक्ष के उन्मुख हैं याने विपरीत क्रियायें नहीं हैं, मोक्ष पाने वाले पुरुषों के ऐसी क्रियायें होती हैं, मगर जिन्होंने ज्ञानलाभ नहीं पाया, अपने आत्मा के सहज स्वरूप का परिचय नहीं पाया उनकी बात यहाँ चल रही है कि वे अगर ऐसी क्रियाओं द्वारा कष्ट पाते हैं तो पायें, किन्तु उन्हें ज्ञान गुण नहीं मिला, तो मोक्ष की सिद्धि नहीं होती।

1115- मोक्षमार्ग में संवेग चलने वालों की बाह्य मुद्रा-

देखिये, जो पुरुष मोक्षमार्ग में चले हैं उनके चरित्र पढ़े, पुराण पढ़े, समझें, युक्ति से भी जानें। जब तक आत्मा के ज्ञानस्वरूप में मग्न होने के लिए तीव्र धुनि नहीं होती तब तक उसमें सफलता नहीं मिलती और जिसके तेज धुन हो जाय वह क्या इन मौजों को पसंद करेगा? जैसे घर में रहना, खूब स्वच्छंद आहार विहार करना, एक अपने शरीर का पोषण, और और भी लौकिक बातें इन बातों को कोई पसंद करेगा क्या? उसे तो अपने आत्मा के स्वरूप की धुन लग गई है। तब उसकी मुद्रा क्या बन जायगी? शरीर तो रहेगा, शरीर तो कहीं गया नहीं और उन मौजों में इसका मन है नहीं, उसकी तो धुन लगी है अपने आत्मस्वरूप की ओरतोउसकी मुद्रा क्या बनेगी? उसकी मुद्रा बनेगी निर्ग्रन्थ। शरीर तो छूट न पायगा, चीजें छूट जायेंगी इसीलिए बतलाया गात्र-मात्र परिग्रह। मुनि का स्वरूप क्या है? मानो शरीर मात्र ही परिग्रह रह गया, वह कहाँ छूटेगा? यही तो निर्ग्रन्थ अवस्था है। अन्तस्तत्त्व की धुन प्रबल हुई तब यह निर्ग्रन्थ अवस्था मिल पायी। इसका लक्ष्य है कि अपने आत्मा के सहज स्वरूप में हमारी मग्नता बने, बाकी जो प्रसंग हैं उनमें दिल लगना वह तो बहुत बाधक है, इनसे तो छुट्टी पा लें। अब शरीर साथ है और वह शरीर आहार बिना ठहर सकेगा नहीं, यह बात सब लोग जानते हैं तो उसे योग्य आहार भी करना होता। देखिये वहाँ यह अपने आपके स्वरूप में इतनी धुन है, इतनी हठ है कि वह आहार नहीं करना चाहता, मगर विवेक मानों हाथ पकड़कर कहता है कि अरे ऐसा न करो, उठो, चर्या करो। धुन इतनी है कि वह कुछ चाहता ही नहीं है। न आहार चाहे, न और किसी बात की चाह है, केवल एक आत्मस्वरूप में लगने की धुन है। उसी में ही वह तृप्त रहता है। लेकिन घटना और प्रकार है। शरीर आहार बिना ठहरता नहीं, तो उसी से ही यह विवेक जबरदस्ती उठाता है, चलो निपट आवो आध पौन घंटा इस झंझट से भी। देखो आहार के काम को भी वह निर्ग्रन्थ मुनि झंझट समझ रहा। जिसे आत्मा के सहज स्वरूप की धुन है उसे बाहरी कोई बात सहज नहीं होती मगर विवेक समझाता है कि चर्या करो, आहार करो।

1116- उपदेशादि में भी ज्ञानी के स्वलक्ष्य की धुन-

ज्ञानी जब आत्मस्वरूप में मग्न नहीं हो पाता तो उपदेश के बहाने ही अपने आत्मा की दृष्टि बनाने का भीतर बहुत काम करता। जैसे कोई लोभी पुरुष कहीं भी किसी जगह किसी भी बात में, किसी भी प्रसंग में फंसे, लेकिन वह अपनी मुद्रा की बात पहले रखता है, इसी प्रकार यह निर्ग्रन्थ मुनि आहार विहार शिक्षा दीक्षा उपदेश आदिक के सब काम करते हुए भी, परिस्थिति ऐसा करा रही है तो भी अन्तस्तत्त्व में उसकी धुन और उन सब बातों में ऐसी ही एक वृत्ति होती है कि उसका कुछ वेग अपने आपके स्वरूप की ओर होता है। तो ऐसा आत्मधुनी का पुरुष उस धुन में चल रहा है जंगल में है और कोई भेष नहीं, शरीर में वस्त्रादिक नहीं भयंकर शीत पड़ रही है, उस परिषह को वह मुनि सह रहा है। गर्मी के दिनों में भीषण गर्मी सहता है। ये सब बातें उस मुनि की चल रही हैं। इतने पर भी कदाचित् कोई दोष लग जाय तो उसका

प्रायश्चित्त लेता है। देखिये शरीर के दोष का दण्ड कम है और मानसिक दोष का दण्ड विशेष है। कही यह न समझना कि मानसिक दोष हुए बिना शारीरिक बड़े दोष हो जाते हैं। अरे दोषों की बात तो मन के बिगाड़ से बतायी गई है, दण्ड भी लेते- क्यों ऐसा दोष बना? मन की अस्थिरता होना पसंद नहीं। मन स्वच्छंदनचले, इसके प्रतिक्रमण के लिए कठिन-कठिन जो कर्म होते हैं वे सब मोक्ष के उन्मुख हुएपुरुषों की बातें हैं, लेकिन अज्ञानीजनों के तो ज्ञान गुण बिना वे सब केवल कष्ट ही कष्ट है।

1117- व्यवहारचारित्र की प्रयोजकता का लक्ष्य अन्तस्तत्त्व-

जैसे किसी को चावलों की आवश्यकता है तो वह धान खरीदकर लाया, जिस पर मटमैला छिलका है और उसने प्रयोग से चावल निकाल लिया, उस चावल को बेचकर उसने लाभ कमाया। अब कोई दूसरा आदमी जिसे चावल का ज्ञान नहीं, यदि वह वैसे ही मटमैले धान के छिलके किसी मिल से धान के भाव में खरीदे, जिनके अन्दर चावल तो रहे नहीं, तो बताओ उनको खरीदकर वह क्या लाभ कमा सकेगा? उसे चावल का ज्ञान नहीं, प्रयोजन का ज्ञान नहीं तो वह क्रियायें चाहे जो कर डाले, वे कार्यकारी न होंगे। देखो जो काम सेठ ने किया वही काम इस दूसरे पुरुष ने भी किया, पर सेठ ने तो लाभ पाया और वह पुरुष हानि में रहा। क्यों हानि में रहा कि उसने उस धान के खरीदने का प्रयोजन ही न जाना था। धान खरीदने का प्रयोजन था चावल निकालना। इस प्रयोजन का पता न होने से उस दूसरे पुरुष ने हानि सही। तो ऐसे ही समझो ज्ञानीजन अपने मोक्षमार्ग में चलते हैं, तो उनको करने के लिए बीच बीच में अनेक क्रियायें आया करती हैं। ठंड के दिनों में ठंडी का परीषह सहते, गर्मी के दिनों में गर्मी का परीषह सहते, अब उन बाह्य क्रियाओं को देखा अज्ञानी जनों ने, उनके अन्दर में क्या धुन है इस बात को अज्ञानियों ने परखा नहीं, सो अपना निर्णय उन अज्ञानी जनों ने यह बना कि ऐसा तपश्चरण करना ऐसे क्रियाकाण्डों को करना यही मोक्ष का मार्ग है, अब ऐसे ही क्रियाकाण्ड कोई करता फिरे, बाह्य तपश्चरण खूब करे, पर उससे मोक्ष प्राप्त करने का लाभ तो न मिल पायगा।

1118- मोक्षोन्मुख व्रत तप मुद्रा होने पर भी ज्ञानतत्त्व के आश्रय बिना मोक्षमार्ग की अप्राप्ति-

जैसे यहाँ कोई बालक किसी बात में हठ बनाकर कष्ट पा रहा है तो उसे कहते हैं कि यह तो अपने आप कष्ट पा रहा। इसी तरह यहाँ भी कह रहे कि यह अज्ञानी बालक, जिसने अपने आत्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त किया उसे अज्ञानी कहा, जहाँ जो अज्ञानी है वह उस विषय में बालक है, वह यों निरखकर कि ऐसी क्रियाओं से मुक्ति मिलती है, कर रहे हैं क्रियायें बड़ी कठिन कठिन, तो ऐसे क्रियाकाण्ड करके भी वे शान्ति तो नहीं पाते, कष्ट ही पा रहे, क्योंकि जहाँ रमना चाहिए, जहाँ अपने मन को लगाना चाहिए, जो स्वपद है, उस स्वरूप का ज्ञान नहीं है तो ऐसी कठिन क्रियाओं को करके कष्ट पाये तो पाये कुछ और लोग भी, कुछ संन्यासीजन ज्ञानगुण से रहित होकर महाव्रत और बड़े तपश्चरण का बड़ा भार सादे मायने अधिक तपश्चरण वगैरह सब कुछ करें, किन्तु यदि ज्ञानोन्मुख नहीं हैं, ज्ञानदृष्टि से विपरीत चल रहे हैं और इन्हीं क्रियाकाण्डों

पर दृष्टि है, इन्हीं क्रियाकाण्डों को करके समझते कि मैं खूब बड़ा हो गया, और लोग ऐसा कुछ नहीं कर सकते, मैं ही यह करने में समर्थ हूँ आदिक बातें लादकर भीतर में अहंकार बसे और न भी अहंकार बसे, कुछ थोड़ी बहुत धर्म भी हो, जिसे लौकिक रूप में कहेंगे उस धर्म का ख्याल ही बनाकर और बड़ी एक मंद कषाय करके इस तपश्चरण में लगे तो भी अगर ज्ञानगुण प्राप्त न हो तो केवल वहाँ भी कष्ट ही कष्ट है, ऐसे वे कष्ट पायें तो पायें, उन्हें मोक्षमार्ग नहीं मिल पा रहा, क्योंकि ये बाहरी क्रियाकाण्ड मोक्षपद नहीं हैं, मोक्ष का पद मोक्ष का स्थान तो एक ज्ञायक स्वरूप, ज्ञानविकास, ज्ञान का स्वच्छ परिणमन यह है मोक्षमार्ग तो क्या जो कुछ कहा गया है चरणानुयोग में, अगर इसका कुछ मतलब ही नहीं है तो फिर यह चरणानुयोग में बतायाक्यों गया? ये तप हैं, ये परीषह हैं, यह अहिंसा है? अरे तो बताये गये कि जो मोक्षमार्ग में चल रहे हैं ऐसे ज्ञानी पुरुष आखिर जिन्दगी तो है, शरीर तो रह रहा, कहीं तो रहेगा, उस पर क्या बीतती है? उसकी क्या वृत्ति बनती है? वही वृत्ति चरणानुयोग में बतायी गई है। सो ऐसी बातों को देखकर कोई अज्ञानी अगर कष्ट पाये तो पाये मगर साक्षात् मोक्ष पद तो यह ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व है। और यही निरापद पद है।

1119- ज्ञानपद की स्वसंवेद्यता-

ज्ञान ज्ञान में रमे, ज्ञानस्वरूप ज्ञान में बसे...निर्विघ्न, निस्तरंग कष्टरहित बने तो ऐसा उपयोग अथवा वह एक जिसमें प्रगति कर रहे हैं वह ज्ञानगुण, वह ज्ञानविकास ही निरामय पद है। आमय मायने रोग, भीतरी रोग, बाहरी रोग, शारीरिक रोग, आध्यात्मिक रोग और जन्म जरा मरण आदिक सब विपत्तियों से दूर है वह ज्ञानपद जो स्वयं अपने आपके संवेदन से ही ज्ञानानुभूति रूप में संवेद्य होता है, ज्ञान को कैसे जाना जाय, तो वह शब्द का विषय नहीं है, वह क्रिया का विषय नहीं है, यह तो एक ज्ञानवृत्ति का विषय है। ज्ञान में ज्ञान लगे, ज्ञान में जैसे ये बाहरी पदार्थ जानने में आ रहे हैं, ये जानने में न आयें और ज्ञान का ही क्या स्वयं स्वरूप है, जो जाननहार है वह क्या स्वरूप रख रहा है जान रहा है वही ज्ञान वह स्वयं अपने ज्ञान को जान जाय यह है ज्ञानस्वरूप। यह ही कहलाता है ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय में भेद न रहना। ज्ञान ही जाननहार है, ज्ञान ही जाना जा रहा है और वही ज्ञानसाधन है, जिस वृत्ति के द्वारा वह जानने में आ रहा है ऐसा जो ज्ञानगुण है, ज्ञान का माहात्म्य है, यह जब तक प्राप्त नहीं है तब तक किसी भी प्रकार यह जीव मोक्ष मार्ग में प्रायोगिक कदम नहीं रख पाता और यह ज्ञानप्रकाश ज्ञान के प्रयोग बिना किसी भी प्रकार पाया नहीं जाया जा सकता।

1120- अन्तरात्मा को निज की अनादिमुक्तता का दर्शन-

देखिये मुक्ति तो आत्मा को दिलाना है कि और किसी को? जिसको मुक्ति दिलाना है वह स्वयं क्या है याने किसे दिलाना है यह बात अभी आत्मा में नजर तो आये? मुक्ति तो मिलेगी बहुत काल बाद, फिर इतना तो ध्यान रखना है कि यह दिलाना इसे है। जैसे किसी के विवाह की तिथि रख दी- भाई अगहन में विवाह है, पर उसे अभी से मालूम है कि यह होना है, आरोपित तो हो रहा है, इस कन्या का या इस बालक का

विवाह होना है यह बात आयगी जैसा कि अभी कल्पना में आ रहा है। यदि उसका कुछ रूपक ही पहले ज्ञान में न बने तो वह भावी प्रोग्राम की बात कैसे करूँ। उसकी सूझ इस वक्त आरोपित में न हो, समझ में न हो तो क्या वह काम बन सकेगा? न बन सकेगा। ऐसे ही समझो कि इस आत्मा को मुक्त करना है, यह बात यहाँ अभी ज्ञानबलसे अन्तः समझ में तो आये। वह समझ भी तो यही है कि आत्मा केवल बनता है, इसी के मायने है मोक्षा। जो यह आत्मतत्त्व है, पदार्थ है, ज्ञानस्वरूप है, जो ज्ञान है यह केवल रह जाय, इसके साथ दंद फंद उपाधि सम्पर्क विभाव कुछ भी बात न रहे और यह आत्मा केवल रह जाय, इसी को कहते हैं मोक्षा। क्या ऐसा हो सकेगा? हाँ हो सकेगा। क्योंकि सत्त्व में यह केवल ही है। यह दूसरों को लिए हुए नहीं है, किसी दूसरे की सत्ता से इसकी सत्ता नहीं है, यह स्वयं सत् है, सहज है, ज्ञानस्वरूप है, अपने आप अपने में सहज एकत्वगत है।

1121- आवरणविगम होने पर वस्तु के सहज यथार्थ स्वरूप का विकास-

जैसा आत्मा का सहजस्वरूप है वैसा ही प्रकट हो, यह बात बन सकती है। जैसे धोती में मैल बहुत लग गया और धोना है उसे, तो धोने वाले की समझ में है ना कि यह धोती साफ हो सकती है अर्थात् यह मैल जो चिपट गया, इसके बिना धोती का जो स्वरूप है वह स्वरूप निकल सकता है, यह मैल दूर किया जा सकता है और धोती का अपने आपका रूप निकल सकता है यह उसकी समझ में है ना, तब ही वह जल्दी सफाई कर लेता है तो ऐसे ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी की समझ में यह बात बनी हुई है कि यह सहज एकत्व निश्चयगत यह अंतस्तत्त्व यह है, इस पर आवरण आया है- साक्षात् तो विभावों का निमित्तदृष्टि से कर्मों का, प्रसंग से शरीर का, ये सब लदे हैं हम पर, मगर यह तो भीतर अपने आपके उस ही स्वरूप को रख रहा है, भला बतलावो निगोद अवस्था में रहा तो कुछ ऐसा ही लगता कि जान ही नहीं थी। अक्षर के अन्तर्वे भाग तो ज्ञान, वह कोई ज्ञान में ज्ञान है और ऐसी ऐसी उसकी बेहोशी कि कुछ पता ही नहीं। यहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु को देख लो, वन में जीवत्व सिद्ध करने को बड़ी युक्ति लगाना पड़ती। सहसा तो लोग जानते कि इनमें जान ही नहीं है, ऐसी-ऐसी स्थितियों में जीव रहा और यही जीव मनुष्य बना, मुक्त हुआ, भगवान हुआ तो क्या उसका वह चैतन्यस्वरूप ऐसी स्थिति में बदल गया था? वह तो अन्तः वही का वही है। कितना आवरण था, कितनी ही विपत्तियों का एक आक्रमण था। न उठ सके न बोलते बने, किन्तु स्वरूप तो स्वरूप ही रहता है, वह कहीं मिटा नहीं। ऐसे ही अपने आपमें उस ज्ञानमात्र सहज स्वरूप को निरखा और उससे निर्णय किया कि यह ही स्वरूप जब केवल एक बन जाय इन उपाधि भाव प्रसंगों से यह अलग हो जाय, बस यह ही तो चाहता है, क्योंकि ऐसा हुए बिना सब कष्ट ही कष्ट है।

1122- आत्मा की भलाई की साधना-

कहते हैं ना कि आत्मा की भलाई किसमें है? तो कहा कि जहाँ सुख मिले, आनन्द मिले उसमें है। वह आनन्द कहाँ है? वह आनन्द है निराकुलता में। और निराकुलता हो, ऐसी बात कहाँ मिलेगी? तो ऐसी बात

मोक्ष में मिलेगी। अच्छा ऐसी बात है तो मोक्ष के लिए ही अपने को प्रयत्न करना चाहिए। देखिये मोक्ष लोक के ऊपर है उस जगह पहुंचना है, ऐसी दृष्टि से प्रयत्न न बनेगा, किन्तु स्वरूप मुक्त स्वभाव है, परभावमुक्त है अपने आपमें स्वयं एकाकी है, इसी को कहते हैं सदा मुक्त, यों एकत्वनिश्चयगत आत्मस्वरूप की दृष्टि से ही सब समझना है। नहीं तो इतनी गड़बड़ होगी कि इसे कोई मार्ग ही न मिल पावेगा। स्वरूप सब अपने आप समस्त पर से मुक्त है ऐसा अपना एकत्व, स्वरूपतः यह विविक्त दशा यहाँ निरखना है, यहाँ का आश्रय लेना है। इस स्वाश्रय से मुक्तिपद प्राप्त होगा किन्तु बाहर दृष्टि डालने से नहीं, वे परतत्त्व हैं। जानता तो यह जरूर है कि वहाँ है मोक्ष का स्थान और नमस्कार भी करता, वन्दन भी करता, मगर अज्ञान नहीं रखता कि वहाँ पहुंच जायेंगे तो मुक्ति मिलेगी। वहाँ तो निगोद जीव भी रह रहे। जान तो सब रहे हैं कि इतना स्थान है सिद्ध का और जब सिद्धभक्ति करते हैं तो वहाँ दृष्टि भी रखते हैं, और वहाँ ध्यान भी बनाते हैं। पर प्रतीति सही रखते हैं, इसी बात का संकेत दिया है पूर्वप्रयोगात् इत्यादि सूत्र में। पहले उस सिद्धालय की बहुत-बहुत भावना की, वहाँ परिचय बनाया, ज्ञान बनाया यों मुक्त होते ही ऊपर जाता है। वस्तुतः तो ऊर्ध्वगमन स्वभाव है जीव का, मगर कुछ औपचारिक बातें भी कही जातीं। तो अपने आपमें अन्तः प्रकाशमान जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसकी उपासना किए बिना किसी भी क्रियाकाण्ड से मुक्ति प्राप्त नहीं होती। और वह ज्ञानगुण मिल जाय तो ये बातें आती हैं, और इनमें से गुजरता हुआ ही तो यह जीव आगे बढ़ता है।

कलश 143

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल ।

तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत् ॥143॥

1123- वर्तमान भव का पिण्डोला-

देखिये- हम आप जो एक पिण्डोला बैठे हैं तो यह तीन चीजों का समुदाय हैं। है तो दो का ही समुदाय जीव और पुद्गल, पर उस पुद्गल में दो जातियाँ हैं- (1) आहारवर्गणा और (2) कार्माणवर्गणा। तब इनका विपरिणमन होने से तीन बातें बतला रहे- (1) जीव (2) कर्म और (3) शरीर। जीव तो एक परिपूर्ण एकाकी द्रव्य है, और कर्म वह अनेक परमाणु का समूह है, यह कार्माण जाति का है याने उस जाति में कर्मरूप ही परिणमन बनता है। और आहार वर्गणाओं का पिण्ड है शरीर, तो यह भव तीन का पिण्ड है, और वर्तमान में कुछ ऐसा कसा हुआ सा है कि ये शरीर और जीव दोनों एक दूसरे से जुड़े-जुड़े हो जायें यह बात नहीं बन पाती। ऐसी एक कठिनभी दशा है। एक बार एक ने अपने मित्र से कहा- भाई कल के दिन को तुमको हमारे यहाँ आहार करने का निमंत्रण है, पर एक काम करना, मैं बहुत गरीब आदमी हूँ, सो आप अकेले ही 10

बजे चले आना, अपने साथ किसी दूसरे को मत लाना।...अच्छा साहब। अब दूसरे दिन 10 बजे दिन में वह पहुँच गया आहार करने। तो उससे कहा- भाई आ गए?...हाँ आ गए।...पर हमने तो कहा था कि आप अकेले आना सो?...अरे अकेले ही तो आये हैं।...कहाँ अकेले आये? साथ में ये अनन्त आहार वर्गणायें लेकर आये, अनन्त कार्माण वर्गणायें लेकर आये।...अब भला बतलाओ ऐसा एक अकेला कोई आ सकेगा क्या? नहीं आ सकता, क्योंकि शरीर और जीव का ऐसा ही विकट बन्धन चल रहा। फिर भी स्वरूप देखो तो जीव में जीव ही है दूसरा कुछ नहीं, यहाँ तक कि जैसे कहते हैं कि आकाश में जीव है, यों यहाँ पर का आधार भी नहीं बनता, मगर स्वरूप देखो आकाश में आकाश है, आकाश में कोई दूसरी चीज नहीं। ऐसे ही जीव में जीव है और कोई दूसरी चीज नहीं। तो स्वरूप की ही बात देखिये।

1124- निमित्तनैमित्तिकभाव के प्रसंग में भी जीव का जीवस्वरूप में ही अवस्थान-

यद्यपि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से हो तो रहा है सब कुछ। जैसे हम यहाँ हाथ हिला रहे तो यह हिलने में तो आ रहा है पुद्गल, मगर यह पुद्गल हाथ हिलता है तो कैसे हिलता? इसमें वायु भरी है, शरीर में वात पित्त कफ है सो वायु के चलने से यह हाथ हिलता है और वायु इस तरह चली उसका निमित्त क्या है? जीव के प्रदेश का उस प्रकार परिस्पंद होना है, उसका निमित्त पाकर यह वायु चली, और जीव के प्रदेश में परिस्पंद हुआ, इसका हेतु क्या है? जीव ने उस प्रकार की दृढ़ इच्छा की अपने में वेगमय भाव बनाया कि उसका निमित्त पाकर उसका उस ही में योग हुआ और जीव में यह इच्छा हुई सो क्यों हुई, ऐसा विकार बना सो क्यों बना? देखिये खुद के विकार में खुद निमित्त कभी नहीं कहा जाता और जितनी विषय स्थितियाँ होती हैं वे उपाधिसन्निधान बिना हो ही नहीं सकती। तो अब उत्तर देना चाहिए कोई निमित्त दृष्टि से।...इच्छा क्यों जगी? भाई उस प्रकार का कर्म प्रतिफलन हुआ।...यह क्यों हुआ?...उसी प्रकार का कर्म का विपाक उदय में आया। वह क्यों बना? उदय में क्यों आया? उस प्रकार की स्थिति बँधी थी, उस प्रकार का कर्मबंध था। ये स्थिति और बंध क्यों हुए थे? वह पूर्व का ऐसा ही जीव के रागद्वेष का भाव था उसका निमित्त पाकर ये हुए। फिर रागद्वेष क्यों हुए? कर्मविपाक का निमित्त पाकर, चलते जावो, कहीं विराम न मिलेगा, क्योंकि वह अनादिसंतति बन गई इस योग की। जिसे मोटे रूप में समझते हैं भावकर्म और द्रव्यकर्म। भावकर्म पहले था या द्रव्यकर्म? द्रव्यकर्म के उदय में भावकर्म बना और भावकर्म के होने से द्रव्यकर्म बना, यह परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। तो पहले क्या बना था, बतावो। बीज से वृक्ष हुआ, जो वर्तमान में वृक्ष खड़ा है वह बीज से हुआ और जिस बीज से हुआ वह बीज कहाँ से आया? वह वृक्ष से आया, और वह वृक्ष कहाँ से आया? बीज से आया।...तो पहले बीज था कि वृक्ष? चित्त तो चाहता है कि कह दूँ किसी एक को, क्यों दूसरों को दुविधा में डालें, पर उत्तर समझ में नहीं आता कि किस एक को बतायें, यह कहलाती है अनादिसंतति। हम आप हुए हैं, हम आपके जनक पिता हैं, और वह पिता किसी दूसरे बाप से हुआ, वह बाप किसी दूसरे बाप से हुआ। यों उत्तर लेते जावो तो क्या कोई ऐसा भी बाप था कभी जो बिना बाप हो?

अगर किसी को कहा जाय ऐसा कि यह तो बिना बाप का है तो वह तो गाली समझेगा तो ऐसी अनादि संतति के कोई उत्तर नहीं होते। फिर उसको घटना स्वभाव में डाल देते हैं- स्वभावोऽतर्कगोचरः ऐसा सब कुछ होते हुए भी जीव जीव ही है, पुद्गल पुद्गल ही है, वहाँ स्वरूप नहीं बदलता।

1125- जीव, कर्म और शरीर की क्रियायें जानकर स्वक्रिया से संतोष पाने का संदेश-

अब यहाँ बातें तीन की देखना- जीव, कर्म और शरीर। शरीर की कोई क्रिया हुई, उपसर्ग सहा, शीत वायु आदिक जो योग हैं वे चल रहे, क्रियाकाण्ड भी जिन्हें कहते हैं, शरीर की जो क्रिया है उनका काण्ड मायने समूह, इन्हें बोलते क्रियाकाण्ड। तो ये क्रियाकाण्ड, इनका उपादान क्या है? यह शरीर। अच्छा और चाहिए क्या आपको? आपको चाहिए कि हमारा जो निज पद है ज्ञानस्वरूप सहज ज्ञानभाव वह हमको मिल जाय। तो भला वह ज्ञानभाव हमको इन क्रियायों में मिलेगा या निज के ज्ञान से मिलेगा? देखिये थोड़ा अगल बगल की बात कहें और अगर प्रयोजनवश स्वरूप का निरखन मुख्यता से किया जाता है तो बुरा क्या, जिससे हम अपने उस सहज स्वभाव पर पहुंच जायें, वह तो उचित ही है। क्योंकि समस्त उपदेशों का प्रयोजन सार केवल एक अपने आपके स्वभाव भाव का आश्रय करना है। जगत में हम आपको कोई शरण नहीं। वर्तमान में कुछ कषाय से कषाय मिल गई और उस पर इतना लट्टू हो गए कि यह तो मेरा है और बाकी है गैर। इस भाव का फल अच्छा नहीं मिलने का। इसमें कोई अटक क्यों हो? बस धुन हो एक स्वभावदर्शन की। उसके लिये ही अपना अभिप्राय बनायें। किसी प्रकार की अटक धर्ममार्ग में न बनाना चाहिए। एक बार कषाय आ गई तो आ गई, कोई कषाय हो गई, मिटा लिया, उसके पीछे उसकी वासना, उसमें अहंपने का अनुभव, मैं तो यह हूँ, यह कहलाती है अटक। कषाय तो एक गुजरने की बात है, अटक दो तरह की होती है- (1) खटक भरी अटक और (2) केवल अटक। अटकमेंभी दो भाग हुआ करते। जितनी कषायें हैं क्रोध, मान, माया, लोभ, व्यापार, यहाँ वहाँ, यह सब अटक कहलाती है, मगर किसी में ऐसी अटक बने जिसमें कि एक अहं का अनुभव हो, मैं तो ऐसा हूँ, मैं तो इतना हूँ, इस पार्टी का हूँ इस प्रकार का परभाव में जहाँ अहं का जमाव बनता है जिस परतत्त्व में, वह अटक है खटक वाली अटक। अटक हो तो भी कभी बात बन सकती कि पार हो सकते, पर खटक वाली अटक से पार नहीं हो सकते। हम आत्मा है, हमको तो एक विशुद्धि चाहिए, आनन्द चाहिए, शान्ति चाहिए, और कोई प्रयोजन नहीं। बड़ी कठिनाई से यह मनुष्य जन्म पाया, यह बार बार मिलने का नहीं। यहाँ सही निर्णय बना लें, चूकिये नहीं कि मेरी भलाई किस प्रकार की प्रवृत्ति में है, किस प्रकार के भाव में है। धर्म के लिये जो बहुत से होड़ लग रहे हैं क्रियाकाण्ड से या अन्य बात से चर्या आदिक से, तो वे एक दफे थोड़ी देर को भक्ति सहित सत्कार पूर्वक क्रियाकाण्ड को किसी आले में विराजमान कर दें और इस बात की स्वच्छता के लिये अपना दृढ़ अभिप्राय बना लें कि मुझे यह निर्णय करना है कि अपने भाव कैसे रखें कि जिससे मुझे सन्मार्ग मिले। यह निर्णय करके फिर सत्कारपूर्वक आले से क्रियाकाण्ड को उतार कर उसके प्रयोग में परिस्थितिवश लग जावो।

1126- स्वपद की कर्मदुरासदता-

जीव का स्वभाव है, स्वभावाश्रय करना मंगलमय है, मगर वह मिलेगा कैसे? इन क्रियाकाण्डों से नहीं। आखिर यह मुद्रा कहाँ फेंकी जाय, शरीर को कहाँ मिटा दिया जाय। मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ होती है, तो कहीं उनको गलत तो न करने लगे। ये सब बातें सही होती हैं, मगर स्वरूपनिर्णय में तो देखो, मेरे आत्मा का जो एक अन्तस्तत्त्व बताया है उस पद का दर्शन यह हिलता हुआ हाथ करेगा या मेरा यह ज्ञानोपयोग करेगा? यह पद, अपना एकत्वपद याने सर्वपर्यायों में जो एक स्वरूप रहता हैयाने जो आधार है उसका दर्शन ज्ञान से होगा। एक मोटी बात दृष्टान्त में लो, एक आम है, जब वह पहले छोटा होता फूल में तो उसका रूप काला होता है। जब कुछ और बढ़ता है तो नीला बन जाता है। फिर कुछ और बढ़ा हुआ तो हरा बनता है, और बढ़ा हुआ तो पीला बन गया, फिर लाल बन गया फिर पक गया, और सड़ जाय तो सफेद बन गया। तो अब जिस आम में इतने रूप परिवर्तन हुए सो ये परिवर्तन तो समझ में आ गए कि देखो यह नीले से हरा बन गया। मगर कौन बन गया? गुणभेद से बात करना। रूप गुण बन गया। जो रूपगुण अभी नीली अवस्था में था वह रूपगुण अब हरी अवस्था में आ गया और अब वही रूपगुण पीली अवस्था में आ गया तो ये तो हरी, पीली, नीली आदिक अवस्थायें बन गई, मगर स्वगुण वह एक ही है। इसे कहो स्वगुण, रूपशक्ति। वह स्वगुण, वह रूपशक्ति आपको आँखों न दिखेगी। उसकी अवस्था तो बराबर दिख रही हरा, पीला, नीला आदिक, जब आप रूपशक्ति को भी इन आँखों से नहीं देख सकते जो पुद्गल की बात कह रहे है वह भी आप ज्ञानबल से समझ रहे तो भला बतलाओ कि हमारे जो निरन्तर भाव चल रहे उन भावों का जो स्रोत है, भावों की जो धुरा है, भावों का जो बीज है चैतन्यधातु वह ज्ञानस्वभाव वह क्या हाथों से समझ लिया जायगा? वह क्या किसी से जान लिया जायगा? अरे वह तो ज्ञानबल से ही ज्ञान में आयगा। तो यह जो पद है आत्मा का एक चैतन्यस्वरूप, वह क्रिया से पाया नहीं जा सकता उसका क्रियाकाण्ड से पाना कठिन है, यह तो सहज बोध की कला से सुलभ है।

1127- स्वपद की सहजबोधकलासुलभता-

सहज ज्ञानकला मायने अपने स्वरूप का परिचय, इसको सहज बोध क्यों कहा? स्वरूप बोध कह देते। सहज बोध याने कोई परपदार्थ का ज्ञान, यहाँ हम आप लोग जान जानकर कर करते, लग-लगकर करते, इसे समझा, उसे समझा, फस-फस कर करते हैं, जान जानकर लग लगकर कर्म करने की आदत छोड़ दें और ऐसा सोच लें कि मुझे कुछ नहीं जानना है, मुझे कुछ नहीं समझना है, कहीं हमें दृष्टि नहीं लगाना है। हम तो आराम से बैठे हैं। तो वहाँ जो सहज बोध बन गया सो जानेगा कैसे नहीं? निज का स्वरूप जानना पड़ेगा। अगर यह ज्ञान परपदार्थ को न जानना चाहे और ऐसा नियंत्रण कर दे कि हम तो बैठे हैं, हमें कुछ पता नहीं कि किसके जानने से भला है और किसके जानने से बुरा है, और इतना भी विकल्प क्यों करूँ, हम तो कुछ जानना ही नहीं चाहते। हम तो कुछ भी ज्ञान में विकल्प में नहीं लगना चाहते, हम

तो बस यों ही निष्क्रिय बैठेंगे। वहाँ सहज बोध जगेगा और वहाँ स्वरूपस्पर्श बनेगा। जैसे मानो किसी की चाह है कि मुझे धर्म करना है और वह इस सन्देह में पड़ गया कि सभी लोग अपनी अपनी बात बखानते हैं, हिन्दू अपनी बात कहेंगे, वैष्णव अपनी कहेंगे, सांख्य अपनी कहेंगे, ईसाई अपनी कहेंगे, जैन अपनी कहेंगे, बौद्ध अपनी कहेंगे, वे सब अपनी-अपनी बात बड़ी बड़ी दृढ़ता से कहते हैं कि हमारी बात तो सत्य है बाकी सब मिथ्या है। तो जब कुछ सन्देह में कोई पड़ गया एक निष्पक्ष व्यक्ति कि वास्तव में धर्म क्या है, हम कौनसे मजहब पर चलें? कल्याण चाहने वाला है वह तो वह भी एक उपाय बनाकर देखें कि जब एक भ्रम बन गया और सब अपनी अपनी गा रहें तो विश्वास के योग्य तो कोई न रहा। जिसे देखो वह अपनी गाता है, जैनियों को देखो वे अपनी गाते हैं, बौद्धों को देखो वह अपनी गाते हैं, एक निष्पक्ष कल्याण की अभिलाषा वाला पुरुष जो नया-नया आया है, कल्याण मार्ग में उतरना चाहता है तो वह एक असमंजस में पड़ गया, मुझे क्या करना चाहिए। तो उसको एक सद्बुद्धि आनी चाहिए कि जब सबमें संदेह हो गया तो तुम सबकी बात छोड़ दो, किसी का विकल्प न रखो और सारे विकल्प छोड़कर विश्राम से अपने में बैठ जाओ, आराम करो, हर एक कोई अपनी अपनी गाता है। तो जो हमने पहले सुन रखा कहीं भी, हमें हृदय में नहीं रखना है, जो कभी कोई समझाये वह भीतर हमें हृदय में नहीं रखना है। हमें तो बस एक ही काम करना है कि बस सबको भूलें, सबका विकल्प छोड़े, किसी का भी ज्ञान ध्यान न बनायें, ऐसे सर्व विकल्प छोड़कर एक ठंडी श्वास लेकर आराम से अपने में ठहर जाना, विश्राम पाना, याने लादने का व्यापार रोककर किसी प्रकार की व्यग्रता न करें। शान्त होकर बैठें और सोचें कि मुझे अगर कोई उत्तर मिले तो मिल जाय, मगर मुझे बाहर में कोई उत्तर न चाहिए, ऐसा कोई ठान ले और बाहरी विकल्पों से विराम कर ले और एक सहज आराम विश्राम में रह जाय, बस यह ही तो बनेगा उसका सहज बोध।

1128- ज्ञानस्वरूप निज ब्रह्म में ज्ञान को निस्तरंग समा देने का अनुरोध-

देखो ज्ञान तो ज्ञान ही है, अगर यह ज्ञान बाहरी पदार्थों का आश्रय तज दे तो ज्ञान ज्ञान का आश्रय तो नहीं तज सकता। ज्ञान किसी बाहरी पदार्थ को वास्तव में जानता नहीं। किन्तु बाहरी पदार्थों के अनुरूप यह ज्ञान अपने में विकल्प बनाकर अपनी परिणति करता है, इसी को कहते हैं पर पदार्थ को जानता है। तो पर पदार्थ का आश्रय न करें। यद्यपि पर का विकल्प करता हुआ न परिणमेगा ज्ञान, मगर परिणति तो न मिटेगी। तो उसका परिणमन बनेगा अपने ज्ञानरूप से, यह ही है एक सहज बोधकला, जिसे ज्ञानकला कहते। इस कला के द्वारा अपने आपका वह सहज स्वरूप पाना सुलभ है, इस कारण हे आत्मावों ! अपने ज्ञान की कला के बल से एक इस निज पद को प्राप्त करने के लिए सतत यत्न करें। एक धुन बन जाय पहले। अपने इन 24 घंटों में धर्म के काम तो बहुत किए जाते हैं सो सब करें, पूजा, स्वाध्याय, वंदना आदिक सभी चीजें करें। एक काम और ध्यान में लावें जो आपके लिए बड़े काम की बात है और आपका एक मार्ग निकलेगा, निःसंशय अपना बल आप पायेंगे, किसी भी समय, और उसके लिये उपयुक्त समय है सामायिक का।

सामायिक के समय जहाँ और अनेक बातें की जा रही है, पाठ भी है भावना भी है, सब बात की जा रही है तो सब कुछ कर लीजिए। पहले सब कर लीजिए जो कुछ करना है- आलोचना, प्रतिक्रमण, जाप, नामस्मरण, पर एक काम और साधना बनाना है कि बड़ी दृढ़ता से, आसानी से अपने आपमें अपना जमाव बनावें, यथार्थ ऐसा अपने मन को बनावें अपने ज्ञानोपयोग को ऐसा समझावें कि कुछ क्षण के लिए तू किसी का भी ख्याल मत बना। और बनाता है ख्याल तो जिस जिस चीज का ख्याल आता है उससे ही बात कर लो जरा पहले कि तेरा ख्याल करने से मुझे मिलेगा क्या? कुछ भी ख्याल आये, दूकान का ख्याल, परिजनों का, घर का, अन्य लोगों का ख्याल...इनको चित्त में लाने से इस आत्मा को सिद्धि क्या होगी, उन्हीं से बात करो, उत्तर मिल जायगा। क्या मिलेगा कि यह व्यर्थ का भटकना है। तो यह सब उपयोग का व्यर्थ भटकना छोड़ो। एक पौरुष बनावें कुछ समय के लिए इस तरह का कि मुझे किसी का भी ख्याल नहीं करना। सबका ख्याल छोड़कर एक परम आराम तो लीजिए।

1129- निजबोधकला के द्वारा परमविश्राम लेने की सम्मति-

जैसे कोई मजदूर 8 घंटे काम करके खूब ईंट गारा, बोझा ढो ढो करके सीढ़ियों से चढ़ने उतरने से खूब थक जाता और बाद में जमीन पर ढीला ढाला पड़कर किसी का भी ख्याल न बनाता हुआ, बड़े विश्राम से ठहरकर विश्राम करता है। उस स्थिति में उसकी थकान मिट जाती है। तो अनादि से जो हम विकल्प करते आये उन विकल्पों की बड़ी थकान चली आ रही है जिस थकान से हम दुःखी हो जाते हैं, उस थकान को मेटने के लिए कोई उपाय करना परमविश्राम मायने कोई विकल्प न जगह, ऐसा एक अपने आपका भरसक प्रयत्न करे। कुछ ज्ञान में न आये यह बात तो बन नहीं सकती मगर जैसे हम जानना, पहिचानना, मानना, ठानना जो हम एक बुद्धिपूर्वक उमंग करके उचक उचककर कर रहे हैं ऐसे समस्त ज्ञानों का, विकल्पों का परिहार कर दें तो वहाँ सहज बोधकला प्रकट होगी, निज बोधकला बनेगी। निजबोधकला के बल से फिर हम अपने आपमें अन्तः प्रकाशमान अनादि अनन्त अन्तस्तत्त्व का अनुभव करेंगे। यह ही अपना वास्तविक शरण है। इसको छोड़कर जगत में कोई भी तत्त्व, बाहर का कोई भी पदार्थ, उसका साक्षात् आश्रय लेना यह करतूत हमारे लिए शरण नहीं है।

कलश 144

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात् ।

सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण ॥144॥

1130- स्वजिज्ञासा-

अपने आपके सम्बंध में अन्तः दृष्टि देकर कुछ निर्णय बनायें। मैं क्या हूँ, एकदम यह बात स्पष्ट होती है कि मैं कोई जाननहार पदार्थ हूँ, जानने वाला कोई तत्त्व हूँ। यह सब जानता है, पर वह किस प्रकार है, कैसा है उसकी सब रूपमुद्रा तो जान ही लेना चाहिये। तो सामान्य रूप से तो सभी में यह बुद्धि है कि मैं हूँ कोई ऐसा पदार्थ जो जाननहार हो। अब जरा पदार्थ की बात देखिये- यह मैं जो ज्ञानमात्र हूँ सो पुद्गल पदार्थों की भाँति रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला तो हो नहीं सकता, क्योंकि रूपादिक हो तो उसमें जानने की बात कैसे आयगी। रूप वाले पदार्थ में जानने की बात तो जरा भी समझ में न आ सकेगी। रूपादिक से मैं रहित हूँ और जो मैं हूँ सो हूँ अमूर्त, और भी पदार्थ हैं, पर उनमें ज्ञान नहीं। यह मैं ज्ञानवान पदार्थ हूँ, तो चलो उस ही एक ज्ञानमात्र स्वरूप को छोटकर, निरखकर, विविक्त कर केवल एक ज्ञानमात्र पदार्थ को अपने आपमें निरखें तो इसका प्रभाव तो पड़ेगा, बाह्य विकल्प नहीं हुये, व्यग्रता नहीं रही और भीतर जो यह मेरा है, यह अमुक है, इस प्रकार का उपयोग न होने से यह शान्ति में आया। अब आप अपने आत्मा में उतरें, ज्ञानमात्र स्वरूप को निरखकर निर्भार बनें, इतना ही पर्याप्त लाभ है।

1131- परमार्थ सहज भगवान आत्मा की अचिन्त्यशक्ति का बाहरी दृश्यों से अवगम-

यह ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व कैसा है? अचिन्त्यशक्ति है, आखिर इसमें कितनी शक्ति है, कितना अद्भुत प्रताप है इस ज्ञानमात्र आत्मा का। एक लौकिक बात को ही जरा देख लेने से लोग चमत्कार में आ जाते कि साधुओं को ऋद्धि उत्पन्न होती और यहाँ भी अनेक मनुष्यों की चेष्टायें देखने में आती। कोई मंत्रवादी मंत्र पढ़ रहा है, सर्प का विष उतर रहा है और कई लोग बताते हैं कि मंत्र द्वारा काटने वाले सर्प को बुला लिया जाता है। और, नहीं तो इतना तो लोग देखते हैं कि सर्प का विष दूर हो रहा। लोग सोचते हैं कि बड़ी अद्भुत बात है। पर वह क्या है? एक अचिन्त्य शक्ति आत्मा की वह सब महिमा है। मंत्रवादी ने क्या किया अपने आपमें? इसने तो अपने आपमें अपनी भावना बनायी। हम तो सुनते कि पहले जो गजरथ चला करते थे तो चलने से पहले लोग ओझ्रावों को प्रसन्न करते थे कि इसमें कोई बाधा न डाले। अच्छा क्या बात होती थी कि ओझ्रा लोग जो कुछ जानकार होंगे वे अपने ही घर में बैठे-बैठे कोई ज्वार वगैरह का डंडा जोड़जोड़कर रथ बना लेते थे और कोई कल्पना बनाकर तोड़ देते थे तो उसके टूटने के साथ गजरथ की भी वही कोई चीज टूट जाती थी, तो लोग उस गजरथ को निर्विघ्न चलाने के लिये पहले ओझ्रावों को खुश करते थे। एक बार हमसे किसी भाई ने बताया कि किसी देहात का कोई एक बालक था, वह बड़ा निर्मल परिणामी था, वह अपने खेल में कोई ऐसी चेष्टा करता था जिससे कि बाहर में कुछ वैसी बात बन जाती थी। जैसे कोई रेलगाड़ी जा रही थी, उससे किसी ने कहा- क्या तुम इस गाड़ी को यहाँ रोक सकते? तो बालक ने कहा हाँ रोक सकते।...अच्छा करके दिखाओ। अब बालक ने अपने में कुछऐसी चेष्टा की धूल में ही कोई रेखा बनाकर अंगुलीथमी, वह रेलगाड़ी वहाँ रुक गई। तो ऐसी आश्चर्य की बातें बहुत सी देखने में

सुनने में आती हैं। यहाँ समय सार ग्रन्थ में भी खुद बताया है कि मंत्रवादी मंत्र पढ़ता जाता और उधर विष दूर होता जाता...तो ये सब बातें देखकर लोग सोचते कि यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। अरे आश्चर्य की कुछ बात नहीं। असल में बात क्या है कि यह अचिन्त्यशक्ति आत्मा है, इसकी शक्ति कहीं बाहर नहीं जाती, इसका बाहर प्रयोग नहीं होता, वह अपने आपमें ही प्रयोग होता मगर माहात्म्य ऐसा है कि अनेक ऋद्धियाँ सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। यह तो एक लौकिक बात कही जा रही। अच्छा इस अचिन्त्यशक्ति की, अंतस्तत्त्व की कोई उपासना करे, एक अभेद आराधना करे तो उसका ही तो फल है कि केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता।

1132- पदवी व परिस्थिति के अनुसार विभिन्न आत्मव्यापार होने पर भी अन्तस्तत्त्व के आश्रय के धर्मलाभ की अनतिक्रम्यता-

कोई जिन्दगी भर विद्याओं को जोड़-जोड़कर, सीख-सीखकर समस्त विद्याओं का पारगामी नहीं हो सकता और अपने उस सहज निरञ्जन परमात्मतत्त्व के उपयोग में धारणा बनाकर, अभ्यास करके, वहाँ ही उपयोग लगाकर एकाग्र होकर कुछ क्षण ठहर जाय तो उसका प्रताप है कि सर्वज्ञ बन जाय। कब बनता, कैसे बनता, उसकी प्रक्रिया कोई एक है, मगर बनता तो इसी तरह है ना। अपने आपके सहजस्वरूप के आश्रय से ये सारी समृद्धियाँ उत्पन्न होती है। तो यह आत्मा अचिन्त्यशक्ति वाला है। इसको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते लोग हैरान हो जाते। कहाँ है वह ब्रह्मस्वरूप? अन्दर में है। निगाह करें, प्राप्यमान करें, और-और साधनायें करें, किंतु उपाय बनाते हैं। उपाय जब तक है तब तक इससे मेल नहीं। हुआ उपाय के प्रताप से ही मेल, मगर जब तक उपाय की क्रिया है तब तक इस सहजपरमात्मतत्त्व से मेल नहीं। जिस समय सहजपरमात्मतत्त्व से मेल है, अन्तर्दर्शन है, अनुभूति है वहाँ किसी प्रकार की क्रिया नहीं। वह सहजबोधकलासुलभ। इस कैवल्य की प्राप्ति, अपने विशुद्ध निरञ्जन ज्ञानपद की प्राप्ति एक सहज ज्ञानकला में होती है। तो उसकी और दृष्टि जाय तो उसका यह सब प्रताप अपने आप होता रहता है। ऐसी यह अचिन्त्यशक्ति अन्तस्तत्त्व है। जिसको ज्ञान हो याने चतुर्थ गुणस्थान से लेकर जहाँ तक केवलज्ञान का लाभ नहीं हुआ वहाँ तक उपाय बनता गया है। वह यही है एक सहज निरपेक्ष ज्ञानस्वभाव का आश्रय करना बाहरी बातें हैं पदवी अनुसार। उस प्रकार का कर्मविपाक है उनका ऐसा ही प्रतिफलन है, ऐसी ही कमजोरी है कि बातें अनेक बनती हैं मगर धर्म का प्रसंग, धर्म कहां से होता है, वे सभी बातें बस यही से पायी जाती हैं। अपने अंतस् तत्त्व का आश्रय, उसी में यह मैं हूँ इस प्रकार का अनुभव। भले ही देशव्रती, महाव्रती भिन्न-भिन्न पद में भिन्न-भिन्न प्रकार के साधक मिलेंगे, लेकिन अन्तः लक्ष्य सबका एक प्रकार से मिलेगा।

1133- सहज अन्तस्तत्त्व के प्रति रुचि होने पर भी विभिन्न पदस्थ ज्ञानियों में संग प्रसंग के अनुसार परिणामनभेद-

जैसे देहातों में सबेरे-सबेरे दूध दोहने के बाद गाय भैंसों को बरेदी को सौंप देते हैं अथवा उसके पास जंगल पहुंचा देते हैं तो वे गाय भैंसे दिन भर चरती हैं, आखिर शाम को जब वे वहाँ से चलती हैं तो जिन

जिन गायों के बछड़े हैं उन उन गायों की प्रीति तो वहाँ एक जैसी है, वहाँ भी उनका ध्यान अपने अपने बछड़ों पर है पर बरेदी के डंडे के वश हैं वे गायें सो अपने अपने बछड़ों से मिल नहीं पा रहीं, पर प्रीति बराबर है। और जब बरेदी छुट्टी दे देता है, शाम को चरकर वे गायें अपने घर की ओरचलती है तो कैसा उछलकर, कैसा चारों पैर इस तरह से तेज छोड़कर, सिर भी मटकाकर, पूछ भी हिलाकर घर की ओरभागती हैं, उनकी प्रीति कहाँ है? अपने बछड़ों में। उस प्रीति के कारण बड़ी उमंग के साथ वे भागती हैं तो उस समय की उनकी मुद्रा देखो, कैसी उनकी पूछ गोल-गोल हिलती है,...और क्यों जी, अगर किसी गाय की पूछ आधी हो और उसके भी बछड़ा हो तो प्रीति तो बराबर, जैसी प्रीति लम्बी पूछ वाली गाय के है वैसी ही प्रीति कटी पूछ वाली गाय के है। अब देखो लम्बी पूछ वाली गाय अपनी लम्बी पूछ हिलाती हुई भगती जाती और कटी पूछ वाली अपनी छोटी पूछ हिलाकर भागती जाती, मगर प्रीति दोनों की एक जैसी है, तो ऐसे ही यहाँ भी यद्यपि प्रीति सबको एक समान है अपने लक्ष्य में, जितने भी सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा पुरुष हैं, सबका एक ही ध्यान है, एक ही लक्ष्य है, भीतर में सबकी एक सी अभिलाषा है- मैं अपने सहज स्वरूप में मग्न होऊँ और साधारण मेरी स्थिति बने, यहाँ असंतोष और दुःख का कोई काम नहीं। मगर जो जिस स्थिति में है, जो जितने घिराव में है, जो जितने संग प्रसंग में बनता है उस माफिक वह अपने व्यवहार में अपनी प्रवृत्ति कर पाता है।

1134- ज्ञान में ही सुख-दुःख आनन्द आदि की सर्व रचनायें-

यह आत्मा अचिन्त्य शक्ति वाला है, वैसे भी देख लो सुख क्या है? इस ज्ञान का एक ऐसे ढंग का विचार बना ज्ञान द्वारा कि जिसमें सुख का अनुभव होता, तो सुख भी है क्या? एक ज्ञान में उस प्रकार की वृत्ति, वही सुख है, दुःख भी क्या? कोई दूसरा पदार्थ इस आत्मा में घन मारता है क्या? यह तो अमूर्त है मगर इस तरह का ज्ञान करता मोह कि जिस तरह के ज्ञान करने से यह अपने को व्यग्र अनुभव करता फिरता, दुःख मानता। वह तो ज्ञान का उस ढंग का प्रयोग है। और समाधि आनन्द मोक्षमार्ग धर्मपालन में भी क्या हैं, ज्ञान में ज्ञान का उस प्रकार का प्रयोग जहाँ रागद्वेष का रंच भी अवकाश न हो, एक विशुद्ध ज्ञानप्रकाश रूप वर्तना चलती हो, यह ही है मोक्षमार्ग यह ही है सर्वश्रेय। एक कोई बालक था तो बालक ने कोई चीज मुट्टी में ले ली और अन्य बालकों से कहा बताओ मेरी मुट्टी में क्या है? तो किसी बालक ने कुछ कहा किसी ने कुछ, कोई कहे गोली, कोई कहे कौड़ी, कोई कहे तिनका,...तो वह बालक कहे ये कुछ नहीं है।...अच्छा तो तुम्हीं बताओ क्या है? तो वह बालक बोला मेरी मुट्टी में सारी दुनिया है। यह बात सुनकर सब बालक बड़े आश्चर्य में पड़ गए, अरे ऐसा कैसे हो सकता, इतनी बड़ी दुनिया जरा सी मुट्टी में कैसे आ सकती? तो वह बालक बोला अच्छा बताओ तुमको हम दुनिया की कौनसी चीज दिखाये ! तो किसी ने कहा अमेरिका, किसी ने कहा अफ्रीका, किसी ने कहा कोई नदी, किसी ने कोई पहाड़, तो झट उसने मुट्टी खोली तो निकली स्याही की एक टिकिया। उसने उस टिकिया को घोलकर सब कुछ बनाकर दिखा दिया। तो यह

तो एक बच्चों की खेल की बात कही अब यहाँ अपने आपमें देखो, इस आत्मा में अचिन्त्य शक्ति है, जरा अपने आपके प्रभु से मिलन तो बने, वहाँ किसी प्रकार की असिद्धि नहीं।

1135- अपने आपमें रमणशील भगवान आत्मतत्त्व की देवरूपता-

आत्मा यह स्वयं देव है, अपने आपके भावों में क्रीड़ा करने वाला, अपने आपके स्वरूप में रमने वाला यह स्वयं देव है। कोई पुरुष यदि विषयों में रम रहा तो उसको कहते तो हैं लोग कि यह भोगों में रम रहा, यह दूकान में रम रहा, ऐसा बोलते तो हैं, मगर कोई भी प्राणी दूकान में रम सकता है क्या? तो आत्मा के प्रदेशों से बाहर एक सूत भी, एक प्रदेश भी यह कहीं रम सकता है क्या? मग्न हो सकता है क्या? वहाँ कुछ परिणाम बन सकता है क्या? वहाँ कुछ परिणाम बन सकता है क्या? अपने ही प्रदेशों में यह अपना परिणाम बना सकता है, तो उन विषय भोगों के प्रसंग में अपना परिणाम बना रहा है वह मोही। बड़ा अच्छा है, बहुत ठीक है, लोग कहते हैं कि इसने मीठे का स्वाद लिया। मीठा आया इसके स्वाद में, मीठे रस की कोई चीज खा ली, तो बताओ यह मीठा रस पुद्गल में है या जीव में? पुद्गल में, जीव में कहाँ है, फिर लगता तो है कि यह चीज बड़ी मीठी लग रही, अरे लग तो रही मीठी और फिर भी कहते हैं कि रस जीव में आता नहीं, रस पुद्गल में ही रहता है, तो हुआ क्या वहाँ? इस छद्मस्थता की स्थिति में कि रसना इन्द्रिय के माध्यम से उस रस का परिज्ञान किया गया और भेदबुद्धि न होने से, अज्ञान संस्कार रहने से इतनी आसक्ति है कि वह यह नहीं समझ पाता कि मैं तो इस मीठे रस का भोग कर रहा हूँ, उस मीठे में और ज्ञान में एकमेक तन्मय हो जाता है और अपने में एक मीठा रस यह ही अनुभव करता है और ऐसी अपनी अन्तर्वृत्ति करता तो वह सब ज्ञान की ही तो बात है। ज्ञान किस किस रूप में परिणमे सब बात उसकी है। हमारी दुनिया, आपकी दुनिया अपने-अपने प्रदेश में है, अपने-अपने स्वरूप में है, अपनी-अपनी प्रवृत्ति में है। यह इसके बाहर नहीं, अपने ही अन्दर जैसा विकल्प चल रहा, परभव, परलोक वह भी क्या है? स्वयं यह आत्मा ही तो है, जहाँ गया वहाँ इसकी परिणतियाँ चलती हैं। तो बाहर कुछ नहीं। सब कुछ अपना अपने में ही है, उसकी सम्हाल हो तो उस शक्ति का प्रताप फैलेगा। अचिन्त्यशक्ति: स्वयमेव देवः। यह देव अपने आपके स्वरूप में क्रीड़ा करने वाला यह सहज परमात्मतत्त्व है।

1136- चिन्मात्र चिन्तामणि भगवान आत्मा-

यह चिन्मात्र चिन्तामणि यह ही दृष्टि में हो, यही चिन्तामणि है। लोग कहते हैं कि चिन्तामणि रत्न कोई ऐसा होता है कि वह मिल जाय तो जो विचारे सो कार्य सिद्ध हो जाय। अभी तक हमको तो कोई ऐसा पत्थर देखने को तो नहीं मिला, यदि किसी को मिला हो तो बताओ। और, सुनते सब लोग आ रहे, होता होगा क्या कोई ऐसा पत्थर जो चिन्तामणि कहलाता हो? जिसके द्वारा जो चाहे सो मिल जाय? मगर यहाँ अन्दर देखो चिन्मात्र चिन्तामणि, जो चाहो सो मिल जाय, देखो बात कही जा रही है एक प्रकार में। यह जीव शरीर को बहुत पसंद करता, शरीर को अच्छा मानता, पैदा होना अच्छा मानता। शरीरों से इसको बड़ा

अनुराग है तो देखो शरीर चाहता है तो इसको बराबर शरीर दनादन मिलते रहेंगे। इसने शरीर में आत्मबुद्धि की, शरीर को आपा माना, तो आखिर वह आत्मा भगवान ही तो है, यह बिगड़ गया मगर इसकी कला, इसका ऐश्वर्य यह सब नजर आ रहा है, शरीर में राग है तो शरीर मिलते रहेंगे। जिस दिन अपने स्वरूप में रुचि बन जायगी, जिस दिन एक बड़े निश्चय के साथ आत्मकल्याण की बात मन में आयगी, तो यह आत्मकल्याण करके रहेगा। अपने स्वरूप का पूर्ण विकास करके रहेगा। बस कमी है तो यह ही है कि हम आत्मकल्याण मिलने की भावना नहीं बना पा रहे। कहने को तो सब हैं, करते हैं गप्प। यदि आत्मकल्याण की मूल में भावना है तो बीच में फिर और व्यर्थ की अटक क्यों होती, जिससे न तो आजीविका का सम्बंध, न धर्मपालन का सम्बंध। व्यर्थ की ऐसी कषायों की एक पकड़ क्यों बनती है और ऐसी क्यों एक कोई हठ और जिद बन जाती है? जिसके कारण हम अपने अन्तः स्वरूप के दर्शन करने के पात्र ही नहीं बन पाते। विशुद्धभाव, आत्मकल्याण की सही प्रेरणा होना चाहिए। जिस दिन सहज अन्तस्तत्त्व की रुचि बन गई उस दिन से आत्मा की उत्थान ही उत्थान है।

1137- भगवान आत्मा की सहजसिद्धिस्वरूपता-

यह अचिन्त्यशक्ति, यह चिन्मात्र स्वरूप, यह आत्मतत्त्व, जिसकी उपासना करना है उसकी महिमा तो जानें पहिले। महिमा जाने बिना उपासना की उमंग नहीं बनती। तो अपने आपके इस आत्मस्वरूप की महिमा परखिये कैसा यह शक्तिमान आत्मा है, कैसा इसके अन्दर इसका सारा उद्यान है, कैसा इसके अन्दर विलास हो रहा। यह चैतन्य रत्नाकर, यह अन्तस्तत्त्व कैसी अपनी विशुद्ध मिली हुई निकट तरंग बना रहा जो अत्यन्त स्वच्छ है। ज्ञान ज्ञानज्योति, ज्ञान ज्ञानरूप निरन्तर वृत्ति बना रहा, आखिर द्रव्यत्व शक्ति अपना काम कर ही तो रही है। निरन्तर अपनी निर्मल ज्ञानवृत्ति में उछलता रहे ऐसी वृत्ति जब ज्ञानी के लगी है तब उसे अन्य परिग्रहों से क्या प्रयोजन रहा। जैसे एक कहावत में कहते हैं कि तुम्हें आम खाने से काम या पेड़ गिनने से? तुम्हें इन बाहरी बातों के संग प्रसंग में बुद्धि जोड़ने से काम या विशुद्ध आनन्द भोगने से काम। मगर सत्य आनन्द भोगने से ही काम है तो वह प्राप्त हो रहा है यहाँ। स्वयं आनन्दस्वरूप है यह आत्मा। इसकी इकाई देख लो। निरुपाधि स्वरूप देखो, अपने आपके सत्त्व को। यह अपने में क्या है इस प्रकार की दृष्टि बनायें, तो यह मिलेगा, उसके मिलते ही, उस प्रभु के दर्शन होते ही पूर्ण आनन्द जगेगा। उस आनन्द को प्राप्त करने वाले को अब अन्य परिग्रहों से क्या प्रयोजन? बाह्य परिग्रहों से क्या प्रयोजन? और बाह्य से क्या मतलब? वह तो बाह्य है। अरे उन बाह्य परिग्रहों के बाबत जो इच्छायें, आकांक्षायें बनती हैं वे है अंतरंग परिग्रह। अब इनसे प्रयोजन क्या रहा? इन वैभवों की हठ से प्रयोजन नहीं रहा। इच्छा, आकांक्षा, प्रतीक्षा, ऐसे विभाव विकार इससे क्या प्रयोजन है? सीधे अपने आपके स्वरूप में आये और अद्भुत आनन्द प्राप्त करें।

1138- भगवान अन्तस्तत्त्व का आवरणक्षय से विकास-

इस जीव पर आवरण है, इस ज्ञान के विकास का आवरण है तो ये विकार, विभाव विकल्प ये इसके आवरण है। ये विकल्प कैसे हटें? ये आवरण कैसे दूर हों? तो बान वहाँ दो चाहिए। इस आवरण से उपेक्षा और अपने सत्य स्वरूप की दृष्टि। आवरण से उपेक्षा तब ही बन सकती है जब यह बात चित्त में समा जाय कि यह आवरण, ये रागादिक विकार ये मेरी चीज नहीं है, ये परभाव हैं। ये बन गए विकल्प। अन्तः तो यह गलती कहो कि यह जीव अपने ज्ञानस्वरूप का लक्ष्य छोड़कर अन्य किसी पर विषय में लगता है परतत्त्व में यह अपना उपयोग लगाता। अतएव यह उपयोग अध्रुव है क्योंकि पर ही अध्रुव है, उनका मेल अध्रुव है, उनका आश्रय अध्रुव है, और, यह बात बनी है पर में लक्ष्य करने से। पर को क्यों अपनाया? यह बात हुई कैसे इस जीव में? विचारिये उसका निमित्त कारण कर्मविपाक का उदय है। वह प्रतिफलित हुआ है। उसमें ही तो यह व्यामोही अज्ञान होकर जुट रहा है, तो ये जो क्रियायें हैं, यह जो कर्मरस है, ये सब परभाव हैं। मेरा स्वभाव तो वह है जो स्वरूप के अनुरूप और स्वाधीन है। जहाँ किसी पर के संग प्रसंग वातावरण की भी बात नहीं होती है। ये रागादिक विकार, ये मेरे स्वभाव नहीं, स्वरूप नहीं। ये परभाव हैं, हेय हैं, दुःखरूप हैं। जब इस प्रकार की हेयता समझे तो वहाँ परभाव से उपेक्षा बने। अच्छा तो यह हेय है तो सही क्या है? यह जो मेरे साथ एक बना हुआ है दृष्टि में- केवल एक मात्र, चैतन्यस्वरूप, ज्ञानप्रतिभास यही है मेरा सहज स्वरूप। परतत्त्व से उपेक्षा करना, यहाँ अपने स्वरूप में लगना, यह ही बात को करना है। इसके प्रताप से कभी निकट काल में ऐसा अतुल विकास होगा कि जिसके बाद उपासक महात्मा कहेंगे कि अब यह कृतकृत्य हो गया।

1139- कृतार्थता का अभ्युदय-

कृतकृत्य कौन कहलाता? जो वीतराग है, सर्वज्ञ है वह कृतकृत्य है, कृतं कृत्यं येन सः कृतकृत्यः, जो करने योग्य है वह सब कर लिया गया है जिसके द्वारा सो वह कृतकृत्य है। कर लिया गया है कृत्य जिसके द्वारा उसे कहते हैं कृतकृत्य। देखिये- जगत में ये बहुत बाहरी काम पड़े हुए हैं। ये काम कब पूरे होंगे? जिस दिन यह भावना बनेगी, यह निर्णय बनेगा कि यहाँ करने लायक कुछ नहीं है, तब समझिये कि उसके ये सारे कार्य पूरे होंगे, और जब तक यह चित्त में बना है कि यह कार्य है, इतना हुआ है, अधूरा है, यों बनना है, यों करते जावो, पूर्ण न होंगे। कृतकृत्यता तब प्रकट होगी जब यह निर्णय बने कि मेरा बाहर में कुछ भी कृत्य नहीं है। तो अपने आप ही यहसंतुष्ट होगा और करने योग्य जो बात है वह सही-सही होगी। करने योग्य नहीं है बाहर कुछ, इस प्रकार का भाव बनना, यह ही एक करने योग्य बात थी। वह बात इस ज्ञानी पुरुष को मिल गई, अब चारित्रमोह के विपाक से जो कुछ इसमें अस्थिरता है वह भी अब दूर हो, ऐसा पौरुष इसका प्रकट साहस कहलाता। कृतकृत्य कौन? वही देव, अरहंत सिद्ध प्रभु, ये कृतकृत्य कहलाते हैं। तो ये बने कैसे कृतार्थ? उसका ध्यान कर अपना भी यहाँ यह निर्णय बनावें कि मेरा सब कुछ मुझमें है। मेरे से बाहर मेरा कुछ नहीं है। अपने ज्ञान में अपने स्वरूप के ज्ञान का ही अभ्यास रखना है। ज्ञान में यही ज्ञान समाया हुआ

रहे, यही सारभूत काम है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ सारभूत बात नहीं है। यह निर्णय बनाना है और इसके लिए प्रयत्न करना है। अधिक समय सत्संग में लगायें, अधिक समय चर्चा में लगायें, स्वाध्याय में उसका मनन करने में। भैया जो समयसार तत्त्व है उसको अपने आपके ऊपर घटाने में स्वभावानुरूप कुछ अपना पौरुष करना है, प्रयत्न करना है, इससे सिद्धि होगी।

1140- आत्मा की सम्हाल में प्रमाद न करने का कर्तव्य-

भैया, प्रमाद किया आत्महित की बातों में तो इसका फल अच्छा नहीं। अटपट अशुभोपयोग हुए। यहाँ वहाँ के ईर्ष्या विरोध असुहावना, सुहावना आदिक कितनी ही प्रकार के तरंग विचार उठना ये सब इसके लिए घातक हैं, ये विकार न जगें और शिवमय उपाय बनावें। यह उपाय स्वाध्याय और सत्संग है, इसी में सब बात आ गई, चर्चा, अध्ययन, पढ़ाई, पूजन भजन करना, भीतर उतरना, ये सब बातें आ जाती हैं। अब आप देखिये ये दो बातें हैं जीव और शरीर, और दोनों की ही ऐसी स्थितियाँ हैं कि दोनों की बात सम्हालनी पड़ रही। भोजन भी तो करते, क्यों नहीं भोजन का परिहार करते? कुछ बात तो है, शरीर की ही सम्हाल करनी होती और आत्मा की सम्हाल बिना तो सारी सूनी ही बात है। पर कुछ ऐसा हिसाब तो लगाओ कि शरीर की सम्हाल में कितना समय गुजरता है? अच्छा बताओ अच्छी और मुख्य आत्मा की सम्हाल है कि शरीर की? शरीर की सम्हाल मुख्य नहीं। शरीर तो कभी विघट जायगा। शरीर की सम्हाल यदि करते रहे तो भी यह कहो उल्टा ही चले और देखो आत्मा की सम्हाल में धोखा नहीं है, आत्मा की सम्हाल भविष्य में भी काम देगी, आत्मा की सम्हाल में इस वक्त भी शान्ति, तृप्ति, आनन्द होगा। तो जरा अपने आप पर करुणा करके व्यर्थ की कुदृष्टि को त्यागकर, अपनी सम्हाल के लिए मेरा अधिक समय जाय, उपयोग लगे ऐसी उमंग रखना चाहिए? शरीर की सम्हाल के समय शरीर की सम्हाल हो जाय, पर लक्ष्य तो अपने ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व को ज्ञान में बसाना है यह ही रहे। यहाँ आत्मा की सम्हाल का अन्तर्लक्ष्य का काम पड़ा है, यह काम जिस ज्ञानी के बने, जिसने ऐसा आत्मीय आनन्द भोगा वह ज्ञानी स्वयं तृप्त होता है। अब उसको बाह्य परिग्रह से कुछ प्रयोजन नहीं, पूर्ण आत्मा उतना ही है, यहाँ ही उसका प्रेम है। आत्माका स्वच्छ विकास बनना यह ही सच्चा आशीर्वाद है, यह ही मेरा शरण है, यह ही मेरा सर्वस्व है, उस ही आत्मा में रति तृप्ति करना है। बाहरी बातों में प्रवृत्ति बनाकर, उनकी प्रतीक्षायें करके उनका आश्रय करके विकार बनाने में इस आत्मा को कुछ लाभ नहीं है।

कलश 145

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।

अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥145॥

1141- मेरा परिग्रह दृश्यमान पदार्थ नहीं, दृश्यमान पदार्थ मेरा परिग्रह नहीं-

ज्ञानी जीव के यह निर्णय है मेरा परिग्रह वास्तव में मैं ही हूँ, और परिग्रह का अर्थ शब्ददृष्टि से ऐसा होता है कि जिससे इस भाव में कोई असुविधा नहीं, परि समन्ताद्ग्रहणं इति परिग्रहः चारों ओर से जो ग्रहण हो उसे परिग्रह कहते हैं। चारों ओर से मायने समस्त प्रदेशों में ग्रहण है, किसका? इस ज्ञानमात्र स्वरूप का, इस कारण यह ज्ञानमात्र स्वरूप यह ही मेरा स्व है, इस ही का मैं स्वामी हूँ। यह ही मेरा परिग्रह है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ मेरा परिग्रह नहीं। मेरा परिग्रह यह दृश्य नहीं तथा यह मेरा परिग्रह नहीं। एक ध्यान देने की बात है। इन दोनों वाक्यों में जुदा-जुदा रहस्य और तथ्य है, मेरा परिग्रह यह दृश्यमान नहीं, यह दृश्यमान मेरा परिग्रह नहीं। दो बातें समझी जा रही हैं। मेरा परिग्रह मेरा स्वरूप है, मेरा ज्ञानमात्र तत्त्व है, जिसमें मैं अनादि अनन्त बसा हूँ। वह मेरा परिग्रह है, मेरा परिग्रह और यह दृश्य हो जाय, अरे कहाँ हो सकता यह? यह सब बाहर है, मेरे प्रदेशों से अलग है, इसकी सत्ता न्यायी है, इसे बतलाते हो मेरा परिग्रह। परिग्रह मायने स्वरूप। परिग्रह का यहाँ दूसरा अर्थ नहीं। क्योंकि अपने में अपने समस्त प्रदेशों में जो ग्रहण हो वह स्वरूप ही तो होता है, मेरा परिग्रह यह? इस प्रश्न को बदल लीजिए। मेरा स्वरूप यह? जो मेरा स्वरूप है उस ही का मैं स्वामी हूँ। वही मेरा स्व है, वही मेरा परिग्रह है। मेरे से बाहर मेरा परिग्रह नहीं। अब ये दृश्यमान पदार्थ जो अपनी सत्ता में हैं उनका परिग्रह यह ही है। प्रत्येक वस्तु का स्वरूप उसका उस ही में निहित है, उसके बाहर नहीं। यह दृश्यमान मेरा परिग्रह नहीं।

1142- बाह्यविविक्तता के उपयोग में आनन्दलाभ-

ध्यान में देकर उस प्रकार का, स्वरूप का उपयोग बनायें तो उसका आनन्द मिले, केवल चर्चा में आनन्द नहीं। कहने को तो सब कह ही देते हैं कि ये मेरे नहीं। कोई आपके घर में महिमान आता है, वह पूछता है कि यह मकान किसका? यह लड़का किसका?...तो वहाँ लोग अक्सर करके बोल देते- साहब यह सब आपका ही है, तो भाई ऐसा कभी बोल भी न देना, नहीं तो कभी आप धोखा भी खा सकते। कोडरमा की एक ऐसी घटना है। वहाँ कोई दो भाईयों में आपस में जमीन का झगड़ा था, वहाँ अंग्रेज आफिसर आया बयान लेने, पूछा यह जमीन किसकी? तो दोनों पक्षों ने यही कहा- साहब आपकी ही है। बस जो बयान दे सो ही लिख लिया और दोनों के दस्तखत करा लिया। बस वह जमीन उस अंग्रेज की हो गई। यह तो एक सही घटना बतायी। उस जमीन पर उन दोनों भाईयों का अधिकार नहीं रहा। तो कहने को तो लोग बोल देते हैं, साहब मेरा कुछ नहीं है, पर भीतर में अहंकार और ममता का विष हटे तो वहाँ आनन्द प्राप्त हो। परिग्रह, यह बाह्य परिग्रह मेरा नहीं, क्यों नहीं, कि ये पर पदार्थ हैं, इनका सब कुछ इनमें है। मेरे में इनका

अंश भी नहीं है, यह सब परपदार्थ मेरा त्रिकाल भी नहीं हो सकता। मेरा परिग्रह मेरा स्वरूप है। अच्छा तो बाहरी परिग्रह मेरा नहीं, उसको अगर छेद दें, भेद दें मिटा दें तो ऐसा ज्ञातृत्व यदि दृष्टि में रह सकता कि ये पदार्थ है, इनमें ऐसा परिणमन है, इनमें हर्ष विषाद न जगे तो समझो कि हाँ वास्तव में स्वीकार किया कि मेरा स्वरूप ही मेरा है, बाकी दूसरी मेरी चीज नहीं। बताते हैं, एक घटना है श्वेताम्बर साधु की। उनसे कोई विवेकी पुरुष पूछ बैठा- महाराज आप इतने अधिक वस्त्र रखते हैं और अन्य परिग्रह भी इतना रखने लगे जितना कि गृहस्थ लोग रखते हैं सो क्यों? जबकि भगवती सूत्र में लिखा है कि एक कपड़ा तन ढाकने के लिए रखे। फिर आप लोग मुनि कहलाते, आप लोगों को तो निष्परिग्रही होना चाहिए। मुनिपद तो एक निर्ग्रन्थपद कहलाता है, फिर आप लोग इतना बड़ा परिग्रह क्यों रखते हैं? तो वहाँ उस श्वेताम्बर मुनि ने कहा- अजी कौन रखता है ये वस्त्र, कौन पहिनता है ये वस्त्र? ये सब तो बिल्कुल बाह्य पदार्थ है। वस्त्र में वस्त्र हैं, आत्मा में आत्मा है, इसलिए हमारी निर्ग्रन्थता में कोई फर्क नहीं।...तो उतने में उस विवेकी पुरुष ने क्या किया कि झट उस साधु का दुपट्टा हाथ से खींचकर फाड़ दिया। वहाँ साधु आवेश में आकर बोला अरे यह क्या कर रहे? दुपट्टा क्यों फाड़ रहे? तो वह पुरुष बोला आप नाराज क्यों होते? आपका इसमें क्या नुकसान है? वस्त्र में वस्त्र फटा, इसमें आपका क्या फटा? वहाँ साधु निरुत्तर रह गया।

1143- अनात्मतत्त्व की अस्वरूपता-

भाई सबपदवियों कीजुदी-जुदी बात है। श्रावकों के परिग्रह का परिणाम है, न कि परित्याग और श्रद्धा में तो आत्मा के ज्ञानस्वरूप के सिवाय विभाव तक का भी परिहार है। चिद्रूप हमारा इसका ही सहारा...यह एक भजन है। यह सहज चैतन्यस्वरूप ही मेरा सर्वस्व है। ये बाह्य पदार्थ किसी भी अवस्था को प्राप्त हो, उनको यह ग्रहण नहीं करता। मायने श्रद्धा में या अपने में ऐसा भाव नहीं लाता कि इसके विनाश से मेरा विनाश है। ये बाह्य परिग्रह मेरे नहीं। अगर बाह्य परिग्रह मेरे बन जायें तो इसके मायने यह है कि ये बाहरी पदार्थ मेरे स्वरूप हो गए, स्व बन गए मैं उनका स्वामी बन गया। सो ये तो मेरे स्वरूप हो गए, इसके मायने में जड़ बन गया, क्योंकि दृश्य ये जड़ पदार्थ हैं। जितना जो कुछ दिख रहा है ये सब जड़ पदार्थ हैं। ये मैं बन गया और ये मेरे हो गए तो मैं जड़ ही हो गया। बोलो आप जड़ होना चाहते हो क्या? हाँ, एक निगाह ऐसी डाल सकता कोई कि जड़ होने में अच्छा है, क्योंकि उसे ये सुख दुःख कुछ नहीं हैं। जल जायये पुद्गल चौकी वगैरह तो इनका क्या? शायद एक बार हाँ भी कह दें कि हाँ जड़ बन जाऊँ तो कहने मात्र से क्या होता?केवल कहने मात्र से जड़ बनता क्या? तथा जब यह अपनी महिमा पर दृष्टि देता है, सर्व द्रव्यों में सार यह मेरा अंतस्तत्त्व है, इसकी कितनी महिमा है? सर्व में प्रधान है। लोकालोक सारा विश्व इसके ज्ञान में आये, ऐसा एक उत्कृष्ट प्रताप वाला है। क्या मैं जड़ बनूँ, मैं जड़ न बनूँगा, मैं अजीव न बनूँगा। ये बाहरी पदार्थ मेरे परिग्रह नहीं हैं, एक इतनी अपनी बुद्धि हो जाती है तो श्रद्धा में यह उपाधि तो छूट गई, उपयोग में, श्रद्धा में, प्रतीति में एक सामान्यरूप से इसने परिग्रह का परित्याग किया। यह ही ज्ञानी पुरुष जो मोह

लगता, जो कलंक लगता, जो गड़बड़ीहोती उसको यह लेशमात्र भी नहीं चाहता। बल्कि इनको उखाड़ने के लिए ज्ञानी का भाव रहता है।

1144- स्वपर के अविवेक के कारणभूत अज्ञान के परिहार का विशेष प्रवर्तन-

अज्ञान स्व और परपदार्थ के अविवेक का कारण बनता है। इसको त्यागने की चाह रखता हुआ यह ज्ञानी अब भिन्न-भिन्न प्रकार से भिन्न-भिन्न नाम को लक्ष्य में लेकर परिग्रह का त्याग करता अथवा निर्मूल करने के लिए मूलतः परिग्रह का त्याग करता। वह जानता है कि परिग्रह क्या चीज है, बाहर की बात बाहर में, आत्मा की बात आत्मा में। बाहर का कुछ आत्मा में नहीं, आत्मा का कुछ बाहर में नहीं। बाहर के पदार्थ बेचारे अज्ञान ये ऊधम नहीं मचा पाते। ये तो अपनी ईमानदारी से ही चल रहे हैं। जैसा जहाँ प्रसंग होगा वैसा परिणमन और कुछ ही चल रहा है इनमें। ये पुद्गल बेईमान नहीं बन रहे। इनका परिणमन इनमें चल रहा सो ठीक है। यह आत्मा, यह जीव यह अपना ईमान खो रहा। जैसे कहते हैं ना- अपनी चीज को आप सम्हालें, हमारी चीज हम सम्हालें। आप अपना काम करें, हम अपना काम करें। सो वस्तुस्वरूप तो मिटता नहीं, लेकिन अज्ञानी कल्पना से इस सारे विश्व को ग्रहण करने का, इस पर राज्य जमाने का इस पर में रमने का भाव रखता है। देखो अपने ईमान से हटा कि अपने सही स्वरूप से हटा, नहीं तो ये अज्ञान बेचारे पुद्गल ये तो अपने अपने में हैं अपने से बाहर ये कुछ उछाल नहीं मारते। छलांग तो यह जीव भी नहीं मार सकता। बाहर यह आत्मा भी अपने से बाहर कुछ काम नहीं कर सकता, मगर इन विकल्पों रूप में यह ज्ञान परिणमन तो करता है। ज्ञानगुण के विचित्र परिणमन से ऐसा विचित्र जाल फैला लिया इस मोही ने कि जगत में पड़े हुए इन सारे विषयों पर एक अपना राज्य जमाने के लिए उचक उचककर उन विषय ग्रामों में पहुंचता है। और, लड़ाई किस बात की है। किसी ने धन को परिग्रह माना, शरीर को परिग्रह माना, अपने विभावों को परिग्रह माना, विचारों को परिग्रह माना, तब ही तो देखो मेरा विचार है, इस विचार के प्रतिकूल यह क्यों चल रहा है, मेरा विचार यह क्यों नहीं मानता? ऐसा उसमें खेद हुआ क्यों? उसने अपने विचार को परिग्रह बनाया, रागद्वेष को परिग्रह बनाया। राग में बात उठी हुई है कि ऐसा बने, ऐसा परिणमे, और वैसाहोता है नहीं इस कारण खेद होता है। अरे भव्य आत्मन् ! अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूप में ही तू सन्तुष्ट रह। यह ही तेरा सर्वस्व परिग्रह है, यह तो तेरे में अचिन्त्य निधि है, अनुपम है। बाहर में इसके मुकाबले कुछ है ही नहीं।

1145- सहजात्मतत्त्व की समयसारता-

भैया ! 6 प्रकार के द्रव्य बताये गये, अब उनमें से मानो, एक जीवद्रव्य न रहे, और बाकी 5 द्रव्य रहें, तो 5 की बात कैसे रहे और 5 की सत्ता जाने कौन? व्यवस्था ही कुछ न रहेगी, फिर तो शून्य ही कहलायेगा। यह जीव जाननहार पदार्थ है। इसके ज्ञानबल पर ही सब पदार्थों की शोभा और श्रृंगार हो रहा है। तो इसको समझे कौन? ऐसा है निज समयसार। समय मायने पदार्थ सम्.अयते स्वगुणपर्यायान् गच्छति

इति समयः अपने गुण पर्याय को जो प्राप्त हो उसका नाम है समय। सभी द्रव्यों का नाम है समय। और समय में सार कौन है? आत्मा समयसार मायने आत्मा। याने छहों द्रव्यों में ज्ञानप्रधान व ज्ञानमय होने से यह आत्मा समयसार है, और उस समयसार में भी सार कौन? समयसार तो हुआ, एक जीव पदार्थ उसमें भी सार कौन? यह आत्मा। चलो मान लो आत्मा की विशुद्ध पर्याय, वही सार है याने अनन्त आनन्द। अच्छा वह तो पहले से नहीं है, कभी हुआ है। तो उसमें सार क्या है? कहते हैं कि शुद्ध पर्याय जिस स्वभाव से प्रकट होती है, जिस स्वभाव का आलम्बन लेकर प्रति समय नवीन-नवीन सम सम परिणतियाँ बना करती हैं, वह स्वभाव जो अनादि है, अनन्त है, अहेतुक है वह चैतन्य स्वभाव वह सबमें सार है। तो क्या हुआ? समयसार-सारसार, इतने सार कहने पड़ेंगे क्या ! व्याकरण की एक नीति होती है कि जहाँ बहुत समान शब्द होते हैं वहाँ एक शब्द शेष रहता है। शेष शब्दों का लोप होता है। रह गया समयसार। उसमें कई सार पड़े हैं, वे सब सार लुप्त हैं, एक शेष है, यही हुआ आत्मा का शाश्वत सहज स्वरूप। वह समयसार यही है उसका स्वरूप। इसके अतिरिक्त और मेरा कुछ नहीं है। क्या क्या नहीं है मेरे? ये परिजन मकान धन वैभव ये मेरे नहीं हैं? वाह वाह अच्छी प्रशंसा लूट रहे। जान रहे कि ये संग न जायेंगे, इनको मैं संग लाया नहीं, इन पर मेरा वश नहीं। अब तो सरकारी रजिस्ट्री भी बेकार। आप नगरपालिका से कितने ही मकान नक्शे पास करा लें, भले ही मन में गलती रखकर पास कराया, मगर नगरपालिका ने पास कर दिया। अब बताओ ऐसी क्या गलती हुई जो अब आपके यहाँ सरकार द्वारा ये मकान ढाये जा रहे हैं? तो यहाँ की यह रजिस्ट्री भी फेल हो गई। अभी तो कोई कोई ही रजिस्ट्री फेल होते दिख रही, कुछ ही दिनों में और भी फेल होंगी। परमार्थतः देखो तो सब रजिस्ट्री फेल होती हैं। मात्र आप विकल्प करते हैं कि यह मकान मेरा है, क्योंकि आपने रजिस्टर्ड करा रखा है, मगर इस बात को भगवान नहीं समझ रहे कि यह मकान इसका है। मकान मकान है, यह ज्ञान में है, तुम तुम हो, यह ज्ञान में है, यह किस विकल्प में परिणत हो रहा? यह ज्ञान में है, मगर मकान इसका है, इतना अगर भगवान जान जायें तो आप कभी खुश हो बोल उठेंगे कि हम तो भगवान के बहुत बड़े गुण गायेंगे, क्योंकि अब वह मकान अनन्त काल तक हमसे छूटेगा नहीं। अरे यहाँ कोई सार की बात नहीं, ये बाहरी पदार्थ ये सब पड़े हैं, ये आपके परिग्रह नहीं।

1146- स्वभाव व विभाव में हुए भेदविज्ञान से ही ज्ञानित्व-

देखिये इन पदार्थों के बारे में जो इच्छा बनती है यह इच्छा परिग्रह ही तो दुःख देने वाला है। सो जिसने स्व और पर का भेद किया है स्वभाव और विभाव का भेद किया वह ही वास्तविक ज्ञानी है। भेदविज्ञान वहाँ से होता है। स्वरूप याने स्वभाव और विभाव याने परभाव इनमें भेद जानें तो भेदविज्ञान सही है। बाहर का भेद जानने से भेदविज्ञान सही नहीं है। यों तो बहुत सी बातें रूठ कर भी लोग कहा करते- यहाँ वहाँ कौन किसका? अगर लडके को जोर से मार दिया चांटा बाप ने तो लडका कहता ओ यहाँ कौन किसका? यों तो रूस कर हर एक कोई बकता है। यों तो वहाँ पर भी कुछ बुद्धि लगाकर ही बोलते, इतना

भेद डालकर देहाती लोग या और लोग, अनपढ़ लोग, आवाल गोपाल भेद को बात कहा करते, मगर इस भेदविज्ञान का फल तो शान्ति है, शान्ति उन्हें क्यों नहीं मिलती? देखो, जहाँ क्रोधादिक आस्रव निवृत्त न हों वह भेदविज्ञान ही है। भेदविज्ञान वास्तव में किसी के जगे और उसे अशांति रहे, व्यग्रता रहे, यह बात कभी नहीं हो सकती। भेदविज्ञान यहाँ करना है- मैं सहज स्वरूप क्या हूँ और औपाधिक रस क्या हैं।

1147- अपनी अपनी सम्हाल से ही अपनी अपनी भलाई-

देखो केवल अपनी अपनी ही सब बात सम्हालेंगे तो सब सम्हल जायगा। और, अपनी सम्हाल की भावना न रखे कोई, बाहर में कुछ चाहे, पर की सम्हाल की कल्पना करता हो और चाहे उस प्रकार की एक प्रकृति पड गई हो कि बाहर ही बाहर कुछ से कुछ व्यवस्था बनाता है, सोचता है तो उसे शान्ति कहाँ, धर्मलाभ कहाँ? उसे मैंने नहीं किया। स्वयं ऐसी बात करें, ऐसी व्यवहार व्यवस्था बनायें कि सबका धर्म सध जाय। अब दस लक्षण के दिन आयेंगे, उसके लिए बहुत से प्रोग्राम बनेंगे- यह करना, वह करना, व्यग्र भी होंगे, और कोई कोई मंदकषाय वाले लोगऐसे भी मिलेंगे कि जिनसे कोई कहे कि तुम तो पूजा करते ही नहीं, तुम तो स्वाध्याय करते ही नहीं और व्यवस्था ऐसी ऐसी बना रहे तो उत्तर वह क्या देंगे कि भाई अगर एक मैंने न किया तो क्या हुआ? मैं सबकी व्यवस्था तो बना रहा हूँ। वहाँ भी चलो फायदा है, थोड़ा मंदकषाय है, और दूसरे लोग करें उसे देखकर खुश हो रहे हैं, इसका भी थोड़ा लाभ है। और यदि स्वयं उसमें प्रवृत्त हों, जो वास्तविक धर्मपालन है उसमें उपयुक्त हों तो उसका फिर कहना ही क्या है, उसका बड़ा लाभ मिलता है। हमारे गुरुजी ने एक घटना सुनायी थी कटनी की। कोई दो भाई थे उसमें बड़ा भाई तो खूब दूकान करे, व्यापार धंधा करे, रोजिगार में अधिक समय दे, और उसका छोटा भाई मंदिर में, स्वाध्याय में, पूजा पाठ में, धार्मिक क्रियाकाण्डों में अधिक समय दे। तो एक बार उस छोटे भाई ने अपने बड़े भाई सं कहा- भैया तुम तो सदा दूकान धंधे में फंसे रहा करते, धर्म का काम करने के लिए कुछ भी समय नहीं निकालते...तो वह बड़ा भाई बोला- देखो हम तुमको धर्म का काम करने में कुछ दखल नहीं देते, हम तुमसे और कुछ काम करने के लिए कभी कहते नहीं तो यह हमारा काम धर्मपालन है क्या? आखिर ऐसा ही बहुत दिनों तक चलता रहा। उन दोनों में सबसे पहले छोटे भाई का मरण हुआ। तो जब वह छोटा भाई मरणासन्न दशा में था उस समय अपने बड़े भाई से बोला- भैया अब तो हम आपसे सदा के लिये विदा हो रहे, आप हमारे इन बाल बच्चों का ध्यान रखना, इनका इन्तजाम रखना...तो वहाँ बड़ा भाई बोला- अरे यही धर्म किया जिन्दगी भर। मोह ममता अभी भी बसी हुई है। अरे अब तो अपनी मोह ममता तजो, विवेक से काम लो। यदि तुम्हें विश्वास न हो तो मैं अपना सब कुछ तुम्हारे बाल बच्चों के नाम लिखे देता हूँ। मैंझोंपड़ी में रह लूँगा, यह मुझे स्वीकार है। तुम अब किसी भी प्रकार का शल्य न रखो।...तो भाई किसके परिणाम की बात कौन जानता? जो जितना अपने परिणामों को विशुद्ध रखेगा वह उतना चैन में है। और जो अपने परिणामों में मलिनता रखेगा ईर्ष्या आदिक के भाव रखेगातो उसका फल कोई दूसरा न भोगने आयगा।

इसलिये अपने आप पर दया करके इन बाहरी परिग्रहों से दूर हो लो। इन बाहरी परिग्रहों से दूर न हो पायेंगे गृहस्था। तो भीतर के इन विभावों से, परिग्रहों से, श्रद्धा में तो दूर हों, अटल तो हों कि मेरा ज्ञानमात्र स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी पदार्थ नहीं। ये उपाधि और औपाधिक मेरे परिग्रह नहीं।

1148- पाप पुण्य आदि विभावों से अन्तस्तत्त्व की विविक्तता-

भैया पाप का नाम लेते तो सभी को डर लगता। अभी कोई कह दे कि हम ऐसा-ऐसा पाप करके कमाते हैं और तुम सब खाते हो तो हमारे ये पाप बाँट लो, तो पाप बाँटने का नाम सुनना भी किसी को पसंद नहीं होता। पाप की कमायी खाना तो पसंद है पर पाप को बाँट लेना, स्वीकार कर लेना पसंद नहीं। ये पाप मेरे परिग्रह कैसे बनेंगे? ये पुण्य मेरे परिग्रह कैसे बनेंगे? कार्माण वर्णायें हैं, प्रकट अचेतन हैं, प्रकट जड़ हैं, और इनकी तो बात दूर रहो। पाप का परिणाम यह मेरे में सदा टिकता नहीं और यह औपाधिक भाव है, यह मेरा परिग्रह नहीं। पुण्यभाव शुभभाव ये भी औपाधिक हैं। ये मेरे स्वरूप से उठे हुए नहीं हैं, अर्थात् अनैमित्तिक नहीं है। विभावों का मैं ही निमित्त होऊँ, मैं ही उपादान होऊँ, ये दोनों बातें हों, उस शुभभाव के लिए, ऐसी बात नहीं है। विभावों का उपादान तो मैं हूँ, किन्तु इसका निमित्त मैं नहीं हूँ। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। ये मेरे परिग्रह कैसे? ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर जो कुछ बुद्धि प्रकट हुई है, जितना विचार बनता है, यह विवेक, यह बुद्धि, यह चतुराई, यह तो होगी आपकी? नहीं नहीं, यह भी मेरी नहीं है, यह तो क्षायोपशमिकभाव है। जो एक मुझे सामान्य तत्त्व है उसके साथ विभाव तो लगा हुआ है। रागद्वेष के सम्पर्क से स्थिति ऐसी बनी है...अच्छा लो, जितना ज्ञान है सही एक जाननमात्र उस नाते से, यह विज्ञान तो तुम्हारा होगा?...नहीं नहीं, इतना ही मेरा विकास नहीं। यह तो मेरा स्वरूप नहीं। यह मेरा परिग्रह नहीं। तो ऐसा ज्ञान हो जायगा कभी तब तुम कुछ खुश हो लोगे कि यह है मेरा परिग्रह? नहीं, यह भी नहीं मेरा परिग्रह। केवलज्ञान भी मेरा परिग्रह नहीं, मेरा स्वरूप नहीं। वह अनादि है, मैं अनादि हूँ। तब फिर क्या? वह केवलज्ञान पर्याय जिस स्वभाव के अनुरूप है वह स्वभाव अनन्त है, अहेतुक है, वह मेरा स्वरूप है। इसके अतिरिक्त बाहर में मेरा कुछ भी परिग्रह नहीं। इसका अभ्यास बने, यह मददगार होगा। बाकी केसी दूसरे का सहारा लेना यह कभी मददगार नहीं हो सकता। तो धन वैभव ये मेरे परिग्रह नहीं। लोग कहते हैं कि चाँदी का भाव क्या है। बताओ चाँदी में भी कोई भाव होता है क्या? यदि होता है तो फिर पूछने की जरूरत क्या? देख लो उस चाँदी को खूब उलट पलट कर। यदि कहीं उसमें भाव मिल जाय तो बताओ। ऐसे ही सोने का भाव, रत्नों का भाव, तो यह भाव उनमें भरा है क्या? अरे उनके सम्बंध में लोगों के क्या भाव हैं, क्या ख्याल हैं, यह बात पूछी गई। उन सोना चाँदी आदिक पत्थरों में कोई भाव भरा नहीं है, बल्कि उनके बारे में लोगों के जो भाव हैं जो ख्याल हैं वही उनका भाव कहा जाता है। सब कुछ यहाँ से बात है, बाहर से बात नहीं है। अब यहाँ के स्वरूप को देखो और इसी में रत हों, हमें यहाँ से ही सन्मार्ग मिलेगा, बाहर में भटकने से इसे सन्मार्ग नहीं मिल सकता।

कलश 146

पूर्वबद्धकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।

तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥146॥

1149- पूर्वबद्धकर्मविपाकवश उपभोग होने पर भी ज्ञानी के रागवियोग होने से उसके परिग्रहत्व की अप्राप्ति-

ज्ञानी जीव सभी प्रकार के परद्रव्यों के भावों को नहीं चाहता, परभावों को नहीं चाहता। न चाहे तो, उसके परिग्रह तो न रहा। परिग्रह तो चाह से ही होता है, तब एक आत्मा के शुद्ध मायने एकत्वविभक्त चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी भाव में मैं हूँ, ऐसा मिथ्या अनुभव करने में समर्थ न रहा ज्ञानी। जैसे कि अज्ञानी अपने सहज स्वरूप में वह मैं हूँ ऐसा अनुभव करने में समर्थ नहीं है। ऐसे ही ज्ञानी भी परभाव को यह मैं हूँ ऐसा अनुभव करने में समर्थ नहीं है। जैसे वृक्ष की डंठल से फल टूटा तो अब उस फल को कोई जबरदस्ती डंठल में जोड़ तो नहीं सकता ऐसे ही जब जीवभाव से जीवस्वरूप से इन विभावों को न्यारा समझ लिया, अनुभव करके भी, मान लिया, अनुभव किया। एक सहज एकत्व विभक्त अंतः पदार्थ में उपयोग होने से जो आत्मीय आनन्द बना और उसके अनुभव के बाद जो समझ बनी कि ये विभाव पर हैं वे परभाव को यह मैं हूँ ऐसा अनुभव नहीं कर सकते, फिर भी बहुत समय पहले वे जो जो बांधे हुए कर्म हैं उन कर्मों का जब विपाक आता है तो ज्ञानी जीव के उपयोग में प्राप्त तो होता है जैसे चतुर्थ गुणस्थान में, पंचम गुणस्थान में, छठे में भी पदवी अनुसार भोगोपभोग की बात आती है मगर श्रद्धा से जो एकत्वविभक्त को परख बनी, उसकी भक्ति में, उसकी स्मृति में यह निरन्तर चलता है सो प्रतीति में तो राग वहाँ नहीं हो पाता।

1150- राग होने पर भी राग न होने का तथ्य-

देखिये- कैसा एक खेल खेलने जैसी बात है कि राग बिना भोग नहीं होता और ज्ञानी का भोग राग बिना हो रहा। ज्ञानी का भी भोग है वह राग बिना नहीं हो सकता, फिर भी ज्ञानी का भोग राग बिना होता है, दो बातों का कैसा समन्वय? मुनि महाराज भी आहारचर्या को उठते तो क्या वे अटपट उठते, उनके इच्छा नहीं होती क्या? वहाँ इच्छा का अभाव तो नहीं है, ऊपर के गुणस्थान तक भी इच्छा के सद्भाव का तो वर्णन किया है मगर वह सब इच्छा बिना इच्छा के है इच्छा से किया और इच्छा बिना किया, ऐसा दो का समन्वय किया है उपभोग करने वाले ज्ञानी ने। जो इच्छा है वह चारित्र मोहकृत है। इच्छा का अभाव है दर्शनमोह के अभाव वाला। अध्यात्मशास्त्रों में जितना वर्णन होता वह बुद्धिपूर्वक का वर्णन हो। हाँ बुद्धिपूर्वक तथ्यों का वर्णन करणानुयोग करता है। जहाँ एक एक समय का निर्णय है और करणानुयोग ही तो कहता है कि लोभ कषाय 10 वें गुणस्थान तक है, चरणानुयोग कहता कि लोभ कषाय कुछ न कुछ छठे गुणस्थान तक है, 7 वें में

अप्रमत्त होता। तो द्रव्यानुयोग या अध्यात्मशास्त्र कहते कि ये कषाय तो चौथे गुणस्थान में नहीं, तो इसका मतलब ही क्या? क्या ये जुदे-जुदे मत हैं? दर्शन तो एक ही है, वहाँ अपेक्षा की दृष्टि लगानी होती हैं। बुद्धिपूर्वक कषाय नहीं है ज्ञानी के याने ये कषाय मैं हूँ, इनसे ही मेरा बड़प्पन है, इनसे ही हमारा महत्त्व है, प्रभाव है, इससे मैं सुखी रहूँगा, यह अज्ञान की बात नहीं रहती ज्ञानी के। तो बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोह नहीं है इसलिए ज्ञानी निराश्रव है और एक बार स्पष्ट शब्दों में भी बता दिया- यतो हि ज्ञानी बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहानामभावान्निराश्रवः। समयसार में आत्मख्याति टीका में तो आया है, इसमें अधिक उलझन में नहीं पड़ना अपने को। अर्थात् सब काम बुद्धिपूर्वक निर्णय में बनाना है, बुद्धिपूर्वक गलती न हो, बुद्धिपूर्वक आस्रव न हो, विकार न हो, यह ही तो प्रयोग में आयगा, यह ही तो पौरुष बनेगा, इतने से ही तो हमें काम है, इसलिए यह ही बात बनावें, यह ही काम किया जाय।

1151- पूर्वबद्धकर्मविपाक से उपयोग का विशिष्ट भवन-

इस जीव ने पहले जो कर्मबन्धन किया उसका अब यह उदयकाल आया। उस उदयकाल में जैसे सातावेदनीय के उदय में दो काम होते- बाह्य पदार्थों का संगम होना और इन्द्रिय द्वारा भोग की पद्धति अनुभूति बनना, जैसे धवल में स्पष्ट बताया और उदाहरण दिया कि अनन्तानुबंधी कषाय के दो काम हैं- (1) सम्यक्त्व का घात करना और (2) चारित्र का घात करना। ऐसे ही समझ लीजिए। जब पूर्वबद्धकर्म उदय में आये, स्थिति उसकी पूर्ण हुई तो उदय कहलाया, स्थिति पूरी हुए बिना पहले ही विपाक आये तो उदीरणा कहलाती है। देखो दो बातें होती हैं- (1) ज्ञप्ति और (2) निष्पत्ति। ज्ञप्ति के मायने भगवान ने तो देखा, देखा भी क्या? जो जिस विधान से होना है वह देखा। अब चूँकि देखा तो उसके निर्णय के बाद यही तो कह सकेंगे कि भगवान ने जो जाना सो होगा। और यह कहते भी आये कि जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरारे। जब जब जहाँ जैसा जिसका जो कुछ प्रभु द्वारा ज्ञात है सो होगा। यह ज्ञप्तिनय से कहा जा रहा है। पर निष्पत्ति से देखेंगे तो वह विधिविधान, यह पद्धति वह सब समझ में आयगी। देखो वहाँ हुआ क्या? चाहे निष्पत्ति वाली बात बोलो, चाहे ज्ञप्ति वाली बात बोलो, वस्तुस्वातंत्र्य सर्वत्र अमिट है। कहीं निष्पत्तिनय से यह वर्णन सुनकर कि जब जीव के राग प्रकृति का उदय है तो यहाँ जीव में रागविकार हुआ, ऐसा सुनकर कहीं यह न आयगा कि रागप्रकृति ने जीव में परिणमन बनाया। प्रकृति में अपना परिणमन भी करे और जीव की विकार परिणति भी करे, ऐसा नहीं है। निमित्त की उपस्थिति का अर्थ इतना है कि वह एक ऐसा वातावरण है कि वहाँ यह उपादान अपनी कला से अपने में विकाररूप प्रभाव बनाता है। सर्वत्र आप यही पायेंगे, तब ही तो यह कहा गया कि निमित्त से जीवविकार नहीं होता और निमित्त बिना जीवविकार नहीं होता। दोनों का तथ्य तो परखना चाहिए।

1152- कर्मविपाक के उदय की घटना-

यह पूर्वबद्ध कर्मविपाक उदय में आया मायने कर्म में स्वयं जो अनुभाग पड़ा है, उसमें ही वह अनुभाग फूट गया। जैसे कोई चुने का डला है तो वह कितनी देर तक ठहरेगा? मानो खूब सुरक्षित रखा जाय, उसमें कुछ हवा, पानी वगैरह न लगने दिया जाय तो मानो इसकी म्याद 6 महीने तक की रह सकती है। 6 महीने बाद वह डला फूट जायगा। और मानो आज ही तो वह डला बना और आज ही उस पर पानी डाल दिया गया तो वह डला तुरन्त फूलकर खतम हो गया। तो अपने समय पर विपाक आना यह तो उदय है और समय से पहले विपाक आ जाना उदीरणा है। ज्ञप्तिनय की दृष्टि में तो सब समय पर हुआ क्योंकि प्रभु ने जाना, इस प्रकार यह हुआ...तो सब समय पर है। मगर निष्पत्तिनय से देखें तो यह सब आपको समाधान मिलेगा कि यह समय पर है या यह समय से पहले है, पर सब कुछ समझने के लिए एक जरा दृढ़ता यह होनी चाहिए कि जब निष्पत्तियों को सुनेंगे, समझेंगे तो बीच में ज्ञप्ति की बात न मिलायें। ज्ञप्ति से कुछ समझें तब निष्पत्ति की बात न लायें तो बराबर व्यवस्थित हो जायगा। जब दो चीजें सामने रखीं तो एक प्रतिपक्ष हुआ, एक पक्ष। ज्ञप्तिनय से सिद्ध करेंगे तो वह पक्ष, निष्पत्तिनय से सिद्ध करें तो वह प्रतिपक्ष। निष्पत्तिनय से सिद्ध करेंगे तो वह पक्ष और ज्ञप्तिनय से सिद्ध करेंगे तो वह प्रतिपक्ष। तो सभी जगह स्याद्वाद शासन की यह नीति अतिकान्त न की जाना चाहिए कि प्रतिपक्षनय का निर्णय समझकर, प्रतिपक्षनय का विरोध न कर प्रतिपक्षनय की बात को असत्य न कहकर प्रतीति में लें, जानकारी में लें वह भी है और प्रयोजनवश पक्ष की, विवक्षित की मुख्यता करें और उसको उस प्रकार समझें।

1153- प्रतिपक्षनय का विरोध न कर विवक्षित नय की प्रसिद्धि की नीति का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन-

जैसे जीव नित्य है, नित्य नहीं है ये दो तथ्य जीववस्तु के विषय में कहते हैं। वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होती है। गुणों को तो आप भेद करके समझते सो चाहे एक बार गौण कर दें, क्योंकि गुणों का भाव स्वभाव से लिया है। स्वभाव के भेद को ही गुण कहा करते हैं। जो एक अविकल्प स्वभाव है उसको भेद करके बताने का नाम गुण कहलाता है। तो गुण को तो चाहे एक बार गौण कर दें, बस अभेद करना, हमें तो अखण्ड निरखना है। स्वभाव देख लिया, यह हुआ द्रव्यस्वरूप। पर साथ में पर्याय को कभी मना नहीं कर सकते, क्योंकि द्रव्य में प्रतिसमय पर्याय होती है इसलिए द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु है। जब पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है तो द्रव्यदृष्टि से बात बताओ। पर्यायदृष्टि से बात बताओ। जीव का निर्णय क्या बना है तो द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है पर्यायदृष्टि से जीव नित्य नहीं है, याने अनित्य है। अनित्य नहीं है ऐसा अगर बोला जाय तो वह पर्यायदृष्टि का मंतव्य न रहा वहाँ द्रव्यदृष्टि ही रही, क्योंकि दोनों का अर्थ एक है। द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य है, अनित्य नहीं है, यह द्रव्य दृष्टि के अन्दर का निर्णय है, न कि स्याद्वाद का, प्रमाण का? एक दृष्टि से भी तो पक्का निर्णय पड़ा रहता है। अभी 7 भंग कहे गये हैं उनको सुनकर कोई ऐसा सोचे कि ये स्याद्वादी तो संशयवादी हैं, देखो अभी कहा कि जीव नित्य है, अभी कहा कि नित्य नहीं, यह तो संशयवाद है, इसका कोई निर्णय ही नहीं। इस शासन का कोई निश्चय ही नहीं। किन्तु भैया, जो स्याद्वाद के 7 भंग हैं उनका जिन्होंने गहराई

से अध्ययन किया है वे समझेंगे कि प्रत्येक भंग में निर्णय पड़ा हुआ है, निश्चय पड़ा हुआ है कि ऐसा ही है, जैसे पहला भंग क्या है? स्यात् अस्ति एव, अच्छा नित्य के प्रसंग में ले लो- जीवः स्यात् नित्य एव, यह है पहला भंग। उसमें संशय नहीं पड़ा है। यहाँ स्यात् मायने है दृष्टि से। सो यहाँ बात यह पड़ी है कि जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य ही है। यहाँ संशय नहीं है। द्रव्य दृष्टि से नित्य ही है। अब इसकी दूसरी प्रतिफलित आवाज क्या है? द्रव्यदृष्टि से अनित्य नहीं है, यह एक द्रव्यदृष्टि का ही निर्णय है, प्रमाण का निर्णय नहीं, स्याद्वाद का निर्णय नहीं। स्याद्वाद के एक अंग का निर्णय है। प्रत्येक भंग में निर्णय पड़ा हुआ है।

1154- स्याद्वाद में सनिश्चय निर्णय व स्याद्वाद के प्रत्येक भंग में निश्चय-

कौन कहता है कि स्याद्वाद संशयवाद है। स्याद्वाद के तो एक-एक भंग में निर्णय पड़ा हुआ है, मगर ध्यान यह दें कि यह भंग के निर्णय में दृष्टि बोलनी ही पड़ेगी दृष्टि बोले बिना भंग का निर्णय निश्चय से बनना तो ठीक नहीं बैठता। जैसे स्यात् को तो हटा दिया मायने द्रव्य दृष्टि से, इतना शब्द तो हटा दें और बोलें कि जीव नित्य ही है तो अब यह स्याद्वाद न रहा, यह ब्रह्मद्वैतवाद हो गया। अपरिणाम वाद हो गया, सांख्य शासन हो गया, और जहाँ दृष्टि देकर पक्ष है, जीव द्रव्यदृष्टि से नित्य ही है, तो वह स्याद्वाद का अंग याने भंग बन गया। एक अब लौकिक दृष्टि से बात लो, तीन आदमी सामने बैठे हैं, अब हम किसका नाम लें? मान लो, रामू, मोहन और सोहन ये तीन नाम ले लिया तो इनमें रामू तो बाबा है, मोहन रामू का लड़का है और सोहन मोहन का लड़का है, अब हम यहाँ मोहन का परिचय करना चाह रहे हैं तो वहाँ क्या कहा जायगा कि रामू की अपेक्षा से यह मोहन लड़का है। अच्छा जरा निर्णय दृढ़ता से बोलो मोहन रामू की अपेक्षा से लड़का ही है। बतलाओ इस निर्णय में कोई गलती है क्या? नहीं। अच्छा अब हम रामू को हटा दें, न बोलें और कहें कि यह मोहन लड़का ही है, अब इस तरह वहाँ वे दो अगल बगल है और समझ ऐसा भी सकते कि यह मोहन सोहन का लड़का है तो वहाँ झगड़ा हो जायगा ना। तो वहाँ दृष्टि सहित बोलने से धर्म का निर्णय आता है, और दृष्टि को छोड़कर बोलने से निर्णय नहीं आता। अगर दृष्टि छोड़कर एवकार लगाते जायें तो एकान्त हो जाता है। अब वह चाहे क्षणिकवाद बने चाहे अपरिणामवाद बने।

1155- स्याद्वाद में धर्म के निश्चय में दुमुही सहयोग-

स्याद्वाद की परख यह है कि जीवः स्यान्नित्यएव, स्यात् अनित्य एव, द्रव्यदृष्टि से देखें तो जीव नित्य ही है, पर्यायदृष्टि से अनित्य ही है। वहाँ जीव में विवक्षित धर्म के परिचय में संशय का या ढील का अवसर नहीं है। द्रव्यदृष्टि से जीव नित्य ही है पर्यायदृष्टि से जीव नित्य कभी होता ही नहीं है, पर्यायदृष्टि से अनित्य ही है, ऐसा निर्णय बन गया। देखो स्यात् और एव के बीच में धर्म का नाम रखा है। वैसे पहाड़ पर कोई एक ऊँची नीची रेल की पटरी हो, जैसे शिमला की रेलवे लाइन हैं ना ऊँची नीची, तो पहले तो उसमें दो इञ्जन लगते थे एक आगे और एक पीछे। अब तो कोई तीन चार डिब्बे की ट्रेन रहती और एक ही इञ्जन लगता। तो बात कह रहे हैं दो इञ्जन लगने की। जब गाड़ी में आगे और पीछे दो इञ्जन लगते तो सोचना वहाँ यह है कि दो

दो इञ्जन क्यों लगते? तो बताया कि इसलिए कि कहीं वह गाड़ी ऊँचे नीचे में गिर न जाय इसलिए एक इञ्जन तो गाड़ी के साधने का काम करता और एक इञ्जन गाड़ी को आगे बढ़ाने का काम करता। तो ऐसे ही समझो कि सभी नयों के धर्मों के पीछे आगे स्यात् और एव ऐसे मानो दो इञ्जन लगे हैं, किसी चीज को पहिचानने के लिए अब द्रव्यदृष्टि से देखो तो वहाँ ऐसा निर्णय पड़ा कि जो अनुलोम प्रतिलोमविधि से कहने पर अनेकांत सा जंचता है। द्रव्यदृष्टि से जाना कि नित्य ही है, अनित्य नहीं है, है वह एक दृष्टि की ही बात। प्रमाण की बात न रही, इससे जीव का पूरा व्योरा नहीं बनता। जीव का द्रव्यदृष्टि का जो कुछ व्योरा बनता, वहाँ उस दृष्टि का निःसंशय निर्णय पड़ा हुआ है, और उस निर्णय में जो दृढ़ता है वह एक दृष्टि की है, क्योंकि वह एक भंग है इसी प्रकार अन्य धर्म व दृष्टि की बात समझ लेना।

1156- तथ्यपरीक्षण के चार प्रकार-

अच्छा पूर्ण वस्तु का निर्णय 7 अंग मिलाकर बोलो, दो अंग मिलाकर बोलो, तीन में बोलो। प्रयोजनवश जितने से प्रसंग बन जाय बोलो। अगर वस्तुधर्म में तीन हैं स्वतंत्र तो उनमें 7 अंग बनते हैं। जैसे कुछ भी आप तीन चीजें ले लीजिए- नमक, मिर्च, खटाई अब इन तीनों के अलग-अलग स्वाद होंगे- नमक का अलग, मिर्च का अलग और खटाई का अलग, चौथा नमक मिर्च मिलाकर, 5 वां नमक खटाई मिलाकर, छठवाँ खटाई मिर्च मिलाकर और 7 वाँ नमक, मिर्च, खटाई ये सब मिलाकर, इस तरह ये 7 प्रकार के स्वाद बनते हैं। तो जब तीन धर्म सामने है- नित्य, अनित्य, अवक्तव्य, तब उन तीन के भंग बनेंगे तो 7 बनेंगे। वह ठीक है, पर प्रयोजन में जल्दी समझने के लिए दो का प्रयोग कर लो। द्रव्यदृष्टि से नित्य ही है, पर्यायदृष्टि से अनित्य ही है, और दोनों ही अंग हैं वस्तु के। द्रव्यशून्य पर्याय नहीं, पर्यायशून्य द्रव्य नहीं, तब दोनों बातें एक साथ समझते हैं और दोनों बातें समझ चुकने के बाद दोनों को छोड़ते हैं, एक को छोड़ना, सबको छोड़ना। नय और प्रमाण दोनों से अतीत हो, देखो अनुभव पाने के लिए नय, निरपेक्ष प्रमाण जहाँ ये अस्त को प्राप्त होते हैं, ऐसी दशा होती है, वह है अनुभूति। हम चार तरह से देख सकते हैं- केवल दाहिनी आँख से देखें, केवल बायीं आँख से देखें, दोनों आँखें खोलकर देखें, दोनों आँखें बन्द करके देखें... आप कहेंगे कि दोनों आँखें बंद करके कैसे दिखेगा? सो दोनों आँखें बंद करके भी दिखता, जो भी दिखे वह बात एक अलग है, ऐसे ही दो दृष्टियाँ हैं- (1) द्रव्यदृष्टि और (2) पर्यायदृष्टि। पर्यायदृष्टि को गौण करके द्रव्यदृष्टि से निरख लो, द्रव्यदृष्टि को गौण करके पर्यायदृष्टि से निरख लो, द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि इन दोनों से निरख लो, और द्रव्य पर्याय दोनों दृष्टियों को बंद करके निरख लो। द्रव्यदृष्टि से देखा कि नित्य है, पर्यायदृष्टि से देखा कि अनित्य है, दोनों दृष्टियों से देखा कि अवक्तव्य है, और दोनों दृष्टियों को बंद करके देखा तो मिला सहज स्वरूप का अनुभव।

1157- सर्व उपदेशों का लक्ष्य स्वभावाश्रय के पौरुष में जुटाव-

देखो जितना भी आगम में उपदेश है चाहे नय से बताओ, प्रमाण से बताओ, किसी ढंग से बताओ, सबका उद्देश्य है कि यह जीव किसी प्रकार स्वभाव का आश्रय करे। स्वाभावाश्रय के लिए समस्त उपदेश है। प्रथमानुयोग हो, कथा हो, करणानुयोग की बातें हों, सभी का उद्देश्य है स्वभाव का आश्रय मिले। परपदार्थों का विकल्प करके, जुट करके, इनका आश्रय करके तो अब तक संसार की परम्परा ही बढ़ायी। इसमें अपने आपके आत्मा का वास्तविक आनन्द नहीं मिला। तो सब उपदेशों का तथ्य यह निकालें और कोशिश यह करें कि स्वभावाश्रय हो। इस लक्ष्य के लिये जिनवाणी की भक्ति अधिकाधिक बनी रहे। जैसे द्रव्यदृष्टि के देखने से हमको सुविधा अधिक मिलती है तो पर्यायदृष्टि के तथ्य को कहा जाय कि यह असत्य है बात, झूठ है बात, यह जिनवाणी की भक्ति नहीं। पर्यायदृष्टि से भी परीक्षा करने पर यह भी कुछ मौका मिल सकता कि जिसके बाद शुद्धनयपूर्वक स्वानुभव बन ले। जैसे पर्यायदृष्टि से ऋजुसूत्रनय से देखते कि पर्याय एक समय में है, अपने समय में है, वहाँ दूसरा कुछ नहीं है। वह अपने आपमें हैं, उसका कोई कारण नहीं, कार्य नहीं। पर्यायदृष्टि से जब हम पर्याय की ऐसी दृष्टि करते कि ये अहेतुक हैं पर्यायें, क्योंकि पर्यायदृष्टि में जो सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय है उसकी दृष्टि से देख रहे हैं कि जिसका एकान्त करके बौद्धमत निकला है वहाँ पर्याय की जगह पदार्थ शब्द मिलेगा। यहाँ हम पर्याय कहते हैं। क्यों पर्याय कहते कि हम द्रव्यदृष्टि की भी तो प्रतीति लिए हुए हैं इसलिए हमारा ऋजुसूत्रनय का वर्णन एकांत न कहलायेगा। अगर हम उस प्रतीति को तज दें तो जो बोद्धों की स्थिति है सो ही ऋजुसूत्रनय के एकान्त की ही है। तो पर्यायदृष्टि से, सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय से जब देखा तो वहाँ विकल्पबाहुल्य का स्थान नहीं है तब अविभागी निरंशसे अखंड निरंश पर आकर स्वभाव का आश्रय करने का, पर्याय का व्यामोह हटाने का अवसर प्राप्त होता है। चलो उससे ही काम निकालें। जिसको जिस तरह काम चलाने की सुविधा है वह उस तरह काम निकाले। इसमें कोई विरोध की बात नहीं। ऋजुसूत्रनय की प्रधानता से अपने प्रयोजन में आगे बढ़ें, बढ़ें चलें इसी तरह। विवाद का कहीं स्थान नहीं बनता। स्याद्वादविधि से चलने पर विवाद का कहीं अवकाश नहीं, विवाद का कहीं स्थान नहीं। सब ठीक ठीक समझते जावो और अपने उद्देश्य में लगे। इस स्वभाव का आश्रय करके मैं अपने उपयोग को वहाँ रमाऊँ, ऐसा ही ज्ञान पाऊँ कि जो निर्विकल्प अखण्ड सहज सत्त्व के कारण जो मेरा सहज चैतन्यस्वरूप है उसमें चिपक सकूँ, उसमें लग सकूँ, यह मैं हूँ ऐसा अनुभव बन सहे, यह काम करने को पड़ा है जीवन में।

1158- पराश्रय से हटकर स्वभावाश्रय करने में ही दुर्लभ क्षणों की सफलता-

अगर अन्य अन्य बातों में ही ममता करके- यह मेरा पुत्र, यह मेरा वैभव, यह मेरा अमुक, इस तरह की अहं बुद्धि लगाकर हम जीवन बिता डालें तो हमारा जीवन सफल नहीं कहलायेगा। उद्देश्य एक रखना स्वभाव का आश्रय करना जिनवाणी के प्रत्येक वाक्य से स्वभावदृष्टि का मार्ग मिलता है इसलिये जिनवाणी में भक्ति रखता और वहाँ सर्व उपदेशों से अपने आपके स्वभाव का आश्रय करना यह हम आपका परमावश्यक कर्तव्य है। हम उन सब आचार्यों के उपदेश पढ़ते हैं वे सब निष्फल नहीं जाते। उनमें एक प्रेरणा बसी हुई है स्वभाव

का आश्रय करने के लिए। उसकी भक्ति तो चाहिए, जिस जिस पुरुष का सौभाग्य है, जिसे अपने स्वरूप का निर्णय है वह एक 8 वर्ष के बालक की कविता में भी कभी जिनवाणी की बात सुन रहा हो जैसे बारह भावनायें वगैरह सिखा दिया करते ना, छोटे-छोटे बालकों को, तो उन बालकों के मुख से कविता सुनकर भी श्रोता अपने आपके स्वरूप का आश्रय पा लेने का पौरुष बना लेता है। अन्तरात्मा ने अपने आपका ऐसा निश्चय बनाया कि मैं चैतन्यस्वभाव मात्र हूँ, अन्य विभावरूप नहीं, परभावरूप नहीं, ये तो मेरे को सताने आये हैं, ये परभाव मेरे प्यार के लिए नहीं हैं, ये तो मेरी बरबादी के लिये है, ये मेरे लिये दुःखरूप हैं, ये तो दुःख के ही हेतुभूत है। आप समझ लो कि इन सब विकल्पों को, इन सब ख्यालातों को, इन सब विभावों को हटाना ही चाहिए। इन सबसे विविक्त अपना जो एक शुद्ध अन्तस्तत्त्व है उसका आश्रय लें। वही हमारा सर्वस्व है। एक बहुत मोटी सी बात कही है कि जहाँ विकल्प हैं, जहाँ ख्यालात हैं, जहाँ जो कल्पना है वह मेरा रूप नहीं। साधु संतों ने अपना यह निर्णय बताया है कि यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्। पूर्वं में जो जो आचरण किया वे सब अज्ञान में हुए।

1159- सर्व विश्लेषणों की पारंगतता होने पर अटकाव का अनवसर-

भैया, अज्ञान की भी स्थितियाँ हुआ करती हैं। ज्ञान होकर भी अज्ञान, ज्ञान जरा न रहकर भी अज्ञान। सबकी अलग अलग व्यवस्था, सबके अलग अलग विश्लेषण। उन विश्लेषणों में पारंगतहोने से विकल्पों में अटकाव नहीं आता मगर सुन रखा कुछ बात है और कुछ उससे अटकाव होता। सहारनपुर की एक घटना है। एक लडके के पास कोई खोटी चवन्नी थी, वह चवन्नी बहुत दिनों से चल नहीं रही थी। समय की बात कि एक दिन वह चवन्नी चल गई, याने एक हलवाई की दूकान में 1 आने ही मिठाई उस लडके ने खरीदी तो हलवाई ने चवन्नी रख ली और तीन आने पैसे फेर दिये। वह लडका मारे खुशी के यह कहता हुआ भागा कि चल गई चल गई चल गई। उसका प्रयोजन तो यह था कि चवन्नी चल गई। पर हुआ क्या कि उस समय हिन्दू मुसलिम सामुदायिक दंगे फसाद लड़ाई बहुत चल रही थी सो दूकानदारों ने समझा कि हिन्दूमुस्लिम झगड़ा चल गया, गोली लाठी चल गई। सो अब दूकानदार अपनी अपनी दूकानें बंद करके अपने अपने घर में घुस गए। तो भाई मूल बात का यथार्थ पता न होने से, सही सही रहस्य का पता न होने से बीच में एक अटक हो जाया करती है। और जब तक यह अटक रहती है तब तक इस जीव को दुःखी होना पड़ता है। जब सब प्रकार का निर्णय को जाता है तो फिर कहीं भी अटक नहीं होती।

1160- शुद्धनयविज्ञानपूर्वक स्वानुभव की विधि की उत्थानिका-

जैसे बताया गया है कि शुद्धोपयोग जिसके होना है तो शुभोपयोग के बाद ही होता है, अशुभोपयोग के बाद अनन्तर शुद्धोपयोग नहीं होता इसी प्रकार यह समझिये कि जिसको स्वानुभूति नहीं और स्वानुभूति होने को है तो जिसके स्वानुभूति होती है उसको शुद्धनय के प्रयोगपूर्वक होती है। शुद्धनय को छोड़कर स्वानुभव का कोई उपाय नहीं है और वह शुद्धनय क्या चीज है? पर से विविक्त निज में समस्त एक अखण्ड तत्त्व,

जिसको कहो अवक्तव्य, उसे ज्ञान में लीजिये, वचनों से न बोला जायगा। ऐसा खैर एकान्त नहीं, वचन से बोलते ही है अवक्तव्य, सो सर्वथा अवक्तव्य नहीं हुआ करता। वह भी कथञ्चित् अवक्तव्य होता, मगर उसका जो वेग है, उसकी जो सही बात है वह वचनागोचर है। अब देखो शुद्धनय किसके पूर्वक होता? उसके पूर्व कुछ भी सुनयों की स्थितियाँ हो जाती हैं। इस बात को आप कुछ इन विभागों में रखें- परम शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चय नय, अशुद्ध निश्चयनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय और इसके अन्तर्गत और भी कितनी ही तरह की बातें हैं। अब किस प्रकार होता है? तो देखो उपचार में तो गुंजाइश नहीं। उपचार भाषा एक ऐसी भाषा है कि जो परस्वामित्व और परकर्तृत्व की बात लादता है केवल वचनों में। ज्ञानी जीव कदाचित् उपचारभाषा का प्रयोग करता तो है, और उपचार भाषा की मुद्रा ही यह है कि जिसमें परस्वामित्व और परकर्तृत्व की मुद्रा बनती है, मगर ज्ञानी तो प्रयोजन को सोचकर बाकी बात को छोड़ देता है, और अज्ञानी जन उपचार भाषा के शब्दों को उसी रूप से उपादान उपादेय भाव से लगाते सो वह मिथ्या होता है। अतः इसकी बात तो रहने दीजिये इससे शुद्धनय में जाने की प्रेरणा नहीं मिलती। और उपचारनय भी नहीं है। यहाँ एक बात समझना, सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय एक पर्यायार्थिकनय है। तब इतने नयों का आपको विचार करना है- परम शुद्धनिश्चयनय, शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय, व्यवहारनय और पर्यायार्थिकनय, याने ऋजुसूत्रनय उसमें भी सूक्ष्मऋजुसूत्रनय। इसमें व्यवहारनय एक द्रव्यार्थिकनय का भेद है। नैगम, संग्रह, व्यवहार। व्यवहार केवल पर्याय को नहीं लेता, किन्तु पर्यायसंयुक्त द्रव्य को मुख्य लेता हुआ वह विवरण करता है। जबकि ऋजुसूत्रनय पर्याय को मुख्य लेकर विवरण करता है।

1161- सूक्ष्मऋजुसूत्रनयतत्त्वपरिचयपूर्वक हुए शुद्धनय के अनंतर स्वानुभव की संभवता-

अब लो, ऋजुसूत्रनय से ही शुरू करें। सूक्ष्मऋजुसूत्रनय से यह जाना कि एक पर्याय, कैसा पर्याय जाना? निरंश। देखो निरंश दो तरह से जाना जाता। (1) अविभाव निरंश और (2) अखण्ड निरंश। अविभाग निरंश तो ऋजुसूत्रनय का विषय है याने इतना काल का अंश लिया जाय जो एक समय वाला हो, जिसमें फिर और विभाग ही नहीं किया जा सकता। स्थूल ऋजुसूत्रनय के विषय में खण्ड होता है, पर सूक्ष्मऋजुसूत्रनय से जहाँ एक समय की चर्चा आयी, उसका ज्ञान तो न कर पायगा यह छद्मस्थ। एक समय की पर्याय का ज्ञान छद्मस्थ नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उपयोग जो परिणत होता है किसी पदार्थ को जानने के लिए उसमें समय असंख्यात लगते हैं। जयधवल में बताया गया है कि स्थिति के आधिक्य में किन-किन स्थानों के बाद किसका नम्बर आता है। सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान में जितना समय लग जाता है उसमें भी अधिक छद्मस्थ के एक उपयोग का समय बताया है प्रायः। उसको कुछ अल्प बहुत्व के प्रकरण में बताया है। तो जब पर्याय है तब उसका जानना छद्मस्थ के उपयोग में नहीं। उसके सम्बन्ध में विचार करता है, उपयोग जोड़ता है तो असंख्यात समय बाद जान पाता है। इस बात को लेकर ही तो बौद्धों ने निर्विकल्पदर्शन और विकल्पात्मक ज्ञान, ये दो भेद बताये है। निर्विकल्पदर्शन तो है उनका प्रत्यक्ष और विकल्पात्मक ज्ञान है

उनका सविकल्प ज्ञान। निर्णय जितने हुआ करते हैं वे सविकल्पात्मक ज्ञान हैं और साक्षात्कार जो होता है वह प्रत्यक्ष से होता है। यह बात बौद्धदर्शन की अपेक्षा बतला रहे हैं। तो उनका मंतव्य है कि हम जितना जो कुछ जान पाते हैं वह सब मिथ्या है, क्योंकि वह विकल्पात्मक ज्ञान से माना जाता है। और, जो वर्तमान सत्य है यह वचन के अगोचर है। वह तो केवल प्रत्यक्षगम्य है निर्विकल्प दर्शन द्वारा प्रतिभास्य है। तो उस निरंश एक समय की पर्याय को हम चर्चा में लाते, बुद्धि में लाते, तर्क में लाते, मगर विशद ज्ञान नहीं कर सकते। तर्क से ही सही, अनुमान से ही सही, एक समय की ही पर्याय जब ज्ञान में ली जा रही हो तब उस विषय का क्या वर्णनहोगा? अहेतुक है, वह किसी कारण से नहीं हुआ। उसका कोई विशेषण नहीं, कार्यकारण भेद होता ही नहीं, विधि भी नहीं, मना भी मत करो, उसका वह विषय ही नहीं, यहाँ विशेषण विशेष्यभाव हो ही नहीं सकता, और यहाँ तक कि कोई व्यवहार ही नहीं बन सकता। सवार्थसिद्धि में ऋजुसूत्रनय का जहाँ वर्णन किया है तो वहाँ शंका की है कि इसमें तो व्यवहारनय का लोप हो जायगा। तो कहा कि होने दो लोप, यहाँ तो नय का विषय बताया जा रहा। किसी बौद्ध के रूई की दूकान हो और वह ईमानदारी से अपने शासन पर चले और कभी उस रूई में आग लग जाय तो वह यह न कह सकेगा कि रूई जल रही है वह रूई नहीं है जो रूई है वह जल नहीं रही है। रूई है सफेद, वह जल कहाँ रही और जो जलने की स्थिति में है वह रूई कहाँ रही। इतना भी नहीं बोल सकते कि कौवा काला है, क्योंकि कौवा सब काला तो नहीं होता, इसके भीतर खून लाल है, हड्डी सफेद है...? क्या जितना-जितना काला होता वह वह सब कौवा है?...नहीं। तो कौवा काला है वह विशेष विशेष्य भी ऋजुसूत्रनय को मंजूर नहीं, कारण कार्यभाव भी मंजूर नहीं। यह तो एक चर्चा की बात है मगर यहाँ एक ढंग देखो कि एक समय की पर्याय विषय में लिया, विकल्प में लिया, सोचा और कुछ ख्याल न किया तो ऐसी स्थिति में जैसे थोड़ी विचित्र बात बोली तो उससे उपयोग स्तब्ध हो जाता। तो ऐसे उस समयमात्र की बात निरखने में उपयोग ऐसा स्तब्ध होता, विकल्प से दूर होता, यद्यपि वह भी एक विकल्प कहलाता, किंतु वह विकल्प ऐसा झगड़ा है कि वह स्थिर न रह पायगा। तो ऐसा चिन्तन करते हुए में विकल्प भी मिटेगा और शुद्धनय का प्रकाश आयेगा और उस पूर्वक स्वानुभव बताया ही गया है, तो यों ऋजुसूत्रनय के विषय का चिन्तन करके भी वह शुद्धनयपूर्वक स्वानुभव में पहुँच सकता, किन्तु पर्यायनय का प्रारम्भ होने से यह उपाय कुछ दुर्गम है।

1162- व्यवहारनयभावपूर्वक हुए शुद्धनय के अनन्तर स्वानुभव की संभवता-

व्यवहारनय की बात लीजिए। व्यवहारनय से विदित हुआ विभावों का परभावत्वा। ये विभाव, ये रागद्वेष विकार, ये सब कर्मोदयविपाकप्रभव हैं, ये परभाव हैं। इनके साथ ही साथ यह भी ज्ञान चल रहा है कि ये स्वभाव नहीं है। और स्वभाव नहीं, यह भी बोल पा रहा है वह जिसने स्वभाव का भी दर्शन किया और वर्तमानभाव का परिचय भी ले रहा है। ये विकार परभाव हैं, स्वभाव नहीं हैं ऐसा चिंतन करते हुए परभावों से

उपेक्षा बनी, स्वभाव की ओरदृष्टि गई। अब स्वभाव पर दृष्टि जाने से उसे अवकाश मिलता है कि वह उस विकल्प से मुक्त होकर शुद्धनय में आये और स्वानुभव प्राप्त करे।

1163- अशुद्धनिश्चयनयतत्त्वपरिचयपूर्वक हुए शुद्धनय के प्रयोग में स्वानुभव की संभवता-

अशुद्धनिश्चय नय की बात लीजिए। अशुद्ध निश्चयनय में निश्चयनय का एक नियंत्रण है कि एक ही वस्तु को देखना, एक में ही देखना, एक का एक में सब कुछ दृष्ट करना। अशुद्ध निश्चयनय में विकार विभाव दिखते तो हैं मगर देखो वहाँ ही एक में मिलाकर, जैसे जीव रागी है, जीव में राग परिणमन है। विश्लेषण करते जावो कि राग इसकी योग्यता से हुआ। वहाँ दूसरा कुछ दिख ही नहीं रहा। अशुद्ध निश्चयनय का तो मुड़ है वह दूसरे को नहीं परख रहा। एक ही को एक में देख रहा, निमित्त हो भी नहीं देख रहा, बस जीव रागी है, जीव में रागपरिणमन है यही मात्र दिख रहा और इस तरह दिखा जैसे कि दर्पण में प्रतिबिम्ब हुआ, वहाँ उन लडकों को नहीं देखा जो पीछे खड़े थे, जिनका निमित्त पाकर दर्पण ने वैसा प्रतिबिम्ब परिणमन किया। इस मूड़ में अन्य कुछ नहीं देखा जा रहा है। यहाँ यह दर्पण ऐसा प्रतिबिम्बरूप परिणमन रहा है, यह जीव ऐसा रागविकाररूप परिणमन रहा है, सिर्फ यह ज्ञात हो रहा है। वहाँ निमित्त पर दृष्टि नहीं, आश्रयभूत पदार्थ पर दृष्टि नहीं। याने विकल्पबहुलता के अवसर जिन जिन दृष्टियों से आते वे वे दृष्टियाँ यहाँ नहीं हैं। एक में ही एक को देखा जा रहा है। ऐसा जब देखा जा रहा तो उस एक नियंत्रण के कारण, और परदृष्टि न होने के कारण उसे ऐसा अवसर मिलता जैसे कि कभी कभी देखा होगा- जाप दे रहे, गुरिया पर हाथ लग रहा और किसी समय झपका आया तो माला गिर गई, विकल्प सो गया। एक नियंत्रण में अशुद्ध निश्चयनय में यह निरखा जा रहा है चूंकि उसके जागृति नहीं है, वेदान्त की भाषा में चलता है जागृति शब्द मोह व्यवहार में। निमित्त में आश्रयभूत में उसका विकल्प नहीं जग रहा है। ऐसी स्थिति में वहाँ एक अवसर ऐसा आयगा कि यह भी विकल्प छूटेगा इस नियंत्रण के कारण। सो वहाँ एक शुद्धनय का प्रकाश जगा कि स्वानुभूति बनी।

1164- शुद्धनिश्चयनयतत्त्वपरिचयपूर्वक हुए शुद्धनयप्रयोग में स्वानुभव की संभावना-

कुछ निश्चयनय में एक नियंत्रण है, शुद्ध पर्याय को देखना, एक में देखना। जैसे जीव केवलज्ञानी है, जीव अनन्तचतुष्टयात्मक है और कुछ नहीं दिखता। यहाँ क्षायिक भाव का कोई विकल्प नहीं, केवलज्ञान क्षायिक है ऐसा इस नय के मूड़ में परिचय नहीं। क्षायिकत्व शुद्धनिश्चय का विषय नहीं, यह व्यवहार का विषय बनता, वह यहाँ नहीं परखा जा रहा है, वह केवलज्ञान, जीव का केवलज्ञान, जीव की परिणमन जीव के उपादान से प्रकट हुआ है। चूंकि वह स्वभाव परिणमन है तो उसमें अनुरूपता है। तो एक अनुरूपता होने से, दूसरे निश्चयनय का नियंत्रण होने से वह दिख तो रहा है मगर ऐसे भी विकल्प टूटकर एक शुद्धनय प्रकाश में आ सकता और उसके उस पूर्वक स्वानुभव बनेगा।

1165- परमशुद्धनिश्चयतत्त्वपरिचयपूर्वक हुए शुद्धनयप्रयोग में स्वानुभव की संभावना-

परमशुद्ध निश्चयनय, यद्यपि परमशुद्ध निश्चयनय और शुद्धनय में अधिक अन्तर नहीं है लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो अन्तर है, परमशुद्ध निश्चयनय में एक कोई द्रव्य में स्वभाव का ही दर्शन किया जा रहा है। जीव में चैतन्यस्वभाव जीव चैतन्यस्वरूप। पर्याय को इसने ग्रहण नहीं किया और विधि से भी यही है, स्वभाव निरखा, उस एक में निरखा तो उस एक में और उसको सहज स्वभाव में निरख रहे हैं तो एक अभेद बनता कि शुद्धनय का प्रकाश होता और तत्पूर्वक स्वानुभव बन सकता।

1166- नयों का प्रयोजन शुद्धनय की ओरले जाना-

इस शुद्धनय से पहले ऐसा कोई न कोई विकल्प आया करता है। शुद्धनय एकदम नहीं हो गया ऐसे विकल्प ये आया करते तो इन नयों के बाद शुद्धनय का प्रकाश बनता। शुद्धनय के प्रकाशपूर्वक स्वानुभव बनता, उसी कारण जैन ग्रन्थों में आगम में जितना उपदेश हुआ करता है वह सब उपदेश एक स्वभावाश्रय कराने के प्रयोजन से हुआ करता है, तो हमको आगम की प्रत्येक वाणी को सुनकर हमें ऐसी निजकला खेलनी चाहिए कि उससे हम स्वभावाश्रय के अनुरूप उसमें शिक्षा पा सकें। क्या हर्ज है, अगर कहीं पाप के स्वरूप का वर्णन भी चल रहा तो जो मोक्षमार्ग के पथ में कुशल है वह ऐसे अशुभ के स्वरूप का वर्णन भी सुन रहा, उसका भी इसी प्रकार से अर्थ लगेगा कि जिससे उपेक्षा उससे हो और अपने आपके प्रयोजन वाले तत्त्व पर दृष्टि जाय और वह अपने मार्ग में आगे बढ़े।

1167- ज्ञानी की चर्या के उदाहरण से अपने में दोषपरीक्षा करके दोष से हटने का कर्तव्य-

प्रयोजन कहने का यह है कि अपने जीवनका लक्ष्य यह रखियेगा कि लोक में कोई सा भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसका आश्रय करने से हमें शान्ति उपस्थित हो। इस ज्ञानी जीव ने यह ही तथ्य तो पहिचाना जिस कारण से उसके राग का वियोग हुआ, विभाव आ रहे फिर भी उन विभावों में राग नहीं। ऐसा एक सम्यग्ज्ञान प्रकाश हुआ। उस विभाव से लगाव नहीं जीवविभाव से, जीवपरभाव से, इन परभावों का एकदम ऐसा तोड़ कर दिया, ऐसा संधिविच्छेद कर दिया कि अब कभी भी वहाँ विभ्रम नहीं हो पा रहा। उपभोग का राग नहीं है इसी कारण ज्ञानी जीव के पूर्वबद्ध कर्म के विपाक का उपभोग तो हुआ मगर वह उपभोग रागवियोग होने से परिग्रह भाव को प्राप्त नहीं हुआ वहाँ। बात कहने में आसान हुई, ज्ञानी के उसका रागभाव नहीं है और उपभोग हो रहा है तो भला उपभोग होते हुए भी और राग नहीं हो रहा, ऐसी स्थिति क्या कहीं गप्पों से मिल जायगी? भीतर में स्वभाव भावना का दृढतम अभ्यास करना होगा, तब यह स्थिति आती है कि राग का वियोग है, उपभोग होने पर भी। जो कुछ थोड़े से ही साधु बने, और ज्ञानी पुरुष की तुलना करके एकदम यह समझ बैठे कि यह तो चारित्रमोह का उदय है, होने दो। अरे होने तो दो पर आप अपनी निगाह में यह परख तो करें कि इस उपभोग के साथ तेरे भीतर कामचार भी है या नहीं। आसक्ति और राग में अन्तर है। राग में और ज्ञान में अन्तर है। एक हिरण घास खा रहा हो, जंगल में उसे जरा भी आहट मिलती तो झट घास छोड़कर छलांग मारकर बहुत दूर भग जाता है और एक बिल्ली किसी जीव को पकड़े हो तो

उस पर कोई डंडे भी बरसाये तो भी नहीं छोड़ती। ऐसा आसक्ति और राग में अन्तर है। अपने आपमें भी परीक्षा करके निरख लो। आसक्ति और राग में कितना अन्तर पाते हैं। भोजन बनाते, खाना पड़ता है, खाते हैं तो बताओ वह काम राग बिना हुआ क्या? कोई न कोई प्रकार का वहाँ राग तो है। इच्छा हुई, हाथ चलाया मगर आसक्ति नहीं कि यह ही सर्वस्व है। आज बहुत आनंद आया, इसी में मेरी पुष्टि होगी और उसका स्वाद लेवे आसक्ति से और उस ही में रम जाय यह कहलायी आसक्ति। अच्छा तो राग और ज्ञान क्या, राग हो रहा, उस राग में कुछ विचलितपना होता, स्वभाव की सुध से न हटे मानो, तो स्वभाव के उपयोग से तो हटा ही हटा जहाँ राग बन रहा है। और वह राग, वह पर्याय परिणमन केवल ज्ञान में रहे, यह हो रहा है याने राग के साथ मिलकर याने राग के कंधे पर हाथ डालकर चलना न बने, राग का केवल ज्ञान ही करे यह है राग, जैसे अन्य पदार्थ को जाना ऐसे ही एक रागपरिणमन जाना। यह बहुत ऊँची पदवी में होने वाली बात है, देखो यहाँ भी अंतर पाया जाता।

1168- ज्ञानी का उपभोग परिग्रहरूप न होने का कारण-

जिस अन्तरात्मा ने अपने आपमें इतना बड़ा त्याग किया है, ऐसा महान पौरुष किया है कि जिसने इन रागादिक विभावों को अपने स्वभाव से अत्यन्त निराला परख लिया है और समझ बनी है कि इन विकारों में फंसने से, इन विकारों में लगने से आत्मा का कुछ भला नहीं होने का, यह जहाँ दृढतम निश्चय है ऐसे पुरुष की यह कथा है कि पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः। तद् भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम्। पहले अज्ञान में बाँधे हुए जो कर्म हैं उनकी सत्ता अब भी है। ज्ञान जग जाने पर बहुत सी निर्जरा तो हो जावे, सबकी निर्जरा नहीं होवे, अथवा ज्ञान जग जाने पर ही जितना जितना रागांश है उसके अनुसार बन्ध चल ही रहा था। तो ऐसे पूर्वबद्धकर्म के विपाक से यह उपभोग प्राप्त हुआ। बाहरी पदार्थ मिले, यह भी कर्मविपाक से। और, बाहरी पदार्थों में उपयोग देकर वहाँ कुछ लगाव बना, राग जगा, उपभोग बना मायने उसके अनुरूप ज्ञानविकल्प बना, यह भी भीतर बना तो ये दोनों ही विकल्प व बाह्य पदार्थों का संगम यह भी कर्मविपाक से हुआ और भीतर तो ज्ञानविकल्प जगा वह भी कर्मविपाक से जगा। एक है सातावेदनीय के उदय का फल, एक है चारित्रमोह के उदय का फल। तो अनेकों का जब एक ऐसा योग जुड़ गयाजिसे कहते हैं कि भानमती ने कुनमा जोड़ा, कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा, ये जो बाह्य पदार्थ है, इनका आश्रय बन गया, भीतर में ज्ञानविकल्प बना और इस तरह के उन सब समन्वयों में एक विधिपूर्वक राग बना। परन्तु उसमें राग न होने से ज्ञानी का उपभोग परिग्रह नहीं बनता।

1169- रागवियोग होने से ज्ञानी के उपभोग की परिग्रहभावत्व से शून्यता-

जो कुछ भी उपभोग हुआ चूंकि वह हुआ ज्ञानी के सो, वह सबकी पोल जान रहा, तो उसको राग नहीं उत्पन्न होता, कैसे? वह जानता है कि यह राग स्वभाव में तो है नहीं, पर में है नहीं, पर से आता नहीं, कर्म से आता नहीं। यह राग, जीवराग विषयों से आता नहीं, अन्य किसी से आता नहीं। हुआ तो यह जीव का

परिणामरूप, किंतु जीव के स्वभाव से आता नहीं। तो यह तो लावारिस है। जैसे- देखा होगा कि जब कोई बालक खेलता हुआ बीच सड़क में पहुँच जाता है तो वहाँ रिक्शा वाले, ताँगा वाले कहते हैं- अरे चल, तू लावारिस है क्या, अपने घर में फालतू है क्या? तो इसी तरह ये राग, ये विकार लावारिस और फालतू हैं। क्योंकि इनको इस जीव ने सहारा नहीं दिया। जीव इनको पकड़ कर नहीं रहता। तो ये रागादिक विकार इस आत्मा की दृष्टि से लावारिस हैं। और, इनको कर्मों ने भी आश्रय नहीं दिया, कर्म अपने प्रदेशों में ही तो कुछ करेंगे, अपने से बाहर कुछ न करेंगे। कर्मों ने भी इन्हें आश्रय नहीं दिया, सो ये रागादिक विकार लावारिस रहे, इन लावारिसों का पालन पोषण कब तक है? जब तक इनमें यह जीव अपनायत किये हैं। इनको मानता कि मैं हूँ इनका वारिस, रो मत, तुम कहीं जाने न पावोगे, तुम मिट भी जावोगे तो हम तुम्हें फिर बना लेंगे। तुम दुःखी मत होओ, हटो नहीं।...यहाँ से ये अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव इन रागादिक विकारों के वारिस बने। तो जब तक यह जीव इन रागादिक विकारों का वारिस बनता है तब तक इनकी परम्परा चलती है, और तब तक इस जीव का संसार में परिभ्रमण चलता। किन्तु जिस क्षण यह समझ में आ जायगा कि यहाँ किसका कौन? ये रागादिकविकार सब लावारिस हैं, ये सब मायारूप हैं, हुये हैं, इस ढंग में सही बात जान लें वहाँ फिर यह जीव इनको आश्रय नहीं देता। तो जब यह आश्रय ही नहीं देता अन्तरात्मा तो ये उपभोग क्यों हो रहे, कैसे हो रहे? जैसे किसी कैदी को जेल के अन्दर जबरदस्ती चक्की पिसवाये कोई सिपाही तो वह पीसने को पीसता है मगर उसको उसमें राग नहीं होता ऐसे ही आचार्यों ने इन शब्दों में लिखा कि इस पर विपाक कोतवाल के डंडे पड़ रहे, सो हो रहा उपभोग, मगर उसके इच्छा कहाँ है? उसका सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ज्ञानी के राग का वियोग है, ऐसा वियोग होने के कारण ज्ञानी के उपभोग आये तो भी वह परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। ऐसी बात सुनकर अपना सिर उठाकर नहीं चलना है कहीं कि मेरे तो कुछ परिग्रह होगा नहीं, किन्तु भीतर में एक ठोस निगरानी करना है कि मेरे कामचार है, इच्छा है कि नहीं, मेरे में विषयों के भाव वासना जगती कि नहीं। यदि वासना जगती है तो उसके नाश करने का उद्यम करें। आगे आगे बढ़ने के लिए आचार्यों का उपदेश होता है, नीचे गिरने के लिए आचार्यों का उपदेश कभी भी नहीं होता।

कलश 147

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद् वेद्यते न खलु काङ्क्षितमेव ।

तेन काङ्क्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥147॥

1170- ज्ञानी के राग न होने पर भी उपभोग का होना व उपभोग होने पर भी परिग्रहभाव न रहना-

प्रकरण यह चल रहा है कि ज्ञानी जनों को अपने अन्दर में सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन अनुभव होता है और उसके अन्दर में विभोरता बन गयी है, बस अब उसे सिवाय एक इस सहज परमात्मतत्त्व के अन्यत्र कहीं रुचि नहीं है, ऐसा होने पर भी जैसा कि आप लोग भी अनुभव कर रहे हैं कि चाहते तो हैं कि मैं अभी अपनेइस स्वरूप में गुप्त हो जाऊँ, क्यों ये कष्ट लगे रहें, क्यों ये विपत्तियाँ सही जाय? इन असार बातों में क्यों बरबाद होऊँ? अभी ही इस स्वरूप में गुप्त हो जाऊँ ऐसी आप भावना रखते हैं और गुप्त हो कुछ नहीं पाते। हो जावो गुप्त, कोई रोकने वाला है क्या? यह तो आपका भीतरी काम है, आप ही कर डालेंगे, फिर भी नहीं कर पा रहे हैं तो अपनी ओरसे तो है अपनी कमजोरी और निमित्त दृष्टि से है ऐसा चारित्र मोह का तीव्र उदय, प्रतिफलन, सो यह अशुद्ध उपादान अपने उस तत्त्व का उपयोग छोड़छोड़कर उन बाह्य बातों में कुछ लगता है, ऐसी स्थिति है, ऐसा होने पर भी याने ज्ञानी जीव के पहले बँधे हुए कर्मविपाक से उपभोग आने पर भी और वह इन्द्रिय द्वारा उपभोग को भोग रहा है तिस पर भी प्रतीति उसे निज सहज स्व की है, अतएव परिग्रह भाव को प्राप्त नहीं हो रहा वह उपभोग, याने वहाँ अनन्तानुबंधी की बात चल ही नहीं रही है, और उपभोग हो रहा है।

1171- ज्ञानी के अतीत वर्तमान अनागत उपभोग का रागवियोग होने से अपरिग्रहत्व-

ज्ञानी का उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता ऐसा हुआ क्यों? तो बात बाहर देखो, भीतर देखो। बाहर की बात तो यह है कि देखिये उपभोग तीन तरह के हुआ करते हैं, पहले भोगा था वह, अब भोग रहे हैं वह, आगे भोगें जायेंगे वे। तीन बातें हैं ना? अज्ञानी को तो तीनों का ही परिग्रह लगा है, जो भोगा गया था और अब नहीं है, पहले धनी था अब गरीब है तिस पर भी चार आदमियों में शान तो रखता ही है कि मेरे ऐसा था, मेरे द्वार पर सैकड़ों जूते उतरते थे याने लोगों की बड़ीभीड़ रहा करती थी, ऐसी शान मारने वाले लोग तो बहुत मिलेंगे जिन्होंने बीते हुए भोगों से चिपकाव लगा रखा है। अच्छा आगामी काल में जो मिलेंगे उपभोग उनके बारे में आशा, प्रतीक्षा, शेख चिल्लीपने की बातें करते, ये सब परिग्रह जम गए वहाँ, वह सार आवरण बना हुआ है। कहां से वे प्रभु के दर्शन करेंगे तो आगामी काल में मिलेंगे उपभोग, वर्तमान की कुछ बात ही नहीं है, मगर यह तो ऐसा बिक गया आगामी उपभोग के लिए कि यह अपने अन्तः बसे हुए परम शरण सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन नहीं कर सकता। तो जब भूत और भविष्य के उपयोग में यह बरबादी हो रही है तो वर्तमान में जो उपभोग हो रहा है उसकी बरबादी की तो कथा ही क्या कही जाय? एकदम आसक्त होकर भोगता है, यह है अज्ञानी की रिपोर्ट। और ज्ञानी का क्या हाल है कि वह सोचता कि जो बीत गए उपभोग वे तो बीत ही गए, अब उनका क्या ख्याल करना। जिसको वर्तमान उपभोग से भी अरुचि है, उनमें नहीं रम रहा वह पुरुष भूतकाल में भोगी हुई बात का कोई ख्याल बनायेगा क्या? उनकी कोई शान मारेगा क्या। भूतकाल में जो उपभोग किया वह तो गुजर ही गया। अब आगामी काल में जो उपभोग होंगे उनकी वह चाह

कहाँ रखता? जब वर्तमान के उपभोगों से ही वह विरक्त है तो आगामी भोगों की क्या चाह करेगा? ज्ञानी को उपभोगों का परिग्रहपना नहीं प्राप्त हो रहा।

1172- ज्ञानी की बाह्य क्रियाओं से अपनी तुलना करने का अज्ञानी का व्यामोह-

ज्ञानी का उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता ऐसी बात सुनकर अज्ञानी यदि अपने मन में ऐंठ लगाये कि मैं क्या कम ज्ञानी हूँ, मेरा भी उपभोग परिग्रह न बनेगा सो बात ठीक नहीं। ज्ञानी की लीला ज्ञानी में है, अज्ञानी उस लीला को न पायेगा। एक “गधे की कहानी” नाम की किताब हमने बचपन में पढ़ी थी उसमें एक छोटी सी कथा लिखी थी कि एक धोबी के घर में एक गधा था, जो कि रूखा सूखा खाकर बोझा ढोने का काम करता था। उसी धोबी के घर एक कुतिया भी पली हुई थी जिसके छोटे छोटे पिल्ले थे। एक दिन धोबी उन पिल्लों को खिला रहा था। पिल्ले अपने पैरों के पंजे मारते थे, मुख से काटते भी थे फिर भी वह धोबी उन बच्चों को कभी गोद में लेता, कभी अपने कंधे पर बिठाता, कभी छाती से लगाता, बड़ा प्यार दिखाता था। यह दृश्य देखकर गधा बड़ा हैरान हो गया, सोचने लगा- अरे देखो मैं इस धोबी के कितना काम आता इसका सारा बोझा ढोता, हमारी वजह से इसके परिवार का पालन पोषण होगा फिर भी यह हमसे प्यार नहीं करता, देखो इन पिल्लों से कितना प्यार करता, जबकि ये पिल्ले इसके कुछ काम नहीं आते। अब उसकी समझ में आया कि शायद ये पिल्ले इसे पंजों से मारते, मुख से काटते इसीलिए प्यार पाते हैं। सो खुद ने भी वही उपाय किया। धोबी के पास आकर पैरों से मारना, मुख से काटना शुरू कर दिया। वहाँ प्यार मिलना तो दूर रहा, ऊपर से डंडे बरसे। अब गधा सोचने लगा- अरे हमसे क्या गलती हुई? काम तो वही किया जो पिल्लों ने किया, फिर क्यों डंडे बरसे? तो भाई सबकी जुदी जुदी बात है। ज्ञानी की बाह्य क्रियायें देखकर अज्ञानी नकल करता है तो भी वह अभी सही रास्ते पर नहीं है। ज्ञानी को अपने सहज परमात्मतत्त्व का दर्शन हुआ सो बाहर में उसका मन नहीं लगता, जबकि अज्ञानी पुरुष उन बाह्य क्रियाओं को करता हुआ उनमें आसक्त होता है। सो ज्ञानी की बाह्य क्रियायें उसके लिए परिग्रहरूप नहीं बनती जबकि अज्ञानी की बाह्य क्रियायें परिग्रहरूप बन जाती है। देखिये अध्यात्मशास्त्र में सब कुछ वर्णन है, पर करणानुयोग का प्रकरण जब सुनते हैं तो वहाँ उस प्रकरण का ही मूड़ बनाकर सुनना होता है। नहीं तो बीच बीच में शंका होती कि राग तो 10 वें गुणस्थान तक है, वह भी बात सही है और छठे गुणस्थान तक तो प्रवृत्ति वाला भी राग है, जहाँ जितना होता। इस प्रसंग में यह अटक न रखना। यहाँ बुद्धि पूर्वक बात चल रही है कि ज्ञानी की रुचि कहाँ लगी है और उस प्रयोग से क्या परिणाम बन रहा है। हाँ तो वर्तमान उपभोग को कैसा अलग सा होकर भोग रहा ज्ञानी। उसके लिए और दृष्टान्त बहुत हैं कि वह प्रवृत्ति में है और प्रवृत्ति में लिप्त नहीं है, मन भले की ओर है और प्रवृत्ति करनी पड़ती है कुछ। ऐसा ज्ञानी का जो कदाचित् उपभोग है वह परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होता।

1173- ज्ञानी के भविष्य उपयोग में आकांक्षा न होने का कारण-

अब यहाँ थोड़ा कुछ कुछ यह तो समझ में झट आ जाता कि जो अतीत भोग हैं, जो गुजर गए, बीत गए उनका क्या ख्याल करना? लोग समझाते हैं कि क्यों मूर्ख बनते? क्यों गई बीती बातों का उखाड़ करते ! यह तो झट समझ में आ जायगा। वर्तमान की बात भी कुछ कुछ बतायी जा सकती, पर यह बड़ा मुश्किल है कि आगामी उपभोग की चाह न करें। तो कहते हैं ना कि ऐसा पुरुष दूकान भी जायगा, कमायी भी करेगा, गृहस्थी से सम्बन्धित सब काम भी करेगा फिर भी कह रहे कि यह ज्ञानी इच्छा ही नहीं करता तो यह कैसी बात है? तो साधारणतया तो जो बात अतीत और वर्तमान के उपभोग में है वही बात भविष्य के उपभोग के प्रति है साथ ही एक बात और भी है कियह मोही जीव उपभोग चाहता। मुझे ऐसे ऐसे उपभोगमिलें। अच्छा अब एक रहस्य की बात और सुनो- इन आगामी चीजों की चाह में कितना समय गुजर गया। जैसे मानो जो 10 वर्ष बाद मिलेगा तो 10 वर्ष तो चाह की दाह में चले गए- यह मिले, यह मिले, और जब यह वस्तु मिली तो उस समय उसकी चाह न रही। वह तो मिली हुई है, वह तो भोग में है, उसकी अब चाह नहीं रही तो जो 10 वर्ष तक चाह की थी और उसका जो कष्ट सहा वह तो फोकट ही सहा। यदि इच्छा के समय ही कदाचित् वह चीज मिली हुई होती तो उसका वह आनन्द भी मानता, अब उसकी चाह नहीं रही तब वह चीज मिली तो उसका मिलना भी किस काम का?

1174- आकांक्षा की निष्फलता का एक दृष्टान्त-

एक कथानक है कि एक बार कोई राजपुत्र किसी नटकी लड़की पर आसक्त हो गया, उसके साथ अपना विवाह करना विचारा। नट के यहाँ खबर भेजी तो नट को वह बात सुनकर बड़ा बुरा लगा। नट बोला- अरे वह अनट हमारी लड़की कैसे ले जा सकता? तो लोगों ने समझाया कि भाई तुम्हारी लड़की उस राजपुत्र के घर बहुत सुख से रहेगी, उसके साथ विवाह कर देना ठीक है। तो नट बोला- अच्छा यह बात हमें स्वीकार है, पर उस राजपुत्र को एक काम करना होगा। पहले हमारी जैसी सारी नटकलायें सीखे- जैसे कुलाटें नानाविध लगाना, रस्सी पर चलना, बाँस पर ऊपर गोल गोल घूमना आदि...तब हम अपनी लड़की का विवाह उसके साथ कर देंगे...ठीक है। आखिर उस राजपुत्र को वे सब कलायें सीखने में 10-12 वर्ष लग गए। जब सब कलायें सीख लीं तो वह नट बोला- अब इसकी परीक्षा होगी। अगर इन सारी कलावों में उत्तीर्ण हो गए तो अपनी लड़की का विवाह राजपुत्र के साथ कर देंगे। होने लगी परीक्षा, दर्शकों की अपार भीड़ थी। वह राजपुत्र अपनी सारी कलायें दिखा रहा था। उसी प्रसंग में उसको ऐसी ग्लानि जगी- अरे कहाँ तो मैं राजपुत्र और कहाँ यह नट का काम, धिक्कार है मुझे जो नट की लड़की से विवाह करने के लिए बारह वर्ष व्यर्थ गमाये। देखिये उस लड़की से विवाह करने की चाह अब न रही। बारह वर्ष तक बराबर चाह बनी रही। अब तो वे सभी नट लोग उस राजपुत्र से अपनी लड़की का विवाह करने के लिए हाथ जोड़ते फिर रहे, पर वह राजपुत्र अब विवाह करना स्वीकार न करे। देखिये जब चाह थी तब चीज न मिली और जब चीज हाजिर है तब चाह न रही। संसार की यही रीति है। हाथ में रखी हुई वस्तु के बारे में कौन चाह करेगा कि

मुझे मिल जाय? अरे मिली हुई तो है ही, और कोई चाह है तो तब ही तो है जब कि वह चीज पास नहीं है।

1175- वेद्यवेदकविभाव की अस्थिरता के तथ्य का परिचय होने से आगामी उपभोग में आकांक्षा का अभाव-

अब इससे भी और सूक्ष्म बात पर आइये- दो भाव ये कहलाते हैं वेद्यभाव और वेदकभाव। वेद्यभाव मायने इच्छा वाला भाव- यह चीज चाहिए। जो वेदन के योग्य हो, जो चाह हो रही है, इच्छा हो रही है उसे कहते हैं वेद्यभाव। और वेदकभाव- वेदयते इति वेदकः, जो वेदन करे, भोगे ऐसा भाव, मायने भोगने का भाव और चाहने का भाव। चाह और भोग ये दो भाव हैं, और यह देखो कि ये पूर्वोत्तर समय में होते, एक समय में हो ही नहीं सकते जीव के वेद्य और वेदकभाव, चाह और भोग के भाव कथमपि एक समय में नहीं होते। जब चाह है तो भोग कहां और जब भोग है तो चाह कहाँ तो ज्ञानी ने यह समझा कि चाह करना बिल्कुल व्यर्थ है। अरे मोटे रूप में राजपुत्र के दृष्टान्त में देख लो, आखिर उस नट की लड़की की चाह में 10-12 वर्ष खाये, पर अन्त में फल कुछ न निकला। फल तो बहुत अच्छा निकला, वैराग्य ऐसा जगा कि जो घर में न जग पाता। एक हित घटना घट गई, मगर जो चाह की थी वह काम तो न हुआ। सूक्ष्म रूप में देखो जिस समय में वेद्यभाव होता, उसके बाद फिर उसका वेदकभाव होता। तो अब वह वेदकभाव जो हुआ, एक मिनट में वेद्य, दूसरे में वेदक, तो वह वेदक उस वेद्यको कैसे भोग पायेगा? वह तो मिट गया। पहले मिनट का वेद्यभाव समाप्त हुआ तो फिर कहां दूसरे मिनट में वही वेद्य रहा। दूसरी इच्छा जब हो गई तो पहले के भोगने का भाव खतमा भोगना और चाहना, जब भोगना हो रहा तब उसका चाहना नहीं हो रहा और जब चाहना हो रहा तो उसका भोगना नहीं हो रहा, जो चाह है उसका उसी समय भोगना नहीं बन सकता और जब भोगना हो रहा तब उसी समय उसकी चाह नहीं बन सकती। तो जब भोगना नहीं होता तो फिर उस वस्तु के चाहने से मतलब क्या? ऐसा यह ज्ञानी परख रहा है।

1176- ज्ञानी के संसार शरीर भोग से वैराग्य-

ज्ञानी आगामी भोगों की भी कोई चाह नहीं रखता, ऐसी स्थिति है तो वह संसार, शरीर, भोग इन सबसे अत्यन्त वैराग्य को प्राप्त होता है। संसार, शरीर और भोग ये तीन नाम ऐसे धरे जैसे मन, वचन और काया। कहीं काय, वचन और मन भी लिखा। अच्छा बोलने की पद्धति में है मन, वचन, काया। काय बहुत बाहर की बात है, वचन उससे कुछ अन्दर की बात है और मन यह तो उससे भी अन्दर की बात है। संसार, शरीर, भोग में बाहर की बात है। पञ्चेन्द्रिय के जो ये दृश्य विषयभोग के साधन हैं ये बाहरी चीज हैं, इनका भोग उससे अन्दर के और निकट की बात है। कुछ और निकट आये तो यह शरीर का भोगना, इसमें अध्यवसान बनना हुआ, और उससे निकट है संसार मायने रागद्वेष भाव। इस रागद्वेष भाव में लगना। ज्ञानी जीव इन तीनों से विरक्त है। भोगने की बात तो अभी बतायी गई कि क्या लाभ है किसी भोगोपभोग की वाञ्छा करने में।

1177- भोगोपभोग से विरक्त होकर शेष जीवन को अविकार अनन्तस्तत्त्व का उपयोग करके सफल बनाने का अनुरोध-

भोगोपभोग में होता क्या है? जैसे यहाँ किसी को अज्ञान जगा और उससे पहले बहुत बातें हो गई- बाबा गुजरा, पिता गुजरा, माँ गुजरी, स्त्री गुजरी, पुत्र गुजरा, कुछ भी बात हुई तो यह ज्ञानी सोचता कि वह सारा जीवन तो बिल्कुल व्यर्थ गया। अगर ऐसा ज्ञान बचपन से ही होता तो मेरा कल्याण होता। वह सब समय व्यर्थ गया। जिसका जो समय गुजर गया वह अपेक्षाकृत देखो तो व्यर्थ गया तो अब जो समय शेष रहा उसका सदुपयोग कर लें। उसका सदुपयोग यही है कि आत्मध्यान, स्वभावरुचि, स्वभावाश्रय, सर्वजीवों में उदारता, समता हो किसी जीव को विरोधी न समझना। किसी जीव को अपना शत्रु न मानना। किसी जीव में अनिष्टपना का भाव न आये, ऐसा गैरपने का भाव एक विघ्नरूप भाव है जो इसको परमात्मा अन्तस्तत्त्व का अनुभव नहीं करने देता। ऐसा अपने हृदय को स्वच्छ बनावें तो सब जीव एक समान नजर आने लगेंगे। साधर्मी साधर्मी एक से नजर में आयें यह तो बहुत ही आवश्यकीय बात है, मगर एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिक जो जीव है, पशु, पक्षी, कीट पतिंगा वगैरह जो जीव हैं इनके भी स्वरूप को निरखकर समता का भाव जगे। जो मैं हूँ सो ये हैं। केवल स्वरूप को देखकर यह निर्णयहोता। उसको देखकर सब जीवों में ऐसा समता का भाव जगे, यह तैयारी बने, भीतर में यह स्वच्छता बने, हम अपना कल्याण कर जायेंगे।

1178- अहंकार छोड़कर विनयप्रयोग से अपने अन्तस्तत्त्व में आने का सन्देश-

भैया कितनी सी जिन्दगी रही? इस थोड़ी सी जिन्दगी के लिए क्रोध, मान, माया, लोभ, कपट, छल, माया: आदिक बातों में लगना यह तो बड़ी मूढ़ता जैसी बात है सबका आदर करें। सबको अपना अपना समझें बल्कि अपने से भी अधिक। पद का क्या घमंड? कोई किसी बात में कुशल होता कोई किसी बात में। किसी को सर्वविषयों में पांडित्य मिल जाय, ऐसा होना तो कठिन है, हाँ केवलज्ञान में सर्वविद्याओं का पूर्ण पांडित्य पड़ा हुआ है। उससे पहले क्या? यहाँ एक दृष्टान्त देते हैं कि कोई एक नवयुवक था वह बी-काम पास हुआ तो उसकी खुशी में उसने सोचा कि अब समुद्र में सैर करना चाहिए सो पहुँचा वह एक नाविक के पास, और बोला- हमें समुद्र में सैर करना है, क्या लगे? दो रुपये। ठीक है चलो। वह नवयुवक नाव में बढ गया, नाविक का लड़का नाव खेने लगा। नाव कुछ थोड़ी चली ही थी कि वह नवयुवक उस नाविक से कुछ बातें करने लगा घमंड था ही अपनी विद्या का, सो बोला- अरे नाविक तूने कुछ ए. बी. सी. डी. सीखा कि नहीं ?...नहीं मालिका...तो क्या हिन्दी भी नहीं पढ़ा?...नहीं मालिका...और तेरे बाप ने?...बाप ने भी नहीं पढ़ा।...बस ऐसे ही नालायक, मूर्ख,...लोगों ने ही तो इस भारत देश को बरबाद कर दिया। खैर सुन लिया सब गाली, क्योंकि बेचारा पढ़ा लिखा तो था नहीं। कुछ ही देर में नाव कोई एक मील की दूरी पर पहुँच गई अब वहाँ एक ऐसी भँवर उठी कि नाव डगमगाने लगी। वहाँ वह बी. काम बहुत घबड़ाया। नाविक से बोला- अरे अब क्या होगा प्राण बचेंगे भी या नहीं? तो वहाँ नाविक बोला- बाबूजी नाव तो डूबने से बच नहीं सकती,

हमें आप छुट्टी दें, हम तो तैरकर बाहर निकल ही जायेंगे। अरे भाई ऐसा न करो, जैसे भी बने, प्राण बचाओ।...तो क्या आप तैरना नहीं जानते?...नहीं जानते...अरे नहीं जानते क्या बिल्कुल नहीं जानते? हाँ बिल्कुल नहीं जानते। तो जितनी गालियाँ उस नवयुवक ने दी थीं उतनी ही गालियाँ देकर कहा- ऐसे ही नालायक मूर्ख लोगों ने तो इस भारत देश को बरबाद कर दिया। तो भला बतलाओ सर्व कलाओं में निपुणता यहाँ किसे मिल पाती? कोई किसी कला में निपुण होता कोई किसी कला में। यहाँ किसका अहंकार। और, फिर अपना-अपना ज्ञान सबको बहुत अच्छा लगता। मैंने खूब समझ लिया, मैं बहुत जानकार हूँ, ये लोग क्या समझेंगे? किसी को थोड़ा भी ज्ञान हो तो उसे ऐसा लगता है कि हममें बहुत चतुराई है, लेकिन ये सब बातें थोथी हैं, बेकार हैं।

1179- आत्मस्वभावविज्ञान बिना सर्वश्रमों की अकिंचित्करता-

भैया किसी को ज्ञान कम हो तो क्या, अधिक हो तो क्या? जिसने अपने सहज स्वभाव का परिचय नहीं किया, उसके लिए बड़े-बड़े ज्ञान भी क्या करेंगे? और आत्मदृष्टि, आत्मा का आश्रय बैल को, घोड़े को, बंदर को, नेवले को या सप्तम नरक के नारकी को मिल जाय तो क्या यह हो नहीं सकता? हो सकता है। सम्यग्दर्शन इनके भी जागृत हो सकता है। बताओ इन पशु पक्षियों को कौन सिखाने गया जो हो जाते ये सम्यग्दृष्टि। देखो मनुष्य सम्यग्दृष्टि श्रावकों से अधिक संख्या इन तिर्यञ्च देशविरत व सम्यग्दृष्टियों की है। यहाँ श्रावक तो बहुत थोड़े हैं, तो किसे क्या कहेंगे हम? कौनसी बात पर गर्व किया है, सो भैया, सब गर्व छोड़कर एक नम्रता अपने में लायें, विनय भाव अपने में लायें। अपने ही स्वभाव, अपने ही भगवान आत्मतत्त्व की ओरही यह उपयोग विनीत कर लें।

1180- स्वरूपसम जीवों को निहारकर सर्वसाम्यभाव करने का कर्तव्य-

भैया, आदर दो सब जीवों को। पर्याय के व्यवहार से पर्याय का व्यवहार चल रहा, तो उनके ढंग का तो बनाओ व्यवहार। सबको आदर करें। ज्ञानस्वरूप ही तो है दूसरा। उसी को ही निरख करके अपने में गर्व न लायें और अध्यात्मसाधना से, व्यवहार से अपने को सुरक्षित बनायें और भीतर में अध्यात्मसाधना से अपने मोक्षमार्ग में बढ़ लें। यह ही मार्ग जो अपना रहा उस ज्ञानी की बात चल रही कि वह भोगों से विरक्त है।

1181- ज्ञानी की शरीर और संसार से निर्विण्णता-

यह ज्ञानी शरीर से विरक्त है। बहुत मोटी बात है कि यह शरीर किसी दिन जलेगा, मिटेगा, सदा तो नहीं रहने का। इतनी बात देखकर भी विरक्त हो सकते। और, शरीर क्या है? मल भीतर भरा है। अरे बहुत भीतर नहीं, बाहर भी मल है। जरा सा एक सूत भी यह नाक रानी नासिका द्वार से बाहर निकल पड़े तो इस शरीर के प्रति ग्लानि हो जाती है। ऐसा यह अपवित्र देह है। यह शरीर आहार वर्गणाओं के परमाणुओं का पुञ्ज है। और यह मैं आत्मा चैतन्य प्रकाशमय हूँ, ऐसे अन्तर का ज्ञान करे। ऐसे ही संसार रागद्वेष मोहभाव ये नैमित्तिक हैं, परभाव हैं, ये कर्मरस हैं विकार, उनका ही तो फोटो है, यही तो लीला है। जैसे दर्पण के

सामने फोटो आयी तो झट ज्ञान होता है कि यह वस्तु दर्पण की कुछ नहीं है, इसी प्रकार जितने भी विभाव हैं वे सब कर्मरस हैं, मैं उनमें पड़ गया सो मैं विकल्पस्वरूप बन गया। ये मेरे नहीं, ये तो मेरी बरबादी के लिए हैं। ऐसा संसारी जीवों के प्रति उस ज्ञानी का चिन्तन है। तो यह ज्ञानी सभी बातों में अत्यन्त विरक्ति को प्राप्त होता है। जिसके न भोगों में रुचि, न अन्य में रुचि, न रागद्वेष मोहभाव में रुचि, ऐसे व्यक्ति को देखकर तो लोग कहेंगे कि इसको कोई बड़ी बीमारी है, इसको तो भोगों में रुचि ही नहीं होती। इसको कोई बड़ी कठिन बीमारी लग गई, अज्ञानी जन तो यों कहेंगे। ज्ञानी की लीला को दूसरा कोई क्या समझें? अज्ञानी क्या समझे कि ज्ञानी को कौनसा बल मिला, कौनसा आश्रय मिला, जिससे सारे कर्मविपाक, कर्मरस, उपभोग आदिक बातें किसी ज्ञानी में आती तो भी वे पदार्थ परिग्रह को प्राप्त नहीं होते। वह सब बल है अपने सहजपरमात्मतत्त्व चैतन्यस्वभाव दर्शन का। उसमें अनुभव आनन्द मिला। अब अनुपम स्वाधीन निराकुल आत्मीय आनंद को तजकर ज्ञानी पराधीन दुःखमय उपभोगों को कैसे चाहे। अन्तः राग न होने से ज्ञानी उपभोग में लगता नहीं, फिर भी कर्मविपाकवश उपभोग आ पड़े तो वह उपभोग ज्ञानी के परिग्रह भाव को प्राप्त होता नहीं।

कलश 148

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं कर्म रागरसरिक्ततयेति ।

रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥148॥

1182- शरीरविषयक अध्यवसान से हुए उपभोग में संसारबन्धन की अक्षमता-

प्रकरण यह चल रहा है कि पूर्वबद्ध कर्मविपाकवश उपभोग प्राप्त हो तो भी वह उपभोग ज्ञानी के परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। वह उपभोग परिग्रह नहीं बन पाता। उपभोग क्या चीज है? उपभोग उन बाहरी प्रसंगों में विषयों के साधनों में जो कुछ कुछ भी थोड़ा ज्ञानविकल्प चलता है, प्रवृत्ति चलती है, जिसे कहते भोगना, वहक्या बात है? उस जीव का ही एक परिणाम है, जिसे कहेंगे अध्यवसान। अध्यवसान हल्के तीव्र अनेक प्रकार के होते हैं। तो जो अध्यवसान रागद्वेषमोहरूप हैं उनसे अपने उपभोग का चिपकाव है, यों समझिये कि वहाँ रागद्वेष मोह छाया है उसमें यह उपयोग मिलकर एक तन्मय हो जाता है। जैसे बताया था ना पहिले कि कोहुवजुतो कोहो इत्यादि, क्रोध में उपयुक्त जीव का नाम क्रोध, मान में उपयुक्त जीव का नाम मान इत्यादि। तो जो कर्मरस है, कर्मविपाक प्रतिफलन है उस रूप अपने को मानना उसे कहते हैं उसमें उपयोगी होना। राग की ओर उपयोग तो अब भी है ज्ञानी के। लेकिन अन्तर देखो- एक तन्मयता से अपने आपमें रागादि को चिपकाये तो एक वह अध्यवसान और एक ऐसा अध्यवसान जो शरीरविषयक है। दो प्रकार के अध्यवसान

होते हैं। सुख दुःख भोगे जाते, आहार चर्या करते हैं साधु, आहार चर्या करते हैं गृहस्थ भी, जो कोई विरक्त हुआ, उस समय वह केवल एक शरीर चलाने के हेतु अपना व्यापार करता है याने खाना पीना करता है तो वह शरीरविषयक उपभोग हुआ। और एक उसमें चाह बनना, इसमें बहुत अच्छा आनन्द है, विषयों में बड़ा मौज है, ऐसा उछलकर उनमें उपयोग का रमना हो तो वह कहलाता है संसारविषयक अध्यवसान। तो शरीरविषयक जो अध्यवसान है, उपभोगविषयक जो एक अभिलाषा है बस उसको कहोगे कि है यहाँ कर्म। एक यह भी कर्म है। कर्म मायने क्रिया, ज्ञान की क्रिया है, उसमें कुछ राग भाव भी बना, कुछ परिस्पंद भी बना, कुछ शारीरिक चेष्टा भी हुई। तो ज्ञानी का जो कर्म है, वह परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। जैसे बेमन से कोई काम करे तो उसे कहते हैं कि तुम काम ही नहीं करते। कोई मजदूर काम करने में बहुत जी चुराता है, जरा सी मालिक की निगाह हटी तो झट बीड़ी पीने के बहाने या वैसे ही आराम करने बैठ गया, या अच्छी तरह से काम नहीं करता तो कहते कि अरे तू तो काम नहीं करता। अरे कुछ तो कर रहा है। अरे दिल से करने को करना कहा जाता है। तो ऐसे ही जिस ज्ञानी का भाव अपने अन्तस्तत्त्व की ओर है, जिसे समस्त लोक में सारभूत तत्त्व केवल यही नजर आ रहा है, दूसरा कुछ नहीं, ऐसे अन्तरात्मा ज्ञानी के कर्मविपाकवश कर्म होने पड़ते हैं तो भी वे परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होते।

1183- अन्तस्तत्त्व के अपरिचय में ज्ञानी की बाह्यप्रवृत्ति की नकल की अकिंचित्करता-

देखिये ऐसा वर्णन सुनते समय बाहर की बातों पर दृष्टि अधिक न देना चाहिये, भीतर की बात पर दृष्टि देना चाहिये। उपभोग परिग्रह नहीं बनते, यह तो जल्दी मान लेंगे, क्योंकि बड़ी अच्छी बात है, और उसका भी ऐसा ही नाम बन जाय मगर भीतर में ज्ञान क्या कर रहा है? क्या परखता है, कहाँ दृष्टि है यह नहीं परख रहा, बाहर कुछ परख रहा। और, इसीलिए फिर यह विडम्बना बन जाती कि जैसे कहने लगते कि ज्ञानी के उपभोग से बंध थोड़े ही होता है, हम भी ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि हैं, अपने को कम नहीं मानते पर्यायव्यामोही जन तो वे भी स्वच्छन्द हो रहे और विषयों से निवृत्त नहीं होते। उनकी केवल गप्प रह जाती है। जैसे पहाड़ पर चढ़ना दूर से बड़ा सुगम दिखता, अरे इतना सा ही तो पहाड़ है, और एक मखमल सा इस पर बिछा है। जैसे शिखरजी का पहाड़ जब दूर से देखो तो ऐसा लगता है कि बस जरा सा तो ऊँचा है, अभी इस पर थोड़ी ही देर में चढ़ जाऊँगा, खूब हरा भरा दिखता मानो उस पर मखमल सा बिछा हो, लगता कि इस पर चढ़ना कुछ कठिन नहीं है, पर जब उस पर कोई चढ़ता है तब पता पड़ता है कि हाँ यह है पहाड़। पहले नहीं पता पड़ता। तो ऐसे ही जरा अंतस्तत्त्व की ओर दृष्टि दो कि मैं अपने उस सहज अन्तस्तत्त्व की ओरदृष्टि कर पा रहा हूँ या नहीं, निर्विकल्प, कुछ ख्याल न रहे, ऐसी कोई स्थिति कभी क्षणभर को भी होती है कि नहीं। बात तो कुछ हो नहीं और केवल अपने आपको ज्ञानी मानकर कुछ ज्ञानी की बाहरी नकल करें, भीतरी नकल तो कर नहीं सकते, तो कहीं उस बाहरी नकल से सम्बर निर्जरा तो न हो जायगी।

1184- ज्ञानी की अन्तर्विशुद्धि-

ज्ञानी का भीतरी भाव परखिये कि कहाँ लगा है ज्ञानी जिस कारण से कहा जाय कि वह ज्ञानी रागरसरिक्त है याने राग उठ रहा है, उपभोग राग बिना नहीं होता ज्ञानी का भी और फिर भी यहाँ यह कह रहे कि ज्ञानी का उपभोग राग बिना है, इस कारण परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता। वह मन से करे तो करना कहलाता, मन से न करे तो करना नहीं कहलाता। ज्ञानी का उपभोग चूँकि वह भी विकार हैं, कुछ इच्छा हुए बिना कोई साधु चर्या भी नहीं करता, इसी प्रकार श्रावक की बात लो। कुछ बात तो होती है तो राग तो बना मगर अन्दर से राग नहीं बना। उस राग में राग न बना। जो राग उठ रहा उस राग से राग नहीं। जैसे यहाँ किसी का किसी दूसरे से मन हट जाय तो उससे राग नहीं बनता ऐसे ही इस ज्ञानी पुरुष को अपने उन समस्त विकारों से मन हट गया, क्योंकि सारी पोल जान ली, विभाव अस्थिर है, नैमित्तिक हैं, दुःख के हेतुभूत हैं, अपवित्र ही तो हैं, इससे आत्मा का हित नहीं होने का, भली प्रकार ज्ञान बन गया, अब एक रागभाव का राग न होने से, बस यह तो राग से रीता है, मायने उस राग में राग नहीं कर रहा है, इस कारण ज्ञानी का उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता।

1185- अकषायित उपयोग में उपभोग का अप्रभाव-

ज्ञानी के कैसे रहता वह उपभोग? तो देखो पहले जमाने में जिसे कहते कढ़ी रंग की धुतियाँ, जो कि पहले रंगी जाती थीं। तो पहले कैसे क्या पकाते थे? उसमें लोध फिटकरी या अन्य कुछ डालते थे फिर रंग में रंगते थे तो उस कपड़े में खूब रंग भिद जाता था। फट जाय कपड़ा तो भी वह रंग नहीं छूटता था और कोई ऐसा रंग है कि पानी डाला रंग डाला तो वहाँ रंग तो आया कपड़े पर, परंतु भीतर में रंग भिदा नहीं, स्वीकार नहीं हुआ, वह बाहर ही रहा, उसे दो चार बार धो दिया जाय तो रंग कपड़े से बाहर हो जाता है। तो जैसे जिस वस्त्र को कषायित नहीं किया, लोध फिटकरी आदि में नहीं पकाया, ऐसे ही वस्त्र में बाहर से रंग डाला तो वह ऊपर ही स्वीकार है, भीतर अंगीकार नहीं और वह रंग बाहर ही बाहर लोटता है, ऐसे ही जब कषायित नहीं है ज्ञानी का परिणाम याने जो रागभाव उठा, कर्मविपाक आया उस राग में राग नहीं है, उसको भीतर कषायित नहीं किया है इस कारण से वह उपभोग बाहर ही बाहर बन रहा है, बाहर ही बाहर लौट रहा है, ज्ञानी ने उसे अपने आपके अन्दर अंगीकार नहीं किया।

1186- एक अन्तस्तत्त्व की साधना में सर्वश्रेय-

एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय। एक अपने आपके इस सहज अन्तस्तत्त्व की दृष्टि हो कि मैं वास्तव में निरपेक्ष क्या हूँ। यह बात अगरचित्त में है तो आपकी सारी बातें षट्कर्तव्य, व्रत तप ये सब उसमें कई गुणा काम करेंगे। जैसे 1 का अंक न रखे और वहाँ बिन्दी (0) रखें तो बिन्दी (0) की कीमत है नहीं, कितनी ही बिन्दी रखे जावो उसकी कोई कीमत नहीं, ऐसे ही कोई मन वचन काय की खूब चेष्टायें करें मगर अपने आपके एक सहज अंतस्तत्त्व का आश्रय न ले तो ये सब बाहरी क्रियाकाण्ड कुछ काम न देंगे। जैसे 1

का अंक लिख लिया गया तो उसके बाद जितनी बिन्दी (0) रखी जायेंगी उनकी प्रत्येक की 10-10 गुनी कीमत बढ़ती जायगी और यदि कोई अंक पहले न रखे तो उन बिन्दियों से कोई संख्या नहीं बनती, ऐसे ही एक की साधना बनावें। यही तो अध्यात्म साधनों में बात चलती है, पर फर्क यह हो जाता कि हम जिस पदवी में हैं, गृहस्थ हैं, श्रावक हैं उस पदवी में हम अपनी चर्या नहीं बनाते। साधुजनों को तो कुछ करना नहीं पड़ता। उन्हें तो मन्दिर में जाकर दर्शन करना भी आवश्यक नहीं। पास मिल जाय तो दर्शन करते हैं। जैसे श्रावकों के नियम है कि बिना दर्शन किए न खाना तो ऐसा नियम साधुओं के नहीं होता। साधु स्वयं एक जिनमुद्रा में है। और जिनका नियम है वे साधु दर्शन करके अपना नियम पूर्ण करते हैं। तो साधुओं जैसी बात अगर श्रावकजन करें और उसमें एक अंतरंग निश्चयनय की बात का आधार दें तो उससे हम ही टोटे में रहते हैं। हमारी व्यावहारिक चेष्टायें अगर बेकार हैं फोकट हैं तो फिर फोकट के करने में भार क्या? उन्हें करो। वह तो एक प्रकार से ढाल का काम करता। उसमें उपयोग रहने से व्यसन के पाप के परिणाम न बनेंगे। जो किसी न किसी प्रकार हम शुभोपयोग की क्रियाओं में चलते हैं तो इतना लाभ तो तुरन्त है कि व्यसन और पाप की बातें उस समय नहीं आती। वहाँ से तो मोड़ हो गया। अब ऐसी सुरक्षित स्थिति में हमारा क्या काम है कि शुभोपयोग की पकड़ न रखें, शुभोपयोग क्रिया ही मेरा सर्वस्व है, यह ही मुझे पार करेगा, ऐसी दृष्टि न होनी चाहिए वह तो सुरक्षा के लिए है। अब हमारी अंतस्तत्त्व की साधना पर दृष्टि होनी चाहिए। मैं क्या हूँ सही परमार्थ निरपेक्ष अपने आपके सत्त्व के कारण। हमने जो परखा है, बस वह दृष्टि में आये वह कहलाती है एक ही साधना। एक की साधना करें तो बाकी सब भी उसमें सहायक हो जाते। अगर उस एक को तज दिया तो वहाँ फिर पार नहीं पा सकते। तो जैसे जो वस्त्र अकषायित है उसमें रंग का योग केवल ऐं स्वीकृत जैसा है अथवा अस्वीकृत है? संधि में यहाँ अस्वीकृत अर्थ भी निकलता है। स्वीकार नहीं किया उस वस्त्र ने रंग को, रंग ऊपर ही ऊपर रहा, उसमें भिदा नहीं, ऐसे ही ज्ञानी ने उस उपभोग को स्वीकार नहीं किया अन्दरमें किन्तु कर्मविपाक से और उसकी कमजोरी के कारण वह ज्ञानी पुरुष उपभोग में पड़ गया फिर भी उसके उपभोग परिग्रह भाव को प्राप्त नहीं होते।

कलश 149

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः ।

लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥149॥

1187- ज्ञानी की सर्वरागरसवर्जनशीलता-

ज्ञानवान पुरुष, ज्ञानी पुरुष, जिसने अपने चैतन्य महाप्रभु की आराधना का दृढतम अभ्यास कर लिया है वह स्वरसतः स्वयं ही अपनी प्रकृति के कारण, अपनी ही आदत से वह समस्त राग रस को छोड़ने के स्वभाव वाला है, जैसे स्वर्ण कीचड़ को, मल को छोड़ने का स्वभाव रखने वाला है। कोई लोहा पड़ा हो और उसमें जरा सा कीचड़ लग जाय तो कुछ ही काल में उसमें जंग लग जाती है, लोहे में जंग लग जाने का स्वभाव पड़ा है, लोहा जंग को, कीचड़ को, मल को स्वीकार कर लेता है, पर स्वर्ण चाहे कीचड़ में कितने ही दिन पड़ा रहे पर वह उसे स्वीकार नहीं करता। जैसे दृष्टान्त दिया है कि स्वर्ण का स्वभाव उस जंग से, कर्दम से, कीचड़ से, मल से अलग ही रहने का है ऐसे ही ज्ञानी जीव का स्वभाव समस्त राग से अलग ही रहने का है। कहाँ उपयोग गया, बस इसकी तारीफ है। ज्ञानी का उपयोग अपने आपके सहज स्वरूप में यह ही मैं हूँ इस प्रकार कीप्रतीति में बना हुआ है इसलिये वह समस्त रागरस में परिहरण का स्वभाव वाला ही है। आ रहा है राग तो आये।

1188- स्वभावोन्मुखता की दृढता का प्रभाव-

इस प्रसंग में हमें अपनी एक बचपन की याद आयी। उस समय हमारा विद्यार्थी जीवन था।

हमको खूब तेज बुखार चढ़ गया, ऊपर से लिहाफ ओढ़े हुए थे, कुछ झपकी सी आयी, वही स्वप्न आया कि हम नीचे पड़े हुए हैं और हमारे ऊपर से रेलगाड़ी जा रही है। (यह स्वप्न की बात कह रहे) और हम अपने अन्दर में एक बहुत कड़ा दिल करके, एक तेज ऐंठ सी बना करके पड़े हुए थे। वहाँ हम बार बार यह देखते जा रहे थे कि अभी रेलगाड़ी कितनी निकलनी और बाकी रह गई। थोड़ी देर में स्वप्न में ही क्या देखा कि रेलगाड़ी हमारे ऊपर से पार हो गई। और बड़ा विश्राम पाया नींद खुली, स्वप्न भंग हुआ, क्या देखा कि खूब तेज पसीना बह रहा था और चढ़ा हुआ सारा बुखार मिट गया था। तो जैसे वहाँ स्वप्न में अन्दर में एक कड़ा दिल बनाकर एक बड़े मौज से श्वास लेकर आराम से पड़ गए तो रेलगाड़ी भी ऊपर से निकल गई याने उपद्रव भी निकल गया, ऐसे ही ये उपभोग आये हैं, यह मानो ज्ञानी के ऊपर से रेल निकल रही। इसे एक उपद्रव सा समझिये। स्त्री पुत्रादिक सम्बंधी दिख रहे हैं, कुछ स्नेही की बात बोल रहे, ये उपभोग हैं, ये उपद्रव हैं। इनके बीच में ज्ञानी भीतर ऐसा एक कड़ाका का वातावरण लिए हुए है कि भीतर में आँच नहीं आने देता। ये उपभोग चल रहे हैं, मगर अभिप्राय में, आशय में भीतर में, उनकी हवा नहीं लगने देता, ऐसी कोई विकट स्थिति होती है ज्ञानी जीव की। इसी को कहते हैं रागरसशक्ति। वहाँ राग है, पर उसके रस से रिक्त है, उसका रस नहीं ले रहा है। वैसे चम्मच का दृष्टान्त लोग देते खराब बात के लिए कि दाल, साग वगैरह के बीच रहकर भी वह चम्मच उसका स्वाद नहीं ले पाती। अब उसको अच्छी बात के लिए भी समझ लो कि वह चम्मच इतनी अलिप्त रह रही कि ये सब बातें आ रहीं, दाल साग वगैरह चलाने की, उनके बीच रहने की मगर उनके स्वाद का कुछ भी असर उस चम्मच पर नहीं होता। ऐसे ही ज्ञानी का दिल कहाँ लगा

है, कहाँ चित्त है, कौनसी बात सुहाती है उसे ज्ञानी ही जानें। उसका एक दृढ़तम निर्णय है कि सहज स्वभाव का आश्रय ही इस जीव को संसार के दुःखों से पार कर सकता। दूसरा कोई उपाय नहीं है, और जिसमें यह निर्णय बना है वह जैनागम के समस्त उपदेशों को इस तरह से ढालेगा कि वह स्वभावाश्रय की ओर जायगा। उसके एक यही कला है, एक यही बात लगी है, उसको किसी जगह विवाद ही नहीं लगता, क्योंकि उसने एक काम निश्चित कर लिया। उसके तो एक काम है दूसरा नहीं।

1189- ज्ञानी के सदाशय की विजय-

जिसके दिल में जो हो उसकी ओर ही वह चलता है, कोई जबरदस्ती भी लगता है तो जबरदस्ती की तो पोल खुल जाती हैं और जो हृदय से लगता है उसकी बात निभ जाती है। तो यह ज्ञानी पुरुष समस्त राग रस से परिहरण का स्वभाव वाला है इस कारण कर्म के बीच में गिरा हुआ होने पर भी कर्म से अलिप्त है, कौन सा कर्म? ये जो ज्ञानी उपभोग कर रहा, ज्ञान विकल्प कर रहा या जो भी इसमें विकल्प हो रहे इन कर्मों के बीच पड़े हुए भी समस्त कर्मों से लिप्त नहीं होता अभिप्राय बहुत महत्त्व की बात है। आपका मित्र है और उस मित्र के द्वारा कोई क्रिया ऐसी बन जाय कि जिससे आपका ही बिगाड़ हो जाता है तो भी आप मित्र पर गुस्सा नहीं होते, क्योंकि आप जानते हैं कि इस मित्र का तो हमारे हित के लिए भाव रहता है, भाई उदय था, हो गया ऐसा, पर मित्र का तो उसके लिए अच्छा ही भाव है, अभिप्राय की कितनी कदर होती है, जिसका जितना अभिप्राय मिल गया वही तो उसका मित्र कहलाता। और, उस मित्रता में उस अभिप्राय के मेल के प्रसंग में कदाचित् कुछ हल्की भी बात हो जाय, कुछ अपमान भरी बात भी हो जाय तो भी वह बड़ा सुखद हो जाता है। भली प्रकार सहन हो जाता है। वहाँ बिगाड़ नहीं होता। जिसका अभिप्राय बुरा है- उसकी जरा सी भी बात चाहे अच्छी भी थोड़ी बहुत हो फिर भी बुरी लगती है। वहाँ मन नहीं जमता। माँ अपने बच्चों को बहुत मार भी देती, बच्चा रोता भी है और रोते हुए में भी उस माँ से ही वह चिपटता है। और कोई दूसरा पुरुष उस बच्चे पर आँख जरा सी तेज निकाल दे तो वह रोने लगेगा, डर जायगा, और उसका हितैषी भी उससे लड़ेगा। तो अभिप्राय का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। इस ज्ञानी जीव का आशय, अभिप्राय, दृष्टि अपने अन्तस्तत्त्व की ओर है। उसे सर्वत्र बस स्वभावाश्रय की ही बात दिखती है। स्वप्न भी आयगा तो स्वभावाश्रय की बात का आयगा। और जैसे स्वप्न में और और बातें देखता ना- यह पर्वत है, यह नदी है...ऐसे ही स्वानुभव में जो स्थित होता है उसके भी स्वप्न हुआ करता है। जो बात लगी है, दिल में वही बात पड़ी है, वही बात स्वप्न में भी आती है। तो बस एक उपयोग भूमि को विशुद्ध करने में कितना बल लगाना पड़ता है। निष्क्रिय, अबल, निर्मल, ध्रुव अविकार स्वभाव को देखो।

1190- जीवविकार की नैमित्तिकता-

प्रत्येक पदार्थ अपने आप ही अपने स्वरूप से अविकार होते हैं। चेतन हो या पुद्गल हो या कुछ भी द्रव्य हो, अपने आप अपने स्वरूप में ही हैं सब। जीव पुद्गल का कुछ सम्पर्क बनता है। फिर वहाँ विषय

स्थिति बनती है, विकार होते हैं, हों, तिस पर भी स्वभाव देखो तो सबका अविकार स्वभाव है। यदि स्वभाव में विकार आ गया तो वह विकार फिर सदा रहेगा। किसी के मिटाये मिट ही नहीं सकता, कोई उद्यम ही नहीं बन सकता। स्वभाव में विकार नहीं होता, तभी बड़ी दृढ़ता से, निश्चय से कुन्दकुन्दाचार्य ने, गाथा में कहा उसकी टीका में अमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि “न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मानो याति यथार्ककान्तः। तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत्।” एक तो जातु शब्द लगा- तस्मिन्निमित्तं परसंग एव। एक एव शब्द डाला कि उस विकार में निमित्त पर का संग ही है, और यह वस्तु का स्वभाव है। यों इसे वस्तुस्वभावोऽयं कहा, उदेति तावद्, तावद् शब्द भी बड़े महत्त्व का होता है निश्चयपूर्वक, याने 4-4 शब्दों से दृढ़ता लाये हैं कि आत्मा अपने विकार में खुद निमित्त नहीं हो पाता। इसमें निमित्त परसंग ही है, और तभी तो देखो उस विकार को नष्ट करने की तरकीब बन जाती है। अगर विकार में कोई निमित्त न हों और इसमें ये विकार हो रहे तो उनको नष्ट करने का कोई उपाय सम्भव नहीं हो सकता। चूंकि ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, सम्पर्कज हैं, इसलिए ये स्वभाव में स्थान नहीं पाते, इस स्वभाव में प्रतिष्ठा नहीं पाते। जैसे दर्पण के सामने लाल पीली हरी कोई वस्तु रखी है, या कपड़ा रखा है तो उस दर्पण में वह रंगीन फोटो आयी। वह फोटो कपड़े की नहीं है, मगर कपड़े का सन्निधान पाकर हुई अतएव सभी लोग उसे कपड़े का फोटो कहते हैं। फोटोरूप जो परिणमन है वह तो दर्पण की स्वच्छता का विकार है। वह उसका परिणमन है उस काल में। ऐसा होने पर भी सब लोग जानते हैं कि यह फोटो यह प्रतिबिम्ब दर्पण में प्रतिष्ठित नहीं है। हो तो गया, आधार तो है, मगर दर्पण में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता। हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह औपाधिक है। जब यह जाना कि यह कर्मराग मेरे में मात्र प्रतिफलन है, यह औपाधिक है, मेरे स्वरूप की चीज नहीं है, निमित्तनैमित्तिकयोग है ऐसा कि यहाँ यह जीव अपने में ज्ञानविकल्प बना लेगा, लेकिन ये विकार स्वभाव में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं हो सकते। अगर ये स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जायें, स्वभावरूप हो जायें, स्वभाव के परिणाम बन जायें तब फिर वे किसी भी उपाय से हटाये नहीं जा सकते।

1191- रागरसरिक्त होने से कर्ममध्यपतित होने पर भी ज्ञानी की कर्मालिप्तता-

ज्ञानी सब तरह से अपने को देख रहा। निश्चय से अपना एकत्वस्वरूप देख रहा, व्यवहार से गड़बड़ियों की पोल देख रहा, उपेक्षा भी कर रहा, अपने में लीन हो रहा। आजादी के दो ही तो उपाय हैं- (1) असहयोग और (2) सत्याग्रह। अन्य भावों का, विभावों का असहयोग और सहज सत्य स्वरूप जो सत्यं शिवं सुन्दरम् है उस पर आग्रह है। ये दो बातें ज्ञानी करता है अतः उसकी यह स्थिति है कि वह रागरसरिक्त है। ज्ञानरस युक्त है सर्व रागरस से जुदा रहने का उसका स्वभाव है, इसलिए कर्म के मध्य पड़ा हुआ भी ज्ञानी कर्म से लिप्त नहीं होता। जो कर्ममध्य पतित नहीं, वह कर्म लिप्त नहीं, यह तो उभय सम्मत है, मगर ज्ञानी कर्म के मध्य में पतित हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता। यहाँ अपि शब्द से यह ध्वनित होता है कि उसमें संदेह ही नहीं, लेकिन ज्ञानी कर्म के मध्य में पड़ा हुआ भी क्रियायें नहीं करता, मन, वचन, काय की

चेष्टायें उसकी बंद हो गई, वह तो केवल अंतस्तत्त्व का ही अनुभव कर रहा, उसकी बात तो है ही ऐसी, मगर वह ज्ञानी जीव कदाचित् उपभोग भी करता हो, तो भी वह कर्मों से लिप्त नहीं है।

कलश 150

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते ।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततं
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्य परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥150॥

1192- प्रत्येक पदार्थ के स्वभाव की स्वाधीनता तथा अन्य के द्वारा अन्यादृश कियेजाने की अशक्यता-

जिस पदार्थ का जो जैसा स्वभाव है वह स्वभाव उसही के तो अधीन है याने स्वाधीन है। प्रत्येक पदार्थ स्वभावमय है, वह तो सत्त्वसिद्ध अधिकार है, जिस पदार्थ का जो स्वभाव है वह अन्य पदार्थों के द्वारा किसी भी तरह अन्य रूप से नहीं किया जा सकता। प्रत्येक पदार्थ सुदृढ़ है, अपने स्वरूप में मजबूत है। सत्त्व ही वैसा है। तो चाहे कितना ही मेल बने, चाहे कैसा ही सम्पर्क हो, कैसी ही परिस्थिति हो, प्रत्येक का स्वभाव उसका उसमें ही है, एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ को बदलता नहीं है, किसी के द्वारा अन्यस्वभावरूप किया जा सकता नहीं। देखिये किसी प्रसंग में कोई बात कभी पराधीन भी लग रही हो, जैसे जीव रागद्वेष करता है, पर पदार्थ का सन्निधान पाकर होता है तो यह पराधीन भाव है, पराश्रित भाव है। तो कोई कहे कि देखो यह जीव पराधीन हो गया। अरे जीव स्वतंत्रता से परतंत्र बनता है। परतंत्रता से परतंत्र नहीं बनता। जैसे कोई मनुष्य किसी का गुलाम बन रहा, सेवक बन रहा तो वह मनुष्य अपनी रुचि से, अपनी मर्जी से, अपनी स्वतंत्रता से, अपनी गर्ज से पराधीन बन रहा, दूसरे की अधीनता से कोई अधीन नहीं बनता। जो भी बनता है वह स्वयं अपनी स्वतंत्रता से अधीन बनता है। यह जीव इस समय पराधीन है, रागद्वेष मोह इस पर उछल रहे हैं और कैसे कैसे शरीरों में बँध जाता, फंस जाता, जकड़ जाता, जन्म मरण करता। कितनी ही बातें इसकी हो रही हैं तो इसे पराधीन न कहेंगे क्या? हो रहा यह जीव पराधीन, हो रहा बन्धन। हो रहा, अपने आपके ज्ञान विकल्प से, अपनी परिणति से इस प्रकार बना है कि ये सारी कहावतें, ये सारी बातें इस पर लद जाती हैं, तो यह जीव अपने आप अपनी परिणति से परिणमता है। सभी पदार्थ स्वयं की परिणति से परिणमते हैं। कोई दूसरा उस परिणति को नहीं कर बैठता।

1193- स्वाधीन स्वाधीन स्वभावमय पदार्थों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक योग का दर्शन-

हाँ इतनी बात अवश्य है लोक में कि कौन उपादान, कैसा उपादान कैसे निमित्त के सन्निधान में अपने आपमें कैसा परिणाम बना ले यह एक स्थिति है, अन्यथा जगत की सारी व्यवस्थायें समाप्त हो जायेंगी। हो

रहा है ना ऐसा। जैसे रोटी अग्नि पर पकती है, अब कोई सोच ले कि रोज रोज तो अग्नि में रोटी पकती थी, आज पानी में या धूल में ही रोटी सेंक लें, तो यह बात नहीं बन सकती। वहाँ एक नियत व्यवस्था है। क्योंकि ऐसे कार्य के लिए ऐसा निमित्त सन्निधान हो, ऐसी नियत व्यवस्था हो। सो भाई जो नियत व्यवस्था है, उसे कोई मना नहीं कर सकता, मगर वहाँ यह स्वभाव है कि ऐसी स्थिति में उपादान जो परिणमता है वह किसी अन्य की परिणति नहीं है। निमित्त का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रभाव कुछ अपने में ग्रहण करके परिणमता है ऐसा नहीं है। अरे वहाँ निमित्तसन्निधान है, ऐसा ही योग है कि ऐसे सन्निधान में ऐसा उपादान अपने में ऐसा परिणमन कर लेता है, मनुष्य चल रहा, एक सड़क से जा रहा, सड़क के किनारे पेड़ भी है, कुछ जगह खाली है, धूप भी निकल रही है, मनुष्य जा रहे हैं, पेड़ के नीचे से गए हैं, छाया रूप परिणम गए, और जहाँ पेड़ नहीं है, खाली मैदान है वहाँ तेज धूप प्रकाशरूप परिणम रहे हैं, चल रहे हैं तो ऐसा योग है वहाँ जिसका जैसा वातावरण है उसमें उसके अनुकूल इस मनुष्य पर छाया रूप, प्रकाशरूप ये सब नानाविध परिणतियाँ चल रही हैं। तो उस छाया को कहीं वृक्ष ने नहीं कर दिया, मगर वह योग ऐसा है कि वहाँ से यदि यह मनुष्य गुजरे तो वह छाया रूप आ जाता है एक निष्पत्ति की ओर से बात विचारेंगे तो निमित्तनैमित्तिकभाव आपको व्यवस्थित मिलेगा, और ज्ञप्ति की ओर से विचारेंगे तो वहाँ तो यह ही निर्णय पड़ा है कि अवधिज्ञानी ने, केवल ज्ञानी ने जान लिया ना वही तो होगा, इसमें कोई संदेह नहीं, लेकिन ज्ञानी ने वही जाना कि जैसा जब जिस विधि से होता, हो गया, भविष्य में भी याने जैसा होगा, जिस विधान से होगा वही जाना प्रभु ने इसलिए ज्ञप्ति व निष्पत्ति में परस्पर का अतिक्रमण नहीं। निमित्तनैमित्तिक योग का और सर्वज्ञदेव या अवधिज्ञानी के ज्ञान का कोई विरोध नहीं खाता, मगर जहाँ निष्पत्ति की दृष्टि से विचार चला करता वहाँ ये सब बातें होंगी। कार्यकारणभाव को दो दृष्टियों से परखा जाता है- (1) उपादान उपादेय के रूप से और (2) निमित्त नैमित्तिक के रूप से। उसके परखने की दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं। उपादान उपादेयभाव की दृष्टि से एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कार्यकारणभाव नहीं है, और निमित्तनैमित्तिक भाव की दृष्टि से ये सब कार्यकारणभाव युक्तिसंगत हो जाते हैं। इसका मूड़ और है और उपादान उपादेय से कार्य कार्यकारणभाव की तलाश करना बने तो इसका मूड़ और है।

1194- सर्व परिस्थितियों में स्वभाव की ध्रुवता-

कैसी भी स्थितियाँ हो, यह जीव निगोद में अनन्त काल रहा। अच्छा कोई बता सकता है, क्या कि निगोद जीवों के कितना ज्ञान है? अक्षर के अनन्तवें भाग। वह ऐसा लगता कि कुछ भी नहीं है। जड़ हैं एक तरह में निगोद, यों लगता है। क्या वह कोई ज्ञान में ज्ञान है। कोई चेतना सी लग रही है? मगर कितना ही दबा हो, स्वभाव अमिट है। अगर स्वभाव बदल गया होता तो मनुष्य हुआ, भगवान बने, सिद्ध बने, यह बात फिर कैसे होती है। स्वभाव वही है, वह कभी दूसरे पदार्थ के द्वारा बदला नहीं जा सकता। एक बात, दूसरी बात पर्यायदृष्टि से विचारो, मायने सम्यग्दृष्टि ज्ञानमय स्वरूप में हैं। ज्ञान स्वरूप ज्ञानरूप वर्त रहा, उसको

अज्ञानरूप करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। यही ज्ञानरूप वर्तने वाला जीव अपने ज्ञान की स्थिति को छोड़कर अज्ञानरूप मोही बन जाय तो बन जाय। हाँ वहाँ निमित्त सन्निधान को मना नहीं किया जा सकता। जैसे मनुष्य चल रहा है, छाया में वह छायारूप परिणम रहा है, वही आगे बढ़ा, धूपरूप परिणम गया, फिर छायारूप परिणम गया इस परिणमन को वृक्ष ने नहीं किया, मैदान ने नहीं किया, इस परिणति को तो जिसकी परिणति है उसी ने किया, पर उस योग प्रसंग में ऐसा कर लेता है। निमित्तनैमित्तिकयोग और वस्तुस्वातंत्र्य इन दोनों के एकत्र रहने में विरोध जरा भी नहीं है। परखने की दृष्टि है, किसी तरह परखे। हाँ तो जिस वस्तु का जो स्वभाव है वह स्वभाव अन्य पदार्थों के द्वारा अन्य रूप से किया नहीं जा सकता।

1195- ज्ञानरूप भूयमान ज्ञानी के परापराधनिमित्तक बंध की अप्रतिष्ठा-

प्रकरण चल रहा है ज्ञानी का। और, स्वभाव का मतलब है सहज स्वभाव से। अब इसके अनुरूप उठकर जो उसकी परिणति में एक आदत बन गई है उसे यहाँ ग्रहण कर लिया जाय। ज्ञानी की परिणति में यह आदत बनी है कि वह अज्ञान स्वरूप को निहारता रहा करे। अपने आपको सहज ज्ञानस्वरूप प्रतीति में लिए हुए है ज्ञानी। वहाँ ही उसकी दृष्टि लगा करती है। ऐसी आदत वाले ज्ञानी जीव की बात कह रहे हैं। ज्ञानरूप हो रहा है निरन्तर ज्ञानी उसे कोई अज्ञानरूप नहीं कर सकता। स्थिति होती है। करणानुयोग की बात तो ऐसी है कि सम्यग्दृष्टि भी हो जाय और फिर मिथ्यात्वप्रकृति का उदय हो तो सम्यक्त्व से छूटकर मिथ्यात्व में आता है। यह बात एक निमित्तनैमित्तिक योग में है, पर वहाँ भी यह देखिये कि ज्ञान से अज्ञानरूप परिणमता हुआ जीव उस प्रसंग में मिथ्यादृष्टि हुआ याने ज्ञान अज्ञानरूप परिणमा, ऐसा उस जीव को इस मिथ्यात्व ने मिथ्यादृष्टि किया। परिणति होने का ढंग क्या? तो उपादान की ओरसे देखिये मिथ्यात्वकर्म ने परिणम किया क्या, इस जीव को परिणमाया क्या? न परिणमते को कोई परिणमायेगा क्या? तो अन्तस्तत्त्व पर दृष्टि दीजिए- एक निश्चयनय के आधार से विचार करें कि यह जो जीव ज्ञानरूप चल रहा है तो यह अज्ञानरूप किसी पर के द्वारा नहीं बनता। तो ज्ञानरूप चल रहा यह ज्ञानी, अपने उपयोग में उस सहज ज्ञान प्रकाश को लिए है और उस ही रूप अपने को अनुभव करता है। बस इतिश्री, समाप्ति कुछ कार्य नहीं है बाहर करने को। बाहर सब मायाजाल है, भ्रमजाल है, झूठ बात है, बिना प्रयोजन का श्रम है, वह सब करना योग्य नहीं। एक यही सहज ज्ञान स्वभाव ज्ञान में अनुभूत रहे, यही मात्र एक कर्तव्य है, ऐसा आग्रह करके ज्ञानी जीव जो ज्ञानरूप निरन्तर चल रहा है, चल रहा है। यह बात हो रही है और ऊपर कर्मविपाक आ गया, पूर्वबद्ध कर्मविपाक समागत हो गया, उपभोग हो गया वहाँ यह बात बनी। भीतर में यहाँ संतत ज्ञानरूप होने की बात चल रही। सो उस ज्ञानी ने स्वयं अनुभव किया है। फल क्या मिलेगा? जैसा वह अपने स्वभाव में बस रहा है उसके अनुरूप उसके उपयोग का फल प्राप्त होगा। जो ज्ञानरूप हो रहा है, उसको बंध नहीं हो रहा। ऐसी बात निरख करके उस ज्ञानी के इस गुण पर आकर्षित हुआ कोई दूसरा ज्ञानी यहाँ कह रहा है धन्य है महाराज, तुम भोगों उपभोग, तुम्हारे परापराधजनित बंध नहीं होने का, कोई बंधन नहीं होने का।

1196- ज्ञानी के ज्ञानगुण महात्म्य के दर्शक का ज्ञानी के प्रति वात्सल्यवचन-

देखिये- कौनसे मुड़ में यह बात कह रहा हैज्ञानी? उस अन्तरात्मत्व की कला पर प्रसन्न होकर एक तरह आशीष रूप कह लो, प्रसादरूप स्थिति में कह रहा है ज्ञानी। एक भिखारी भी तो जब किसी दातार की उदारता का गुण समझता, उसे खूब भोजन वस्त्रादिक दिया ना सो उसकी बड़ी उदारता समझ में आयी तो वह भी एक बार बोल देता है- तुम्हारा भला हो, तुम खूब सुखी रहो, यह उसकी भीतरी एक आवाज है। तो जिस ज्ञानी ने इस अन्तस्त्व को जाना है कि जिसका उपयोग निरन्तर अपने सहज तत्त्व इस परमार्थ ज्ञानस्वरूप पर रह रहा है उसको कह रहे है, जब ऊपर से कोई आक्रमण ही हो गया कोई उपभोग, चारित्रमोह का विचित्र विपाक ही हो गया तो कहते हैं कि हे ज्ञानी जीवों ! भोगों तुम्हारे बंध नहीं। तो उसका कहीं यह मतलब न लेना कि हर एक जीव के प्रति यही आशीष चलेगा। यह आशीष लटोरे खचोरे लोगों के लिए नहीं है। यह आवाज उनके लिए निकल रही, जिन्होंने अपने स्वतंत्र स्वरूप को नहीं पहिचाना। ज्ञानी के परापराधनिमित्तक बंध नहीं है। और, कहीं यह ज्ञान बिगड़ जाय तो क्या करे? वहाँ जो बंध होगा वह स्वापराधनिमित्तक बंध होगा, पराधपरानिमित्तक बंध वैसे भी कभी होता नहीं। ज्ञानी को एक मदद भी कर रहा यह तत्त्वज्ञान- हे ज्ञानी तू लगा रहे अपने ज्ञानस्वरूप के अभ्यास में। तू इस तरह का भी ख्याल न करना कि उपभोग आये हैं, कहीं ये बंध नहीं कर दें, अरे उन उपभोगों को तू भोग, ये बाहरी पदार्थ हैं। तू अपनी इस पवित्र दृष्टि में चल रहा तो तू इतना भी कलंक मत लगा लेना कि जो ऐसा सोच बैठे कि इस उपभोग के कारण कहीं बंध न हो जाय। अरे परपदार्थ के कारण जीव को बंध नहीं होता। एक तो यह साधारण नियम है और फिर आपके लिए तो स्पेशल स्थिति गुजर रही है। तू अपने इस ज्ञानस्वरूप में ही रह। ज्ञानस्वरूप में ही रम।

1197- ज्ञानस्वभाव के भवन के संबंध में ओध और समुचितपने की दृष्टि-

जिसका जो जैसा स्वरूप है वह वही रहता है, यह तो है एक ओध उपादान की दृष्टि से वर्णन। यहाँ समुचित उपादान की दृष्टि से कहा जा रहा है। उस अनादि अनन्त सहज स्वरूप की बात कही जा रही है, किन्तु ज्ञानरूप जो निरन्तर हो रहा है ऐसा जो समुचित उपादान चल रहा है उसके प्रति बात कही जा रही है। ओध उपादान और समुचित उपादान, इन दोनों का क्या मतलब है? ओध कहते हैं- सामान्य को और समुचित कहते हैंविशेष को। जीव में केवलज्ञान का स्वभाव है, निगोद के जीव में भी है और अभव्य में भी है केवलज्ञान का स्वभाव। परिपूर्ण ज्ञान का स्वभाव अभव्य में भी है, ऐसी बात सुनकर आप सोचते होंगे कि अभव्य में कैसे रहा? अच्छा नहीं है ना? तो चलो छुट्टी हो गई। फिर ज्ञानावरण की 5 प्रकृतियाँ अभव्य के न बतावें। केवलज्ञानावरण बताने की क्या जरूरत? अभव्य में यदि केवलज्ञान का स्वभाव नहीं है तो उस ज्ञानस्वभाव को आवरण कर्म क्यों कहा, अभव्य के 5 ज्ञानावरण की सत्ता बताना यह सिद्ध करता है कि अभव्य भी केवलज्ञान का स्वभाव रखता है, तब ही तो उसके अनादितः यह केवलज्ञानावरण बना हुआ है।

भव्य और अभव्य में जीवस्वरूप के नाते भेद नहीं है, अगर स्वरूप के नाते भेद होता तो 6 द्रव्य न कहकर 7 द्रव्य कहे जाने थे। आचार्यों ने, वीतराग ऋषि संतों ने जहाँ जो वाणी की है, चाहे कोई पहिचान न पाये लेकिन उस वाणी का एक भी अक्षर कितना कीमती है, कितना मार्मिक है, कितना रहस्य को लिए हुए हैं इस बात की कला यदि देखना है तो टीकाकार अकलंक देव, विद्यानन्दी स्वामी आदि जो बड़े दिग्गज दार्शनिक विद्वान हुए हैं उनकी रचित टीका में देखो जब टीकायें पढ़ते हैं तो उनके रहस्य का पता पड़ता है। उनकी तो बात क्या? षट्खंडागम सूत्र की टीका वीरसेन स्वामी ने किया, जिन्होंने उसका अध्ययन किया हैं उसको जब उसके मर्म का पता पड़ता है तो वे श्रद्धा से नतमस्तक हो जाते हैं। मूल सूत्रकार ने जो बात कही है उसमें कोई बात अगर ऐसी भी जंचे कि यह अक्षर फालतू है, अगर ऐसा एक प्रसंग रखे तो उसके विषय में आचार्यों ने टीकाकारों ने शंका और समाधान रूप में ऐसा रखा कि ठीक जंच जाता कि यह बात गलत नहीं है, ऐसा ही है।

1198- आर्षसूत्रों के रहस्य का एक उदाहरण-

एक जरा सूत्र समर्थन का उदाहरण लो। तत्त्वार्थसूत्र का द्वितीय अध्याय जिसमें सूत्र आया है औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपरिणामिकौ च। सर्वप्रथम कहा- औपशमिकक्षायिकौ भावौ, देखना औपशमिक व क्षायिक भाव, ये दो बताये, लग रहा एकसा कि सूत्र खतम हो गया, जब भाव शब्द यहाँ डाल दिया और भाव का ही वर्णन करना था और भाव के ही भेद बताने थे तो भाव के जब दो विशेषण बता दिये औपशमिक और क्षायिक और उसके बाद कहते हैं भावौ, औपशमिक और क्षायिक ये भाव हैं, अब इसके आगे कुछ शक सा नहीं रहता कि अब आगे और भी कुछ कहना चाहिए, सूत्र पूरा हो गया, मगर सूत्र वहाँ तो पूरा हुआ नहीं है सो फिर कहते हैं मिश्रश्च च मायने और जैसे किसी बच्चे से कोई बात कही जाय- देखो भाई जीव के भाव कितने हैं? तो वह कहता है दो, औपशमिकभाव और क्षायिकभाव, और, वह वहाँ रुक गया, जैसे मानो वह भूल गया था और उसे फिर ख्याल आ गया हो। तो वह और लगाकर आगे बोला। औपशमिक क्षायिक भाव यहाँ दो बात कह कर विराम सा लेकर कहता कि और मिश्र। अब च शब्द बोल दिया तो आखिरी भेद की बात समाप्त हुई आप अगर 10 नाम लेते हैं तो 9 नाम तक तो आप सभी शब्द बोलते जाते, 'और' शब्द नहीं लगाते, फलाने फलाने किन्तु अन्त में कहते और फलाने 'अन्त में' और लग गया, और के बाद एक नाम ले लिया तो अब गुंजाइश नहीं कि यहाँ और कुछ बोलेगा कोई। बस हो गया। सूत्र पूरा। मिश्रश्च, और फिर लिखा- जीवस्य स्वतत्त्वं, ये जीव के स्वतत्त्व हैं। अब तो कोई शंका न रहना चाहिए, सूत्र पूरा हो गया। मगर इसके बाद फिर बोल देते हैं औदयिकपरिणामिकौ च। याने लगता होगा कि यहाँ आचार्य महाराज कई बार कुछ अटक गए। मगर वहाँ रहस्य देखो तो आपको ऐसा लगेगा कि वे अटके नहीं, किन्तु अनेक रहस्यों को बताने वाली बात है। औपशमिकक्षायिकौ ये दो बातें एक साथ बतलायी हैं, तो ये भव्य जीव के होते हैं। जैसे मानो आप एक रेडक्रास+बना दें, इसमें आप नाम लिख दीजिए, ऊपर

की जो लाइन है उसमें आप ऐसा लिख दीजिए- नीचे के कोने पर औपशमिक लिख दीजिए और सबसे ऊपर किनारे पर लिखिये क्षायिक। अब आड़ी लाइन में लिखो, औदयिक, दूसरी ओरलिखोपारिणामिक, मिश्र महाराज को बीच में लिख दो, तो आपका रेडक्रास + बन गया। यह सूत्र बन गया, इसे पढ़ लो अच्छी तरह से। यह सब नक्शा इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि भव्य जीव, अन्तरात्मा जो मोक्षमार्गी है उसके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव होते हैं, क्षायोपशमिक भाव दोनों किस्म के हैं, रद्दी भाव हैं, ऐसे भी क्षायोपशमिक हैं और सम्यक्त्व के साथ वाले भी क्षायोपशमिक हैं, ऐसा वह बीच का मिश्र क्षायोपशमिक दोनों डंडों को छू रहा है। और बाहर में देखो तो औदयिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक ये सब संसारी जीव के है, भव्य जीव है तो अभव्य जीव है तो। इस तरह का एक तथ्य सीधा स्पष्ट होता है। इसके लिए सूत्र में इस तरह से रुक रुककर विशेष भी बीच-बीच में दे देकर सूत्र निर्माण हुआ है। आचार्य सन्तोंके प्रत्येक अक्षरों में बड़े तथ्य और रहस्य पाये जाते हैं।

1199- ज्ञानी के सतत ज्ञानरूप होने की महिमा-

यह ज्ञानी जीव है, इसके निरन्तर अपने आपके ज्ञानस्वरूप में दृष्टि, प्रतीति अनुभूति, कुछ न कुछ तो सदा है, प्रतीति तो निरन्तर बनी हुई है, वहाँ वहाँ ही चित्त है। जैसे किसी का कोई बड़ा ही इष्ट गुजर जाय तो रात दिन उसका वही चित्त रहता है, इसी तरह संसार के जन्म मरण संकटों से जिसका भयभीत चित्त हो गया, संसार में रलना भला नहीं, यह बड़े संकट की बात है, और साथ ही इन संकटों से छूटने का उपाय भी दृष्टि में आ गया, यह है मेरा सहज चैतन्यस्वरूप। इसका आश्रय करना, इससे ही छुटकारा बनेगा। ऐसे जीव को अब क्या चाहिए? उसे निरन्तर अपने सहज ज्ञानस्वरूप की प्रतीति रहती है, ऐसे जीव के पूर्वबद्ध निज कर्मविपाक से उपभोग आता है और आया तो कुछ तो बात बनी, चाहे क्षोभ बाहर ही लोटे। मगर उस अन्तरात्मत्व के उस भीतरी गुण के समझने से यह इतना प्रसन्न होकर कह रहा है कि हे ज्ञानी जीव तुम भोगो, तुम्हें परापराधजनित बन्ध नहीं। पर के अपराध से, पर के कारण से, सम्बंध से होने वाला यहाँ यहाँ बन्ध नहीं। यह कर्मविपाकजनित जो उपभोग आया है उसके भोगने पर भी तेरे में पर के कारण बंध नहीं है और इतना ही नहीं, तू यह भी विकल्प न कर कि कहीं इसके कारण बंध न हो जाय, ज्ञानी के दृढ़ निर्णय है कि जिसके बन्ध होता, उसके ज्ञानविकल्प के कारण बंध होता। अपने स्वभाव से चिगकर जो रागद्वेष परिणाम में आता हो उस परिणाम का निमित्त पाकर कर्मबन्धन होता है। कहीं दूसरे पदार्थ कारण यह बंधन नहीं बनता। निमित्तनैमित्तिक योग दोनों ओरबराबर है, कर्मोदय का कार्य उपभोग तो मिल गया, किन्तु यह ज्ञानी उस काल में जो अपने स्वभाव में रम रहा है उसका फल है कि उसमें बुद्धिपूर्वक वासना नहीं बन रही है। बराबर दोनों ओरसे बात चलती है। जीव के विशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर पूर्वबद्ध कर्म अपने आपमें निर्जरा करते हैं छूटते रहते हैं। कैसे छूटते उसकी भी एक नियतव्यवस्था है कि कर्म का दूर होना यह किस तरह से हो रहा है, चल रही है सब व्यवस्था, मगर प्रत्येक द्रव्य का जिसका जो स्वभाव है, स्वरूप है वह

स्वरूप वह स्वभाव किसी अन्य पदार्थ के द्वारा अन्य प्रकार नहीं किया जा सकता। यह एक दृढ़ता है इस स्वरूप दृष्टा की। यह स्वरूप का जो निहारना मात्र बन रहा यह अनुभव बिना नहीं बन सकता। अनुभव किया गया है, उसके बाद से दृष्टि और प्रतीति चला करती है।

1200- सहज अन्तस्तत्त्व के अनुभव के प्रसाद से प्रमाणित व प्रतीत सहज स्वभाव के आश्रय का प्रभाव-

भैया, सबसे अधिक प्रमाणित चीज अनुभव है, एक बार एक राजा के दरबार में यह झगड़ा आया कि एक पुरुष के दो स्त्रियाँ थीं बड़ी और छोटी। मानो उन दोनों में से छोटी के पास एक बालक था, बड़ी के कोई संतान न थी। वह मन ही मन कुड़ा करती थी। एक दिन उसने राज दरबार में यह मुकदमा पेश किया कि यह बालक मेरा है, मुझे मिलना चाहिए, छोटी कहे कि मेरा है, मुझे मिलना चाहिए। राजा यह बात सुनकर बड़ा हैरान हुआ। क्या निर्णय वह दे दे कि किसका है? पति की सम्पत्ति पर दोनों ही स्त्रियों का बराबर का अधिकार था। वहाँ उस राजा को यह निर्णय देना मुश्किल पड गया कि यह बालक किसका है और किसे मिलना चाहिए। सो उस दिन राजा बोला अच्छा इसका न्याय कल के दिन होगा। अब उसी बीच राजा ने अपने जल्लादों को समझा दिया कि देखो कल के दिन तुम लोग नंगी तलवारें लेकर खड़े हो जाना, और हम निर्णय देंगे कि इस बालक के बराबर-बराबर दो टुकड़े कर दो, सो तुम उसके टुकड़े तो न करना, सिर्फ टुकड़े करने का रूपक दिखाना।...ठीक है। दूसरे दिन फिर हाजिर हुई वे दोनों स्त्रियाँ वहाँ, राजा ने अपना निर्णय दिया कि पति की सम्पत्ति पर दोनों का हक है अतः उस बालक के तलवार से बराबर बराबर दो टुकड़े करके एक एक टुकड़ा दोनों स्त्रियों को दे दिया जावे। तो वहाँ बड़ी स्त्री तो प्रसन्न दिख रही थी क्योंकि वह तो ऐसा चाहती ही थी और छोटी स्त्री दुःखी होकर बोली- महाराज यह मेरा बालक बिल्कुल नहीं है। यह बालक इस बड़ी को ही दे दिया जावे। बस क्या था, राजा ने सब बात समझ लिया कि यह बालक इस छोटी स्त्री का ही है, क्योंकि यह जानती कि यदि जिन्दा रहेगा तो इसे देख देखकर ही खुश रहूँगी। आखिर वह बालक उस छोटी स्त्री को दे दिया। तो देखो यहाँ किसने निर्णय बताया? अनुभव ने। तो ऐसे अनुभवसहित ज्ञान को कहते हैं सम्यज्ञान। और ज्ञान पहिले भी है, वचनों में, युक्ति में, समझ में ज्ञान वही है मगर अनुभवरहित जब तक ज्ञान है तो वह ज्ञान है। उसे जबरदस्ती कहना हो तो कहो मिथ्याज्ञान, और ढंग से बोलना हो तो कहो ज्ञान। तुम इस ज्ञान को मिथ्या कैसे कहते सच तो बतला रहे? अच्छा सुनो, वह ज्ञान सम्यक् कैसे है? अनुभवसहित तो है ही नहीं, इसी कारण बताया कि जानकर श्रद्धान करें और उस पर आचरण हो। श्रद्धा और आचरण के बीच जो ज्ञान है वह श्रद्धान का अविनाभावी है। तो यह ज्ञानी श्रद्धानी अनुभवपूर्वक अपने स्वरूप को निहारता है, देखता रहता है, उसका उपयोग इस अन्तस्तत्त्व पर है, उसके लिए कह रहे कि उस ज्ञानी के उपभोग होने पर भी निमित्तक बंध नहीं है।

कलश 151

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्ताप्युच्यते
 भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः ।
 बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्तिते
 ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्भ्रुवम् ॥151॥

1201- कुछ भी कर्म करने की अनुचितता का ज्ञानी को संबोधन-

प्रकरण यह चल रहा है कि ज्ञानी पुरुष के कर्मविपाकवश उपभोग भी आ जाय तो भी उपभोग निमित्तक उसके बंध नहीं बनता। कारण यह है कि उसका उपयोग उस ज्ञानस्वरूप की ओर है तो उसके बुद्धिपूर्वक कोई विकल्प वहाँ नहीं है, इस कारण से वह बँधता नहीं। इस प्रकरण के चलने के बाद कोई लोग स्वच्छन्द भी हो सकते सुनकर, तो उस स्वच्छंदता का अपहार करने के लिए कह रहे हैं कि हे ज्ञानी तुमको कुछ भी कर्म करना उचित नहीं है। कोई सा भी कर्म, कोई भी उपभोग किसी भी प्रकार का विकल्प किया जाना उचित नहीं है। आया था उपभोग कुछ, तो सुख दुःख रूप बात बन गई थी, इतना भी विकल्प करना उचित नहीं है। हाँ जब ऐसी वस्तु स्थिति है, वही एक उत्सर्ग का निर्णय है कि किसी भी प्रकार का कर्म किया जाना उचित नहीं, कुछ सोच मत करें, कुछ विचारें नहीं, कुछ बोलना नहीं, करना नहीं, भोगोपभोग कोई भी प्रकार का विकल्प करना नहीं। यह है एक उत्सर्ग का आदेश। तो एक बात यह कह रहे हैं कि कोई ऐसा सोचता है अथवा ऐसी स्थिति बनती है कि मैं भोगता तो हूँ पर मेरा यह उपभोग कुछ नहीं, अथवा ये बंधादिक कुछ नहीं, भोग रहा हूँ परमेरे बंध नहीं। ऐसा जो कोई कहता है तो समझो कि उसने खट्टा खाया, जिसे कहते हैं एक दुरुपयोग करना। उपभोग होता है, पर बंध नहीं होता, ऐसे वचन को सुनकर कोई चित्त में यह बात लाये कि मैं भी भोगता हूँ, पर उसके बंध नहीं है तो यह भी उसने खट्टा खाया, दुर्भुक्त हुआ। एक बात। दूसरी बात यह कि खट्टा खाया, क्योंकि उसके भीतर इच्छा तो पड़ी है भोग की और इस तरह का वह अनुभव बनाता है- मैं भोग रहा हूँ, परन्तु बंध नहीं तो कामचार जब है, इच्छाजब है तो फिर बंध न हो, यह कैसे हो सकता? इच्छा है तो बंध चलेगा, इस कारण कोई भी काम करना उचित नहीं, एक ही निर्णय रखें अपने लिए कि भोग भोगना उचित नहीं, उपभोग रंच न चाहिए। किसी प्रकार का सुख दुःख विकल्प कुछ भी न चाहिए।

1202- उपभोग की ज्ञानी के दुर्भुक्तता-

अब जरा थोड़ा ज्ञानी की प्रशंसा में इसी वचन को ढालो। ज्ञानी जीव के उपभोग होता है, किन्तु प्रतीति, दृष्टि, अनुभूति कुछ अपने आपकी होने के कारण कुछ हुई, कुछ हो रही है, प्रतीति निरन्तर है। तो इस कारण उसके उपभोगकृत परापराधकृत बंध नहीं है, तो यह दुर्भुक्त याने बड़ा खराब भोगा गया। अच्छा

भोगा गया क्या कहलाता कि भोग हो और बंध हो और संसार में रुलना हो यही तो भोगने का एक न्याय है और इसी को ही डटकर भोग कहते हैं। जैसे इस मुद्रा में देखा जाय तो जगत मेंकहीं भी कुछ भी अन्याय नहीं हो रहा। जैसे कि किसी ने पाप किया, बंध किया, फल इसमें भोगा गया सो भोगे, अन्याय काहे का? किसी पर कोई कितना ही अन्याय कर रहा, पर जीवों की नीति पर देखो तो जो जैसा करता है सो पाता, अन्याय काहे का? जो सता रहा है अन्याय कर रहा है उसका है अन्याय। अगर कोई पाप करे, व्यसन करे और उसका फल न मिले तो उसे कहो अन्याय जैसे इस ओरबात यों लगाते हैं इस तरह यहाँ भी लगावें कि ज्ञानी के उपभोग हो रहा और बंध नहीं हो रहा तो यह कोई भोग की नीति का और भोग के कानून से बात होनी चाहिए- संसार बँडे, दुःखी हो, बंध हो, यह हुआ नहीं तो वह दुर्भुक्त हो गया। कुछ अच्छा नहीं भोगा गया। अच्छा भोगना मायने भोगे और बंध होवे, दुःखी होवे वह तो है भोग भोगने की सही बात भोगना हुआ और बंध हुआ ना? नीति की बात हुई, न्याय हो गया, मगर यहाँ देखो कि ज्ञानी जीव के उपभोग हो रहा और बंध नहीं हो रहा। यह एक ज्ञानी की प्रशंसा का अर्थ है।

1203- उपभोग में इच्छा कामाचार होने के अपराध से बन्धन-

मतलब यह है कि उत्सर्ग बात यह है कि कुछ करना ही नहीं चाहिए और विपाक की बात आ पड़ती है तो अपने आपके भीतर सम्हाल रखना कि भीतर इच्छा न जगह, उसके प्रति कामचार न हो, अभिलाषा न बने। देख भोग भोगते हुए तेरे अंदर कामचार है या नहीं, अगर कामचार नहीं है, इच्छा नहीं है तो कोई बंध नहीं और इच्छा अगर है तो भी भोगने से बंध नहीं अपने भीतर में जो इच्छा की उस अपराध से तुझे बंध हुआ है, ये बाहरी बातें हैं, बाहरी प्रसंग हैं, उनको देखकर जैसे कह देते हैं कि यह तो बाहरी बात है, इससे बंध नहीं होता, हाँ बिल्कुल सही बात है। बाहरी पदार्थों के कुछ भी परिणामन सम्पर्क से बंध नहीं होता, मगर यह भी तो देखो कि उस प्रसंग में इच्छा है या नहीं, मेरे विकार है कि नहीं। है तो बंध हो रहा है। गुरुजी सुनाते थे कि एक वेदान्ती गुरु शिष्यों को पढ़ाता था तो वह रोज रोज यही कहे अपने शिष्यों से कि ब्रह्म नित्य अपरिणामी वह न खाये, न पिये न कुछ करे न कुछ भोगे। यहाँ तो यह कहे और आदत उसकी क्या थी कि एक मांस वाले की दूकान पर रसगुल्ले कुछ मिलाकर बनते थे तो वह प्रतिदिन उस दूकान में बैठकर रसगुल्ले खाता था। तो उसे उसके शिष्यों ने बहुत मना किया, समझाया पर वह न माने। तो एक दिन किसी शिष्य ने साहस करके उसी दूकान पर जब गुरुजी रसगुल्ला खा रहे थे, दो तीन थप्पड़ गुरुजी के जड़ दिए, तो वहाँ गुरुजी बोले अरे अरे यह क्या करते? इस मांस वाली दूकान पर आप रसगुल्ले क्यों खाते? तो गुरु बोला- अरे कौन खाता? ब्रह्म तो खाता नहीं, वह तो अपरिणामी है, नित्य है,...तो वहाँ शिष्य बोला- अरे तो आप हमारे थप्पड़ लगाने से नाराज क्यों होते? थप्पड़ तो शरीर में लगे, ब्रह्म में तो थप्पड़ लग ही नहीं सकते। वह तो अपरिणामी है, नित्य है...तो वह गुरु बोला- बस बस मेरा होश ठिकाने आ गया, तुमने तो मेरी आँख खोल दी, अभी तक तो मैं बड़ी भूल में था...। तो मतलब यह है कि बाहरी प्रसंग हैं तो तत्त्व यह

कहता है कि बाहरी पदार्थ के कारण बंध नहीं होता, वह बात तो ठीक है, मगर यह भी निरखो कि हमारे विकार हैं कि नहीं? अभी हमारी अरहंत भगवान की जैसी स्थिति नहीं है। दिव्यध्वनि खिरती है, और वह बिना इच्छा के खिरती है। प्रभु तो ज्ञान स्थित बन गया है। ज्ञानानंदमय है। इच्छा है, विकार है, तो यही तो खुद का अपराध है। और इस खुद के अपराध के कारण यहाँ बंध होता है।

1204- आत्मा की सही सम्हाल में बन्धन का अभाव-

देख आत्मन् तू तो ज्ञानरूप रहता हुआ रह, यह ही काम तुझे सौंपा गया है मोक्षमार्ग में। तू तो अपने को ज्ञानरूप वर्तता हुआ, उपयोग करता हुआ रह। अन्यथा देख, तेरा ही अपराध बनेगा और तेरे ही अपराध से वहाँ निश्चित बंध होगा। तो एक अपने आपको सम्हाल। बाहर की बात का क्या अधिक सोचना? आया कि गया कि क्या हो रहा? मेरा बंध है, नहीं है, क्या है? अरे तू एक अपने आपके आत्मा को सम्हाल। अपने को ज्ञानरूप अनुभवकर। मैं ज्ञानमात्र हूँ ज्ञानस्वरूपमात्र हूँ ऐसा उपयोग अपने भीतर लगायें और अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करें।

कलश 152

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
 कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
 ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
 कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥152॥

1205- फललिप्सा बिना कर्म का कर्ता के प्रति स्वफल की अयुक्ति-

कर्म, उपभोग, मन, वचन, काय कीचेष्टायें ये सब कर्म कर्ता को बलपूर्वक अपने फल के साथ नहीं जोड़ते। देखिये दो द्रव्यों की बात अपने को समझने की है। मन, वचन, काय की चेष्टायें हुई, कर्म हुआ, क्रिया हुई तो यह कर्म कर्ता को अपने फल के साथ जबरदस्ती नहीं जोड़ता है किन्तु यह भी जीव फल की इच्छा करता हुआ कर्म करता है तो वह फल से जुड़ता। याने कुछ भी चेष्टा करता हुआ उसी समय फल की अभिलाषा कर लेता है यह जीव। बस यह ही एक ऐसा निमित्त है कि वहाँ उदय में आया हुआ द्रव्य प्रत्यय नवीन कर्मों के आस्रव का कारण बन जाता है, बंध होता है। फल न चाहो तो बंध नहीं, बंधन नहीं। फल की चाह है उसमें बंधन है। इसी को तो बताया है निष्काम कर्मयोग। कर्मयोग हो रहा, पर निष्काम होना चाहिए। इसमें भी कुछ लोग तो जानबूझकर कि भाई कर्म करो, उपकार करो, फल न चाहो, एक उमंग के साथ

उपकार करते और सोचते कि फल न चाहो। तो जो कर्म की उमंग में आना है, जो उमंगपूर्वक कर्म करना होता है उसके भीतर में कुछ चाह पड़ी हुई है। चाहे और फल नहीं चाहा कि जैसे हमको और वैभव मिले या और बात हो तो इतना तो मन में आया कि चलो उपकार करें, ये लोग भी समझेंगे। ये भी एहसान मानेंगे। या चलो कुछ न कुछ लोगों की कोई बात चित्त में आये, उमंगपूर्वक कर्म किया जा रहा है तो उस प्रसंग में कुछ चाहा ही गया। निष्काम कर्मयोग तो यों होता है वस्तुतः कि वह चाहता ही नहीं। कर्म भी करना नहीं चाहता। फल की बात तो दूर जाने दो। फल भी नहीं चाहता, और क्रिया भी नहीं करना चाहता। अगर कर्मविपाकवश कोई क्रिया करनी पड रही है तो वहाँ कहलायेगा वह निष्कामकर्म। फल मत चाहें और फल न चाहते हुए में जो कुछ कर्म भी करना पड रहे हैं उसकी बात बतायी जा रही है कि वहाँ स्वापराध नहीं बन रहा, फल नहीं चाह रहा। अब कर्म कर रहे, वहाँ उमंग नहीं, वहाँ राग नहीं, इस कारण से स्वापराध न होने से बंध नहीं है। भीतर में इच्छा जगह, चाह हो, विकार हो उससे बन्धन है।

1206- कामचार के बाबत आत्मनिरीक्षण-

अब यह बात तो सबकी अपनी-अपनी है। कोई वचन बोल देवे ऐसा कि मेरा मकान नहीं, मेरे भोग नहीं, मेरे शुद्धभाव है, तो ऐसा कहने भर से तो चाहरहितपने की बात तो नहीं बनती। और चाह नहीं है तो कहते ही क्यों? कहने की जरूरत क्या पड गई? लोक में गोष्ठी में जो ऐसा कहने की आवश्यकता पड़ी वही एक अनुमान कराता है कि चाह है कुछ, इच्छा है कुछ। तो भीतर में इच्छा हुई, विकार हुआ तो तत्कृत बन्ध होता है। इन सभी बातों में नियम है, जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाप बताये गए ना- तो पाप में दो बातें तो बतायी गई ना? भीतर का भाव और ऊपर की क्रिया। जो क्रिया है वह क्रिया है। उस क्रिया में आस्रव बन्ध नहीं, मगर यह तो देखो कि ऐसी क्रिया करता हुआ कोई पुरुष इच्छा बिना कर रहा क्या? इच्छा से कर रहा। विकारभाव सहित कर रहा, इसलिये वहाँ बन्ध है। तो यह बहुत-बहुत अपने में निरखना चाहिये कि मैं अपने ज्ञानस्वरूप में प्रतिष्ठित रह पाता हूँ या नहीं।

1207- सहजस्वभावगुण की दृष्टि में लाभ-

भैया गुण देखें तो सहज स्वभाव का देखें। पर्याय में इस समय गुणदृष्टि करके संतोष करने की आदत न बनावें। हाँ स्वभाव में, सहज स्वभाव में उस गुण को निरखकर, उस अविकार रूप को निरखकर संतोष करने की तो बात ठीक है, मगर पर्याय में थोड़े गुण प्रकट हो गए, साथ ही दोष भी लगे हैं। अब जो कुछ थोड़े से गुण प्रकट होते हैं उनको निरखकर संतोष करने की आदत रहेगी तो अहंकार और अटकाव ये सारे दोष वहाँ आ जाते हैं। वहाँ तो तुम अपने दोष निरखो पर्याय में, परिणति में। तुम्हारे में यह कमी है तो उससे उन दोषों को हटाने के लिये एक भावना तो बनेगी। उसका अन्तर्व्यापार तो बनेगा। तो पर्याय को निरखें तो दोष निरखें अपने कि हमारे दोष रह गया, यहाँ दूर करें, और थोड़े बहुत गुण अगर दिखें पर्याय में होने वाली छद्मस्थ अवस्था में तो अहंकार बनेगा। देखो उसी बुनियाद पर ही तो प्रत्येक पुरुष अपने आपको सबसे

अधिक ज्ञानी भीतर मेंमानता हुआ बैठा है। जिस पर्याय में जो गुणविकास हुआ है उस पर नजर है, उसका अपने में एक बड़ा अनुभव सा करता है, मैंने सब कुछ जाना, तो पर्याय में छोटे मोटे थोड़े होने वाले विकास से संतोष करने की बात ठीक नहीं। गुण देखना है तो उस परिपूर्ण स्वभाव को देखो, अविकार स्वरूप को देखो, उससे तो लाभ मिलेगा, स्वभावाश्रय से लाभ मिलेगा, और जो थोड़े बहुत गुण प्रकट हुए हैं उनका आश्रय करने से लाभ नहीं मिलता। अच्छा तो क्या दोषों के आश्रय से लाभ मिलता है? दोषों के आश्रय से भी लाभ नहीं मिलता, मगर दोषों के निरखने से अहंकार न जगेगा और उनको दूर करने का मन में भाव होगा। अरे दोषों को दूर करने का उपाय है स्वभावाश्रय यदि स्वभावाश्रय की ओर बढ़ेगा तो अपशिष्ट दोष भी दूर होगा। अपने में जो छोटा गुण प्रकट हुआ है उसको निरखकर मैं गुणी हूँ, मेरे यह प्रकट हुआ है तो अहंकार बनेगा।

1208- दोषों को निरख निरखकर धुनने का कर्तव्य-

अहंकार में राग में चूँकि स्वभावाश्रय के लायक भूमिका न बन पायेगी इसलिए बताया है कि इन दोषों को निरख निरखकर ऐसा यत्न करना चाहिए, ऐसे दूर करना चाहिए जैसे रूई का धुनिया एक-एक पूनी को निरख निरखकर उसको छोटे-छोटे हिस्सों में, ताँतों में लाकर ऐसा धुनता है कि उसका जरा सा भी हिस्सा धुने बिना नहीं रहता। ऐसा आचार्यों ने दृष्टान्त दिया है, उस तरह से अपने दोषों को निरख निरखकर धुनना चाहिए। थोड़ी बहुत जो रूई धुनी है उस पर धुनिया की अधिक निगाह नहीं पहुंचती, किन्तु जो नहीं धुनी, एक ऐसा कोई हिस्सा देखता है तो उस पर झट उसकी निगाह पहुंचती है, क्योंकि उसको धुन कर वह साफ करता है। तो अपने में गुण देखें तो सहज गुण देखें। सहज स्वरूप दिखे जो प्रत्येक जीव में समान है। और भीतर में पर्याय की बात देखना हो तो विनाश करने के ध्येय से उन दोषों को निरखना चाहिए। वे तो दोष हैं, फल की चाह करके नहीं, कर्म की चाह करके नहीं। और लोग तो बस निष्काम कर्म में निष्काम के इस अर्थ पर बल देते हैं कि फल नहीं चाहते। कर्म में बल नहीं दिया कि कर्म भी न चाहिए। मगर मोक्षमार्ग में यह बताया गया है कि फल भी न चाहो और क्रिया भी न चाहो। और, ऐसी स्थिति में फिर क्रिया हो, उपभोग हो, तो वह हैनिष्काम कर्म यहाँ तुम अपने में ज्ञानरूप ही बस करके रहो।

1209- फललिप्सा से ही कर्मफलप्राप्ति-

यहाँ कह रहे हैं कि कर्म कर्ता को जबरदस्ती फल से नहीं जोड़ देते, ये ही स्वयं फल चाहते हैं सो ये फल को प्राप्त करते हैं। जैसे फल चाहता हुआ कोई राजा की सेवा करे तो राजा उसे फल देता, फल न चाहे तो फिर राजा की सेवा ही क्यों की जाय? और, कोई ऐसी बात भी हो सकती किसी में कि फल भी न चाहे किंतु राजसम्पर्क है तो फल की चाह और क्रिया करने की चाह ये बंधन में बाँधते है। तो अपने को किस रूप रहना? ज्ञानरूप रहना, सारी राग रचना को दूर करना है, ऐसा अपने आपको ढालना है। देखो प्रति समय परिणतियाँ होती रहती हैं, हो ही रही हैं, बस प्रयोग करने को परीक्षा करने को सब स्थितियाँ पड़ी हैं।

उन परिणतियों में राग न होना, उन परिणतियों को जानना कि यह कर्मविपाकवश प्रतिफलन हो गया है, और यहाँ जीव में वैसा ज्ञान बना करके, परलक्ष्य करके मैं अपने आपको विभावी बना रहा हूँ, हो रहा है ऐसा, मगर मेरा स्वरूप तो एक सहज ज्ञानमात्र है। उसमें ही बसना यह ही उसका कौशल है। ज्ञानरूप रहे, समस्त राग रचनाओं को दूर करे तो कर्मों से बँधेगा नहीं। देखिये लाभ पाने के लिए हर एक स्थिति काम दे देगी।

1210- ज्ञानी की विभाव पर भावों से दो टूक वार्ता-

देखिये- मातायें अपने बच्चे को गोद में खिलाती हैं। तो गोद में खिलाते हुए ऐसा भी भाव बनता है कि वह मेरा बच्चा कितना सुहावना है। इसके कारण मेरा कितना महत्त्व है। मैं भरी पूरी हूँ...। यह भी ममता का भाव बनता है। और क्या ऐसा भाव नहीं बनाया जा सकता कि उस बच्चे को सामने रखकर यह सोचें कि यह जीव पुद्गल का पिण्डरूप एक यह पर्याय है, इसके साथ इसके कर्मोदय के अनुसार इसकी सांसारिक व्यवस्था चल रही है, यह जीव भिन्न है। यह मेरा कुछ नहीं है। यह मैं स्वतंत्र सत् हूँ, इस तरह की तत्त्वभावना क्या बोली नहीं जा सकती है? लो उस प्रसंग में भी हमने अपने कल्याणरूप की बात पायी। अच्छा और भीतर देखो, परिणतियाँ निरन्तर हो रहीं, मानो यह मेरी गोद में नित्य ठहरा हुआ है। ज्ञानी जीव इन परिणतियों को निरखकर ऐसा चिन्तन रखता है कि वाह इससे मेरा बड़ा महत्त्व है, यह ही तो मैं हूँ। एकमेक होकर सोच रहा। वहाँ परिणति के सामने देखे और सोचे, इतना भी भेद नहीं, किन्तु एक परिणति में तन्मय होकर उस रूप अनुभव कर रहा है कि बस यह ही मैं महान हूँ, खास हूँ, सुखी हूँ, यों अनेक कल्पनायें बनाता है। तो ज्ञानी उन परिणतियों को सामने निरखकर क्योंकि उसने स्वभाव और वैभाविक प्रज्ञा के बल से भेद किया है तो अब वह विभावपरिणतियों से याने दूसरों से बात कर रहा है इस तरह से चिन्तन कर सकता अज्ञानी यों चिन्तन नहीं कर सकता उन पर्यायों के प्रति, शरीरादिक के प्रति कि जैसे मानो यह दूसरा है और हम बात करें यों भेद नहीं कर पाता। वह तो एक रूप होकर ही व्यवहार करता है, पर ज्ञानी जीव उसे दूसरा कायम करके बात करता है। यह परिणति, यह परभाव जो मेरे स्वरूप में नहीं बसा, यह निबद्ध हुआ। मेरी बरबादी के लिए आया परभाव है। इससे मेरा क्या नाता? यह मेरा स्वरूप नहीं, मैं इस रूप न बहूँगा। मैं तो अपने स्वभावरूप रहूँगा। ज्ञानी इसी तरह का चिन्तन करता।

1211- कर्मफल परित्यागशील आत्मानन्दानुभवी के कर्मफललिप्सा की असंभवता-

ज्ञानरूप हो रहा है ज्ञानी। उसने रागरचना को दूर कर दिया है। हो रहा है कुछ राग कहीं, मगर प्रतीति में उसके राग रचना नहीं है। ऐसा पुरुष कर्म से नहीं बंधता कर्म को करता हुआ भी कर्म को कर नहीं रहा है। यह लौकिक भाषा में कहा जा रहा है। कर्म को करे और बँधे नहीं, यह बात न होगी, मगर लौकिक भाषा में समझाया जा रहा है, लौकिकजनों की ही तो बात समझना है कि यह ज्ञानी कर्म को करता हुआ भी कर्म से नहीं बँधता। क्यों नहीं बँधता? तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः। यह मुनि, यह संत, यह ज्ञानी कर्मफल के परित्याग का स्वभाव रख रहा है याने स्वभावतः निसर्गतः कर्मफल की बात इसमें आती नहीं, जुड़ती नहीं,

उसकी ओर चाह नहीं, जिसने अपने सहज चैतन्यस्वरूप का अनुभव करके आनन्द पाया, ऐसे अनुपम आनन्द का अनुभव कर चुकने वाले ज्ञानी के इन बाहरी सांसारिक फलों की क्या चाह हो सकती है? क्योंकि ज्ञानी पूरी तरह से पोल समझ चुका सांसारिक सुखों की ओर अपने आपमें जो एक सहज चैतन्यस्वरूप है उस रूप अपने आपको मानने का अनुभव कर चुका है। ऐसी परिस्थिति में जो अनुपम आनन्द जगा है वह उस ही आनन्द के इच्छुक है, वह कर्मफल न चाहेगा। कर्मफल मायने सुख दुःख, कर्मफल चेष्टायें इनकी ओर से वह विरक्त रहता है, और अपने आपके स्वभाव की ओर उन्मुख रहता है। स्वभाव सहज भाव चिन्तन करते-करते ध्यान में आयागा।

1212- सहज आत्मस्वभाव में आत्मत्व मानने का फल-

सहज भाव क्या कहलाता? अपने आप निरपेक्ष स्वयं ही होने वाली जो बात है स्वरूप सत्त्व उसमें यह अनुभव करना कि यह मैं हूँ बहुत सीधी सुगम बात लोग अनुभव करते ना इस शरीर में कि मैं फलाने चंद हूँ, फलाने लाल हूँ, फलाने प्रसाद हूँ, मैं अमुक व्यापारी हूँ, अमुक का पति हूँ, अमुक की पत्नी हूँ, अमुक का भाई हूँ, मैं इतने कुटुम्ब वाला हूँ, मैं ऐसे रोजगार वाला हूँ, कारखाने वाला हूँ...यों कितने ही प्रकार से मैं का अनुभव चल रहा है। बस उस मैं की ही बात कही जा रही है कि इस तरह से उस मैं का अनुभव न चले और ऐसी प्रतीति चले के मैं तो एक सहज चित्प्रकाश मात्र हूँ। जैसा स्वरूप सबका वही मैं हूँ। देखिये इस विचार में कितने ही ऐब दूर हो जाते हैं। जैसे सब वैसा मैं। निरखते जावो उस चित्प्रकाश रूप अपने आपका श्रद्धान बन जाय कि मैं तो हूँ यह। बस उसका बेड़ा पार है। वह संसार से नियम से छूटेगा। उसके सारे जन्म मरण के संकट दूर होंगे। अब वह अधिक समय तक संसार में न रहेगा जिसने अपने आपके सही सत्य सहज स्वरूप को यह अनुभव कर लिया कि मैं तो यह हूँ, बस उसकी ये सारी बातें अपने आप आती हैं कि वह कर्मफल को रंच भी न चाहेगा और उसका फिर संसार में बंधन नहीं।

कलश 153

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥153॥

1213- कर्मफल की चाह की विपत्ति से ज्ञानी की विविक्तता-

इस लोक में इस जीव को विपत्ति है तो एक कर्मफल चाहने की है। इच्छा और कर्मफल ऐसे मिलें ऐसा सुख हो, इन्द्र होऊँ, राजा बनूँ, इत्यादि जो इच्छा आकांक्षा है वह ही इस जीव पर विपत्ति है। सम्यग्दृष्टि में और कौनसी कला उत्पन्न होती है जिससे कि वह सदा निर्व्यग्र रहता है। नरक का नारकी भी हो तो भी वह अन्तः निर्व्यग्र रहता है। मारधार में लगा है, पिट रहा है फिर भी अन्दर देखो तो एक निर्व्यग्रता है। क्यों है? उसको अपने सहज आनन्दधाम का परिचय हो गया है। कौन है सहज आनन्द धाम? यह मेरा निरपेक्ष सहज चित्प्रकाश मात्र यह स्वरूप। उसका प्रवचन होने से उसको विश्राम रहता, आराम रहता। जिस बालक को पता है कि यह मेरा घर है, यहाँ वहाँ खेलता है, किसी ने पीटा, कुछ किया, आखिर एक दम जब देखा कि आकुलता हो गयी, तकलीफ हो रही तो झट घर आ गया। अपनी तकलीफ को दूर कर लेता, तो ऐसे ही वह उपयोग विपाकवश यहाँ वहाँ कुछ थोड़ा बहुत गया भी, कहीं लगा तो वह देर तक बाहर नहीं लगता और कुछ व्यग्रसा होता, कुछ क्षोभ सा होता। तो उसकी निवृत्ति के लिए वह अपने घर आ जाता है। ऐसी प्रकृति है ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव की, जिसने यह समझ लिया कि मेरा आनन्द, मेरा महत्त्व, मेरा ज्ञान, मेरा कल्याण सब कुछ मेरे स्वरूप में है मेरे स्वरूप से बाहर मेरा कुछ नहीं। किसी भी चीज की आशा, आश्रय, आकांक्षा है, सब इस जीव के क्षोभ के ही कारण होते हैं, शान्ति के कारण नहीं। क्षोभ भी होता है किसी ज्ञानी के, मोह से रहित ही तो होता है अविरत सम्यग्दृष्टि आदि कुछ गुण स्थानों तक वीतराग चारित्र से पहले वह मोहरहित ही तो होता है, क्षोभरहित नहीं होता। क्षोभरहित होता है सम्यक्चारित्र की पूर्ति में। तो न हो क्षोभरहित मगर उसका क्षोभ ऊपर ऊपर लोटने वाला होता है, भीतर बसा हुआ नहीं है, उसका कारण क्या है? बस सहज आनन्दधाम का परिचय। कहीं लुट पिट गया तो झट अपने धाम में आ गया, बस उसका एक ही निर्णय है, कहीं कुछ रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा की बात आये तो झट थोड़ी देर में ही प्रतीति है, अभ्यास है ज्ञानी का, अन्तः सहज ज्ञान स्वरूप की ओर अभिमुख होता।

1214- सहज आनन्द के अनुभव के पौरुष का महत्व-

भैया एक बार प्रयत्न करके, पौरुष करके एक क्षण ऐसा तो प्राप्त कर लेना चाहिए कि जहाँ सहज आनन्द का अनुभव बने, याने ज्ञान में ज्ञानस्वरूप ज्ञेय हो, सहज ज्ञानस्वरूप ही जहाँ ज्ञेय बने तो वहाँ विकल्प नहीं दौड़ता। ऐसी स्थिति में स्वयं ही सहज एक आल्हाद का अनुभव होता है, वह चीज प्राप्त हुई तो ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मेरा सब कुछ यह है, इसे नहीं मिटाता, इसमें बाधा नहीं डालता, और बाकी सारी बातें जैसी हों सो हों, छिदे-भिदे, जो बात बनती हो बने, परपदार्थ में बने, किन्तु मेरी यह प्रतीति न मिटे बस एक ही आग्रह बन जाता है इस ज्ञानी जीव का। सब कुछ सह्य है, मगर अपने आपकी प्रतीति मिट जाय तो इसका बड़ा खोटा फल होता। वह सह्य नहीं इसको करणानुयोग में बताया है कि किसी जीव को एक बार सम्यक्त्व का लाभ हुआ और इतना ही क्यों, मुनि भी बना और उपशय श्रेणी में भी चढ़ा और 11 वें गुणस्थान पर पहुँचकर वीतराग भी हो गया और उसके बाद कषाय का उदय आता है और गिरता है, और

गिर गिरकर मिथ्यात्व में आ गया तो उस मिथ्यात्व में कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन तक घूमे और बाद में फिर सम्यक्त्व जगे और फिर मोक्ष जाय। एक बार वीतराग दशा हो जाने पर भी, उपशान्तमोह हो जाने पर भी, वीतराग छद्मस्थ हो जाने पर भी कहो प्रमाद बने, अपनी सम्हाल में नहीं आये तो ऐसी स्थिति हो जाती है। इतना ऊँचा पहुंचने पर भी जहाँ इतना खतरा आ गया, भला हम आप लोग कौनसी बड़ी चीज हैं। हम आप लोगों को तो बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता है और उस सहज स्वरूप का अनुभव करने के लिये प्राण तक भी न्योछावर हों तो कुछ भी नहीं गया, उसने सब कुछ पाया। अपने भीतर पक्ष हठ कोई चीज या रागद्वेष भाव सुख आराम ये सारे त्यागे जाते, जाते हों और दृश्य सर्वस्व त्याग होने पर अगर एक अनुभूति की दिशा मिलती है तो उसका गया कुछ नहीं, उसने सर्वस्व पाया।

1215- दुर्लभ नरजीवन में सहजानन्दमय सहजज्ञान के लाभ का अनुरोध-

भैया एक बार मनुष्य भव में सहजानन्दमय सहज ज्ञान की प्राप्ति तो करना चाहिए, क्योंकि इसके बिना अब तक संसार में भ्रमण करते करते चारों गतियों में खोटी योनियों में सब जगह भ्रमण करते करते यह जीव अब तक कष्ट में ही तो रहा। इसने क्या आनन्द पाया? राजा भी हुआ, बड़ा धनी हुआ, शासन वाला हुआ, देव भी बना, पर आखिर इसकी बात रही क्या। एक बार तो संसार की जड़ मेटने का पौरुष कर लो। अधिक से अधिक यह ही तो बात होती है हर एक भव में मेरा नाम, मेरी ख्याति, मेरी प्रसिद्धि, मेरा यश, मेरा परिवार, मेरा अमुक बने, ऐसे ही सोच लीजिए कि मानो हम इस मनुष्य पर्याय में न होते और किसी पर्याय में होते, क्या हुए न थे, तो उस पर्यायों में रहते हुये मेरे लिए यहाँ का दिखने वाला समागम क्या चीज थी? यह दृश्य कुछ ज्ञान में रहता क्या? यहाँ मूढ़ता न करें तो क्या बिगाड़ होता है? जैसे और भव गुजर गये वैसे ही यह भी गुजर जाने वाला है। अगर एक भव में एक मूल बात पा ली जाय अपने सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव बन जाय तो उसने सब पा लिया। और एक यह आत्मा के इस सत्य आनन्द का परिचय नहीं होता तो जैसे अन्त भव बीते वैसे ही एक यह भव भी बीतेगा, हाथ कुछ न आयगा। परिश्रम तो किया जायगा बहुत, अपने आपमें उधेड़ बुन तो सारी जिन्दगी कर ली जाएगी पर फल रहेगा जीरो (0) तो भाई ऐसा दुर्लभ नर जन्म पाया, जैन शासन पाया, बुद्धि पाई तत्त्व विचार का हम सबमें सामर्थ्य हुआ तो यह सब होने पर इसको सफल बनने का भी कुछ सोचें। अपनी एक यह प्रकृति बने कि हम कर्म करते, कर्म हो गये, मगर उस कर्म के फल को न चाहें, इसके एवज में मुझको ऐसा मिले, मुझको ऐसा बने, ऐसा कर्मफल नहीं चाहना।

1216- कर्मफलपरित्यागशील ज्ञानी संत की अद्भुत अन्तर्दशा-

जिसने फल का परित्याग किया, वह कर्म करता है, यह ही हम विश्वास में नहीं ले पाते, क्योंकि फल की बात जिन्होंने तज दी उनकी कर्म में आसक्ति कभी नहीं हो सकती। कर्म में आसक्त वह ही होता है जो उससे कोई फल की आशा रखता है। तो जिन ज्ञानी जनों ने फल का त्याग कर दिया वे कर्म करते है इति

न प्रतीमः विश्वास नहीं आ रहा कि वे कर्म करते हैं फिर भी इस ज्ञानी जीव के किसी कारण कुछ भी कर्म विवश होकर आये, योग ऐसा बने कर्म करना पड़े, तो ऐसी स्थिति में यदि कर्म उस पर आ पड़े तो वे ज्ञानीजन क्या करते हैं, क्या नहीं करते हैं। इसकी व्याख्या करने का अधिकार मिथ्यादृष्टियों को नहीं, वे पार नहीं पा सकते। अकम्प परम स्वभाव में ठहर रहा वह ज्ञानी। वहाँ दृष्टि हैं, अपने आपके स्वभाव में, यह मैं हूँ, इस प्रकार का अनुभव करने की उसकी आकांक्षा रहती है। एक ही निर्णय हैं। उसका निर्णय बदलता नहीं, अचलित है। बस कल्याणमय है यह स्वभाव। आराम है वास्तविक तो इस ज्ञानस्वभाव के आश्रय में है। ऐसे निर्मल ज्ञानस्वभाव में ठहरा हुआ ज्ञानी क्या करता है, क्या नहीं करता है। इसको कोई दूसरा क्या जाने? याने जिन्होंने अनुभव नहीं किया सो क्या जानें? यह तो बात ज्ञानी की है, मगर लोक में कहते हैं ना कि “जाकी फटी न पैर बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई?” एक ही नहीं, ऐसी-ऐसी अनेक कहावतें हैं। जिसको खुद का अनुभव नहीं वह दूसरे का अनुमान क्या कर पायेगा? ज्ञानी ज्ञानी की अन्तवृत्ति का अनुमान कर सकता है कि वह क्या किया करता है अपने अन्तर में? इसे ज्ञानी ही जान सकता है कि वह क्या किया करता है अपने अन्तर में? इसे ज्ञानी ही जान सकता, अज्ञानी नहीं।

1217- अपनी-अपनी सम्हाल का प्रताप-

ज्ञानी की वृत्ति जानने और न जानने से भी क्या? अपनी-अपनी सम्हालो, अपनी-अपनी सम्हालोगे तो सबकी सम्हाल हो सकती, और कोई अपनी तो सम्हाल न करे, दूसरों के सम्हाल की बात सोचे तो उनमें से कोई नहीं सम्हाल सकता। अपनी अपनी सम्हाले कोई दो चार लोग भी तो कम से कम सम्हालने वालों की गिनती तो बनी। और अगर सभी लोग यही सोच लें कि एक हम न सम्हाले तो क्या हुआ, हम तो दूसरों की सम्हाल करते, तो इस तरह से सम्हालने वालों की कुछ गिनती भी न आ सकेगी। यदि अपने आप पर करुणा उपजी हो तो उसका एक कर्तव्य है कि वह अपने आत्मा की सम्हाल करे। सम्हालने के मायने सहज निरपेक्ष स्वयं अपने आप अपने में जो भाव है पारिणामिक भाव, जो अपना वास्तविक तथ्य है उस रूप अपने को अपने में मान लेता कि मैं यह हूँ, उसके सारे काम सिद्ध होंगे, मायने सब समृद्धियाँ बन पायेंगी, आत्मवैभव के सारे दृश्य इसके ऊपर गुजरेंगे, एक ही बात बनाना है, ध्येय एक ही है। अब देखिये- इस ध्येय में कहीं विवाद नहीं, इस ध्येय में कहीं उलझन की बात नहीं और इस ध्येय की पूर्ति होती है शुद्धनय के प्रयोग के बाद। वहाँ वह शुद्धनय ऐसे इस अनुभव के नजदीक है कि वचनात्मक शुद्धनय हो तो नय का स्थान मिलता है और ज्ञानात्मक शुद्धनय का प्रयोग हो तो वह अनुभव का स्थान ले लेता है। इतना निकट है शुद्धनय में। परउसशुद्धनय पर पहुंचने के लिये प्राथमिक और उपाय भी नयात्मक विविध हैं। किसी भी प्रकार हो विभाव से उपेक्षा हो और स्वभाव की ओरउपयोग बने, बस यह ही काम करने का है। तो जिस घर में किसी परिवार में सबका भाव रहता है कि घर बने, आमदनी बढे...सब लोग एक ही बात सोचते हैं और काम करते हैं लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के। महिलायें अपना घर का काम करती, पुरुष लोग अपने अपने काम

करते। घर में जितने लोग हैं वे सब भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करते, पर सबका लक्ष्य एक होने से उन सबका एक बड़ा अच्छा आवास रहता है। तो ऐसे ही ज्ञानी के विकल्प नाना प्रकार के हैं, असंख्याते विकल्प हैं सोचने के, चिन्तन के, मनन के, चर्चा के, मगर सभी ज्ञानियों का लक्ष्य मात्र एक ही है कि अपने सहज ज्ञान प्रकाश में यह मैं हूँ, ऐसा परिचय बने, अनुभव बने, इसके सिवाय लोक में मेरा कुछ भी शरण नहीं है।

1218- स्वरूपानुभव होने पर अन्तस्तत्त्वप्रापक कलावों की सुगमता-

जिन्होंने कर्म के फल का परित्याग किया उनमें सब कलायें आ जाती हैं। जिन्होंने स्वरूप का परिचय पाया उनमें ये सब कलायें आ जाती हैं जिनके बल से शुद्धनय प्राप्त होता है, सीखनी नहीं पड़ती। जिसके प्रतिभा जगी है उसको सब समाधान है, जिसके यह प्रतिभा नहीं जगी उसको समाधान नहीं मिलता, अन्धकार रहता तो वह चिन्ता में किंकर्तव्यविमूढ़ सा बना रहता है। बताये बताये, सीखायेंसीखायें किसी पर पार पाया जा सकता है क्या? खुद की जागृति, खुद का अनुभव, खुद का समाधान, खुद का आराम, खुद के स्वरूप की दृष्टि, इनके होने के लिए सिखाने बोलने चालने आदिक की आवश्यकता नहीं होती। मूल बात अपने स्वभाव का परिचय। गुरुजी एक घटना बताते थे इसी बुन्देलखण्ड की। शायद राजा छत्रसाल के सम्बन्ध में वह बात थी। बताया कि उनके पिता गुजर गए तो राज्य का सारा अधिकार एजेन्ट लोगों के हाथ में आ गया। जब वह बालक छत्रसाल बड़ा हुआ तो उसकी माता(राजमाता) ने साहब को दरख्वास्त दे दिया कि हमारा बालक अब बालिग हो गया है, कामकाज सम्हालने लायक हो गया है सो उसे राज्य दे दिया जाय, तो साहब ने उत्तर दिया कि ठीक है, पहले उस बालक की बुद्धिमानी की परीक्षा होगी, यदि वह परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ तो उसे अवश्य ही राज्य दे दिया जायगा। परीक्षा का दिन निश्चित कर दिया। उधर राजमाता ने अपने बालक को दसों बातें समझा दिया, बेटा यदि बादशाह यों पूछे तो यों उत्तर देना, यों पूछे तो यों उत्तर देना, वहाँ उस बालक ने कहा- यदि इन सब दसों बातों में से कोई भी बात न पूछा, कोई अन्य ही बात पूछा तो क्या उत्तर देंगे? तो बालक का यह तर्कणापूर्ण प्रश्न सुनकर राजमाता अत्यन्त प्रसन्न हुई और बोली- बेटे अब मैं समझ गई कि तुम जरूर साहब को सही उत्तर देकर आवोगे, क्योंकि तुम्हारे अन्दर प्रतिभा है तर्कणाशक्ति है। आखिर हुआ क्या कि जब वह बालक साहब के सम्मुख परीक्षा देने पहुँचा तो वहाँ साहब ने पूछा तो कुछ नहीं, सिर्फ उसके दोनों हाथ जोर से पकड़ लिया और कहा- बोलो बेटे अब तुम क्या कर सकते, क्योंकि हमने तुम्हारे दोनों हाथ जकड़ रखे हैं? तुम पराधीन हो गये तो बालक बोला- महाराज अब तो मेरा सारा काम बन गया। क्योंकि आप अब मेरे अधीन हो चुके। अरे कैसे?...देखो विवाह में भाँवर पड़ते समय लड़का लड़की का एक हाथ पकड़ लेता तो उसे उसकी जीवन भर रक्षा करनी पड़ती, आपने तो मेरे दोनों ही हाथ पकड़ लिए, अब तो मैं सदा के लिए रक्षित हो गया। बस साहब ने ऐसा प्रतिभापूर्ण उत्तर सुनकर उसे राज्य दे दिया। तो जिसे अपने अन्तस्तत्त्व का अनुभव हुआ है उसके लिए सारा समाधान सही है। चाहे न अधिक जानते हों, न ही अधिक पढ़े लिखे हों तो कुछ भी बात नहीं है मगर अनुभव ऐसी वस्तु है

कि अनुभव के पाने के बाद अपनी तोतली भाषा में किसी भी बात में वह बात कह सकता है, सब अनुभव के अनुरूप जितना बोला जा सकता है बोलेगा, तो अपना प्रभाव, अपना विकास, अपनी उन्नति मात्र अपने सहज स्वभाव के आश्रय में है। दूसरी कोई बात ही नहीं है। ज्ञानी करता भी है सब बात, मगर बार बार उन सब कार्यों से लौट-लौटकर अपने आपके स्वभाव के आश्रय का पौरुष करता है।

1219- सहज स्वभाव की भक्ति का एक प्रयोग-

भैया एक बार तो सहज स्वभाव की भक्ति में सर्व जीवों में वही स्वभाव परखकर एक समान सर्व के प्रति उस स्वभाव भक्ति का भाव जगना चाहिये। है स्वरूप सबमें यही। तो जिसको जिसकी धुन लगी है उसे प्रथम वही दिखता है। जिसको उस स्वभाव का परिचय हुआ है, उसका दृढ़ अभ्यास बनाया है उस जीव को प्रथम वही दिखेगा। वही स्वरूप स्वभाव और बाद में फिर अटपट उस ढंग से निरखेगा कि हो क्या रहा है? यह सहज परमात्मा भगवान यह क्रीड़ा कैसे बन गया है यह सहज अंतस्तत्त्व यह पेड़ के रूप में इस तरह है। बाद में अटपट बातों की चर्चा होगी, मगर सर्वप्रथम उसे स्वभाव ही इष्ट होता है। तो एक बार सर्व जीवों के प्रति अपने उपयोग से, अपने ज्ञान से ऐसी समता में आइयेगाकि जहाँ किसी भी एक जीव के प्रति विकल्प न हो, भेद न आये और एकेन्द्रिय, निगोद से लेकर सिद्धपर्यन्त समस्त संसारी जीव और मुक्त जीव में उस जैसे दृष्टि को निहारकर एक बार अंतस्तत्त्व के उद्यान में विहार तो हो जाय, यह काम देगा। यह वैभव या लोक की ओर और बातें ये कुछ काम नहीं देते। बल्कि ये विकल्प के साधन बनते हैं आश्रयभूत होकर।

1220- सर्व स्थितियों में स्वभावाश्रय का अभियान-

भैया, अभ्यास बनायें अपने आत्मस्वरूप के निरखने का। व्याख्यान दें तो वहाँ भी यही निरखना, व्याख्यान सुने तो वहाँ भी यही निगाह रखना, प्रत्येक बात में इस ही आत्मस्वभाव का आश्रय हो। कोई भी उपदेश हो, कोई भी चर्चा हो, सबमें अर्थ इस अभिमुखता के साथ चले जिससे कि स्वभाव का परिचय और आश्रय बनता हो। चाहे उल्टी ही बात कही जा रही हो, पाप की बात कही जा रही हो, व्यसन की बात कही जा रही हो, यह नरक गया, इसने ऐसा व्यसन किया, तत्काल नजर आना चाहिए कि ये ही विभाव हैं इस अंतस्तत्त्व भगवान के अनुभव के बाधक। इन विभावों से हटें, ऐसे पापों से हटें, उनके विकल्प से दूर हों तो वहाँ ऐसी पवित्र भूमिका बनती है कि यह स्वभावाश्रय करने का पात्र बनता है। आगम में सभी तरह के उपदेश हैं और सभी उपदेशों से यह शिक्षा लेना है कि किस प्रकार हम इस जानकारी से अपने सहजस्वभाव की ओर आते हैं। जिनको यह निरपेक्ष आनन्द मिला, स्वतंत्र, स्वाधीन, निरन्तराय, जिसमें पर का प्रवेश नहीं, अपने आपमें ही अपने आपके स्वयं के आश्रय से इतना सुगम यह और सहज परम आनन्द जब अनुभव में हुआ तो ऐसा अनुभव अमृत पाकर विषय विष रस को पाने की कौन वाञ्छा करेगा? ऐसा अपना ज्ञानामृत का पान करके, उसका लौकिक आनन्द लूट करके फिर बाहरी इन्द्रिय मन के विषय साधनों में कौन आसक्ति करेगा?

1221- कर्मफल चाह त्याग कर सर्व स्थितियों में कर्म से उपेक्षा करके अन्तस्तत्त्व को निरखने का अनुरोध-

इस छंद में, इस कलश में सर्वप्रथम यह बात बताया है कि जिसने फल का त्याग किया उसके भाव कैसे होते हैं? मानो भाषण दे रहे, प्रवचन कर रहे, उस प्रवचन के बीच यद्यपि प्रवचन की स्थिति ऐसी है कि थोड़ा श्रोताओं की ओर भी देखना होता, किसी से कहा तो जा रहा, मगर मात्र वही दृष्टि हो तो वहाँ फल की चाह कुछ न कुछ पैदा हो जाती है। ये ठीक-ठीक समझें, ये हमारी ओर ध्यान दें, ये हमारी ओर मुख करें, एक व्यक्तिगत भी स्थिति बन जाती है। इनको देखकर खास बोलना,...यों कितने ही विकल्प उत्पन्न होते हैं तो प्रवचन में एक यह भी बात आती है। मगर, प्रवचन धर्मोपदेश है, स्वाध्याय का एक भेद है। स्वाध्याय उसे कहते हैं जिसमें स्व का अध्ययन हो। यह तो और भी अच्छा मौका मिला कि प्रवचन के बहाने, श्रोताओं को सम्बोधने के बहाने अपने आपको सुनाते जायें, अपने आप पर घटित करते जायें और उस आनन्द की वह छाया लेते जायें। सब जगह फल का त्याग करना और सर्व बातों का, सर्व उपदेशों का एक उद्देश्य, एक लक्ष्य यह ही लें कि अपने आपके आत्मस्वभाव का आश्रय करने के लिए इससे हमको क्या प्रेरणा मिलती है? तो इस तरह हमारी वृत्ति अपनी ओरहो, अनुभव बने, ऐसा जिसने अनुभव पाया वह ज्ञानी पुरुष अपने अकम्प परम ज्ञानस्वभाव में ठहरा हुआ हो, कर्म आ पड़ें तो उनकी निवृत्ति के लिए वह क्या कर रहा, क्या नहीं कर रहा, उसको अन्य कौन जानता है? मूल बात यह है कि अपना यह निर्णय बनावें कि जगत में सार कुछ नहीं है। सार है तो अपने विशुद्ध निरपेक्षस्वरूप चित्रकाश में। यहाँ वहाँ के विकल्प न करें तो सहज आनन्द अनुभव में आये। यह उपाय जिसको बना है उसको अपने आपके सहजस्वरूप का बनता है।

कलश 154

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
 यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
 सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
 जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥154॥

1222- सम्यग्दृष्टि का अद्भुत साहस-

जिसने अपने सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव किया और उस अनुभव के ही साथ अलौकिक परम आनन्द से तृप्ति पायी ऐसा पुरुष इस ही ओर धुन रखता है। थोड़ा कर्मविपाकवश उपयोग यहाँ वहाँ भी चलता हो तो भी धुन और प्रतीति अपने आत्मस्वरूप की ओर ही है, परमशरण क्या? मेरा सर्वस्व क्या? बस यही सहज शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव। ऐसा जिसने आभास किया, ऐसा पुरुष कैसी भी हालत आये मगर अपने इस

ज्ञानस्वरूप से च्युत नहीं होता है। यह साहस अपने आपके सही शुद्धस्वरूप की प्रतीति से च्युत न हुए सम्यग्दृष्टि में ही होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष हो ऐसा साहस रखता है कि कोई ऐसा वज्र भी गिर जाय जिसके भय से तीनों लोक के जीव अपना मार्ग छोड़ दें तो ऐसे समय में भी चूंकि सम्यग्दृष्टि ने अपना सर्वस्व अपने में पाया है, अतएव वह निसर्गतः निर्भय रहता है। उसे कोई शंका नहीं होती। वह जानता है कि मेरा जो स्वरूप है वह है अबध्य। किसी भी प्रकार दूसरे के द्वारा बंध बन्धन में आ सकने योग्य नहीं है।

1223- सम्यग्दृष्टि के अलौकिक साहस का आधार-

सम्यग्दृष्टि का यह साहस किन किन चिन्तनों के बल पर है? प्रथम तो स्वरूप चिन्तन, अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसमें ही इसकी ऐसी दृढ़ भावना है, सही निर्णय है कि मैं तो यह हूँ, बाकी तो विनाशीक पर्याय हैं, हो गई हैं, औपाधिक हैं, ये मैं नहीं हूँ, मैं तो शाश्वत सहज ज्ञानस्वरूप हूँ। यह प्रतीति का बल है जो इतना साहस हुआ है ज्ञानी को। बाहर में क्या कैसा परिणमन होता? तो यह उसका निर्णय है कि जो भी बात जिस विधान से जिस निमित्त योगपूर्वक जिस उपादान में जैसी बात बने सो बने, मगर वह सब सर्वज्ञ देव द्वारा व अवधिज्ञानियों द्वारा ज्ञात तो हो ही जाती। अब सर्वज्ञ तो हमें मिलते नहीं, लेकिन अवधिज्ञानीद्वारा भी तो ज्ञात है। तो जो जान गया है वही तो होने का है यद्यपि जाना गया है वही कि जो बात जहाँ जिस विधि से जिस योग में होने को है होती है, कुछ भी बात बने, निष्पत्ति विधि भी सही है, पर जान तो लिया गया। अब जो जान लिया गया होगा, होगा वह ही विधिपूर्वक, मगर यह तो निर्णय हो गया कि क्या विह्वलता करना- जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे। उसे इतना बड़ा धैर्य रहता है। दूसरी बात निष्पत्ति योग में, उसको वहाँ भी क्या घबड़ाहट? कुछ भी बने आत्मस्वरूप से तो च्युत न होगा, स्वभाव तो इसका अमिट है। स्वभाव कभी खण्डित नहीं होता। मैं अवध्य हूँ, मेरा कहीं विनाश नहीं।

1224- अपने प्रियतम आत्माराम को सत्य आराम में रखने का अनुरोध-

देखिये- जगत में सबसे प्यारा कौन? सबसे अधिक प्यारा क्या है आपको? इसका खूब निर्णय कर लो। सबसे अधिक प्यारा अपना आत्मा। सबको अपने अपने आत्मा से अधिक प्यारा कुछ नहीं। हर स्थिति में, हर एक घटना में, हर प्रकार से निर्णय कर लें, आपको आपका आत्मा प्रिय है। और जब आत्मा अपना ही प्रिय है तो जरा अपने आत्मा के भले के लिए ही सारी बातें सोचना। कोई भी चिन्तन हो, वह चिन्तन अपनी भलाई के लिए ही हो, कषाय के लिए नहीं, क्योंकि दुर्लभ मानव जीवन मिला है, अनेकों भव ऐसे ही व्यर्थ में निकल गए हैं। अगर उन्हीं कुरीतियों में यह भव भी खो दिया गया तो फिर पता नहीं, आगे क्या होगा? इसलिए जीवन में एक निर्णय बनावें, जिसमें आत्मा का भला है सो करना है। अन्य बातों का हठ नहीं किन्तु एक ही भीतर आग्रह सोच लें सब बातों का कि मेरे आत्मा का इसमें भला है, मेरे को तो यही करना योग्य है। इसमें मेरे आत्मा का पतन है क्या, बरबादी है क्या? मेरे को कुछ नुकसान है क्या? यदि नुकसान है तो बस नहीं करना। एक परिस्थिति ऐसी होती है कि जिसको देखकर यह ही बनेगा कि यह ठीक नहीं, मगर जो

जिस पदवी में है उस पदवी में छाँट हुआ करती है। भाईपाप ठीक नहीं, वह तो बुरा है, शुभ भाव करो। भाई शुभ भावों में एक यह शुभ भाव ठीक नहीं, उसकी अपेक्षा ऐसा शुभ भाव बनाओ कि यह अच्छा है। परिस्थिति होती है और उनमें ऐसी छाँट होती है, पर भीतरी छाँट, भीतरी निर्णय तो यह है कि शुभभाव और अशुभभाव ये भी जब तक आत्मा पर छाये हैं तब तक आत्मा को धोखा ही है। सहीं कुछ नहीं कहा जा सकता। और की तो बात जाने दो, एक बार शुद्धभाव भी बन गया, 11 वें गुणस्थान में उपशान्त मोह बना वह कषायों के उपशम से, मगर वहाँ से भी धोखा मिला। खैर वह धोखा कुछ नहीं मिला। एक स्थिति हैं। काम तो सिद्ध होगा स्वभाव के आश्रय से ही। हमारी शुद्धसमृद्धि स्वभावाश्रय को तज कर अन्य अन्य बातों में आसक्त होकर नहीं होती। अपने स्वरूप को निरखें और अपनी दया बनावें, अपनी सम्हाल करें और व्यर्थ के अन्य विचार, अन्य कषायें, अन्य भावनायें कभी होती हों तो उन पर खेद लाना चाहिए, क्यों ये भावनायें जगती हैं? मेरे तो शुद्ध सद्भावना रहे। एक नाता अपने आत्मा का रहे, एक निर्णय अपने हित का रहे। वह सब है स्वभाव के आधार में, आश्रय में उपासना।

1225- स्वभावाश्रय के बल का प्रताप-

स्वभावाश्रय एक इतना बड़ा बल है कि जगत में कुछ विपत्तियाँ आये उनसे यह ज्ञानी विचलित नहीं होता, क्योंकि जानता है कि विपत्तियाँ है क्या? लोगों के ख्याल, चेतन अचेतन पदार्थों के परिणामन, सबकी अपनी अपनी जुदी जुदी परिणतियाँ उनकी उनमें हो रही हैं। उनसे मेरे में कुछ आता तो नहीं। यहाँ जो भी दुःख होता है वह अपने अपराध से दुःखी होता है। दूसरे के अपराध से कोई दुःखी नहीं है। वह क्या अपराध है? अरे स्वभाव से च्युत होना, विभावों में या विषयों में, पर पदार्थों में उपयोग लगाया, यह ही अपराध है। बन सके तो कुछ साधना बनावें। यह अपराध न बन पाये तो स्वयं अनुभव कर लेंगे कि बस संसार में कष्ट कहीं नहीं है। हर घटनाओं में जैसे मानो कोई निन्दा कर रहा है तो निन्दा करने वाले ने अपनी कषाय का ही तो परिणाम किया, अपना ही तो व्यापार किया, वचन प्रयुक्त किया तो उसने अपना ही तो व्यवसाय किया। गाली देने वाले से, निन्दा करने वाले से कुछ आया नहीं इस सुनने वाले में, मगर वह सुनने वाला स्वयं मोही है, मुझको ऐसा कहा, मेरी निन्दा की, मेरा अपमान हुआ, ऐसी कल्पनायें कर करके वह स्वयं दुःखी होता है। कहीं गाली देने वाले ने इस दूसरे को दुःखी नहीं किया, यह खुद अपनी कला से अपने आप ही अपने विचार बनाकर दुःखी हो लेता है। इसको दुःखी करने वाला जगत में कोई दूसरा जीव नहीं है, न कोई परमाणु है, हम ही अपने ज्ञान की ऐसी धारा बना डालते हैं, ज्ञान की ऐसी ही अपनी तरंग बना डालते हैं कि जिसके कारण हम आकुलता का अनुभव करते हैं। जगत में दूसरा पदार्थ हमको सताने वाला नहीं, हमारा विरोध रखने वाला नहीं, हमको दुःखी करने वाला नहीं। हमारी ही कल्पना हमको दुःखी कर रही है। दुःख मिटाना है तो बाहर में कुछ निग्रह अनुग्रह न करके अपने ही ज्ञान में ऐसा पौरुष बनाना चाहिए कि जिसमें कल्पनाओं का जाल न बन सके। खुद ही खुद के जिम्मेदार हैं, दूसरा कोई नहीं, इस कारण अपने परिणामों

की निर्मलता में कुछ बाधा नहीं। काहे का कोई मित्र, काहे का कोई बंधु, लोक में बंधु और मित्र तो होते ही रहते हैं। जिसकी कषाय से जिसकी कषाय मिल गई वह उसका बंधु, उसका मित्र बन गया, कषाय से कषाय न मिली तो वह शत्रु बन गया। वस्तुतः कोई जीव किसी दूसरे का न मित्र है न शत्रु है। यहाँ जो भी दुःखी होता है वह अपनी ही कल्पना से दुःखी होता है। ज्ञानी पुरुष को यह सारा निर्णय है और अन्तर में प्रकाशमान परम ज्योति स्वभाव का निर्णय है इस कारण वह किसी भी घटना में अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। कठिन से कठिन विपदा आये तो वहाँ भी यह ज्ञानी जीव अन्दर में अपने आपकी स्मृति जरूर किए रहता है और उस उपासना स्मृति के प्रसाद से उसमें निर्मलता की उन्नति होती है।

1226- ज्ञानी की अकंपपरमज्ञानस्वभावस्थता का प्रभाव-

सम्यग्दृष्टि पुरुष ही ऐसा साहस करता है कि जगत में जो होता हो सो हो किन्तु यह तो अपने निष्कम्प परम ज्ञानस्वभाव में स्थित होवेगा, इसकी ही स्मृति रखेगा। इसके प्रताप से ही शान्ति प्राप्त होगी। सम्यग्दृष्टि जीव स्वभाव से निर्भय है, उसमें शंका नहीं। जैसे यहाँ कोई पुरुष दूसरे का कितना ही बिगाड़ कर रहा हो, उसको देखकर कहीं यह घबड़ाता तो नहीं। लौकिक पुरुषों की बात कह रहे तो यह जान रहा कि मेरा इसमें क्या बिगाड़? इसमें तो उसका खुद का ही बिगाड़ है, खुद की ही बरबादी है। तो ज्ञानी जीव अपने आत्मातिरिक्त जितने भी बाहरी पदार्थ हैं उन्हें जानता है कि ये सब पर हैं, इनसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कोई भी बात मेरे में नहीं आती। तो कोई भी पर पदार्थ उपद्रव डालता नहीं, यह मैं ही खुद दूसरे में दृष्टि हूँ, दूसरों का शरण मानूँ, बस ऐसा ही अपराध करूँ तो मैं दुःखी होऊँगा, दूसरा दुःखी करने को नहीं आता, ऐसे निर्णय के कारण सम्यग्दृष्टि जीव में एक बहुत अद्भुत साहस होता है। यह निर्जराधिकार चल रहा है। कर्मों की निर्जरा का निमित्त क्या होता है वह सब यहाँ बतलाया जा रहा है। जीव में ज्ञान और वैराग्य ये दो भाव हैं, जिनका निमित्त पाकर ये कर्म झड़ रहे हैं। ज्ञान की महिमा ज्ञान, ज्ञान में ज्ञान समाया हो, कल्पनाओं का जहाँ विलय हो, ऐसा ज्ञान वह सम्यग्ज्ञान वह आनन्दमय है, उसकी धुन में उसकी अनुभूति के कारण सम्यग्दृष्टि को अब बाहरी बातों की परवाह नहीं है। बनता है, बिगड़ता है, जो कुछ बाहर में होता है वह सब बाहर की परिणति है। ऐसा निर्भय निःशंक रहने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपकी ओरही पहुंचने का अधिकाधिक अभ्यास करता है।

कलश 155

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-

श्चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।

लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्धीः कुतो

निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥155॥

1227- ज्ञानी के इहलोकभय का अभाव होने से निःशंकत्व-

बताया है ना पहले कलश में कि सम्यग्दृष्टि जीव निसर्गतः निर्भय रहता है। उसके भय नहीं आता। तो अब उन भयों का विश्लेषण कर रहे हैं- भय होते हैं 7 प्रकार के- इहलोकभय- मैं इस लोक में अच्छी तरह जीवित रह सकूँगा या नहीं, धन वैभव कुटुम्ब परिवार आदिक किसी बाधाओं में तो न दब जाऊँगा। परलोकभय- परलोक में मेरा क्या होगा। कहाँ जाऊँगा, क्या बनूँगा, क्या बीतेगी...। इसी प्रकार के 5 और भय है। इस छन्द में तो दोनों भयों का जिक्र चल रहा है लोकभय- इस लोक का भय होना। कहीं मेरा धन न मिट जाय। कहीं मुझे भूखों न मरना पड़े। कहीं कोई धोखा न दे दे। यों इस लोक में नाना प्रकार के भय लगे हैं। अज्ञानी के लोकभय है, मगर ज्ञानी के लोकभय नहीं, इसका कारण है कि ज्ञानी जानता है कि मेरा लोक तो जो मेरा शाश्वत स्वरूप है। यह बाहरी क्षेत्र, यह दुनिया यह बाहरी परिकर परिणमन यह मेरा लोक नहीं। मेरा शाश्वत लोक है मेरा स्वरूप। जो सदाकाल व्यक्त हैं अन्तःप्रकाशमान है और ज्ञानी को इस सबका बोध है। मैं कहाँ रहता हूँ तो इसके अनेक उत्तर आयेंगे। मैं इस नगर में रहता हूँ, मैं इस देश में रहता हूँ, मैं इस विचार में रहता हूँ...। पर सही उत्तर क्या है कि मैं मुझमें रहता हूँ। अच्छा मैं शरीर में रहता हूँ क्या यह बात गलत है? तो भाई गलत तो नहीं है, यह रह तो रहा है, व्यवहार में, यों देखने से विदित तो होता है, मगर परमार्थ दृष्टि से देखें तो, एक अपने आपके एकत्व दृष्टि से देखें तो मैं अपनी सत्ता में रहता हूँ। मैं अपने स्वरूप में रहता हूँ। मैं और जगह नहीं रहता। तो जब मैं मुझमें ही रहता हूँ, मैं अपने प्रदेशों में ही रहता हूँ। मैं अपनी गुणपरिणतियों में ही रहता हूँ तो मेरी दुनिया? बस यही तो कहलायी। इसमें बाहर मेरी दुनिया नहीं। मेरी दुनिया में अगर कोई ऐब की बात, कष्ट की बात, विकल्प की बात आती है तो वहाँ तो हमारा बिगाड़ है, पर मेरी दुनिया से बाहर जो पदार्थ पड़े हुए हैं उनमें कोई बिगाड़ की बात क्या है? उसका तो ज्ञाता रहना है कि हो गया यह।

1228- सर्वविविक्त स्वैकत्वगत अन्तस्तत्त्व के शरणागत की निसर्गतः निर्भयता-

मेरा लोक है मेरा यह शाश्वत आत्मस्वरूप क्योंकि मैं स्वभावतः ही समस्त पदार्थों से निराला हूँ। सभी पदार्थ अपने स्वरूप से अर्थात् अन्य सर्व पदार्थों से निराले रहते हैं। क्योंकि वे सत् हैं। जो-जो सत् हैं वे अपने में परिपूर्ण और अन्य से निराले हैं। यह बराबर व्याप्त मिलेगी सर्वत्र। जो भी वस्तु है वह अपने एकत्व में रत और पर से विभक्त, ऐसा प्रत्येक पदार्थ रहता ही है। तो मेरे में मैं ही रहा, मेरी दुनिया मैं ही रहा, और कोई मेरी दुनिया नहीं। तब इसमें कोई भय ही नहीं बसा। मेरे आत्मप्रदेश, मेरा स्वरूप, इसमें डर की कोई बात है क्या? क्या यह मिट जायगा? सच कभी नहीं मिटता, मैं यह आत्मा कभी न मिटूँगा, रहूँगा, इसको इस लोक का भय नहीं, क्योंकि यह अपने को एकाकी तक रहा है। यह है तेरा लोक। और, यह बाहर का जो आँखों

दिखता है, शरीर है, यह आकाश है, यह नगर है, ये सब मेरे कोई लोक नहीं है, फिर उसको इस लोक का भय क्या होगा? वह अपने में एकाकी निरख रहा और अपने में सहज आनन्दस्वरूपको पा रहा। ज्ञानी के लोक भय नहीं होता।

1229- ज्ञानी के परलोकभय का अभाव-

ज्ञानी के परलोक भय भी नहीं होता। परलोक कहाँ? परलोक को तो शब्द ने ही बता दिया, गैर लोक, मेरा है ही नहीं वह। मेरा लोक तो यह आत्मस्वरूप है और मरकर याने इस देह को छोड़कर जाऊँगा तो यह ही आत्मस्वरूप साथी है। वहाँ परलोक इसके लिए कुछ नहीं है। तो लोक और परलोक सब कुछ अपने आपके आत्मा में ही हैं ऐसा जानने वाले ज्ञानी को इस लोक और परलोक का भय कैसे होगा? वह तो निःशंक होता हुआ निरन्तर स्वयं अपने आप सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव करता है, सहज ज्ञान क्या? ज्ञानस्वभाव। अपने सत्त्व के कारण अपने आपही रहने वाला। इस ज्ञानस्वभाव में कोई सीखना पढ़ना नहीं बनता। उसका कोई निर्माण नहीं किया जाता। वह तो सत्तासिद्ध अधिकार है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूप में हुआ करते। तो तेरा लोक वही अंतस् तत्त्व है, अन्य कोई तेरा लोक नहीं। ऐसा निर्धारण करने वाला ज्ञानीनिरन्तर स्वयं ही सहज ज्ञान का अनुभव करता है। ज्ञानी के इह लोक भय भी नहीं, परलोकभय भी नहीं, बस उस दृष्टि की महिमा है सब। काम एक ही है, उसके विस्तार अनेक बताये जा रहे हैं। एक काम क्या? अपने को निरखना, अपने में गुप्त होना। यह उपाय बनता कैसे है? कम से कम इतना निर्णय तो पड़ा हुआ है कि मेरा जिम्मेदार केवल मैं ही हूँ। कोई दूसरा मेरा जिम्मेदार नहीं। जैसा करेगा वैसा भरेगा। दूसरा उस भरने में न शामिल होगा। ऐसा अपना एकाकीपन का स्वरूप जब चित्त में है तो वे सब कलायें अपने आप आयेंगी। देखो अकेले ही जन्म लेना पड़ेगा, कोई साथी नहीं है, अकेले ही मरण करना पड़ेगा, कोई साथी नहीं है। जन्म के समय में यह संक्लेश करता है, मरण के समय भी वह संक्लेश करता है। मेरा सत्य स्वरूप तो यह सहज आनन्दघन है। बस उसकी ही सम्हाल में वहाँ ही निरन्तर ज्ञानदृष्टि देते रहें, इस अन्तः प्रोग्राम में सम्यग्दृष्टि समय व्यतीत करता है।

1230- सम्यक्त्व के प्रथम 4 अंगों का संक्षिप्त परिचय-

पहले अंग का नाम है निःशंकित अंग। निःशंकता से अपने आपमें विहार करना। जैसे कोई पुरुष चलता है ना तो वह आगे का पैर कैसा निःशंक होकर धरता है। कहीं वह यह तो नहीं सोचता कि पता नहीं हमारा यह पैर जमीन पर पड़ेगा भी कि नहीं। वह तो निःशंक होकर अपना अगलापैर रखता है। और, देखो पिछला पैर बड़ी उपेक्षा के साथ उठता है। कोई ऐसा सोचता है क्या कि पिछला पैर हमने जिस धरती पर रखा है उस धरती की बड़ी मेहरबानी रही। जरा उस धरती को देख तो लूँ...ऐसा नहीं है। ऐसे ही ज्ञानी जीव मोक्षमार्ग में अपनी प्रगति निःशंक होकर करता है- और विषय इच्छा इनसे उपेक्षाभाव करता है। ऐसे ये दो अंग है सम्यक्त्व के, निःशंकता और निःकांक्षितता और देखो हम आप सबके दो-दो हाथ हैं- बायें हाथ से

रोज मल साफ करते हैं। इतना होने पर भी किसी ने इस बायें हाथ से घृणा की क्या? तू यहाँ क्यों रहता है, तू यहाँ यों ही स्टेशन के सिगनल की तरह खड़ा रह,....कोई इस बायें हाथ को तोड़ फेंकता है क्या? कैसा वह अपने में निर्विचिकित्सा अंग पाल रहा है। ऐसे ही जीव को अन्तर में कर्मविपाकवश ग्लानि की बात बहुत आती है, क्षुधा, तृषा, क्लेश, ये तो अंतरंग में आने पर इनमेंग्लानि याने विषाद नहीं करता, इनमें एकत्व नहीं करता, इनकी उपेक्षा करता है, आये होंगे, कर्मरस हैं, कर्मफल हैं, उस विषाद में वह अधीर नहीं बनता। यह है ग्लानि करने के मायने विषाद करना और व्यवहार में ग्लानि करने के मायने घृणा करना। कोई साधु त्यागी व्रती पात्र बीमार हो जाय, मल मूत्र भी खिरे तब भी उससे घृणा नहीं करता ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव। और, समय तो घृणा करने का काम ही क्या? ऐसे समय में भी यह जीव घृणा नहीं करता। निर्विचिकित्सा अंग। और दाहिना हाथ देखो, यह अमूढ़ दृष्टि, जरा भी ढिलाई नहीं रखता, मोह नहीं आता अटक नहीं आती, अज्ञान नहीं छाता। आदेश करना, बतलाना, यह काम करना ठीक नहीं, ऐसा ही ठीक, ऐसे ही ज्ञानी भी अपने मार्ग में अमूढ़ है, इसके कोई अज्ञान नहीं।

1231- सम्यक्त्व के अन्तिम चार अंगों का संक्षिप्त परिचय-

देखो पीठ और पेट, सब अंगों की बात देख लो, शरीर में भी 8 अंग हैं, और एक अंग है नितम्ब, जिस पर कि आप लोग बैठे हैं, इसे तो आप लोग धोती से पाजामा आदि से छुपाकर रखते। यह तो शरीरांग में उपगूहन है। किसी धर्मात्मा पुरुष में कदाचित् कोई त्रुटि हो, कुछ बात हो तो उसका उपगूहन करना, मायने उसको प्रकाशित न करना। यह सम्यक्त्व अंग में उपगूहन है नहीं तो अन्य सुनने वाले लोगों को धर्म से अरुचि हो जायेगी कि क्या रखा है धर्म में। बस देख लिया सब, और उसके साथ उसे समझाना, यह बात तो अलग है, मगर जनसमूह की बात, जैसे अपने नितम्ब का उपगूहन करते ऐसे ही धर्मात्मा के दोषों का उपगूहन करना सो उपगूहन अंग है। अब इस पीठ पर देखो कितना बोझ रख लेते ऐसे ही स्थितिकरणच्युत होने वाले को स्थित कर देना। और यह वात्सल्य अंग है हृदय। जैसे हृदय में प्रेम उमडता तो वह है वात्सल्य अंग का सूचक। मस्तक है प्रभावना अंग का सूचक। जैसे मनुष्य की प्रभावना मस्तक से जानी जाती। धानी के धर्म की प्रभावना उसके आचार विचार से होती है। इन 8 अंगों के दूषण लगने से सम्यक्त्व का घात होता है। तो इस 8 प्रकार के अंगों का पालन हो और अंतरंग से स्वभाव का आश्रय हो।

कलश 156

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्धीः कुतो ज्ञानिनो

निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५६॥

1232- ज्ञानी के वेदनाभय का अभाव-

सम्यग्दृष्टि जीव 7 भयों से रहित है इस कारण वह निःशंक है। सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक है इस कारण से 7 भयों से रहित है। वे 7 भय कौन-कौनसे हैं?उनमें से दो भयों का नाम तो कल आ गया था, आज बतलाते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव वेदनाभय से रहित है। वेदनाभय नाम किसका है? शरीर में कोई वेदना हो, किसी प्रकार की अन्य वेदनायें हों तो उनका भय करना या वेदना भी न हो तो भी पहले से ही भय करना। मेरा शरीर स्वस्थ रहे, अब बुढ़ापा आ गया, न जाने मेरी अब क्या हालत होगी। थोड़ी सी भी हाररत हुई तो यह न जाने कैसा ज्वर जायगा? कहीं मियादी बुखार न हो जाय, कहीं कोई जटिल बीमारी न बन जाय आदिक वेदना के सम्बन्ध में भी भय करते। वेदना नहीं भी हो रही है तो वेदना का ख्याल करके भय बनाना यह सब वेदनाभय कहलाता है। तो यह वेदना भी अज्ञानी के होती है ज्ञानी के नहीं। अच्छा- बताओ, यदि ज्ञानी पुरुष के बुखार चढ़ा हो तो वह काँपेगा कि नहीं, वह लिहाफ ओढ़ेगा कि नहीं, वह वेदना का कुछ अनुभव करेगा कि नहीं? करेगा, मगर उसके वेदनाभय नहीं होता। जब थोड़ा आत्मा की सुध लें तो फिर वेदना का भय नहीं होता।

1233- आत्मा की सुध में शारीरिक वेदना का अपरिचय-

बताया है कि आत्माकी सुध रखना शारीरिक बीमारी का आधा इलाज है। इस सम्बन्ध में एक घटना बताते हैं कि जब हमारे गुरु श्री गणेशप्रसादजी वर्णी ललितपुर में थे तो उनकी जंघा में एक बड़ा भारी फोड़ा हो गया था। उन दिनों हम मुजफ्फर नगर में थे। हमारे पास भी उस फोड़े के सम्बन्ध में खबर पहुंची तो हम भी देखने आये। जब तक हम आये तब तक उनके फोड़े का आपरेशन हो चुका था। वहाँ लोगों ने बताया कि जब आपरेशन होने को था तब डाक्टर ने बताया कि बेहोश करके आपरेशन करना होगा, पर वहाँ गुरुजी ने कहा- अरे बेहोश करने की जरूरत क्या, यों ही आपरेशन कर दो। आखिर गुरुजी ने उस समय आत्मा की ओरविशेष ध्यान रखा, उन्हें यही पता नपड़ा कि कब कैसे आपरेशन हुआ। यह था आत्मा की सुध का प्रताप। आखिर वहाँ गुरुजी का फोड़ा देखते हमारी खुद की आँख के ऊपर भी एक फुंसी हो गई। उसने अपना काफी बड़ा रूप रख लिया। खैर हम मुजफ्फर नगर चले गए, वहाँ जो चिकित्सक लोग चलते फिरते जर्हा होते इनमें से कोई एक चिकित्सक मेरे पास आया, उसने कहा कि हम इस फुंसी को ठीक कर देंगे।...कैसे?...बस इसे फोड़कर।...अच्छा भाई ठीक कर दो।...उस समय हमने अपनी आत्मा की ओरविशेष ध्यान दिया। उस समय उस चिकित्सक ने उस फुंसी को फोड़ दिया। दर्द तो काफी हुआ, पर उसकी ओरदृष्टि न होने से उस दर्द का कोई विशेष असर हमारे ऊपर न पड़ा। तब से हमें प्रतीति हुई कि होता तो आत्मा

की सुध रखने पर ऐसा प्रभाव। तो कदाचित् कभी कोई कष्ट की बात भी आ पड़े तो आत्मा की ओर सुध होने से वह कष्ट कष्ट नहीं महसूस होता।

1234- ज्ञानी की परमार्थ वेदना-

यहाँ मूल बात यह बतला रहे कि वहाँ वेदना का कुछ काम हो नहीं ज्ञानी के। वेदना नाम है किसका? वेदना नाम है वेदन करने का, जानने का। वेदना शब्द विल्द धातु से बना, जिसका अर्थ है जानना। तो ज्ञानी की एक ही वेदना है जो केवल अवल अकम्प ज्ञान उसके द्वारा वेदा जा रहा यह है वेदना ज्ञानी की। ज्ञानी के वेदना है क्या? हाँ है, डटके। और अज्ञानी के वेदना है क्या? हाँ है, डट के। अज्ञानी के वेदना है उस रोग पर ख्याल रखकर, अनेक प्रकार का भय बनाकर और ज्ञानी के वेदना है डटकर कि अपना जो अकम्प स्वरूप है उसका जानन चल रहा है, उसका वेदन अपने स्वरूप में हो रहा है, और अज्ञानी का वेदन बाहरी पदार्थों का विकल्प करके हो रहा है, तो ज्ञानी की यह वेदना जिसकी बात सुनकर आत्मकल्याणार्थी को वहाँ स्पर्धा हो सकती है, मैं भी ऐसा ही चाहूँ, ऐसा ही बनूँ, यह अविचल ज्ञानस्वरूप का वेदन कैसे होता है? अभेद वेद्य वेदक बल से होता है। जाननहार कौन? यह आत्मा। जानने में आया कौन? यह आत्मा। ज्ञान जाननहार है। ज्ञान ही जानन में आया है, दूसरा कोई जाननहार नहीं और जानने में दूसरा नहीं आया, यह बात उस अज्ञानी के नहीं बन पा रही क्योंकि जाननहार अज्ञानी वह एक और उसके जानन में क्या आ रहा है? वह रोग वेदना शरीर, ये ज्ञेय विषयभूत, उसकी अपेक्षा द्वैविध्य ही रहा, तो उसको घबड़ाहट होती है, और जहाँ वेद्यवेदक भाव एक बन रहा है वहाँ घबराहट का नाम नहीं। तो ज्ञानी के यह अकंप परम ज्ञान की वेदना चल रही है। तो वह निर्व्यग्र है, निराकुल है।

1235- वेदना की अन्यागतता का अभाव-

जिन ज्ञानियों के द्वारा यह निर्भेद वेद्यवेदक भाव अभ्युदित हुआ है उनका दृढ़ निर्णय है कि यह वेदना जो परमार्थ है मेरे स्वरूप में है, वह वेदना अन्य कहीं से नहीं आती। कुछ बाहरी दृष्टि भी लगाकर अर्थ लगाओ तो वेदना पीड़ा किसी बाहरी वस्तु से नहीं आती। ज्ञान में ही विकल्प बनता है। तो वह ज्ञान से ही वह वेदनाभाव आया, बाहर से नहीं आया। किसी का मकान जल रहा है, बड़ी तेज आग लग गई है, दमकलें भी आर्यीं, आग बुझा रहीं, पर आग बुझती नहीं, वहाँ मकान जल रहा, यहाँ इस मोही का हृदय जल रहा। जैसे जैसे आग की ज्वाला बढ़ रही वैसे ही वैसे इसके हृदय की ज्वाला बढ़ रही। मकान जलने से वेदना नहीं हो रही, क्योंकि मकान पर क्षेत्र में है। वहाँ से वेदना नहीं आ रही, पर उसका विकल्प बनाकर जो ज्ञान विकल्प किया जा रहा है, हाय सब मिट गया, मेरा तो सब नाश हो गया, बरबाद हो गया, ऐसा जो विकल्प चल रहा वहाँ वेदना आयी। सो अगर उस लौकिक वंदना की भी बात कहें तो वह भी अन्य पदार्थ से नहीं आयी, लेकिन यहाँ ज्ञानी की वेदना की बात चल रही है। जो अकम्प ज्ञानस्वभाव का वेदन चल रहा है

वह वेदन अन्य कहीं से नहीं आया। आत्मा से ही हुआ। तो जब वेदना अन्य पदार्थ से आती नहीं तो उसका भय ज्ञानी के कहाँ से हो?

1236- ज्ञानबल से अभयत्वलाभ-

भैया, घबड़ाये हुए पुरुष को अभयदान दो। उसका भय दूर हो जाय। सो कुछ तो बाहर भी प्रयोग हो जाता। जैसे प्यास से घबड़ाया तो पानी दे दिया। कोई रात बेरात को कहीं से घबड़ाया हुआ आया तो उसे ठहरने को जगह दे दिया...ये तो बाहरी बातें हैं। कोई घबड़ाहट ऐसी होती कि जिसका बाहर में काम नहीं देता। जैसे मानो किसी का इकलौता बेटा गुजर गया तो अब इसकी पूर्ति कोई कहाँ से करे, कैसे करे, उसकी घबड़ाहट कैसे मिटे? तो उसकी घबड़ाहट मिटेगी तब जब कि उसके ज्ञानबल पैदा हो। अन्य किसी प्रकार घबड़ाहट नहीं मिटेगी। ऐसे आदमी के घर मानो रिश्तेदार आये, मामा आया, फूफा आया, बुआ आयी, मौसी आयी, समझाने के लिए और उन्होंने समझाना शुरू किया, बड़ा-अच्छा बेटा था, गुजर गया। अब कैसे क्या होगा...तो वहाँ दुःख मिट जायगा क्या? घबड़ाहट मिटेगी क्या? वे तो दुःख का और भी ख्याल कराने आये, घबड़ाहट ऐसे कैसे मिटेगी? और ऐसा करने वाले भी कैसे देखे गए? मान लो उन्हें कहीं दूर से आना है, मान लो सतना या कटनी से चलकर रेल से आये तो वहाँ तो ताश खेलते आये, जो फेरे में आये वे हसँते हुए आये पर जब आपके जबलपुर आये तो मान लो स्टेशन पर उतरे तो वहाँ भी आनन्द रहा। तनिक और निकट आये। और, जब घर पास में आया, रिक्शा या ताँगे से उतरे तो वहाँ से रोनी सूरत बनायी, और जब घर में आये तो रोने लगे, बताओ वहाँ उनको वेदना है क्या? नहीं है वेदना। अब जो घबड़ाया हुआ है उसकी वेदना को कौन मिटायेगा? घबड़ाहट को मिटायेगा ज्ञानी जीव। जब प्रतिबोध करेगा कि अरे तू अपने को देख, तू तो शरीर से भी निराला है केवल ज्ञानमात्र, जिसे लोग हवा भी कह देते हैं देहाती लोग कह देते हैंना कि हवा निकल गई। और, और ढंगों से भी बोलते। वह एक वास्तविक पदार्थ है आत्मा। वह आत्मा ही तेरा सहाय है, दूसरा कोई सहाय नहीं। तेरे साथ कुछ जाने का नहीं। सब जीव अपने-अपने कर्मोदयवश जन्म लेते, मरण करते, किसी का किसी से क्या सम्बन्ध? और, कोई यों भी समझा देगा कि वह तो तेरा पूर्वभव का बैरी था जो थोड़ी उमर में गुजर गया, वह तो बैर भँजाने (बदना चुकाने) आया था। खैर किसी भी ढंग से समझाये, जब वह समझे कि इसमें तो कुछ हानि नहीं हुई। मेरा आत्मा तो पूरा का पूरा है। वहाँ कोई बिगाड़ नहीं होता, ऐसा कोई बोध आता है तो उसे धैर्य जगता है।

1237- धैर्य और ज्ञानानुभव का उपाय स्वयं का प्रतिबोध-

धैर्य जगने का उपाय स्वयं का प्रतिबोध है। दूसरा कोई उपाय नहीं। जैसे बाहर से वेदना नहीं आती ऐसे ही बाहर से ज्ञान भी नहीं आता। वह भी अपने आपमें अभ्युदित होता है। तो ज्ञानी जीव के भय कहाँ से हो? क्योंकि उसको दृढ़ विश्वास है कि बाहर से वेदना आती नहीं, और वास्तविक वेदना तो यह ही है कि मैं

अपने आपमें अपने आपका जानन कर रहा हूँ। ऐसी दृढ़ प्रतीति के कारण वह ज्ञानी जीव निःशंक होता हुआ निरन्तर स्वयं निज सहज ज्ञान का अनुभव करता रहता है।

कलश 157

ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।

अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो

निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥157॥

1238- अज्ञानी के अत्राणभय और उसका कारण-

सम्यग्दृष्टि जीव के अत्राणभय नहीं होता, अरक्षा भय नहीं होता मेरी कुछ रक्षा ही नहीं, मैं अरक्षित हूँ, मेरा कोई सहाय नहीं, अब क्या हाल होगा? यह अरक्षाभय अज्ञानी के होता, क्योंकि उसे अपने स्वरूप का श्रद्धान ही नहीं। मेरा स्वरूप कैसा है, इस बात का उसे बोध ही नहीं। वह तो यह जान रहा है कि यह जो शरीर है सो ही मैं हूँ। यह ज्ञानी की बोली की बात बोल रहे कि अज्ञानी ऐसा मानता है कि जो यह शरीर है सो मैं हूँ, ज्ञानी ने नहीं ऐसा माना कि जो यह शरीर है सो मैं हूँ ऐसा अगर मान ले तो उसके भ्रम में थोड़ा फर्क पड़ गया। इतना तो मुख से कह लिया कि जो यह शरीर है सो मैं हूँ। दो बातें तो दिमाग में आर्यो- मैं और शरीर। किन्तु अज्ञानी के इतनी भी बात चित्त में नहीं रहती। उसके चित्त में एक ही बात रहती कि यह मैं, या मैं हूँ। यह मैं हूँ ऐसा भी कहा जा सकता। ज्ञानी भी तो कहता है अपने स्वरूप के लिए “एव सम्वेदन प्रत्यक्षः दर्शन-ज्ञानसामान्यात्मात्माह” इत्यादि... ‘यह प्रत्यक्षभूत आत्मा’ ऐसे ही भ्रम में उस एक को ही कह रहा है ये अज्ञानी। यहाँ इस एक को ही कह रहा है, जो पर्याय है, जो शरीर है, बस उसमें तो जरा भी भेद-अज्ञानी के उपयोग में नहीं है। जैसे कहा जाय कि घड़े में गोलाकार है, तो कहीं धरा है क्या घड़े में गोलाकार? अरे गोलाकार मय वह घडा है, ऐसे ही अज्ञानी जीव को जो पर्याय है वही पूरी उसका सर्वस्व है उसके लिए “मैं” का प्रयोग है। वहाँ थोड़ी भी दुविधा नहीं है। जैसे ज्ञानी को बाह्य पदार्थों में जरा भी दुविधा नहीं है कि ये मैं हूँ ऐसे ही अज्ञानी को जरा भी अपने बारे में दुविधा नहीं है कि जो शरीर है सो मैं हूँ।

1239- भगवान आत्मा की विकारस्थिति की लीला-

ज्ञानी और अज्ञानी की होड़ चले अगर उनके विश्लेषण की दौड़ के लिए तो अज्ञानी ज्ञानी से कम रहेगा क्या? और कभी तो अज्ञानी यों कह बैठेगा सिद्ध भगवान से भी कि हे सिद्ध भगवान जरा तुम हमारी जैसी अद्भुत लीला करके तो दिखा दो। देखो हम कैसी अद्भुत लीला करके दिखाते, न जाने कितने कितने प्रकार के भेष धारण करते, कभी पेड़ के रूप में हुए तो कैसे कैसे पेड़, कैसे कैसे पुष्प, कैसी कैसी पत्तियाँ, भिन्न भिन्न प्रकार के पुष्प, भिन्न भिन्न प्रकार के पराग, केसर मकरंदों के रूप में दिखाई पड़ते। यह तो इस बिगड़े

हुए परमात्मा की लीला कही जा रही। कैसी विचित्र लीला यह बिगड़े रूप में दिखा देता कि जिसे देखकर लोग हैरान हो जाते, न जाने कितने तरह के वृक्ष, न जाने कितने तरह के कीट पतंगें...यह सब इस बिगड़े हुए परमात्मा की लीला है। तो मानो वह अज्ञानी कभी सिद्ध भगवान से भी कह बैठता है कि हे भगवान हम जितनी अद्भुत लीला करके दिखा सकते, क्या वैसी तुम नहीं दिखा सकते? देखो जब घर का कोई बड़ा आदमी बिगड़ जाता, नाराज हो जाता तो उसे देखकर सभी लोग थर-थर काँपते, तो ऐसे ही यह परमात्मा इस समय बिगड़ रहा है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये सब इसके चल रहे हैं, तो ये सब भी उस बिगड़े हुए परमात्मा की अद्भुत लीलीयें हैं। तो बात यह है कि ज्ञानी और अज्ञानी की होड़ में अज्ञानी अद्भुतता के लिये कम नहीं रहेगा। परन्तु जब एक प्रश्न आता है कि जीव का प्रयोजन केवल आनन्द है तो उसकी होड़ दिखावें, मौलिक बात करें तो वहाँ यह बिगड़ा हुआ परमात्मा पिछड़ जाता है और मानो कहता है कि महाराज मैं आपके सामने पामर हूँ, सत्य तो तुम हो, अनन्त आनन्दमय तुम हो, ऐसा ज्ञान विकास है कि तीनों लोक जिसके ज्ञान में प्रतिभासित होते वहाँ की होड़, वही सच्ची बात है परम विकास है, अनन्त आनन्द है। तो बताओ के सिद्ध प्रभु कितना उत्कृष्ट है, वे सुरक्षित हैं और यहाँ ये संसारी जीव अरक्षित है।

1240- ज्ञानी के सत् के अविनाशित्व का निर्णय-

हाँ है तो संसारी अरक्षित, मगर ये जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव हैं उनका विकास, उनका ध्यान, उनका ज्ञान इसी प्रकार चल रहा है कि वे अपने में अरक्षा का रंच भी अनुभव नहीं करते। जो सत् है वह कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता। भगवद्गीता में बताया है “नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः,” कितना भी कोई किसी प्रकार गड़बड़ सिद्धान्त में चले, कुछ न कुछ सच्चाई को लिए हुए होगा तो गड़बड़ भी निभ जायगी और जहाँ रंच भी सच्चाई नहीं है वहाँ गड़बड़ का एक पग भी नहीं चल सकता। जो पदार्थ सत् है उसका कभी नाश नहीं होता। कल्पना करो कि जो है वह प्रतिभासात्मक है, जो है वह गुणात्मक है। जो भी सत् है उसका बिल्कुल अभाव हो यह कुछ कल्पना में आ सकता क्या? क्या हो गया कुछ भी रहा क्या? अरे वह गुणप्रदेशात्मक जो वस्तु है याने सत् है उसका सर्वाभाव कैसे हो जाय? अरे जिसको अन्य लोग अभाव कहते हैं वह तो तुच्छाभाव है। एक बात और ध्यान में रखना। जैन सिद्धान्त में अभाव तुच्छाभाव नहीं है किन्तु अन्य के सद्भावरूप होता है। जब जब भी अभाव की चर्चा करे तब तब अन्य के सद्भाव की बात देखें। क्योंकि जैन सिद्धान्त में अभाव तुच्छाभाव रूप नहीं है, और इसी कारण से अभाव प्रमाण नहीं है जैन सिद्धान्त में। वैशेषिक मानते हैं अभाव प्रमाण, क्योंकि उनका अभाव प्रमाण तुच्छाभाव को बताने के लिए कल्पित हैं। तो जहाँ अभाव की भी कोई बात कही जाय, तो वहाँ पर अत्यन्ताभाव याने सर्वाभाव नहीं है, पूर्ण अभाव नहीं है। मात्र अभाव कुछ होता नहीं। पर्याय में अभाव की बात तो चलती है, पर वहाँ इस पर्याय का अभाव है, मायने अन्य पर्याय के सद्भावरूप है यह प्रत्यक्ष होगा।

1241- अभाव की अन्यउद्भावरूपता-

कोई भी अभाव पूर्ण अभावरूप नहीं होता। तो जो सत् है वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता। यह बात, यह वस्तुस्थिति एकदम स्पष्ट है, याने पदार्थ को हाथ में लेकर अभाव कर करके भी दिखा दो। पर्याय का अभाव तो हो गया मगर सत् का अभाव नहीं है। पर्याय का भी अभाव अन्य पर्यायरूप होता। अँगुली अभी सीधी है, कुछ टेढ़ी करने पर सीधी का अभाव हो गया, मगर वह सर्वाभाव नहीं है। वह टेढ़ी अँगुलि हुई तो उस रूप से ही सीधी का अभाव कहेंगे। एक बार एक बुढ़िया रहटा काट रही थी तो उसका तकुआ टेढ़ा हो गया। अब अगर तकुआ घर में किसी हँसिया वगैरह से ठोक ठोककर सीधा करे तो सही न होगा यह सोचकर वह लुहार के पास ले गई। लुहार से बोली- भाई हमारे तकुआ की टेढ़ निकाल दोगे?...हाँ-हाँ निकाल देंगे?...कितने पैसे लोगे?...एक आना।...अच्छाभाई निकाल दो। बस लुहार ने उसे ठोंक पीटकर सीधा कर दिया। जब लुहार ने 4 पैसे माँगा तो बुढ़िया बोली- ठीक है अपने एक आना पैसा तो ले लो पर जो तकुआ का टेढ़ निकाला है वह मुझे दे दो। अब भला बताओ यह काम कैसे किया जा सकता? अगर वह कहे फिर टेढ़ा कर दे तो टेढ़ निकली कहाँ और अगर टेढ़ी न करे तो टेढ़ निकली अलग है कहाँ? तो वहाँ बात क्या है कि वह सीधी और टेढ़ी पर्याय है। टेढ़ी पर्याय का विनाश हुआ और सीधी पर्याय का उत्पाद हुआ तो टेढ़ी पर्याय का अभाव सीधी पर्याय के सद्भावरूप है। देखो वहाँ बात तो ऐसी हुई मगर सत् का नाश तो नहीं हुआ। जो सत् है वह कभी नाश को प्राप्त नहीं होता।

1242- स्वयं अद्भुत ज्ञानमात्र आत्मा के अत्राण का अभाव-

ज्ञान स्वयं सत् है। ज्ञान कहो, आत्मा कहो। ज्ञानमात्र रूप में आत्मा का अनुभव, परिचय करने से उसका सही परिचय सुगम बनता है। यह ज्ञान स्वयं सत् है, यह नाश को प्राप्त नहीं होता, स्वयं ही यह सुरक्षित है, जो है उसका नाश हो ही नहीं सकता। तो दूसरे के द्वारा रक्षा की क्या बात आयी? और अरक्षित हुआ कहाँ? जो है वह कभी नष्ट नहीं होता, तब कुछ अत्राण है ही नहीं, इसकी कभी अरक्षा है ही नहीं। कल्पनायें कर करके मैं अरक्षित हूँ, ऐसा सोच सोचकर कोई मर भी जाय तो भी अरक्षा नहीं है। सुरक्षित है वह। यहाँ न रहा और जगह चला गया। आत्मा अरक्षित नहीं है, क्योंकि वह स्वयं सत् है। जो सत् है उसका अत्राण कुछ नहीं है। यहाँ जो घबड़ाहट होती है सत्त्व की कुछ भी अरक्षा नहीं। ये सब घबड़ाहट क्या हैं? ये मोह के विकल्प हैं। प्रत्येक चीज अपने आपमें है, उसका कभी विनाश होता नहीं है। तो यहाँ अत्राण कहाँ रहा? अत्राण आत्मा का ही क्या किसी का भी नहीं है।

1243- स्वयं सत् स्वयं सुरक्षित अन्तस्तत्त्व की श्रद्धा में निःशंक शांतिवेदन-

मैं सुरक्षित हूँ, सदा रहने वाला हूँ, ऐसी दृष्टि कोई भीतर बनाये तो सही, इसी को कहते हैं सन्यास मरण की तैयारी। यहाँ तो भय छोड़कर जा रहा है वह, बड़ा प्रसन्न होकर जा रहा है वह, खेद सहित नहीं जा रहा। वह जान रहा है कि जो मैं हूँ वह पूरा का पूरा तो यहाँ से चला। इनमें हमारी अरक्षा क्या हुई? अरक्षा तो वहाँ है जहाँ दूसरे पदार्थ में ममता लगी है और वह अपना साथ निभा नहीं सकता। कोई पर

पदार्थ हमारा साथ निभा दे यह कभी हो ही नहीं सकता। इतना निकट है यह शरीर, मगर बोलो- यह शरीर साथ निभा सकेगा क्या? एक संवाद दिया है। मानो यह जीव बोल रहा है मरते समय कि अरी काया मैंने तेरे लिए क्या क्या काम नहीं किया। पाला पोसा, खिलाया पिलाया और बड़े प्यार से रखा। जब नहाते है तो ऊपर से फव्वारा चाहिए। खूब साबुन तेल फलेल लगा लगाकर इस शरीर की खूब सेवायें किया, फिर आईना देख देखकर खूब खुश हुआ, खूब अच्छे अच्छे स्वादिष्ट व्यञ्जन खिलाया पिलाया। अरे शरीर मैंने तेरी बड़ी सेवा किया। अब अन्त में यही कहता है कि तू मेरे साथ चला तो मानो शरीर कहता है कि अरे तू बड़ा बेवकूफ है। यह तो मेरी आदत ही नहीं। मैं किसी के साथ नहीं गया। बात तो सही यह है किन्तु इसको भय होता है अज्ञान से। ज्ञानी तो अपने अकम्प उस चैतन्यस्वरूप को निरखता है, यह मैं हूँ। इसका कहीं विनाश नहीं, त्रिकाल विनाश नहीं, फिर अरक्षा क्या? ऐसी स्थिति वाले सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को अत्राण का भय नहीं, किन्तु यह निःशंक होता हुआ एक निज सहज स्वभाव का अनुभव करता है। यों सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा महान साहस करता है कि कठिन से कठिन स्थिति हो तो भी वह अपनी अरक्षा नहीं मानता। अपनी सत्ता पर उसका श्रद्धान है। वह तो जानता है कि यह सत् है, सुरक्षित है, इसका कोई बिगाड़ नहीं कर सकता। तो यह अपने को सुदृढ़ सुरक्षित मानता हुआ अपने सहज ज्ञानामृत का निरन्तर पान करता रहता है।

कलश 158

स्व रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे नय-
 च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ।
 अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
 निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥158॥

1244- ज्ञानी के अगुप्तिभय का अभाव-

अज्ञानी जीवों को अगुप्तिभय रहा करता है, जैसे मकान खुला हो, किवाड़ ठीक न हों या अन्य प्रकार से कोई एक आवरण न हो, जहाँ कोई विरोधी जन आ सकें, विरोधीजन जहाँ अपना अधिकार जमा सकें, ऐसी ही कोई वार्ता हो, उसको देखकर उसको अगुप्तिभय हुआ करता है, मेरी रक्षा का कोई दृढ़ साधन नहीं है यह है अत्राणभय। अगुप्तिभय में रक्षा होने का साधन नहीं है, इसका भय है। उस विषय में ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि कहाँ है मेरी अगुप्ति? जगत में जो पदार्थ है उनका जो स्वरूप है वह स्वरूप उनमें त्रैकालिक है, मजबूत हैं, वहाँ किसी पर का प्रवेश नहीं होता। मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरे स्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश नहीं। जो सत् है वह स्वयं सत् है, उसमें दूसरे का कोई प्रवेश नहीं। यह वस्तुस्वभाव है। उस स्वभाव को कौन मेट

सकता। मेरे ये प्रदेश मेरा ये स्वरूप यह ही दृढ़ किला है ऐसा मजबूत किला कि जहाँ त्रिकाल भी किसी पर का प्रवेश नहीं हो सकता है।

1245- आत्मप्रदेश में ही विराजे आत्माराम को अज्ञान में स्वापराधकृत कष्ट-

देखो, भैया स्वरूप तो सुरक्षित है फिर यह क्यों दुःखी हुआ करता? यह यहीं विराजा विराजा भीतर कल्पनायें मचा मचाकर यही दुःखी होता है। यह ऐसा खेल चल रहा है दुःखी होने का कि जैसे किसी पुरुष को किसी दूसरे पर भ्रम हो जाय, बल्कि वह हितू है, समर्थक है, शुभचिन्तक है फिर भी भ्रम हो गया कि यह मेरा विरोधी है, मेरा दुश्मन है, तो अब वह तो भ्रम के कारण भीतर में बड़ी तकलीफ मानता है और वह दूसरा आदमी उसे कुछ भान ही नहीं है, वह कुछ समझता ही नहीं है, वह तो जा रहा, आ रहा, घर में है, कहीं भी है तो देखो वह इकतरफा ही तो दुःखी हो रहा। कोई दूसरा दुःखी करने वाला है क्या? ऐसे ही यह आत्माराम अपने आपमें भ्रम बनाकर दुःखी होता रहता है। दूसरा न कोई विरोधी है, न मित्र है, वे तो सत् पदार्थ हैं, उनका काम उनमें चल रहा है, लेकिन यह भ्रमी, यह बहिरात्मा अपने आपमें बाहरी पदार्थों के प्रति भ्रम परिणति कर डालता है, यह मेरे को भला, यह मेरे को बुरा, यह मेरा गैर, इस तरह भीतर में जो एक भ्रमभाव बना रखा है उससे व्यथित हो रहा है। अपने को दुःखी करने वाला अपना ही अपराध है। दूसरे के अपराध से कोई दुःखी नहीं होता, क्योंकि अपराध शब्द में ही अर्थ भरा है- अपगताः राधा यत्र स अपराधः याने जहाँ राध नहीं है, राध मायने सिद्धि, जहाँ सिद्धि नहीं है, जहाँ आत्मा की उपादाना नहीं है, अपने आत्म स्वरूप की दृष्टि नहीं है तो वह जीव अपराधी कहलाता है। स्वरूपसुध से हटकर भ्रम वाला कोई भाव करें तो वह अपने आप दुःखी होता है। तो यह जीव अपने ही मजबूत किले में बैठा हुआ भ्रम लगाये रखता है। अज्ञानी, बाहरी पदार्थों का चिन्तन कर रहा है, उनमें इष्ट अनिष्ट की कल्पना मचाता है और दुःखी होता है, और ख्याल करता है कि मेरी कोई गुप्ति ही नहीं है, कोई ऐसी मजबूत बात ही नहीं है कि मैं दुःखी न होऊँ।

1246- परमगुप्तिमय निजस्वरूप के जाननहार के अगुप्तिभय का अनवसर-

ज्ञानी जान रहा कि जो मेरा स्वरूप है वही परम गुप्ति है, उत्कृष्ट गुप्ति, क्योंकि स्वरूप में कोई भी अन्य पदार्थ प्रवेश करने के लिए समर्थ नहीं, और यह स्वरूप खुद है, सहज है, यही तो उसका सत्त्व है। तो इस जीव के अगुप्ति है ही नहीं, इस कारण ज्ञानी को अगुप्ति का भय नहीं होता। जिसने अपने स्वरूप में आग्रह किया है, यह ही मैं पूरा हूँ। यह ही मेरी सब दुनिया हैं, यह ही मेरा सर्वस्व है, दूसरे से तो प्रयोजन ही कुछ नहीं। अन्य पदार्थ चेतन अचेतन वे अपने आपके सत्त्व से प्रतिष्ठित हैं। तो जो अपने स्वरूप से प्रयोजन रख रहा है, यह मैं हूँ, पूरा हूँ, यह ही हूँ, स्वरूप से अमुक्त हूँ, इससे कभी छूटता नहीं, अन्य सब परतत्त्वों से मुक्त हूँ, अपने स्वरूप को तो ग्रहण कर रहा हूँ। अन्तस्तत्त्ववेदी का मरण भी हो रहा तो भी वह दुःखी नहीं होता। क्योंकि वह जान रहा कि इससे मेरा बिगाड़ क्या? जगत के पदार्थों का कुछ भी परिणमन

हो तो भी वह अपना बिगाड़ नहीं मानता, और फिर किसी पर का यहाँ प्रवेश ही नहीं है, ऐसा निर्णय होने के कारण यह ज्ञानी जीव निःशंक रहता है।

1247- स्वरूपदर्शन व सर्वसाम्य के उपाय द्वारा विकल्पकष्टों का दूरीकरण-

जो लोग बाहरी पदार्थों में इष्ट अनिष्ट की बुद्धि रखते हैं वे ही शंकित होते हैं, दुःखी होते हैं। यह मेरे को भला नहीं रहा, यह मेरे को बड़ा बुरा है, ऐसी बाहरी पदार्थों में दृष्टि है, वह क्या है? अपने आपकी कलुषित परिणति। तो जहाँ कलुषता है वही कष्ट है। यदि कष्ट से दूर होना है तो प्रथम कर्तव्य है कि चित्त में कलुषता न रहे, और इसके लिए एक बार ऐसी उपयोगदृष्टि बनानी होगी, फिर प्रतीति में रहेगा, एक बार पौरुष तो करें कि संसार के जितने जीव हैं वे सब मेरे स्वरूप के समान है। उनमें इसकी थोड़ी भी गुंजाइश नहीं कि यह मेरा और यह मेरा नहीं। स्वरूप को निहारो। इसमें अपने आपकी बड़ी दया है, तत्काल अशान्ति दूर होगी, शान्ति का स्रोत बहने लगेगा क्योंकि अशान्ति है वह सब कलुष परिणाम है। कलुष परिणाम होने का आधार है जगत के इन जीवों में से कुछ को मान लिया अपना और कुछ को मान लिया गैर। यह एक ऐसा विकट आधार है कि इस जीव के कलुष परिणाम बढ़ते रहते हैं। तो जब कोई विडम्बना हो, कलुष परिणाम हो वह बड़ी विपत्ति है तो उसे मूल से नष्ट करने का पौरुष करना है। तो मूल में स्वरूपदर्शन और उसी दृष्टि से जगत के सब जीवों में पूर्णतया एक समानता का दर्शन यह भाव जब जगे तो इसका कलुष परिणाम दूर हो। जगत के जीवों पर दृष्टि दें तो समान दिखे और किसी पर दृष्टि न दें तो केवल अपने आत्माराम को देखें, बीच की बात नहीं करनी कि जगत के जीवों को देखें और उनमें यह विभाव बनावें कि यह मेरा, यह गैर, स्वरूपदृष्टि करके एक समता लायें, वहाँ सन्मार्ग प्राप्त होगा।

1248- गुप्ति अगुप्ति का तात्पर्य-

गुप्ति मायने क्या है? लोग बताते हैं छुपाना, इस बात को गुप्त रखना मायने छुपाकर रखना, यह भी अर्थ मान लो मगर वास्तव में गुप्त रखने के मायने छुपाकर रखना नहीं है, किन्तु सुरक्षित रखना है। व्याकरण में गुप् संरक्षणे धातु है, उससे बनता है गोपन, संरक्षण करना। चूँकि संरक्षण छुपाकर होता है, इसलिए गुप्त का अर्थ छुपाना प्रसिद्ध हो गया। वास्तव में गुप्त का अर्थ छुपाना नहीं है। जैसे किसी ने कोई जेवर दिया स्वर्ण का और कहा कि इसको अपने पास गुप्त रखना तो वह क्या करता कि उसको किसी अपनी तिजोरी में सुरक्षित कर देता है, याने उस तिजोरी में वह बंद कर देता है, क्योंकि वह जानता है कि सुरक्षा इसी तरह होती है। तो देखने में यह आया ना कि तिजोरी में छुपा दिया तो गुप्त का अर्थ छुपाना प्रसिद्ध हो गया, पर गुप्त का अर्थ छुपाना नहीं है, किन्तु गुप्त का अर्थ है सुरक्षित रखना।

1249- अपनी गुप्ति अर्थात् सुरक्षितता की निरख-

अब यहाँ गुप्ति अर्थात् सुरक्षितता निरखिये। वह सुरक्षितता यह है कि यह बिखर न जाय, यह कहीं छिन्न-भिन्न न हो जाय। कैसे बिखरे, कैसे छिन्न-भिन्न हो? तो दूसरा कोई प्रवेश करे, इसे ले जाय, इसको

तोड़ेमरोड़े तो ना यह छिन्न भिन्न होवे आत्मा का स्वरूप, सो इसे कोई ताड़ने मरोड़ने के लिए नहीं आ सकता है। ऐसा है यह गुप्त स्वरूप सुरक्षित दृढ़ किला। वस्तुत्व है ना। अपने स्वरूप से सत् रहे, पररूप से असत् रहे। साधारण गुण यह बतला रहा कि उसकी कोई अगुप्ति नहीं। ऐसा जान करके यह ज्ञानी अगुप्ति का भय नहीं करता, तब निःशंक होता हुआ स्वयं सहज ज्ञानस्वभाव का अनुभव करता है।

1250- अकंपपरमज्ञानस्वभावस्थता से पहिले अनुकूल ज्ञानप्रकाश की तैयारी-

देखिये ज्ञानस्वभाव का अनुभव करने से पहले नय के द्वारा विज्ञान चला था ना? तो निश्चय नय व्यवहारनय इन दोनों के द्वारा निर्णय किया था और वहाँ रूप क्या था कि निश्चय नय के मायने एक वस्तु में एक की ही चीज को निरखना। व्यवहारनय मायने संयोग सम्पर्क निमित्त नैमित्तिक भाव आदिक जो यथार्थ हैं, घटनायें हैं उनकी अपेक्षा का निर्णय करना, लेकिन जब और आगे चलते हैं तो इन नयों के रूप और बदलकर ऊँचे बनते हैं, वे क्या बनते कि जो बोले सो व्यवहार और निषेध करें सो निश्चय। कुछ भी बोलो, तुम निश्चय की बात बोलो सो व्यवहार और निषेध करो सो निश्चय। जैसे जब बतलाया कि अच्छा यह जीव ज्ञाता है, यह जीव सूक्ष्म है, तब ज्ञाता है ऐसा नहीं, सूक्ष्म है ऐसा नहीं है, यह निश्चय हो गया- इसी को कर्तृकर्माधिकार के अंतिम कलशों में एक जगह बताया कि एकस्य सूक्ष्मों न तथा परस्य एकस्य भातो न तथा परस्य इत्यादि। एक नय के मत में यह जीव प्रतिभास होता है। लग रहा ना निश्चय नय मगर बोल रहा सो व्यवहार। प्रतिभास है ऐसा नहीं यह हुआ निश्चय विकल्प। एक बात और ध्यान में दो। उन कलशों के अर्थ करने में एक के मत में सूक्ष्म है, एक के मत में सूक्ष्म नहीं है, ऐसा जोड़ा न मिलाना, किन्तु एक के मत में सूक्ष्म है, एक के मत में सूक्ष्म है ऐसा नहीं है, यह जोड़ा चलेगा। खूब मनन के साथ परखेंगे तो सभी में इस तरह के विकल्प बनेंगे। जहाँ इतनी सूक्ष्म बात बताया कि यह प्रतिभास है, वेद्य है, दृश्य है तो यह तो सब निश्चयनय की बात है। एक का एक में निरखना हो रहा है, मगर प्रतिपादन होने से व्यवहार बना, विकल्प होने से व्यवहार रहा, उस रूप और वहाँ नीति से निश्चय बनाया ऐसा नहीं, वेद्य है ऐसा नहीं ज्ञाता है ऐसा नहीं। कुछ भी बोलें, ऐसा नहीं। अच्छा, तो ऐसा नहीं, क्या इस पर डटे रहें... नहीं नहीं, वह भी विकल्प है। दोनों विकल्पों से अतिक्रान्त होकर ज्ञानी समयसार का अनुभव करेगा। सहज ज्ञानस्वरूप के अनुभव के लिए बड़ी समाधि बने, जहाँ किसी प्रकार का विकल्प न जगे, ऐसी स्थिति बने वह सहज ज्ञानस्वभाव का अनुभव करता है।

1251- परप्रयोग की ज्ञानानुभव में प्रतिबन्धकता का प्रभाव-

यहाँ प्रसंग में कह रहे कि सम्यग्दृष्टि को अगुप्ति का भय नहीं, उसने गुप्तिमय आत्मतत्त्व का पूरा निर्णय किया। अरे कोई यहाँ से उठा देगा तो वहाँ चला जाऊँगा, मैं तो पूरा रहूँगा, मेरा तो कुछ विनाश नहीं। वहाँ मैं भी सुरक्षित। किसी ज्ञानी को कोई कैद कर ले, अपराध हो न हो, किसी प्रकार जेल में बंद कर दे, रस्सी से बाँध दे, तो भला बतलाओ वह बाँधा क्या? वह अपने में कुछ अनुभव कैद का कर रहा क्या? अगर वह

ज्ञान का ज्ञान में उपयोग रख रहा तो उस काल में उसे कैद कहाँ। कोई किसी को जबरदस्ती पकड़कर रखे या शरीर पर जबरदस्ती हो रही मगर ज्ञानी का उपयोग करते समय की बात कह रहे- जो जीव अपने ज्ञानस्वरूप में उपयोग कर रहा है ऐसी स्थिति में उसको यह अड़चन नहीं है। भले ही किसी को रोक दिया कि तुम इस कोठरी से बाहर नहीं जा सकते, पर इसे कोई रोकेगा क्या कि तुम ज्ञानानुभव नहीं कर सकते। किसी को खम्भे में बाँध दिया जाय, पहरेदार भी उसको ताकने के लिए नियुक्त कर दिये जायें, पर कोई यह जबरदस्ती कर सकता क्या कि तुम अपने ज्ञानस्वरूप को ज्ञेय नहीं कर सकते? कोई प्रतिबन्ध नहीं कर सकता। भले ही कोई स्वयं घबड़ाकर अधीर होकर व्यग्र हो तो हो, मगर कोई दूसरा व्यग्र न कर सकता। इस ज्ञानी ने ऐसा गुप्त सुरक्षित स्वरूप पाया।

1252- गुप्त में गुप्त की गुप्त साधना-

अच्छा गुप्ति का अर्थ गुप्त ही रख लो छिपा हुआ, यह गुप्त तो है ही, छुपा हुआ है। अच्छा और इस गुप्त को देखेंगे तो यह प्रकट दिखेगा कि गुप्त होकर दिखेगा? अरे गुप्त ने गुप्त को देखा उस समय में क्या बात बनेगी? कल्याण यह गुप्त है कि खुला है? वह भी गुप्त। गुप्त में गुप्त को गुप्त करके गुप्त का अनुभव करना है, इसका ऐसा सुरक्षित गुप्तस्वरूप है। उसका निर्णय करने वाले ज्ञानी जीव निःशंक होकर निरन्तर सहज ज्ञानस्वरूप का वेदन करते हैं। वेदन में जानना, अनुभवना, वेदना वे सब बातें आ जाती हैं इसलिए एक सीधा प्रत्येक कलश में “विन्दति” का प्रयोग किया है।

कलश 159

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥159॥

1253- मरणभय और प्राणोच्छेद का संक्षिप्त विवरण-

अज्ञानी जीव को मरण का बहुत बड़ा भय है। इससे बढ़कर और कोई भय न मानताहोगा जितना कि मरण का भय मानता। मैं मर जाऊँगा, उसके साथ ये सारे ऐब छुपे हुए हैं जिसके कारण वह भयभीत हो रहा। मैं मर जाऊँगा, ऐसी शंका के साथ वह सब दृश्य इसकी निगाह में आ गया कि यह छूट जायगा, वह छूट जायगा, बच्चे छूट जायेंगे...। सारी की सारी बातें उसके पास एक साथ लगी हैं, वे सब संग प्रसंग मरण भय को और अधिक बढ़ा रहे हैं। अज्ञानी जीव को मरणभय क्यों होता है? अज्ञानी के मोह है आसक्ति है, ये सारी व्यथायें हैं, ये सारी विडम्बनायें हैं जो कि उसके भय को उत्पन्न करती हैं। मरण के मायने क्या है?

प्राण का उच्छेद होना प्राण का वियोग होना। प्राण मायने क्या? परमार्थ प्राण तो एकमात्र चैतन्य है, उसका तो वियोग होता नहीं, पर व्यवहार प्राण क्या? 5 इन्द्रिय, 3 बल, श्वासोच्छ्वास और आयु जिनका वियोग होने से मरण बने, जिनका संयोग होने से जीवन बने उसे कहते हैं प्राण। स्पर्शन आदिक जो 5 प्राण हैं इन्द्रिय वाले ये ज्ञानसंबंधित हैं, ऊपरी चीज नहीं, शरीर की रचना मात्र से मतलब नहीं। नहीं तो कहो कि हमने दोनों आँखें फोड़ लिया, पर हम मरे तो नहीं, तुम तो कहते कि जिनके वियोग से मरण हो जाया। तभी तो ये 5 इन्द्रिय प्राण 12 वें गुणस्थान तक हैं। इन्द्रिय प्राण 13 वें गुणस्थान में नहीं है। अच्छा, और देखने में तो शरीर 13 वें गुणस्थान में भी आ रहा, 5 इन्द्रियाँ हैं, रहें, वह पञ्चेन्द्रिय जाति नामकर्म की बात चल रही है। मगर यह इन्द्रिय प्राण लब्धिरूप है, याने उन-उन इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान करने की बात आती, ये अगर मिट जायें तो मरण हो जाया। भले ही उसमें आप ऐसा निर्णय करें कि लो गला कटे या कुछ बात बने तब बनता है यह। बनो मगर इन्द्रिय प्राण के मायने है इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करने की बात। वह क्षयोपशम लब्धि 12 वें गुणस्थान में है। जब 13 वें गुणस्थान में प्राण मिट जाते, वहाँ मनोबल भी मिट जाता तो वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु - ये 4 प्राण रहते। मनोबल भी नहीं रहा क्या 13 वें गुणस्थान में? हाँ नहीं रहा। इन छहों का काम वहाँ नहीं है। इनके माध्यम से ज्ञान की बात नहीं चलती, और मुख्य बात है आयु का क्षय सो मरण। तो इन प्राणों के वियोग का नाम मरण है।

1254- परमार्थ प्राण के वियोग की असंभवता का परिचय होने से ज्ञानी के मरणभय का अभाव-

आत्मा का वास्तविक प्राण क्या? ये 10 प्राण तो प्राण ही नहीं हैं। वास्तव में आत्मा के ये तो औपाधिक बातें हो गईं। प्राण तो हमारा है ज्ञान। शाश्वत स्वभावमय यह ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व कभी मरता है क्या? ज्ञानस्वरूप कभी नष्ट होता है क्या? स्वरूप तो शाश्वत है, वह कभी भी छिदता नहीं। इस कारण इस जीव के मरण नहीं है। मरण होता ही नहीं। चेतन मिटता ही नहीं। तो अब इसको मरण का भय कहाँ से हो? जो अपने स्वरूप को अपना पूरा सर्वस्व मान रहा है और उससे बाहर में किसी चीज को अपना नहीं समझ रहा है। वह यदि एक शरीर त्यागकर दूसरे शरीर में जाय तो उसके भीतर कोई विषाद नहीं होता। वह जानता है कि मेरा तो सब कुछ मेरे साथ चल रहा है। जो मेरा न था, न है, न होगा, वह जहाँ का तहाँ है। उसे मरणभय कहाँ से?

1255- दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानवली के मरणभय के अभाव की सिद्धि-

एक दृष्टान्त लो- किसी बहुत बड़े आफीसर का तबादला हो रहा, मानो जिसके लिए एक रेल की बोगी स्वतंत्र मिलती है, एक माल का डिब्बा भी स्वतंत्र मिलता है, नौकर चाकर भी बीसों मिलते जो सब सामान रखेंगे, और पहले से अगले स्टेशन पर बीसों नौकर वहाँ खड़े, हजारों आदमी अगवानी के लिए खड़े, रहने के लिए अच्छा बँगला मिलता, ऐसे आफीसर का तबादला हो तो उसके चूल्हा, चक्की आदिक सब जायेंगे। कोई चीज तो नहीं रहती। सब सुविधायें हैं, दो डिब्बे मिले हैं, उसे क्या करना है, बस घर से कार में बैठा

और वहाँ पहुँचकर ट्रेन परचढ़ा, उसका सारा सामान उसके साथ जा रहा। बताओ ऐसे आफीसर को तबादले में कोई दुःख होता है क्या? हाँ ये छोटे-छोटे क्लर्क लोग जरूर दुःख मानते क्योंकि इनके लिए तो वहाँ पहुँचकर कहीं क्वार्टर भी तलाशना पड़ेगा, स्थान परिवर्तन करने के लिए अनेक दिक्कतें भी उठानी पड़ेंगी। तो जैसे उस बड़े आफीसर को तबादले में कोई दुःख नहीं होता ऐसे ही इस ज्ञानी जीव को भी इस तबादले में (मरण में) दुःख नहीं होता। यह देह का छोड़ना आखिर तबादला ही तो है। इस भव को छोड़ो, अब तुम्हारी झूठी देवगति को दी जा रही है। तो इस तबादले में यों कष्ट नहीं कि वह जानता है कि जो-जो कुछ मेरा है वह सब मेरे साथ चल रहा, उसे कोई कष्ट नहीं होता। यह तबादला भी कैसा विचित्र है। बताओ एक आफीसर दूसरे आफीसर को चार्ज देता है तो उनमें से महत्त्व किस आफीसर का अधिक समझा जाता? वैसे महत्त्व तो दोनों का है पर एक अधिकार की दृष्टि से देखो तो चार्ज देने वाले का महत्त्व अधिक समझा जाता, क्योंकि उसका हुकुम अधिक चल रहा और लोकप्रियता की दृष्टि से चार्ज लेने वाले का महत्त्व तो जब इस भव से तबादला होता है मानो मनुष्य यहाँ से मरा और उसे घोड़े की पर्याय में पैदा होना है तो उस बीच की ही विग्रहगति है वहाँ विग्रहगति में नाम तो रहेगा घोड़े का और आकार रहेगा मनुष्य का, ऐसा विचित्र तबादला है, तो यह बात तो आप सब जानते ही होंगे कि विग्रहगति में आकार रहता है पूर्वदेह का और नाम होगा अगली पर्याय का यहाँ से मरा, घोड़े के देह में पहुँचना है तो तिर्यञ्चगति बोली जायगी, आकार मनुष्य का रहेगा। ऐसी स्थितियाँ होती। परन्तु फिर क्या है ज्ञानी जीव जानता है कि ज्ञान मेरा है, वह शाश्वत है, वह छिदता नहीं, इसका कभी मरण होता नहीं, तो उसको मरण का भय नहीं है, और वह निःशंक होता हुआ स्वतः सहज ज्ञानस्वरूप का संवेदन करता है।

कलश 160

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तवदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥160॥

1256- आकस्मिक भय का विवरण-

निर्जराधिकार में सम्यक्त्व के 8 अंग बताये जा रहे हैं, जिनमें यह प्रथम अंग का वर्णन चल रहा। सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होता है, क्योंकि वह सप्तभय से रहित है, सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मस्वरूप में निःशंक है, अतः वह सप्तभयों से रहित है। निर्भयता व निःशंकता परस्पर साधक है। उन सप्त भयों के प्रकरण में आज आकस्मिकभय के सम्बन्ध की बात कह रहे हैं। आकस्मिक का अर्थ क्या है? तो आकस्मिक का प्रसिद्ध अर्थ है अचानक। कहीं से भी भय बन गया, जिसका कोई अनुमान नहीं, अंदाज नहीं, कुछ पहले से बोध नहीं और हो गया उसे प्रचलित अर्थ में कहते हैं आकस्मिक। शब्दार्थ में यह निकलता है कि कहीं से नहीं सो आकस्मिक 'न कस्मादपि इति आकस्मिक,' किसी से भी नहीं अर्थात् जानने में आये हुए किसी से नहीं, जिसका कि पहले कुछ सिलसिला लग गया हो कि अब यह बात बनी, अब यह बात आ रही। जैसे अचानक ही कोई ख्याल करले, अगर बादलों से बिजली ही टपककर इस भवन में आ जाय तो कहीं यह छत ही न गिर जाय तो कुछ से भी कुछ एक आकस्मिक ख्याल बने, इसे कहते हैं आकस्मिक भय। यह भय ज्ञानी के नहीं है। इसका कारण यह है कि ज्ञानी जीव के यह निर्णय है कि यह मैं ज्ञानमात्र हूँ। इसमें किसी दूसरे पदार्थ का उदय नहीं होता।

1257- आत्मा और ज्ञानगुण की अभेदरूपता-

कैसा परम पदार्थ है यह सहज भगवान आत्मदेव 'ज्ञान निवृत्तः अनादितः', यह ज्ञान ज्ञान ही है, जिसका प्रतिभासमात्र स्वरूप है। सो बताया जा रहा है, इसी कारण इसे सर्वद्रव्यों में सार कहा। यह मैं एक ज्ञानमात्र हूँ, सो वह ज्ञानस्वरूप अनादि अनन्त है। मेरे इस ज्ञानस्वरूप का आदि नहीं है कि किस दिन से मैं हूँ। आत्मा में ज्ञान है ऐसा यहाँ नहीं कहा, यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, यह निरखना है। इसमें ज्ञान है, ऐसा कहने पर इसकी दो दृष्टियाँ बन सकती हैं, अभेद भी बनाया जा सकता, मगर तुरन्त तो भेदभाषा बोली जा रही है। जैसे घड़े में चना हैं, बोरे में गेहूँ हैं, आत्मा में ज्ञान है। देखिये आत्मा और ज्ञान इन दो के सम्बन्ध से सांख्य और वैशेषिक के आधार पर कितना भेद माना है। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार तो ज्ञान आत्मा की चीज ही नहीं है, वह तो प्रकृति का धर्म है। प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्चषोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंच भूतानि। यह सांख्य सिद्धान्त में लिखा है कारिका में। प्रकृति से महान उत्पन्न होता है और महान का अर्थ है बुद्धि, ज्ञान जिससे कि अहंकार बनता है, तो ज्ञान प्रकृति का धर्म है, आत्मा का धर्म नहीं। पुरुष का धर्म नहीं। फिर उनसे पूछा जाय तो पुरुष का धर्म क्या है? पुरुष मायने आत्मा। तो उसका धर्म है चैतन्य। उस चैतन्य का अर्थ क्या है? कहते हैं कि प्रकृति का धर्म है ज्ञान, और ज्ञान से जो निर्णय बना उसको चेतने का काम है पुरुष का। कितना बड़ा व्यायाम है। तो यहाँ ज्ञान को उस आत्मा से अत्यन्त जुदा बताया है। सांख्य सिद्धान्त में और वैशेषिक वहाँ भी बताते तो जुदा है, किन्तु अविष्वग्भाव रूप मानते याने अनादि से सम्बन्ध वाला कहते। वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य, गुण, पर्याय (क्रिया) सामान्य, विशेष समवाय ये सब

स्वतन्त्र, स्वतन्त्र है। गुण स्वतन्त्र है तो यह गुण इसका ही हैं यह कैसे जाना जावे इस प्रश्न पर उत्तर देते हैं कि समवाय सम्बन्ध से। किन्तु यह सब युक्तिसंगत नहीं है। आत्मा ज्ञानात्मक है।

1258- द्रव्य, गुण और पर्याय को भिन्न स्वतन्त्र सत् मानने की विडम्बना-

द्रव्य स्वतन्त्र सत्, गुण स्वतन्त्र सत्, पर्याय स्वतन्त्र सत्। सामान्य विशेष, समवाय ये 6 भावरूप और 1 अभावरूप ये सब स्वतन्त्र स्वतन्त्र पदार्थ माने विशेषिकों ने, अच्छा ये स्वतन्त्र सत् अगर हैं तो स्वतन्त्र सत् की व्याख्या क्या है? जो स्वयं अपने में परिपूर्ण है और जैन सिद्धांत के अनुसार जो उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त है गुणपर्याय वाला है उसे सत् कहा गया है। सदद्रव्य लक्षण, गुणपर्ययवद्रव्यं, तो जितने उनके गुण हों, 24 गुण हैं, पार्थव्यगुण, संयोग गुण, ज्ञान गुण आदि आदि ऐसे ऐसे गुण माने हैं, तो ज्ञानगुण अगर स्वतन्त्र सत् है तो वह गुणपर्याय वाला होना चाहिए। याने ज्ञान गुण स्वयं गुणपर्याय वाला हुआ सो निर्गुणाः गुणाः। गुण में गुण होते नहीं, जरा जैनागम अनुसार उन वैशेषिकों के व्यक्तव्य की परीक्षा कर लीजिये, उत्पादव्यय ध्रौव्य वाले होते सत्। अब देखो ज्ञान कैसे स्वतन्त्र सत् है? सो वह ज्ञानगुण ध्रौव्य तो है, पर स्वयं उत्पादव्यय रूप नहीं। इसी तरह उनकी क्रिया, परिणति वह स्वतंत्र सत् है तो वह भी गुणपर्यायवान् होनी चाहिये, उत्पादव्ययध्रौव्य वाली होनी चाहिए सो नहीं। न्याय से वह द्रव्य गुण क्रिया, सामान्य से सारे पदार्थ जुदे-जुदे नहीं ठहरते। वे सब एक ही द्रव्य के ही भेद करके बताये गये हैं। सो इतना एकान्त में बह गए वैशेषिक कि उन्हें स्वतन्त्र पदार्थ मानने लगे, जबकि जैन सिद्धान्त में केवल अतद्भाव बताया गया, पदार्थ एक ही है द्रव्य, वह अखण्ड स्वभावमय है उसमें गुण आरोपित किये स्वभाव के भेद करके, तो उन गुणों का स्वरूप देखो तो परस्पर अतद्भाव को लिए हुए हैं उन्हें स्वतन्त्र सत् नहीं कहा जा सकता। इसी तरह द्रव्य में जो परिणतियाँ होती है वे अतद्भाव को लिए हुए हैं, स्वतन्त्र सत् नहीं। पर्याय स्वतन्त्र सत्, यह है बोद्ध का सिद्धांत। पर्याय को उन्होंने पदार्थ कह दिया, क्योंकि स्वतन्त्र सत् निरन्वय होता है। किसी दूसरे से लगाव नहीं रखता। जैसे जीव, परमाणु यह परस्पर निरन्वय है, पर वैशेषिक सिद्धान्त में द्रव्य को जुदा, पदार्थ को जुदा पदार्थ माना है। तब एक विपत्ति आती है कि जब द्रव्य जुदा है, आत्मा जुदा है वैशेषिक सिद्धांत में और ज्ञान गुण है जुदा पदार्थ, तो ज्ञान आत्मा में ही पाया जाता और इन भौतिक पदार्थों में या आकाश आदिक में न पाया जाय। ऐसा नियम कैसे बनावेंगे? जब यह एक प्रश्न वैशेषिकों के सामने आया तो उन्होंने उत्तर दिया कि समवाय न बनेगा। समवाय का अर्थ क्या है कि जो कभी पृथक् न हो और पृथक् होगा भी नहीं उनका सम्बन्ध बनना सो समवाय है। संयोग तो प्रथम होता उनका फिर सम्बन्ध बने वह तो संयोग है। तो सांख्य की अपेक्षा वैशेषिक कुछ अभेद तो लाये मगर स्वतन्त्र मानना उनका भी रहा, पर जैन सिद्धान्त में आत्मा स्वतन्त्र, ज्ञान स्वतन्त्र पदार्थ है ऐसा नहीं है, किन्तु यह आत्मा ज्ञानमात्र है।

1259- आत्मा की ज्ञानरूपता-

आत्मा एक ज्ञान है, ज्ञानमात्र है, अनादि है, अनन्त है, इस ज्ञान की आदि नहीं, इस ज्ञान का अन्त नहीं अचल है। अपने स्वरूप से कभी चलित नहीं होता, ऐसा यह स्वतः सिद्ध अंतस्तत्त्व है। यह जितना है उतना ही है, यहाँ पर दूसरे का उदय नहीं। बाहरी पदार्थों से इसमें कुछ आता नहीं, इस कारण यहाँ आकस्मिक कुछ हो ही नहीं सकता। ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व में जब किसी दूसरे का उदय ही नहीं है तो यहाँ कुछ विपत्ति नहीं आ सकती। यहाँ तक कि कर्मों का और आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, पर्यायों में, विकार में वहाँ भी कर्म अपने में विपाक पा रहे हैं। वे अचेतन हैं इसलिए पता न पड़ेगा उसे और हम इससे अलग हैं सो हम कर्म को जानें क्या, मगर कर्मों में विपाक इस प्रकार है कि उसकी फोटो यहाँ उपयोग में ज्ञानविकल्प से जानी जा रही, जैसे दर्पण के आगे लाल कपड़ा रखा तो असल में लाल तो वह कपड़ा है मूलतः पर उसका सन्निधान पाकर दर्पण भी लाल फोटोरूप हुआ है, सो कहीं ऐसा नहीं है कि इस समय में दर्पण लाल रंग वाला न हो। वहाँ स्वच्छता का विकार रूप से लाल रंग है, मगर वह ऐसा बाहर लोट रहा है कि उसके हटने में रंच भी देर नहीं लगती। तो ऐसे ही कर्मों में कर्मविपाक आया और चूँकि यह ज्ञानस्वरूप पदार्थ है और उस प्रकार के अशुद्ध उपादान वाला है, उसके उपयोग में उसकी झँकी है। इसे परिशिष्ट अधिकार में बताया कि यह आत्मा रागविकार करता है इसका अर्थ क्या है? कर्मविपाकरूप बाह्य ज्ञेय और ज्ञान में यह भेद नहीं समझ पा रहा। तो इस प्रकार का ज्ञान विकल्प मचा रहा है। यह है विकार का मौलिकरूप। ज्ञेय के मायने कर्मविपाक, उसका प्रतिफलन, उसमें भेद न जान करके और उसमें एक अभेदरूप से ज्ञान का विकल्प कर रहा इसलिए सामान्य अपेक्षा से तो यह कहेंगे कि वहाँ भी यह आत्मा ज्ञानरूप ही परिणम रहा, उस ज्ञानरूप परिणमने का अर्थ दूसरा है, और विशेष की अपेक्षा कहेंगे तो यह राग विकाररूप परिणम रहा। याने रागविकार है कर्म में, कर्म का अनुभाग, पर उसका प्रतिफलन हुआ और वहाँ उपयोग जुटा। यह उपयोग का जुटना यह जान जानकर नहीं हो रहा, और हो रहा है, जैसे दर्पण में अंधेरे का फोटो आया तो कुछ पता नहीं पड रहा कि फोटो है, तो उस स्थिति में भी यह ज्ञान कहीं पुद्गलरूप नहीं बन गया। वह अपने विकल्परूप से ही परिणम रहा।

1260- ज्ञानी के आकस्मिकभय के अभाव का कारण परिपूर्ण परविविक्त अन्तस्तत्त्व का परिचय-

जब विकृत स्थिति में अज्ञानी ज्ञानविकल्परूप ही परिणम सका, अन्यरूप नहीं फिर तो जैसे भेदविज्ञान है और परतत्त्व, परभाव से विविक्त सहज ज्ञानस्वरूप का जिसको प्रत्यय है ऐसे पुरुष की तो और भी विशेषता है, वह ज्ञानी जान रहा है कि यहाँ पर किसी दूसरे का उदय नहीं हैं, आत्मा में आत्मा ही आत्मा है, वहाँ दूसरे पदार्थ का प्रवेश नहीं स्वरूप में। बाह्य क्षेत्र तो आकाश है, और वहाँ आत्मक्षेत्र भी है। जहाँ आत्मप्रदेश वहाँ कार्माण वर्गणाएँ भी है। बहुत से पुद्गल पड़े हुए हैं, कितने पुद्गल हैं एक जीव के साथ, संसारी जीव के साथ? सो आप यों परखिये कि एक छोटा से भी छोटा जीव लो जिसका बहुत छोटा शरीर है, लघु अवगाहना वाला एकेन्द्रिय जीव लो, उस एक जीव के शरीर में अनन्त परमाणु हैं, और जितने शरीर

के परमाणु हैं उससे अनन्त गुणे शरीर के विश्रसोपचय परमाणु हैं, याने जो शरीररूप नहीं बने किन्तु शरीररूप बन सकते हैं। और, उनसे अनन्त गुणे तैजस शरीर के परमाणु हैं। उनसे अनन्त गुणे कर्मपरमाणु लगे हैं, उनसे अनन्त गुणे कार्माण वर्गणा के विश्रसोपचय परमाणु हैं। कुछ ध्यान में दीजिए और, हैं सब एक क्षेत्रावगाह, पर स्वरूप में कुछ नहीं। यह तो एक एक इन्द्रिय जीव की बात है, अब इतनी बात तो चारइन्द्रिय तक में भी है, पर इसके अलावा भाषा वर्गणा के परमाणु और उसके साथ हैं। अच्छा यह सब बात असंज्ञी तक में है, सो संज्ञी में तो है ही, पर उसके साथ मनोवर्गणा के और परमाणु लगे हैं। तो आप ध्यान में दें कि एक जीव के साथ अनन्त परमाणु यहाँ हैं, मगर स्वरूप में किसी दूसरे का उदय नहीं है। यह ज्ञानी ज्ञानमात्र स्वरूप को निरख रहा है। यहाँ यह ही है। यह जितना है उतना ही है। यहाँ कोई आकस्मिक बात नहीं होती तब इस ज्ञानी को उसका भय कहाँ से हो? वह तो निःशंक होता हुआ निरन्तर सहज इस ज्ञान का सम्बेदन कर रहा है।

1261- स्वरूपनिःशंक ज्ञानी के आकस्मिक भय का अभाव-

ज्ञानी के ज्ञान की सुध प्रतीति रूप में तो निरन्तर है और अनुभूति रूप में कभी कभी, मगर इसका स्मरणमात्र भी इस जीव को निराकुल स्थिति में बहुत मदद देता है। जिसने अनुभव किया इस अंतस्तत्त्व का सो अनुभव तो थोड़े समय को है, पर स्मृति तो रहेगी। उसकी स्मृति ही बहुत काम करती है। जैसे किसी ने कोई बड़ी मधुर चीज खायी और स्मृति आ जाय तो उस जैसा रस या थूक एक घूँट में आ ही जाता है। नीबू को देखते हैं तो दूर रखा है यह नीबू, पर खटास जैसी बात कुछ गले में आ सी जाती है। न सम्बन्ध है न कुछ, पर स्मृति हुई कि इसका कैसा रस है? क्या नीबू का रस खाते समय वह आत्मा में आता है? अरे वह तो ज्ञान में बात आयी। तो यह नीबू खाते समय ज्ञान में समझा वह रस, उस ज्ञान में वह यहाँ चैन, मौज या अनुभव बनाता है। कहीं नीबू के रस का अनुभव नहीं बनता, वह तो बौद्धकालिक चीज है पर द्रव्य का आत्मा अनुभव कैसे करे? उपचार से तो कहेंगे, किन्तु परमार्थ से तो रसना इन्द्रिय के द्वारा जो उसका ज्ञान किया गया, एक आत्मा का ही, ज्ञान का ही आनन्द ले रहा है यह जीव। पदार्थ का आनन्द कभी नहीं मिलता, किसी को नहीं मिलता। बाहर में अनेक पदार्थ हैं, वैभव पड़ा है, पर उस वैभव में आनन्द आता है क्या? उस वैभव को विषय करके जो यह जीव अपने में बहुत बहुत कल्पनायें बनाता, ज्ञान विकल्प बनाता, उनमें मौज किया करता। इसको कहीं बाहरी पदार्थों में मौज नहीं मिला, यह एक ज्ञानमात्र, सो अनुभव किया, उसके बाद प्रतीति में ही इसके निर्व्यग्रता बनी रहा करती है। इसके आकस्मिक भय नहीं होता।

1262- ज्ञानी की लीला का धाम-

ज्ञानी को आकस्मिक भय इस कारण नहीं कि इस ज्ञानी के तो अन्तर में एक अद्भुत लीला है। कहाँ वह क्रीड़ा कर रहा है, किस उद्यान में रम रहा है यह? कर्मविपाक से उत्पन्न हुआ जो यह सारा वैभव है उससे अपने आपको पृथक् जानकर यह तो एक स्वभाव की ओररम रहा है। तो देखो उस स्वभावरमण की

स्थिति में यहाँ प्रतिफलन हो रहा, विभाव हो रहे, पर वे बिना फल दिये झड़ रहे, विभावों का फल था संसार बंधन कराना, पर उपयोग रहा अंतस्तत्त्व में तो विभाव तो हुये मगर प्रतिफलनरूप कलुषता करके निकल गये। और अगर बुद्धिपूर्वक हुए तो केवल उपयोग निमित्तक बन्ध हुआ, वहाँ संसार निमित्तक बन्ध नहीं, क्योंकि उसने जीवभाव को, पारिणामिक भाव को, इन सब विभावों को छोड़कर उपयोग द्वारा छिन्न-भिन्न कर अलग कर दिया था। अब इस जीवभाव में ये विभाव जम नहीं सकते। जैसे टूटे हुए फल को डाली में जोड़े रहना एक जबरदस्ती है ऐसे ही कर्मविपाकवश विभावों को उपयोग में जोड़ लेना एक जबरदस्ती है, पर अन्तर में जीवभाव के विभावों का जुटना नहीं बनता। और उस समय जैसे बाहर में पौद्गलिक कर्म स्वयं निर्जीर्ण हो रहे हैं इसी तरह यह विभावों की श्रृंखला भी इस ज्ञानी जीव में आयी और निर्जीर्ण हो रही।

1263- कर्मनिषेकों के उदयन के समय की विडम्बना-

देखो निर्जरा तो सभी जीवों के चलती है। अज्ञानी के भी जो राग आया वह गया, ठहरना नहीं है, इसी प्रकार जो कर्म उदय में आए सो गए। उदय कहते हैं निकलने को, जगह छोड़ने को उदय कहते हैं। जैसे सूर्य का उदय हुआ मायने सूर्य ने अब वह जगह छोड़ा, वह निकला। कर्म का उदय मायने कर्म का निकलना, दूर होना। तो ये कर्म जब दूर होने को होते हैं तब विडम्बना बनती है। देखो कितना कुमित्र है यह। जब तक आत्मप्रदेश में रह रहा यह कर्म याने सत्ता में स्थित है तब तक इसमें बिगाड़ नहीं चल रहा और जिस समय यह दूर होने को होता है तो न जाने क्यों इतनी विडम्बना होती? शायद दूर होता हुआ मानो वह घबड़ा गया कि ऐसा बढ़िया भगवान आत्मा को स्थान मिला था रहने को और जा रहा अब सो वह मानों बौखला गया। वहाँ एक विपाकरस फूटा, तो उदय के मायने है निकलना, दूर होना।

1264- सत्तास्थित कर्मों के दूर होने के समय संपदा विपदा से भेंट-

यह पुण्य सम्पदा जिनको मिली है सो कहते हैं कि पुण्य के उदय से मिल रही। उसका अर्थ यह है कि पुण्य कर्म के निषेक परमाणु हर समय निकल रहे, दूर हो रहे। उदय का अर्थ यहाँ निकलना है, याने पुण्य प्रकृति के दूर होने के समय सम्पदा मिलती है। उदय होने का अर्थ बतला रहे कि जो पुण्य प्रकृति इस आत्मा में सत्ता में स्थित है उसका उदय हो तब ही तो सम्पदा मिले और उदय के मायने निकलना है। अब यहाँ निकलने निकलने का ताँता चल रहा है, तो इतनी बात तो अवश्य है। उस निकलने के ताँते का फल है बहुत काल तक सम्पदा का समागम रहना। उस निकलने का निमित्त पाकर ये भोग उपभोग सम्पदा प्राप्त हुए, सत्ता में रहते हुए में नहीं प्राप्त होते। तो निर्जरा तो सभी जीवों के हो रही, जिनके पास धन है उनका पुण्य कर्म निकल रहा और जिनको कष्ट है उनके पापकर्म निकल रहा इसलिए कष्ट हो रहा। बताओ कष्ट में क्या बुराई? पापकर्म निकल रहा। दूर हो रहा, पापकर्म के उदय होने का याने दूर होने का निमित्त पाकर कष्ट होता है और पुण्य कर्म के उदय होने का, दूर होने का निमित्त पाकर सम्पदा मिलती। विशेष यह है ताँते की बात और भीतर समझ लो। जिसके पाप का उदय चल रहा तो उसकी संतति में, ताँते में बहुत

काल तक पापकर्म दूर होता जा रहा, वहाँ निरन्तर कष्ट हो रहा। बड़ा पाप नारकियों के हैं, जिसे कहते हैं तेज पाप का उदय। तो कहते हैं नारकी जीव मरकर फिर तुरन्त नरक में व देव में नहीं जाता, कुछ बीच में और भव पाकर जाता। तो एक कल्पना लायी जा सकती कि पापकर्म इतना वहाँ दूर हुआ कि अब उतना पाप नहीं रहा कि फिर वह नरक में आ सके। वह फिर दूसरा भव धारण करेगा उसके बाद फिर पापबंध होगा नरक के लायक, फिर नरक जायगा। तो से कर्म सदा निर्जरा को प्राप्त हो रहे। बस ताँते की बात पुण्य सम्पदा में और ताँते की बात यहाँ कष्टोपभोग में समझ लीजिये। राग हो रहा, निकलना हुआ। वह ताँता चल ही रहा है, और फिर उसका उपयोग बनता है।

1265- ज्ञानी के निःशंक ज्ञानसंचेतन-

जिन्होंने यह रहस्य जाना, जैसे दर्पण पर प्रतिबिम्ब आया गया, वह बाहर बाहर लोटता रहा, अन्तः प्रविष्ट नहीं हुआ इसी प्रकार यह उपयोग आया गया, बाहर ही बाहर लोटता रहा, अंतः प्रविष्ट नहीं हुआ। ऐसा जिसके अन्तः प्रतिबोध है वह अपने स्वरूप की सम्हाल में स्वरूप के अभिमुख हो रहा इसलिए वे विभाव निर्जीर्ण हो रहे, संसार में भटकना करने वाले नहीं बन रहे। करणानुयोग के अनुसार बन्ध वहाँ भी हो रहा। करणानुयोग के मायने झूठा अनुयोग नहीं, किन्तु पूर्ण पक्का, न्याययुक्त सच्चा। वहाँ बन्धन हो रहा, आस्रव हो रहा, पर उसकी विवक्षा अध्यात्म में नहीं की जाती। यह सब बुद्धिपूर्वक उपयोग से सम्बन्धित बातों का वर्णन चल रहा, क्योंकि जितना बिगाड़ हम आपका है वह उपयोग लगाने से बिगाड़ है। अगर उपयोग उन रागादिक विकारों में न लगे तो यह बहुत सामान्य होकर निर्जीर्ण हो जाता है, तो इस ज्ञानी जीव ने अपने स्वरूप को पहिचाना ज्ञानमात्र, अचल इसमें किसी दूसरे का प्रवेश नहीं। तो कोई आकस्मिक भय नहीं। ज्ञानी अपने स्वरूप को ही लिए हुए है उपयोग में, इस कारण वह निःशंक है। जैसे लोग कहते- मर गए, मरने दो, मैं तो पूरा का पूरा यह हूँ।रेलगाड़ी में कह देते ना कि भाई वहाँ न बैठो यहाँ आ जावो, तो झट वह वहाँ से उठकर दूसरी जगह बैठ जाता है, दूसरी जगह पहुँच जाने से कहीं उसका शरीर घट तो नहीं गया, वह तो पूरा का पूरा पहुँच गया, ऐसे ही यह आत्मा एक देह छोड़कर दूसरे देह में पहुँच गया तो वह तो वहाँ भी पूरा का पूरा पहुँचा, उसमें से कुछ कम नहीं हो गया। इस आत्मा में किसी दूसरी चीज का प्रवेश नहीं है, उसमें से इसकी कोई चीज कभी इससे बाहर जाती नहीं। ऐसा एकत्व विभक्त स्वरूप का निश्चय होने से सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक होता हुआ अपने स्वरूप का संचेतन कर रहा है।

कलश 161

टङ्कोत्कीर्ण-स्वरस-निचितज्ञान-सर्वस्वभाजः

सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।

तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः

पूर्वापात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥161॥

1266- सम्यग्दृष्टि की लक्ष्मी-

यहाँ सम्यग्दर्शन के अंग बताये जा रहे हैं। ये क्या हैं? सम्यक्त्व के लक्ष्य, सम्यग्दृष्टि के लक्षण। जैसे यहाँ कभी कोई उल्टा गलत काम कर रहा हो तो कहते हैं कि तुम्हारे लच्छन ठीक नहीं है। अभी अपने लच्छन तो अच्छा करो, तो लक्षण के मायने प्रवृत्ति, वृत्ति, पहिचान। तो सम्यग्दृष्टि के ये सब लक्ष्य हैं, लक्षण हैं। देखो लक्ष्य और लक्षण दोनों एकार्थक हैं। केवल प्रत्यय के बदलने से दो रूप बने। इतना ही नहीं, लक्ष्मी, लक्ष्य, लक्षण इन तीनों का एक अर्थ है। लक्ष्मी का अर्थ मूर्ति नहीं या कोई देवी नहीं, लक्ष्य शब्द नपुंसकलिंग है, लक्ष्मी शब्द स्त्रीलिंग है लक्ष्मी का अर्थ है लक्षण, पहिचान। तो लक्ष्मी शब्द से पहले ज्ञान का ही बोध होता था। जिसने कहा लक्ष्मी, तो अर्थ यह ही ध्वनित होता था कि ज्ञानस्वरूप, ज्ञान लक्ष्य, ज्ञानलक्षण मायने आत्मा की जो लक्ष्मी है, मायने लक्षण है वह क्या है? ज्ञान लक्ष्मी। दीवाली के दिन लोग लक्ष्मी की पूजा करते हैं, वह लक्ष्मी क्या है? ज्ञानलक्ष्मी, जिसमें अतुल समृद्धि हो वह है लक्ष्मी। अतुल समृद्धि है कहाँ? बाहर तो बाह्य पदार्थ है, भिन्न हैं। कुछ मतलब ही नहीं, समृद्धि है अपने आपमें। सारी करतूत कला यह सब ज्ञान में बसी हुई है। तो ज्ञान ही लक्ष्मी है। सम्यग्दृष्टि के लक्ष्य क्या हैं। ये 8 अंग भी तो ज्ञानरूप वर्त रहे हैं। ज्ञान को छोड़कर और कुछ रत्नत्रय में बात न मिलेगी।

1267- सर्वभावों की ज्ञानसंबंधितता-

भैया, व्यवहारधर्म सब कुछ ज्ञान से ही सम्बंधित है। व्रत, तप, संयम, असंयम ये ज्ञान से अलग न मिलेंगे। ये भी सब ज्ञान से सम्बंधित हैं और इतना ही क्यों, सुख, दुःख, कष्ट, ये भी ज्ञान से अलग न मिलेंगे। ये सब भी ज्ञान से सम्बंधित हैं। कष्ट नाम किसका? याने ज्ञान का ऐसा विकल्परूप परिणमन जिसमें भय, शंका आदिक विकल्प जगते हैं, वह ज्ञान का ही तो विकल्प है। सब कुछ ज्ञानस्वरूप है। और, इसी से ही बढ़ गए एकान्त में जो, सो उनका एकान्त सम्प्रदाय बन गया। उसने तो यह माना कि सब कुछ ज्ञान ही ज्ञान है। कोई कहे कि यह खम्भा जो दिख रहा यह क्या है?...ज्ञान। जो कुछ दिख रहा वह क्या?...ज्ञानस्वरूप। उनका ऐसा अनुमान है कि जो जो कुछ प्रतिभास में आ रहा है वह- वह प्रतिभासस्वरूप है। जैसे ज्ञान प्रतिभास में आ रहा है तो वह ज्ञान प्रतिभासस्वरूप है। तो ये सारे पदार्थ जो प्रतिभास में आ रहे हैं ये सब प्रतिभास स्वरूप हैं। और मोटी दलील से भी दिखाते हैं। जैसे कि लोग कहते हैं कि हमारे ज्ञान में आया तो यह है और ज्ञान में न आया तो नहीं है। किसी तरह से समझे ज्ञानाद्वैत। ज्ञानमात्र ही है सब कुछ, यह एकान्त हो गया। किन्तु यह युक्त नहीं बैठता, ज्ञानमय पदार्थ भी है, अज्ञानमय पदार्थ भी है, पर

आत्मा का जो कुछ है वह सब ज्ञान उद्यान के ही सारे फल फूल है यहाँ। तो सम्यग्दृष्टि जीव के जो ये लक्ष्य हैं, 8 अंग हैं, ये समस्त कर्मों को दूर करते हैं।

1268- स्वरसनिचित ज्ञानसर्वस्वमय सम्यग्दृष्टि के कर्मसंवरण और कर्मनिर्जरण-

कैसा है वह सम्यग्दृष्टि किटंकोत्कीर्णवत् एक स्वभावरूप जो स्वरस आत्मसमृद्धि उससे भरा हुआ ज्ञान ही इसका सर्वस्व है। ज्ञानमात्र तत्त्व को अन्य बातों से भरे तो यह रीता हो जायगा और अन्य बातों से रीता करें तो यह ज्ञानमात्र तत्त्व से भर जायगा। कैसा है यह ज्ञानमय पदार्थ? अगर उसमें और बातें भरे तो यह रीता रहेगा, दुःखी रहेगा, संसार में भटकेगा और इसको रीता करेंगे इस प्रकार कि ज्ञानमें और कुछ बात न आये, केवल ज्ञानस्वरूप ही रहे, ऐसा रीता अगर कर देंगे, अन्य बातें यहाँ से हटा लेंगे तो यह ज्ञान ऐसा भर जायगा कि इसमें तीनों लोक व अलोक के सब पदार्थ अवश होकर यहाँ आ पड़ेंगे। पदार्थ न आ पड़ेंगे। पदार्थों का ज्ञान हो जायगा, तो ऐसा यह आत्मतत्त्व ज्ञानस्वरूप वही जिसके लिए सर्वस्व है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवों के ये लक्ष्य समस्त कर्मों को दूर करते हैं। वह लक्षण क्या? अभी निःशंकित अंग का वर्णन चला था। 7 भयों से रहित अपने स्वरूप में निःशंक वह जान रहा है टंकोत्कीर्णवत् स्वरूप निश्चल है। यद्यपि कहीं इस पदार्थ पर आवरण है, द्रव्य प्रकार सीमा में परिणमन है तो भी स्वभाव अचल है, स्वभाव नहीं बदलता। ऐसे अचल स्वभाव में अंतस्तत्त्व की श्रद्धारखने वाले पुरुष के मिथ्यात्व नहीं रहा, जहाँ मिथ्यात्व नहीं है वहाँ शंका नहीं। जहाँ तक मिथ्यात्व है वहाँ तक कर्मबंध की शंका है, अर्थात् संसार परम्परा करने वाली प्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व के रहते हुए होता है। तो जब इसके शंका न रही स्वरूप में, तो इसके बंध नहीं है और निर्जरा ही चल रही है, बंध नहीं है। इसका अर्थ है कि मिथ्यात्वकृत बंध नहीं है। और बंध की इसके सामने कुछ गिनती नहीं, वह संसार परम्परा नहीं बढ़ाता।

1269- अध्यात्मशास्त्र में बुद्धिपूर्वक रागादि आस्रवक भवन व अभवन की चर्चा-

मिथ्यात्व में होने वाला बंध संसार परम्परा बढ़ाता है, अनन्तानुबंधन करता है इसलिये बस इसके ही भवन अभवन का अध्यात्म शास्त्र में प्रयोग में आ रहा, जो बुद्धिपूर्वक आ रहा उसका ही वर्णन यहाँ चलता। यद्यपि जैन सिद्धांत चार वेदों में विभक्त है- (1) प्रथमानुयोग (2) करणानुयोग (3) चरणानुयोग (4) द्रव्यानुयोग। करणानुयोग की दृष्टि से निरखें तो बंध 10 वें गुणस्थान तक है, अब समद्विधिये श्रेणियों में जहाँ समाधिभाव है यहाँ भी बंध है और चौथे में तो उनकी अपेक्षा विशेष ही बंध है। 5 वें में, चौथे से कम ऊपर वालों से ज्यादा इतने बंध प्रसंग चल रहे हैं तो जब कोई ज्ञान न हो करणानुयोग का और केवल एक उस ही अध्यात्म में कही हुई बात को एकान्ततः कोई पकड़ता है तो अन्य कोई इसमें विवाद भी उठाता है। अध्यात्मशास्त्र के अनुसार तो वह कहता है- हाँ बिल्कुल बन्ध नहीं होता, पर बात वहाँ सही यों नहीं बैठती कि बन्ध तो चल रहा है, 10 वें गुणस्थान तक। तो एक प्रकरण जान लें। बन्ध है 10 वें गुणस्थान तक लेकिन यहाँ उपयोग की मुख्यता से बात कही जा रही है। उपयोग जहाँ जुड़ा है और उस उपयोग में इस जीव के

बुद्धिपूर्वक भी दृष्टि से देखें तो वहाँ आस्रव बंध नहीं है, पर एकान्त करते हैं, तो विवाद बनता है और उस विवाद में न इन्हें लाभ न उन्हें लाभ, क्योंकि कषाय, या विवाद, या विडम्बना या अपने आपके विचार का पक्ष ये ऐसी कलुष परिणतियाँ है कि जो स्वानुभव में बाधक बनती हैं, इसलिए निर्णय सब प्रकार से करें और प्रतिपक्ष बात को अंगीकार करके विवक्षित बात की प्रधानता देना, बस यही है सुरक्षित अपना मोक्षमार्ग में गमन।

1270- सम्यग्दृष्टि के स्वरूपविषयक शंका का अभाव तथा जिनवाणी में शंका का अभाव-

सम्यग्दृष्टि के शंकाकृत बंध नहीं। यहाँ भी एक शंका की जा सकती है। अच्छा, बैठा है सम्यग्दृष्टि मानो बड़े जोर से तोप का गोला छूट गया तो क्या वह जरा भी हिलेगा डुलेगा नहीं? हिलेगा डुलेगा पर वहाँ कोई शंका हो गई क्या? अरे शंका उसके स्वरूप में नहीं है। केवल बाहरी बातें होती रहें तो भी स्वरूप में संदेह नहीं। मैं सहज ज्ञानमात्र ही हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ, जिसका कभी नाश नहीं होता, ऐसा मैं अन्तस्तत्त्व हूँ। उसकी श्रद्धा में कभी भी शंका नहीं चलती और फिर यह सब रूप की परख जिन उपायों से पायी है, उन वचनों में भी शंका नहीं। साक्षात् परख तो शुद्धनय से पायी, पर जो और परख के साधन बने थे, जिनकी कृपा से समझकर हम शुद्धनय को पहिचान सके वह सब क्या है? वही आगम, 7 तत्त्वों का निर्णय और सभी प्रकार के वस्तुस्वरूप का निर्णय। आगम से पाया तो उस आगम के सम्बन्ध में भी रंच शंका न रहना इसे कहते हैं व्यवहारिक निःशंकित याने जिन वाणी में जिनेन्द्रदेव के वचनों में उसे शंका नहीं रहती, “जिन वचन में शंका ना” जिनेन्द्र भगवान की वाणी में उसे शंका नहीं है, आगम में लिखा है परोक्षभूत तत्त्व के सम्बन्ध में, वहाँ हम कुछ युक्ति बुद्धि नहीं लगा पाते, स्वर्ग नरक के बारे में हम साधारणतया बता दें, वहाँ हम और कोई बात चलाते जायें, सही समझें कि हाँ स्वर्ग जरूर है, थोड़ा बनाते हैं अनुमान। जहाँ ऐसा वर्णन किया विमानों की नाप तौल, उनमें रहने वाले देवों के नाम, और और वर्णन, यहीं मध्यलोक में जो मेरू आदिक पर्वत पड़े हैं, एक एक पर्वत की नाप, कुलाचल और और द्वीप सबकी एक-एक अंगुल की नाप बताया है, जहाँ पूरा अंगुल भी नहीं तो बता देते कि अंगुल के तीसरे भाग प्रमाण, आदि यहाँ तक बारीकी से सब बताया। इसको सही निर्णय है, सही श्रद्धान है कि जो कुछ आगम में बताया है वह सब यथार्थ है। यह उमंग उसे कैसे बनी? जब आगम में बताये गए 7 तत्त्व 9 पदार्थों के बारे में इनको युक्ति से परखा, अनुभव से जाना और एक दृढ़ निर्णय श्रद्धान बना तो एक बात जो हमारी समझ में आ सकती है वह जब पूरी ठीक बन गई तो वीतराग संत महर्षियों को और प्रकार से गप्प लिखने का क्या प्रयोजन था? ऐसी कोई भी चीज स्वरूप नहीं है। उसके प्रति दृढ़ श्रद्धा होना वह एक बहुत उचित चीज है।

1271- सम्यग्दृष्टि के स्वरस का महत्व-

सम्यग्दृष्टि को अपने स्वरूप में शंका नहीं, यहाँ कोई भय नहीं आ सकता, यहाँ किसी दूसरे का प्रवेश नहीं। यह कभी मरता नहीं, इसमें यह ही है। यहाँ किसी प्रकार का भय नहीं, वह निःशंक निरख रहा है

अपने ज्ञानस्वरूप को। तब हो क्या रहा है? बंध रुक गया और निर्जरा हो रही, उस कर्मफल में जब उपयोग नहीं दे रहा यह और एक ज्ञानप्रकाश से समझ लिया कि ये सब कर्मरस है। मेरे स्वरूप के रस नहीं हैं, उनका प्रतिफलन है और उस प्रकार का विकल्प बनता है, पर यह मेरे स्वरूप की बात नहीं है तो ज्ञानी को विकार में क्यों रुचि होगी। स्वरस का ही ज्ञानी महत्त्व आँकता है, कर्मरस का महत्त्व नहीं आँकता अतएव निर्जरा होती है।

1272- विभावों की उपेक्षा से विभावों का निर्जरण-

भैया किसी महिमान को आप बड़ी खातिर से बहुत ऊँचे स्वागत से मना मनाकर रखें तो महिमान को रहने में क्या आपत्ति है और महिमान अगर आपके लिए बोझ रूप बन गया हो तो क्या उपाय है उसको हटाने का? उसे उपेक्षा कर लें तो वह अपने आप चला जायगा। तो यह कर्मरस एक महिमान है, जिसकी हमारे लिए कोई महिमा नहीं। ऐसा यह महिमान आया है तो इससे राग होगा, इससे प्रीति जगेगी, इसका स्वागत होगा, इस रूप बनकर चलेंगे तो इसको यहाँ रहने में क्या आपत्ति? इसका तो मौज बन रहा। कर्म अपना कुल बढ़ाना चाहते, जीव अपना कुल बढ़ाना चाहता, एक अलंकार में कहा है आचार्यों ने, कर्म कभी गम खायेंगे क्या? बहुत हो गया, बहुत सता लिया इस जीव को, बस अब तृप्त हो गए, अब न सतावें। तो कर्म को तृप्ति नहीं। अलंकार में समझिये कर्म यों नहीं हटते। कर्म में राग नहीं लगे, उनसे उपेक्षा बनायें, स्वभाव की ओरदृष्टि रखें तो उससे विभावों की निर्जरा है। हट जाने का नाम है निर्जरा। विभावों का फल था एक संसार परम्परा बढ़ाना मगर मिथ्यात्व का योग न होने से ये संसार परम्परा नहीं बढ़ा पाते। यहीं उन विभावों का निर्जरण चल रहा है। ज्ञानी जीव के निःकांक्षित गुण प्रकट हुआ है, भीतर से कुछ नहीं चाहता। देखिये इच्छा भी है और नहीं भी है, एक गृहस्थ है, ज्ञानी है अपने अध्यात्मरस का अभ्यासी है तो वह घर में रहता हुआ क्या दूकान न जायगा? क्या अन्य काम न करेगा? गृहस्थी में रह रहा इसलिए करना पड़ेगा। तो क्या थोड़ी बहुत भी इच्छा नहीं होती कि दूकान जायें, इसमें ऐसा व्यापार करूँ, इसमें ऐसे दाम लिखूँ, इसमें इतना मुनाफा पाऊँ, इसकी थोड़ी सी बात तो मन में आती ही होगी। न आये तो फिर इतना रोजिगार, व्यापार क्रिया कैसे बनी। तो यह इच्छा है चारित्र मोहकृत। करना पड रहा है, परिस्थिति है ऐसी, पर अन्दर में किसी भी विभाव को वह चाहता नहीं। शुभ अशुभ समस्त विभावों से विविक्त एक विशुद्ध चैतन्य प्रकाश में ही अपनी स्थिति चाहता है तो मौलिक तो ऐसी बात है पर आ पड़े कि ऐसी बात है अब इस बात को ज्ञानी के सिवाय दूसरा कौन समझे कि ऐसी भी परिस्थिति होती है। वह आ पड़े की जबरदस्ती है। अज्ञानी कैसे समझे? कहीं ऐसा भी होता है कि काम करे, और आ पड़े की जबरदस्ती माने। वह ज्ञानी ही इस बात को समझता है। तो उसकी निःकांक्षता है, विषय भोगों से प्रीति नहीं है। आकांक्षा न होने से उसके बंध नहीं, निर्जरा है। निर्जरा है ऐसा शब्द सुनकर करणानुयोग की दृष्टि में तो इसका समाधान कर लें। यहाँ बुद्धिपूर्वक वर्णन के प्रसंग में बात चल रही है। उसे संसार वाला बंध नहीं, जैसे बताया ना- अध्यवसान दो प्रकार के हैं-

(1) संसार विषयक और (2) उपयोग निमित्तक। संसार विषयक बंध कहलाता है रागद्वेष मोह। उपयोग निमित्तक कहलाता है सुख दुःख आदिक। सम्यग्दृष्टि जीव के निःकाक्षता के प्रताप में बंध नहीं। व्यवहार में अथवा एक प्रवृत्ति में वृत्ति है- “धारि वृष भवसुख वाञ्छा भाने” मायने धर्म को धारकर विषयों की वाञ्छा न करना, धर्म के एवज में कोई सांसारिक सुख की चाह करना मिथ्यात्व है। चारित्रमोहकृत कमजोरी है सो इच्छा भले ही हो पर धर्म के एवज में सांसारिक सुख की चाह करना उसका मिथ्यात्व है, तो धर्मधारण करके भवसुख की चाह नहीं होती है ज्ञानी के धर्म सांसारिक सुख की प्राप्ति के लिये न माने, किन्तु अपने आपको निर्भार कृतार्थ, सहज तृप्त होने के लिए ही धर्म का पालन मानें, मैं अपने को अकेला जैसा मैं अपने स्वरूप में हूँ वैसा ही अपने को अनुभव करूँ यह है धर्मपालन। इसके लिये है धर्मक्रिया।

1273- ज्ञानी की निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टिता का प्रभाव-

ज्ञानी जीव का लक्ष्य एक है, निर्विचिकित्सा, विभाव आ रहे हैं, क्षुधा तृषा आदिक दुःख आ रहे हैं, पर स्वरूप की श्रद्धा के कारण व्यग्र नहीं बन रहा, वहाँ ग्लानि नहीं चल रही है। ग्लानि कहते हैं मालिन्य को, रोग को। ज्ञानी जीवको अपने स्वरूप में आस्था है और जो-जो कुछ ऊपरी बातें हैं, विभाव है, उनके कारण यहाँ ग्लानि विषाद व्यग्रता नहीं बन रही है, क्योंकि उसने अपने स्वरूप को निरखा और उसके आशय में निःशंक यह बात है कि इस तरह से मैं अपने को सुरक्षित बनाता हूँ उसके स्वरूप की निःशंकता के कारण और विभावों से उपेक्षा के कारण बंध नहीं, किन्तु निर्जरा चलती है। इस ज्ञानी का एक लक्षण है अमूढ़ दृष्टि। टंकोत्कीर्णवत् निश्चल जो एक चैतन्यप्रकाश है उसमें इतनी लगन है कि इसके अतिरिक्त अन्य बातों में उसको मोह नहीं जगता। कोई कितना ही बहकावे, जैसे कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, इनकी महिमा जताये वहाँ इसका मोह नहीं बनता। कोई कितना ही चमत्कार दिखाये वहाँ इसको मोह नहीं जगता, मूर्खता नहीं आती कि वहाँ ही अपना कल्याण समझने लगे। स्वरूपानुभव की कला है ऐसी कि जिससे उसे ऐसी अमूढ़ता प्राप्त हुई। अब इसके मूढ़दृष्टि के कारण हो सकने वाला बंध नहीं है, अर्थात् मूढ़दृष्टि में होने वाला जो बंध था वह अब रहा नहीं, सो उसके निर्जरा हो चलती है।

1274- ज्ञानी का उपवृंहण और स्थितिकरण लक्ष्य-

ज्ञानी का एक लक्षण है उपवृंहण, अपने गुणों में बढ़ना, समस्त आत्मशक्तियों की वृद्धि करना। उसमें ज्ञानबल ऐसा पड़ा है कि उसकी शक्ति में दुर्बलता वाला बंध अब नहीं हो रहा। पहले कायर हो जाता था, जरा-जरासी घटना में अपने आपके स्वरूप को भूल जाता था। अब अपने स्वरूप की दृढ़ता के कारण शक्तियों का बढ़ावा चल रहा है, धीरता, वीरता, गम्भीरता, उदारता ये सब वृद्धि को प्राप्त हो रहे और भीतर में अपने स्वरूप की निश्चलता बढ़ रही, ऐसे जीव का यह उपवृंहण यह समस्त कर्मों को दूर कर रहा है। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य है स्थितिकरण, स्वयं मार्ग से च्युत हो जाय तो अपने को मार्ग में स्थिर कर देना। देखिये- अपनी-अपनी सम्हाल अपने-अपने को बहुत आवश्यक है, जो कुछ करें धर्म के लिए। चर्चा करें तो,

स्वाध्याय सुनें तो, प्रवचन करें तो, सब स्थितियों में आत्मसम्वाल, आत्मदर्शन, आत्मा की अभिमुखता यह ही ध्यान में होना चाहिए और इस ही तरह की अन्तर्वृत्ति चलना चाहिए, अन्य भाव नहीं। कभी अगर कोई श्रोता इस ख्याल से सुनता हो कि कोई गलत बात जंचे तो मैं उसकी पकड़ करूँ तो उसको उस प्रवचन से या वचन से या उस जिनवाणी से अपने आत्मा को पोषने वाला तत्त्व न मिलेगा, क्योंकि उसकी बुद्धि एकदम बाहर की ओर है, और इस तरह से सुने जैसा कि श्रोता का प्रधान लक्षण बताया- “भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन्”। श्रोता की पात्रता बताते हुए कहा है छन्द में सर्वप्रथम लक्षण श्रोता का। उसका क्या अर्थ है कि, मेरा क्या हित है इस प्रकार का विचार करता हुआ श्रोता होता है। ऐसे विचार वाला श्रोता 8 वर्ष के बालक के मुख से भी कोई जिनवाणी का वचन सुनेगा तो उससे भी वह अपना लाभ निकाल सकता है। आत्मशक्ति का उपवृंहण करने वाला वह कभी अपने आपसे च्युत हो तो अपने आपमें अपने को स्थिर कर दे, यह है उसका स्थितिकरण लक्षण और व्यवहार में कोई दूसरा च्युत हो रहा हो तो तन, मन, धन, वचन जिस किसी भी प्रकार से बने, सेवा से उसको धर्म में स्थिर कर देना यह है उसका स्थितिकरण। तो अपने को निरखें, कभी गलती हो, कभी स्वरूप से च्युत हो, कभी बाह्य में भटकना बन जाय तो झट-पट अपने आपको सम्वालें। अन्य बाहरी झंझटों को, उन विकल्पों को हटायें और अपने आपके स्वरूप में, अपने उपयोग को जोड़ें। ऐसा चिन्ह प्रकटहोता है सम्यग्दृष्टि जीव के, तब समझिये कि उसके बंध क्यों हो? उसके तो निर्जरा ही चलती है।

1275- सम्यग्दृष्टि का वात्सल्य और प्रभावना रूप लक्ष्य-

सम्यग्दृष्टि जीव का लक्षण है वात्सल्य। रत्नत्रय मार्ग में उसको अत्यन्त प्रीति जगी। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इनको अपने में निरख रहा, अभेद विधि से देख रहा है मार्ग वात्सल्य। और, ऐसा पुरुष सदा आत्मा में मग्न तो हो रहा, तो उसकी जो बाहरी प्रवृत्ति है वात्सल्य के प्रसंग में अपने साधर्मीजनों से निष्कपट प्रीति रखने की है। देखिये- साधर्मीजनजो धर्म का पालन करें, तथा नाम के जैन हों वहाँ भी वात्सल्य जगना, स्थापना जैन हों वहाँ भी, द्रव्य जैन हों वहाँ भी, भाव जैन हों वहाँ भी, सर्वत्र वात्सल्य जगना। वहाँ द्वन्द्व न मचना, वहाँ दुविधा न होना कि जो मेरे संग में अधिक रहे उसका विचार हमसे पूर्ण मिले वह तो हमारा साधर्मी और विचार न मिलें तो हमारा साधर्मी नहीं। कोई नाम मात्र का जैन हो वह भी साधर्मी है। और, देखिये- विचार प्रत्येक दिमाग में भिन्न-भिन्न होते। किसी के विचार किसी दूसरे से पूर्णरूपेण न मिलेंगे। इसके सम्बन्ध में एक कहावत है- पाग भाग वाणी सकल, सूरत बुद्धि विवेक। अक्षर होय न एक से इत्यादि...इनमें कोई बात समान नहीं मिलती। अक्षर देख लो- क ख ग घ वगैरह अक्षर लिखे जाते, सभी लिखते, पर अक्षर किसी का किसी से नहीं मिलता, भाग्य भी सबका एक समान नहीं मिलता, पगड़ी भी किसी की किसी से नहीं मिलती, वाणी भी किसी की किसी से नहीं मिलती, सकल सूरत भी किसी से किसी की नहीं मिलती। बुद्धि विवेक भी सबका एकसा नहीं होता तो मतलब यह है कि ये सब बातें हैं। अब अपने

को तो यह देखना है कि अपनी रक्षा कैसे हो, अपने आत्मा की प्रगति कैसे हो, उस प्रकार के भाव से प्रयोजन रखना चाहिए। जीव का यह समय कितना है? गई बहुत थोड़ी रही, थोड़ी हो तो जाय,...अब थोड़ासासमय शेष रह गया, इसमें समता का, उद्धार का ऐसा विधान बनाना चाहिए कि जिससे अपने आपमें कोई संकुचितता न जगह। स्वानुभूति के लिए तो संकुचितता ठीक है, मगर व्यवहार के लिए उदारता ठीक है। स्वानुभव तो तब ही बनेगा जब बाहरी पदार्थों से हटते जायें, विविक्त होते जायें, अपने स्वरूप में लगें। और उदारता तब बनती है जब कि हम जीवों में स्वरूप को निरखेंगे, समता जगेगी, थोड़ी सुरक्षा होगी। एक लक्ष्य रह गया प्रभावना अपने आचरण से, अपने तपश्चरण से, अपने उपायों से ऐसा चलना कि अपने में धर्म की प्रभावना बढ़े और दूसरे लोग निरखकर भी उसके अनुसार चलें। ऐसे चिन्ह समस्त कर्मों को नष्ट करते हैं।

कलश 162

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः

प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोञ्जम्भणेन ।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं

ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥162॥

1276- ज्ञानबल से ज्ञानरूप होकर ज्ञानी का गगनाभोगरंग में ज्ञानवृत्तियों से सहज नाट्य-

यह निर्जराधिकार का अन्तिम कलश है। यह सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानरूप होकर इस सारे गगन को व्यापता हुआ नच रहा है अर्थात् समस्त पदार्थों को जानता हुआ, प्रतिभास लेता हुआ अपने उज्ज्वल तरंगों से यह विलसित हो रहा है। किस प्रकार ज्ञानरूप होता? पहले तो इसने नवीन बंध को रोका। कैसे बन्ध को रोका? भाव बन्ध को रोका। और, उस समय क्या रुक गया? द्रव्य बन्ध रुक गया, कैसे रुक गया? द्रव्य कर्म का जो बन्ध होता है वह आस्रवपूर्वक होता है। जहाँ जहाँ बन्ध है वहाँ आस्रव अवश्य हुआ है, जहाँ जहाँ आस्रव है वहाँ बन्ध हो अथवा न हो। ईर्यापथाश्रव होता है, वहाँ कर्मबन्ध नहीं। चूँकि बन्ध के चार भेद कहे- प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग, सो इस नाते से उपचार से बन्ध यों बना कि नाम तो वही है प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, पर जहाँ स्थिति नहीं पड़ती वहाँ बन्ध नहीं कहलाता। याने एक ही समय का आस्रव होता है, दूसरे समय कर्म नहीं ठहरते। कहाँ? वीतराग दशा में, 11 वें गुणस्थान से लेकर 13 वें गुणस्थान तक। वह आस्रव क्यों होता था? नवीन कर्मों का आस्रव उदय में आये हुए कर्म का निमित्त पाकर होता था। तो उदय में आये हुए कर्म नवीन कर्मबंध के निमित्त कहलाते हैं, लेकिन उदय में आये हुए कर्म में नवीन कर्मों के आस्रव का

निमित्तपना बने इसका निमित्त होता है रागद्वेष मोहभाव। तो मूल आश्रय, आधार नवीन कर्मों के आस्रव का हुआ रागद्वेषमोह, और रागद्वेष मोह बनता है उस विभाव में उपयोग को एक बनाने से, ज्ञान करने से। संसार परम्परा का कारणभूत बन्ध इस तरह होता है। इस ज्ञानी जीव ने अपने ज्ञानबल से अपने आपमें सहज निरपेक्ष सत्त्व के ही कारण मात्र अपने में अन्तः प्रकाशमान अन्तस्तत्त्व को निरखा, उसमें ही यह मैं हूँ, इस प्रकार का अनुभव पाया, अब वहाँ ही उसकी लगन है, उस ही रूप अपने को विश्वास में रखता है तो ऐसा एक अन्तर का ज्ञानबल बढ़ाने से अब नवीन बंध नहीं हो रहा। कौनसा नवीन बंध? इस ज्ञान के प्रताप से जो अज्ञान मिटा, मिथ्यात्व दूर हुआ तत्कृत अब उसके बंध नहीं होता।

1277- अध्यात्मलक्ष्य में ज्ञानी का अन्तस्तत्त्व के प्रति उपयोग-

देखो भैया, यद्यपि यहाँ प्रकृतियों का बंध है तो भी बंधों को चित्त में मत लावो। जब अध्यात्मशास्त्र के उपदेश उद्देश्य में एक आध्यात्मिकता का उपयोग बना रहता है तो अन्य को ध्यान में लेना यह एक आध्यात्मिक ढंग का भंग करना होता है, तो है तो सही, बन्ध चलेगा कर्म प्रकृतियों के आने से किन्तु जब तक आत्मतत्त्व में उपयोग लगाने का मूड़ है तब अगल-बगल की चीजें कारण होते हुए भी ध्यान में नहीं लायी जातीं। जहाँ ये रागद्वेष मोह न रहे, उनमें लगन न रही, भेद कर दिया तो नवीन कर्म का बंध रुक गया, और तब अपने निज 8 अंगों से संगत होने से निर्जरा बढ़ती और प्रकृतिक्षय होता। सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप में निःशंक है। सम्यग्दृष्टि के स्वरूप के अलावा और कुछ चाह नहीं, स्वरूप में ही लगन, स्वरूप के अतिरिक्त अन्य में उलझना नहीं, स्वरूप के अतिरिक्त अन्य बात में कभी मोह नहीं, स्वरूप का विकास ही बढ़ाने का जिसका एकमात्र लक्ष्य है, स्वरूप में स्थिर होने का ही पौरुष है, स्वरूप का प्रेम है, स्वरूप की ही प्रभावना है, ये सारी बातें होकर भी आखिर एक ही बात है। इन अष्ट अंगों से संगत होने से अब निर्जरा का वेग बढ़ा और निर्जरा होने से पहले बाँधे हुए कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं, कर्म का क्षय होवे, निर्जरा होवे, द्रव्य कर्म में अड़चन आये उसके निमित्त हैं आत्मा के शुद्धभाव अपने स्वरूप को निरखें, उसका आश्रय लें, जिसके कारण होगी कर्मों की खलबली, कर्मों का नाश, कर्मों का निर्जरण, सब यथाविधि होता रहेगा। अपना तो लक्ष्य एक स्वभाव का आश्रय करना है। तो निर्जरा उन्नम्भण हो, उत्तरोत्तर विशेष विशेष निर्जरा हो, असंख्यातगुणी निर्जरा, गुण श्रेणी निर्जरा। जिस जिस पद में जिस प्रकार सम्भव है उस निर्जरा के वेग से प्रकृतियों का क्षय होता है।

1278- निर्जरोज्जृम्भणपूर्वक प्रकृतिक्षय-

जरा यहाँ कुछ कुछ प्रकृतियों की भी बात समझते जायें। जो बाँधे हुए कर्म है उनमें किसी भी प्रकार का क्षय होता है तो ऐसे ही नहीं हो जाता। निर्जरा होते होते जब उस प्रकृति की अंतिम फाली की भी सर्वसंक्रमण होकर निर्जरा होती है तो उस प्रकृति का क्षय कहलाता है। तो निर्जरण मायने उसे क्षीण करना, उसके बहुत से अंग नष्ट हो जाना, ऐसा होते-होते प्रकृति का क्षय होता है। जैसे जहाँ जिन प्रकृतियों का क्षय हुआ 12 वें

गुणस्थान के अन्त में तीन घातिया कर्मों का क्षय हुआ, 10 वें गुणस्थान के अन्त में मोहनीयकर्म का क्षय हुआ तो एकदम पूरे का किसी समय क्षय नहीं हुआ, किन्तु सम्यक्त्वकाल से ही उन प्रकृतियों में अन्तर आता गया, निर्जरा होती गई, स्थितियाँ कम होती गई, अनुभाग के निषेक बदल गए, कम अनुभाग में मिलते गए, हर प्रकार से जब निर्जरायें चलीं तो होते-होते जब अन्तिम निषेक पुन्ज समाप्त होता है तो उस प्रकृति का क्षय कहलाता है। ये सब बातें निमित्तनैमित्तिक भाव के अनुकूल होती रहेंगी अर्थात् आत्मस्वभाव का आश्रय करता है और साधु संत कितने ही ऐसे थे कि जिन्होंने पहिले कर्मसिद्धान्त का कोई विशेष ज्ञान न रखा, परिचय नहीं किया, पर प्रयोजनभूत बात भली प्रकार हुई, वह भेदविज्ञान अपने सहज स्वरूप का श्रद्धान और उस ही में आनन्द पाया, इस कारण उस ही में लगन, यह उनका एक बल था जिस बल से उत्तरोत्तर बढ़कर श्रेणी पहुँचा, वहाँ काम वही हो रहा है पुद्गलकर्म में झड़ने का, जितना कोई ज्ञान करके समाधि लेकर श्रेणी में चढ़े। यह सब एक निष्पत्ति दृष्टि से बात विदित होती है। कैसा यह सानिध्य मिले, किस जाति का, किस योग्यता का उपादान किया रूप परिणामे यहाँ तक व्यवस्था है सो यथायोग्य चलती रहेगी, मगर अपने आपको तो इन सब विपत्तियों से, संकटों से निपटाने के लिए एक स्वभावाश्रय का ही पौरुष चाहिए। फिर तो निर्जरा बढ़ी, प्रकृतियों का क्षय हुआ, तब क्या हुआ कि यह सम्यग्दृष्टि जीव बड़े अपने अतिरस से याने उस प्रतिभास की विशुद्धि से केवल जानन, ज्ञान ज्ञान ही रहा उस अत्यन्त वेग से और ज्ञानमात्र, जिसकी न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। स्वभाव के अनुरूप एक है, उस विकास में स्वभाव की एकता नजर आती है, वह स्वभाव किस दिन से है, उसका बीज क्या है, उसका अन्त क्या है? आदि मध्य अन्त से रहित ज्ञानरूप हुआ।

1279- मोक्षमार्गदर्शन ॐ की मुद्रा-

देखिये- 'ॐ' शब्द जो लिखते हैं उसका यह आकार हमारे मोक्षमार्ग को बतला रहा है। पहले लिखते 3 (तीन) का अंक, फिर उसमें लगाते एक — (डैस), उसके बाद लिखते हैं 0 (शून्य) और उसके ऊपर लगाते हैं ॐ (अर्द्धचन्द्र) और उस पर एक 0 (शून्य) रखते हैं, इस प्रकार उसकी मुद्रा बनती है- 'ॐ'। अब इस 'ॐ' शब्द के 5 अंग हो गए। 3 (तीन) का अंक,— (डैस), 0 (शून्य), ॐ (अर्द्धचन्द्र) और 0 (शून्य), तो यह 'ॐ' शब्द की मुद्रा हमें मोक्षमार्ग की सूचना दे रही है। कैसे? 3 (तीन) का अंक यह हुआ व्यवहारनय, इस व्यवहारनय से समस्त तत्त्वों का ज्ञान- बनाया प्रमाण से, नय से, निक्षेप से, हर तरह से तत्त्व का ज्ञान बनाते ना, तो प्रथम व्यवहारनय से इसका ज्ञान किया और 0 (शून्य) है निश्चयनय याने जिसका आदि, मध्य अन्त नहीं वह स्वभाव से शून्य जहाँ आदि मध्य अन्त नहीं होता। कहाँ उसकी शुरुवात, कहाँ उसका बीच, कहाँ उसकी आखिरी। तो ऐसे ही शुद्धनय का विषयभूत अखण्ड तत्त्व इसमें आदि मध्य अन्त नहीं। उसका विषय करने वाला है शुद्धनय। ये दो नय सामने है- (1) व्यवहारनय (2) शुद्धनय अथवा परमशुद्ध निश्चयनय, ये दो नय अपने-अपने विषय को समझ रहे हैं, मगर ये अलग ही अलग बने रहें, जैसे कि लिखने में 3 (तीन)

अलग है, 0 (शून्य) अलग है तो उसमें काम नहीं बनता। वह एकान्त बन जाता। तो प्रमाण का डंडा (—) है बीच में, उस प्रमाण में दोनों नयों को साध रखा, निश्चयनिरपेक्ष व्यवहार उचित नहीं, व्यवहारनिरपेक्ष निश्चय भी इसको सम्यग्ज्ञान की बात न बतायेगा। एकान्त बन जाता, तो प्रमाण ने उन्हें साध रखा। तो अब व्यवहारनय प्रमाण और निश्चय इन तीनों के ज्ञान में अपना अवसर था, पर किसी को गौण कर, किसी को प्रधान कर इस प्रकार ज्ञान में अवगाहन करता था। यह जीव जब प्रमाण और नय इनसे भी परे बनता है, दो को छोड़कर एक परे बनता मायने निर्विकल्प होता तो उसकी स्थिति बनती है क्या? अनुभूति। अनुभूति का प्रतीक है अर्द्धचन्द्र। अनुभव में आया तो बस उस ही अनुभव की धारा बने, उसका फल यह होगा कि यह शून्य बन जायगा, दोषों से उपाधियों से रहित हो जायगा, सिद्ध बनेगा। यह मुद्रा हमें यह सिखाती है कि निराधार प्रमाण कोई चीज नहीं। कब क्या उपयोगी है उसमें अपना उपयोग जुटाये, और आखिरी बात यह है कि शुद्धनय का अवलम्बन करें अनुभव प्राप्त करें, बस यही हमारे समस्त दोषों को दूर करेगा।

1280- ज्ञानभवनमहिमापरिचय की यथाशक्तिप्रयोगसाध्यता-

सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने में स्वरस के वेग से ज्ञानरूप हो रहा, ऐसा केवल प्रतिभासमान होना प्रयोगगम्य नहीं है यह बात कभी स्वयं ही अपनी शक्ति माफिक ज्ञानबल से, अपनी शक्ति माफिक पूर्ण प्रयोग करके अपने उपयोग को इस तरह ठहरायें कि यहाँ कोई भी बाहरी पदार्थ इस उपयोग में न आये और बने तो यह भी करें कि खुद का आत्मा भी ज्ञान में न आने दें, ऐसा होगा तो नहीं, क्योंकि यह उपयोग अपने श्रोत में कहाँ ठहरेगा, मगर आत्मा का हम जिन विकल्पों से परिचय करते हैं वह विकल्प अनात्मतत्त्व है, वह भी न आने दें यह मतलब है। कोई बाहरी पदार्थ भी न आने दें और किसी क्षण ऐसा पौरुष बन जाय, कुछ भी विकल्पों में न आये, वहाँ स्थिति ऐसी बनेगी कि जैसे मानो यह उपयोग नीचे को खिसकता, उतरता, कहीं ऐसी जगह आता है कि जहाँ कुछ होश नहीं रहता, जहाँ कोई विकल्प नहीं होता, और एक बिजली चमकने में तो देर लगी, पर अपने पद के अनुकूल बात बोल रहे हैं, याने हम आप जिस स्थिति में है उस पदवी के माफिक वहाँ क्षण भर को भी एक स्थिति होती है कि वहाँ कष्ट का नाम नहीं रहता, विकल्प का नाम नहीं रहता, और एक शुद्ध जाननमात्र एक अनुभव में होता है, यह तो है एक अनुभव की रीति। यह अनुभव अधिक समय जब स्थिर होता है और जिसके सर्व दोष दूर हो जाते हैं, जहाँ अरहंत अवस्था प्रकट होती है वहाँ क्या होता है? यह ही ज्ञान, इस समस्त आकाश रंगभूमि में अपना अवगाह कर ज्ञान द्वारा उन समस्त ज्ञेयों को जानता हुआ, निज स्वच्छ तरंगों में विलास करता है। ज्ञान अर्थ को कैसे जानता? बाहर जाता नहीं, भीतर में ही उसकी तरंगे उछलती हैं, अपने आपमें विकसित होता है। तो मानो यह एक निरन्तर की विशुद्ध परिणति है। जहाँ षट्गुण हानि वृद्धि अन्तः बनी हुई है और ऐसा होते हुए भी जहाँ इतनी हानि नहीं कि कोई सत् ज्ञेय से छूट जाय। इतनी वृद्धि नहीं कि कोई असत् भी ज्ञान में आ जाय, इस तरह एक अपने आपमें इन समस्त ज्ञेयों को व्यापता हुआ यह ज्ञान निश्चय कर रहा है, मायने सहज ज्ञाता बन रहा है।

1281- सर्वोत्कृष्ट सार तत्त्व की आदेयता-

सर्वोत्कृष्ट स्थिति है जीव की एक आनन्द वाली आत्मा को निर्दोष परिणति है, जहाँ तक आत्मा में कलुषता है, किसी भी ढंग में हो, किसी भी नाम पर हो, मालिन्य है वहाँ तक इस जीव की भलाई नहीं, चैन नहीं। तो अपने को चाहिए आनन्द, शांति, निर्दोषता। तो उस निर्दोषता को पाने के लिए हमें रागद्वेष विरोध मात्सर्य या अन्य अन्य बात जो जो कुछ जीवन में गलतियाँ चलती हैं, जिनसे चित्त में अशांति रहती है, अपने आपमें फिट नहीं बैठ पाते हैं, ऐसे उन दोषों का आदर न करें। भला उन दोषों को करने से क्या प्रयोजन है? जो मेरा ही विघात करें उन दोषों को क्यों आदर दिया जाय? खूब निरख निरखकर इस तरह से उनका विनाश करें कि पुनः आत्मा में प्रवेश न पा सके। अपने आपके स्वरूप की ओर अभिमुखता हो और उनका विनाश हो तो हम आपके लिए कोई भलाई का मार्ग मिलेगा, भलाई होगी, पूर्ण निर्णय रखें। मुझे उन ऐबों से, उन विभावों से, उन कषायों से मेरे को मतलब नहीं। वे तो मेरी बरबादी करने को आते, मेरे में वह बुद्धि जगे कि जिससे मैं अपने आपमें मग्न होऊँ या सब जीवों में समान स्वरूप का दर्शन करूँ।

1282- सर्व जीवों में स्वरूपदर्शन व आत्मरमण के पौरुष की महनीयता-

देखिये- एक मामूली प्रयोग- राग होता है ना, तो उस राग को खूब फैलाकर लाइये, मायने व्यापक बनाइये। राग आता है तो आप घर के दो तीन जीवों पर ही राग करके उस राग को केन्द्रित मत बनावें। उस राग को सर्व जीवों पर फैलाकर उस राग का विनाश कीजिये। यदि उस राग को संकुचित करें, घर के दो जीवों पर ही अपना राग बनाये रहेंगे तो यह राग पुष्ट रहेगा, संसार संकट टलेंगे नहीं। राग होता है, राग बिना चैन नहीं पड़ती है, आपके मन की ही बात कह रहे हैं। नहीं छोड़ते राग तो ठीक है, राग किए बिना चैन नहीं पड़ती, मगर उस राग को सब जीवों पर तो लगाओ, घर के दो चार जीवों पर ही क्यों लगा रहे? सब जीवों पर उस राग को फैला दीजिए अर्थात् आप अपना वात्सल्य, अपनी प्रीति, अपनी रुचि, अपना राग बनाते हैं, अनुराग करते हैं तो सर्व जीवों पर अनुराग लाइये। ऐसा करके देखो तो सही। जब स्वरूपदर्शन होगा तब ही सब जीवों में समता की बात आयगी। और, वहाँ यह राग ध्वस्त हो जायगा। तो दो बातें चाहिए। बाहर में सब ओरकहीं भी दृष्टि जाय तो सर्व के स्वरूपदर्शन की बात आनी चाहिए। और, भली तो यह ही है कि यह इससे पार होकर मात्र अपने आपके ज्ञानस्वरूप में ही अपना ज्ञान उपयुक्त रहे। तो ये दो लीलायें हैं अध्यात्ममार्ग में। सब जीवों में उस ही स्वरूप का दर्शन करें। सबको स्वरूप में लाकर तत्त्व निरखें। सबका सहजस्वरूप यह है और अपने आपमें सर्व प्रकार की विकल्प बाधाओं को हटाकर बस और अधिक नहीं तो यहाँ से ही प्रारम्भ करें, जो ज्ञान उसके जानने का काम करे उस रूप वह ज्ञान है क्या? कैसे जान रहा वह ज्ञान, इसका स्वरूप क्या? ज्ञान द्वारा ज्ञानस्वरूप को निरखते रहने पर ज्ञान अपने इस सहज ज्ञानस्वरूप तक आ जायगा। इस ज्ञान पर्याय में परिणत इस ज्ञान का ही स्वरूप जब जानने लगा, यह जो

जान रहा है सो यह जानन क्या कहलाता है। जानन नाम किसका है? उस ही जानन के स्वरूप को जानने बैठें तो हम उस आन्तरिक ज्ञानस्वरूप में आ सकते हैं।

1283- सर्वसाम्य व स्वरूपरमण से आत्मसमृद्धि-

सो भैया आत्महितार्थ दो ही काम करने के हैं। बाहरी जीवों में स्वरूपदर्शन, अन्तर में अपने आपके ज्ञानस्वरूप में मग्नता का प्रयास। ये दो बातें सामायिक में या अन्य समय में बनायें और यह निर्णय रखें कि इसके अतिरिक्त जो फाल्तू बातें आती हैं। मेरा तेरा की कुछ भी बात हो वे सब बातें उपद्रव हैं। हमको तो दो ही बातों से प्रयोजन है। जीवों को निरखें तो सर्वजीवों में स्वरूपदर्शन हो। अपने आपको देखें तो केवल ज्ञानमात्र अपने अन्तस्तत्त्व की ही अपने आपकी रुचि हो, अपने आपकी रुचि, अनुभूति प्रतीति ये सब अपने आपके प्रति ही बनावें। बस ये दो बातें हैं, इन ही में अपने कुछ क्षण व्यतीत हों। इनके लिए ही बाहरी कुछ बातें करनी होती, स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा आदि की। तो एक बड़े वात्सल्य से सर्व जीवों को एक समान मानकर, जैसे अन्य लोग कहते हैं कि सब एक हम ही हम हैं, अब किसमें हम द्वेष करें? तो यहाँ स्वरूप को देखो, सभी एक ही समान हैं, अब किनमें विरोध करना? तो बाहर देखो तो स्वरूपदर्शन, अन्तर में देखो तो ज्ञातमात्र सहज प्रतिभा इस उपाय से एक अपने आपमें विभावों का क्षरण होगा। आयेंगे प्रतिफलन और यों ही निकल जायेंगे और ऐसा होते-होते हम पर जो भार लदा कर्म का, देह का, विभाव का, जैसा जब जितना भार हटना होगा उतना हट-हटकर कभी सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी। करने का काम यह ही है कि अपना जो सहज चैतन्यस्वरूप है उसका भान करें, उस ही में अपने को तृप्त रखें, ऐसा पौरुष बने तो इसमें आत्मा का कल्याण है।